51



श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

(अष्टमाध्यायादारभ्य एकोनविंशत्यध्यायान्तो द्वितीयो भागः)

5.1

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२१५



श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

'प्रदीप' हिन्दीव्याख्या-टिप्पणी-परिशिष्ट-प्रस्तावनादिभिर्विभूषितम्

(अष्टमाध्यायादारभ्य एकोनविंशत्यध्यायान्तो द्वितीयो भागः)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री

एम० ए०, साहित्याचार्य प्रभृति

प्राध्यापक-स्नातकोत्तर संस्कृत-अध्यापन एवं संशोध

शासकीय कला एवं वाणिज्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय

इन्दौर (म० प्र०)



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०३५
मूल्य : रु० ४०–००

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
215
*****

NĀṬYA ŚĀSTRA

OF

BHARAT MUNI

Critically edited with Pradipa Hindi Commentary, Various readings, Introduction, Preface, Index and Critical notes

By

Prof. BĀBŪ LĀLA ŚUKLA, ŚĀSTRĪ

M. A., Sāhityācārya

Professor, Postgraduate Teaching and Research in Sanskrit, Government Arts and Commerce Postgraduate College, Indore (M. P.)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Seller of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139

Jadau Bhawan K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Also Can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 139

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

First Edition 1978

Price : Rs. 40-00

Sole Distributors :—

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

A House of Oriental and Antiquarian Books

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-221001 (India)

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar,

DELHI-110007 (India)

Telephone : 63022 Telegram : Gok[illegible]tsav

पुरोवाक्

"नाट्यशास्त्र" के प्रदीपव्याख्यादि के साथ मण्डित द्वितीय भाग को प्रस्तुत क्रम में प्रकाशित कर सुधीजन के सम्मुख रखते हुए आज प्रसन्नता और सन्तोष है। यह द्वितीय भाग भी प्रथम भाग के प्रकाशित होने के पाँच वर्ष पश्चात् प्रस्तुत हो सका। इन पाँच वर्षों के अन्तराल में परिस्थितिवश अनेक ऐसे परिवर्तन लेखक तथा प्रकाशक के यहाँ घटित हुए जिनने इस ग्रन्थ को यथासमय प्रस्तुत न होने दिया। इतना प्रत्यूहव्यूह भेदन होने पर यह द्वितीय भाग अब सुधीजन की सेवा में प्रस्तुत हो रहा है। अतः इसका भी प्रथम भाग की तरह ही स्वागत होगा, यह पूर्ण विश्वास है। इसी के साथ यह भी आशा है कि अब तृतीय तथा चतुर्थ भाग में प्रकाशनगत विलम्ब अधिक मात्रा में नहीं होगा तथा इसमें शेष भाग यथासमय प्रकाशित हो जाएँगे (क्योंकि इनका मुद्रण भी प्रगति पर है तथा शीघ्र ही पूर्ण हो जायगा)।

नाट्यशास्त्र के इस भाग में भी प्रथमखण्ड की तरह प्रस्तावना में इसी भाग से सम्बद्ध विषयों की विवेचना रखी गयी है जिससे नाट्य जैसे विस्तीर्ण एवं व्यापक शास्त्र के अध्ययन में सहायता मिलेगी। परिशिष्ट १ में विस्तीर्ण व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ पूर्व खण्ड की तरह रखी गयी हैं तथा छन्दों के एक प्रक्षिप्त भाग को भी सानुवाद रखा गया है। लक्षणों तथा हस्तमुद्राओं का विवेचनात्मक विवरण परिशिष्ट तथा प्रस्तावना में है जिसे उपयोग की दृष्टि से दोनों स्थानों पर रखा गया है। नाट्यशास्त्र के नवम अध्याय के अन्तर्गत हस्तमुद्राओं की उत्पत्तिकथा भी यथास्थान लगायी

गयी है जो अपना मौलिक महत्व रखती है साथ ही अपेक्षित रेखाचित्र भी इस भाग में लगा दिये गये हैं जिनसे इस भाग का भी प्रथमभाग की तरह ही अधिक उपयोग होगा।

नाट्यशास्त्र के प्रथमभाग के प्रकाशन के बाद से ही इस कार्य को कुछ सफलताएँ भी मिली हैं तथा अनेक विश्वविद्यालयों में यह अनुमोदित एवं पाठ्य ग्रन्थ का गौरव प्राप्त कर रहा है जो अगले सभी भागों को भी प्राप्त होगा, यही आशा है। इस कार्य में सहृदय सुधीजन एवं संशोधक छात्रों एवं गुणग्राही विद्वानों का जो सहयोग रहा उसके प्रति मैं अतिशय कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

प्रकाशन कार्य के सन्दर्भ में एक निवेदन और करना है। यह ग्रन्थ अब वाराणसी की प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों की प्रकाशन संस्था—'चौखम्भा संस्कृत संस्थान' से प्रकाशित हो रहा है तथा आगे के सभी भाग इसी क्रम में प्रकाशित हो रहे हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि इस गौरवशाली ग्रन्थ को पूरी तत्परता एवं तन्मयता से प्रकाशित करने की इनकी निष्ठा को सहृदय पाठक स्वागतार्ह मानेंगे तथा इन्हें प्रोत्साहन देंगे। मैं इस ग्रन्थ के मुद्रणादि में होने वाली त्रुटियों के लिए सहृदय सुधीजन से क्षमाप्रार्थी हूँ तथा विलम्ब के लिये भी।

विजया दशमी
वि० सं० २०३५

सुधीजनकृपाकाङ्क्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

प्रस्तावना

नाटचशास्त्र के स्वरूप तथा (पीठिका के साथ) उसके विषयसंक्षेप को प्रथम भाग में दिखलाया जा चुका है तथा यह भी कि प्रकृतग्रन्थ नाट्यविद्या की आत्मा है, क्योंकि इस ग्रन्थ में नाट्य विषयों का जो मौलिक विवरण है वही परवर्ती सभी क्षेत्रों में अपेक्षानुसार उपजीव्य हो गया था, यह सर्व विदित है। भरत मुनि का यह महोद्योग नाट्यविद्या के इतिहास में ज्योतिस्तम्भ की तरह प्रकाशित है तथा विराट् भी। नाट्यकला के सिद्धान्त तथा प्रयोग— दोनों पक्षों—को नाट्यशास्त्र में जिस दक्षता से उपस्थापित किया गया है वह अप्रतिम है। आज भी नाटचशास्त्र का अध्ययन इसके स्थायी विषय विवरण के कारण उतने ही मनोयोग से जारी है जैसा इसके व्याख्याकाल में चलता था। प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में नाट्यशास्त्र के आठ से उन्नीस अध्यायों का भाग आता है जिसका प्रथम खण्ड में संक्षेप में विषय दिया गया था। अतः हम अब क्रमशः उसी विवेचित विषयों के क्रम को इस भाग में भी आगे प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें (प्रस्तुत) अष्टम अध्याय से लेकर उन्नीसवें अध्याय तक आङ्गिक तथा वाचिकअभिनय का आदि विवरण दिया गया है। इस विषय का अष्टम अध्याय से आरम्भ हुआ है जिसमें अभिनयादि के स्वरूप आदि विवरण भरत मुनि ने विस्तार से दिये हैं।

अभिनय : स्वरूपादि विचार :—

यह हम वतला आये हैं कि भरतमुनि ने ही सर्व प्रथम नाट्यकला के सिद्धान्त तथा प्रयोग दोनों पक्षों को निरूपित किया था। इसका कारण यह भी था कि वे शास्त्रप्रणेता के साथ-साथ नाट्यप्रयोक्ता भी रहे थे, जिसको नाट्यशास्त्र में ही दिखलाया गया है। इस नाटचप्रयोग के उपकरणों में अभिनय एक सशक्त साधन माना जाता है तथा इसे 'अभिनय' ही सम्पन्न भी करता है। इसी कारण नाट्यप्रयोग विषयक सिद्धान्तों के विवेचन को 'अभिनय' के बिना देखना सम्भव ही नहीं। नाट्यप्रयोग में अभिनय का उपयोग अपेक्षित (होता) है। इसी कारण मुनि ने प्रयोगात्मा नाट्यविज्ञान में 'अभिनय' का विधान अतिशय मनोयोग से दिखलाया भी है। 'अभिनय' में पात्र अनुकार्य रामादि की अवस्थाओं का अनुकरण करने के कारण

'अभिनेता' कहलाता है, क्योंकि नाटच प्रयोग अभिनय के द्वारा सम्पन्न होता है। अभिनय का ही यह प्रभाव है कि काव्य 'नाट्य' होकर रस की ओर गतिशील बनकर अन्त में रस की सिद्धि सम्पन्न करता है। अतएव अभिनय, नाटच तथा रस एक विकासशील प्रक्रिया की धारावाहिकता से जुड़े हुए रहते हैं। नाट्यार्थ को दर्शाने का रचनात्मक उद्योग भी 'अभिनय' कहा जा सकता है, जो कि प्रेक्षकों के हृदय में रसानुभूति निष्पन्न करता है।

मुनि ने इस अभिनय के चार प्रभेद किये—(१) आङ्गिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य तथा (४) सात्विक। इनमें सर्वप्रथम आङ्गिक अभिनय पर विचार आवश्यक है। शरीर के अङ्ग, उपांग तथा प्रत्यंग की विविध क्रियाओं (या चेष्टाओं) तथा मुद्राओं के द्वारा जिस सांकेतिक अर्थ का प्रदर्शन होता है—वही आङ्गिक अभिनय कहलाता है। भरतमुनि ने इसका सूक्ष्म तथा विस्तृत विवरण दिया है। उननेआंगिक अभिनय के शारीर, मुखज तथा (अथवा शाखा, अङ्ग तथा उपांग से युक्त) चेष्टाकृत भेद से तीन वर्ग किये। इनमें अंग की छः और उपांग की भी इतनी ही संख्या रखी गयी है। यथा—अङ्ग—शिर, हस्त, वक्षःस्थल, पार्श्व, कटि तथा पाद।

उपाङ्ग—नेत्र, भ्रू, नासा, अधर, कपोल तथा चिबुक।

मुनि ने आरंभ में इनके आङ्गिक अभिनय के मुखज भेद में तथा शरीर के प्रधान अङ्ग रहने से मस्तक के अभिनय का सर्व प्रथम विवरण दिया। इनमें प्रत्येक अंग तथा उपाङ्ग को अभिनय (या प्रयोग) की अपेक्षा से एक दूसरे से संबद्ध किया गया तथा इन सभी का एक विशिष्ट विधि से परिचालन विधान भी दिया गया हैं जो भावाभिव्यक्ति के लिये है। इस प्रकार उन सभी मुद्राओं के नामकरण भी क्रियाओं के अनुरूप किये गये। आङ्गिक मुद्रा तथा भङ्गिमाओं का विवरण अपेक्षित रूप में नाट्यशास्त्र में पूर्णव्यवस्थित रूप में दिया गया है। जिसमें क्रम इस प्रकार है :—

नाटचशास्त्र में शिर के तेरह भेद बतलाये गये हैं। यद्यपि शिर के द्वारा की जानेवाली क्रियाओं को कोई अन्त नहीं है तथा इसी कारण उत्तरवर्त्ती नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में इसके अधिक प्रभेद तथा उनके वर्णनविवरण मिलते भी हैं। जिनमें अभिनयदर्पण में आचार्य नन्दिकेश्वर ने मस्तक के स्वय-मुद्भावित नौ भेदों को बतलाकर भरतमुनि द्वारा निरूपित भेदों से मिलाकर होनेवाली विशिष्ट संख्या की भी कल्पना की। भरतार्णव तथा नाटचशास्त्र-संग्रह जैसे ग्रन्थों में किसी अन्य शास्त्रीय स्रोत से मस्तक के छः अन्य प्रभेद

बतला कर भरतमुनि द्वारा निर्दशित प्रभेदों को मिलाकर उन्नीस भेद होने की बात भी कही गयी। इस प्रकार मस्तक के विवरण में एक दूसरे के निकटवर्ती स्वरूप मिलने पर भी विभेदगत विलक्षणता से पार्थक्य भी विद्यमान है ही।

इन तेरह तथा अन्य मस्तक प्रकारों के स्वरूप के अतिरिक्त अभिनयगत विनियोग भी मुनि ने दिखलाये हैं। इसी प्रकार दृष्टि का भी (अङ्गोपाङ्ग विवरण में) अधिक महत्त्व होता है, जिसका स्वाभाविक भङ्गिमाओं के अतिरिक्त अर्थाभिव्यक्ति भी एक पक्ष है। भरतमुनि ने इसकी विस्तृत पर्यालोचना की, क्योंकि दृष्टि मनुष्य की आन्तरिक भाषा और भावभङ्गिमा का द्वार होती है। अतएव मुनि ने आठ रस-दृष्टियाँ, आठ स्थायीभाव-दृष्टियाँ तथा बीस सञ्चारीभाव दृष्टियों को बतलाया जिनसे विभिन्न रसों की अभिनय द्वारा अभिव्यक्ति की जाती है। अभिनयदर्पण में दृष्टियों के आठ ही प्रभेद दिये गये हैं। दृष्टिभेद से संबद्ध भौंह, तारा तथा पुट के भी भरतमुनि ने पृथक् रूप से भेद दिखलाये हैं। इनमें तारा के नौ प्रभेद, पुट कर्म के नौ प्रभेद तथा भौंहों के सात प्रभेद बतला कर उनकी रस तथा भाव के अनुरूप योजना दिखलाई है। अङ्गों के ये प्रत्येक प्रभेद अपनी विशिष्ट अर्थबोधकता तो रखते ही है साथ ही परंपरा का भी दिग्दर्शन करवाते हैं, जो विवेचन की व्यापकता एवं समग्रता के कारण (होती) है। इनकी प्रत्येक भङ्गिमा मानव जीवन की दशा को प्रस्तुत करने की विलक्षण क्षमता रखती है तथा इसी कारण यह अभिनय-प्रकार सदा के लिये महत्त्वपूर्ण बना हुआ है।

मानवीय अङ्गों के अन्तर्गत नासिका, कपोल, अधर तथा चिवुक का भी अभिनय के प्रकाशन में योग रहता है। इसी कारण इन अंगों की (भी) भङ्गिमाओं का विवरण इसमें दिया गया है। इसी प्रकार इसमें नासिका के छः कर्म दिखलाये गये। ये हैं—नता, मन्दा, विकृष्टा, उच्छ्वासा, विकूणिता और स्वाभाविका। इनके कर्म भी यथा योग्य नियोजित किये गये हैं। कपोल के भी छः कर्म हैं—क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, **कम्पित,** कुञ्चित तथा सम। इसी प्रकार यहाँ अधर के भी—विकर्तन, कंपन, विसर्ग, विनिगूहन, सन्दष्टक और समुद्ग कर्म दिखलाये हैं। इसके अतिरिक्त चबुक के सात तथा ग्रीवा के नौ कर्म हैं। चिवुक के कर्म को शास्त्र में दन्तकर्म भी कहते हैं। ये हैं—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चिकित, लेहन तथा सम। इसी प्रकार ग्रीवा के भी नौ

कर्म होते हैं यथा—समा, नता, उन्नता, व्यस्ता, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, वलिता तथा विकृता।

मुखराग—अभिनय में मुखराग का विशिष्ट योग रहने से इसका अतिशय महत्त्व है। कपोल तथा नयनों में जो एक विशेष राग चित्तवृत्तियों के आवेग प्रवाह में परिलक्षित होता है उसका प्रदर्शन कार्य सूक्ष्ममतिजन से ही संवेद्य माना जाता है। भाव तथा रस के सन्दर्भ में मुखराग का प्रस्तुतीकरण अभिनेता के लिये महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक माना जाता है। इसके महत्त्व को मुनि ने स्वयं ही—"शाखा, अंग तथा उपांग से युक्त अभिनय के मुखराग से हीन होने पर शोभा नहीं" कहकर बतलाया है। मुखराग आङ्गिक अभिनय की अभिव्यक्ति का प्रवेश द्वार है जिससे दर्शक को तुरन्त आन्तरिक सुख-दुःखमयी दशा का प्रत्यक्ष हो जाता है।

मुखराग के चार प्रभेद हैं—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त तथा श्याम। तटस्थ स्थिति एवं सहज दशा में 'स्वाभाविक' की, शृङ्गार-हास्य तथा अद्‌भुतरस में 'प्रसन्न' की, वीर, रौद्र तथा करुण रस एवं मत्त तथा रुग्ण दशा में 'रक्त' की तथा भयानक और बीभत्सरस में 'श्याम' की योजना की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रसात्मकबोध में मुखराग का अतिशय योगदान रहता है। वेमभूपाल ने मुखराग के इन प्रभेदों के अतिरिक्त विकस्वर, अरुण, मलिन तथा पाण्डु नामक चार अतिरिक्त प्रभेद भी माने हैं। नेत्रों के अभिनय के साथ-साथ मुखराग का संयोजन नाट्यप्रयोग की सिद्धि के मूल में अवश्य विद्यमान रहता है। अंग तथा उपाङ्ग का यही विवरण लक्षणादि सहित नाट्यशास्त्र के अष्टम अध्याय में दिया गया है।

हस्ताभिनय—नवम अध्याय में हस्ताभिनय को दिखलाया है, जिसका आङ्गिक अभिनय में अतिशय महत्त्व (माना जाता) है। मानव चेष्टाओं से उसके अंग उपांगों की दशाओं को जो तत्व आलोक सम्पन्न रूपवान् तथा अभिव्यक्ति सम्पन्न बनाता है। यह एक ऐसा माध्यम है जो आन्तर-भावों को स्वरूप देकर रसभूमि पर ले जाता है। हस्ताभिनय द्वारा ही नाट्यार्थ को रूप प्रदान किया जाता है तथा वे भावद्वन्द्वों को बोधगम्य बनाते हैं। प्रत्येक हस्तमुद्रा अपने मूल में भाव एवं रस की आन्तरिक प्रेरणा रखती है। भरतमुनि ने इसी कारण हस्ताभिनय का विशिष्टता से विवरण देते हुए इनके स्वरूप को प्रस्तुत करते समय देश, काल, कर्म, स्थान तथा प्रचार के अतिरिक्त करणों तथा अर्थयुक्ति को ध्यान में रखने का स्पष्ट निर्देश (भी) दिया है। हस्तमुद्रा से प्रयोगगत सुकुमार तथा उद्धत स्थिति

का अन्तर तुरन्त प्रकट हो जाता है। इसी कारण यहाँ अर्थयुक्ति का महत्त्व सर्वोपरि होता है तथा वाचिक अभिनय में भी हस्तस्थिति का संयोग अपेक्षित रस में रखा ही जाता है।

पात्रानुसारी हस्ताभिनय

हस्ताभिनय में पात्रों की श्रेणी या स्तर के अनुरूप स्थान की भी योजना रखी जाती है। अभिनय की दशा में उत्तमपात्र ललाट आदि उन्नत (उत्तम) स्थानों पर अपने हस्तों को ले जाते हैं, मध्यमपात्र उन्हें वक्षःस्थल के बराबर रखते हैं तथा अधमपात्र कटि या उससे निचले शरीर के प्रदेश पर स्पर्श करते हुए हाथों को रखते हैं। स्थानविभाजन की इसी प्रणाली का अभिनवगुप्तपाद के उपाध्याय **श्रीभट्टतौत** ने समर्थन करते हुए बतलाया कि यही स्थानविधान पात्रों की (उत्तमादि) स्थिति तथा मानसीदशा का आधार बन इनका वर्गीकरण करता है। हम भी देखते हैं कि उत्तमपात्र के हृदय में स्थित बात रहने पर उनका हस्त उत्तम अंगों का (ही) स्पर्श करता है, जब कि हीनभावों के समय निम्न अंगों का। इस प्रकार पात्रों की उत्तम, मध्यम तथा अधमस्थिति के आधार पर हस्तप्रचार (या गति) की अल्पता या आधिक्य रखा जाता है। नाटकादि में उत्तमपात्रों के हस्तप्रचार अल्पतायुक्त, मध्यम तथा अधमश्रेणी के नाट्यप्रयोगों में पात्रों के हस्तप्रचार मध्यम तथा नृत्तादि प्रयोगों में हस्तप्रचार की बहुलता या आधिक्य रखा जाता है, क्योंकि यहाँ हस्तप्रचार भावाभिव्यक्ति का साधन होता है। इसके अतिरिक्त बाह्यशोभा तथा आकर्षण भी हस्तप्रचार से दिखलाया जाता है तथा नाटकीय पात्रों का श्रेणी स्तर भी हस्तमुद्राओं से ही जाना जाता है।

शास्त्रानुमोदिता

हस्तमुद्राओं के द्वारा अभिनय को व्यापक एवं लोकानुमोदित भावभूमि के परिवेष में विवेचित कर भरतमुनि ने स्पष्टतः यही बतलाया कि नाट्यार्थ के अनुरूप लोकव्यवहार एवं लोकस्वभाव को ध्यान में रख कर हस्तमुद्राओं का प्रस्तुतीकरण होना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार किये गये अभिनय से उस 'सौष्ठव' को साधा जाता है जहाँ अंगों में सौन्दर्य तथा प्रसार हो। अतः अभीष्ट सौष्ठव का हस्ताभिनय से गहरा सम्बन्ध है तथा सौष्ठवविहीन हस्ताभिनय का इसी कारण निषेध भी किया गया है। इसलिये उत्तम तथा मध्यम श्रेणी के पात्र शास्त्रानुमोदित हस्तमुद्राओं के साथ ही अपना अभिनय प्रस्तुत करते हैं।

कालानुकूलता एवं अनुगमन

इसी प्रकार हस्ताभिनय का कालानुसारी होना भी आवश्यक है, जिससे 'सौष्टव' वरावर बना रहे। भरतमुनि ने प्रयोग की दृष्टि से कभी या किसी समय विहस्त (हस्त चेष्टाओं से रहित) स्थिति तथा कभी हस्तमुद्राओं के अल्पप्रयोग का भी जहाँ निर्देश किया है वहाँ शास्त्रानुमोदित हस्त वाञ्छित नहीं होता। उदाहरण के लिये—प्रमत्त, रोगग्रस्त तथा भयार्त्त व्यक्ति की स्थिति में विहस्त (हस्तमुद्राओं का प्रयोग न रहना) ही उचित होता है। इसके अतिरिक्त मूर्च्छा, जुगुप्सा, हिम या आतप की पीड़ा जैसी अवस्था हो तो वहाँ हस्ताभिनय नहीं होता, प्रत्युत भाव की अभिव्यक्ति में अक्षमता लाना होता है क्योंकि ऐसे प्रसंग में हस्ताभिनय के न रखने में ही सौष्ठव हैं। इसी कारण ऐसे अवसर पर मुनि ने सात्विकअभिनय के द्वारा सौष्ठव की व्यञ्जना का निर्देश किया भी है। इसी विषय पर आचार्य अभिनव-गुप्तपाद ने वतलाया कि[1] अभिनय के समय आन्तरिक चित्तवृत्तियों के प्रकाशन में सक्षम हस्तमुद्राओं का ही प्रयोग उचित रहता है। जैसे भय की दशा में कपोत हस्तों का, तन्द्रा तथा आलस्य में कर्कट हस्त का शोकसन्तप्त स्थिति में दोलाहस्त का प्रयोग तथा ईर्ष्या आदि भावों के अनुभावन में सात्त्विकअभिनय ही प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु ऐसे समय जो वाह्यगुण या द्रव्य के प्रकाशन हो उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार पात्र की व्यग्र या व्यस्त स्थिति में भी हस्ताभिनय प्रस्तुत नहीं किया जाता है, किन्तु यहाँ मुखराग या अर्थ प्रकाशक तथा विराम आदि से युक्त वाचिकाभिनय की योजना रखी जाती है।

मुखराग से अङ्गाभिनय की अनुगतता

यह कहा जा चुका है कि हस्ताभिनय द्वारा भावों का प्रकाशन किया जाता है, परन्तु इसी के साथ-साथ मुख, नेत्र, भ्रू, कपोल आदि के यथोचित सन्निवेशन के साथ मुखराग की योजना भी होना आवश्यक है, अन्यथा केवल हस्त प्रचार मात्र से नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति नहीं होगी। इसी कारण मुनि ने मुखराग को अभिनय का प्राणतत्त्व प्रतिपादित किया, क्योंकि इसके विना आन्तर चित्तवृत्तियों तथा रागात्मक अनुभूतियों का प्रकाशन सम्भव नहीं है। अतः स्पष्ट है कि नेत्र, भ्रू एवं अङ्गों की तथा मुखराग की पारस्परिक अनुगत वृत्ति के द्वारा ही हस्तप्रचारों की अभिव्यञ्जना सौष्ठव-शालिनी हो सकती है। इसलिए जिन जिन हस्तमुद्राओं के द्वारा आन्तर-

१. द्रष्ट० अभि० भा० पृ० ६८; ६९. बड़ौदा संस्करण।

वृत्तियों की अभिव्यक्ति हो उनका अवश्य प्रयोग किया जाए। इन हस्तमुद्राओं का नृत्य या नृत्त में प्रचुर प्रयोग रखा जाता है, परन्तु सात्त्विक भावादि के अभिनय में अल्प प्रयोग होता है।

हस्ताभिनय के विभेद

हस्ताभिनय के प्रभेदों की परिकल्पना विविध मुद्राओं के आधार पर मुनि ने की तथा इनके तीन वर्ग बनाए। ये वर्ग हैं—(१) असंयुतहस्त, (२) संयुतहस्त तथा (३) नृत्तहस्त। इनमें संयुतहस्त तेरह, असंयुतहस्त चौबीस तथा नृत्तहस्त के तीस प्रभेद किये। मुद्राओं को भी मूल या आधारमुद्रा तथा नृत्तहस्त में विभाजित किया जा सकता है। इनमें मूलमुद्रा के अन्तर्गत संयुक्त तथा असंयुत हस्तों को रखा जाता है। मूलमुद्रायें नृत्य की भाषा के मूलाक्षर समझी जाती है। अतः जैसे किसी एक वर्ण या अक्षर का अलग या स्वतन्त्ररूप में भी अर्थ रहता है तथा मिल कर वही वर्ण दूसरे अनेक शब्दों का निर्माण करते हुए अन्य अर्थाभिव्यक्तियाँ करता है, यही स्थिति इन मुद्राओं की भी है। ये अलग-अलग भी अपना अर्थ रखती हैं तथा सम्मिलित होकर भी। इसके अतिरिक्त कालान्तर में विभिन्न नृत्य परम्पराओं तथा पद्धतियों के उद्भव के साथ-साथ अपनी परम्परागत हस्तमुद्राओं का भी प्रचार देखने में आता हैं, किन्तु इन सभी का मूल एवं आधार ग्रन्थ यही नाट्यशास्त्र है तथा इसी का विवरण इन सभी की अपेक्षा मुख्यता लिये हुए है भी।

असंयुतमुद्राएँ—एक हाथ से दर्शायी या की जाने वाली हस्तमुद्रा या हस्त को **'असंयुतहस्त'** कहा जाता है, जिनकी भरतमुनि ने चौबीस स्थितियाँ या भेद दिखलाते हैं। इनके नाम हैं—(१) पताक, (२) त्रिपताक, (३) कर्तरीमुख, (४) अर्धचन्द्र, (५) अराल, (६) शुकतुण्ड, (७) मुष्टि, (८) शिखर, (९) कपित्थ, (१०) कटकामुख, (११) सूचीमुख, (१२) पद्म-कोश, (१३) सर्पशीर्ष, (१४) मृगशीर्ष, (१५) कंगुल, (१६) अलपद्म, (१७) चतुर, (१८) भ्रमर, (१९) हंसास्य, (२०) हंसपक्ष, (२१) सन्दंश, (२२) मुकुल, (२३) ऊर्णनाभ तथा (२४) ताम्रचूड़।

अभिनयदर्पण के अनुसार असंयुतमुद्राओं की संख्या अट्ठाईस है तथा चार पूरक मुद्राओं के साथ इनकी संख्या बत्तीस हो जाती है। इन अतिरिक्त मुद्राओं के नाम हैं—अर्धपताक, मयूर, चन्द्रकला, सिंहमुख, त्रिशूल, व्याघ्र, अर्धसूची, कटक तथा पल्ली। इनमें (भरतोक्त) ऊर्णनाभ को छोड़ कर

शेष सभी हस्तमुद्राओं के नाम नाट्यशास्त्र के अनुसार ही है। इनमें सोलह मुद्राओं का स्वरूप भी नाट्यशास्त्र के अनुसार ही है। किन्तु नाट्यशास्त्र गत नाम रहने पर भी स्वरूप भिन्न है। इनके नाम हैं :—कर्तरीमुख, कटकामुख, सूचीमुख, मृगशीर्ष, हंसास्य, सन्दंश तथा ताम्रचूड। ये हस्तमुद्राएँ हस्ताङ्गुलियों की विविध रचनाओं के द्वारा निर्मित की जाती हैं। इनके स्वरूप तथा योजना का विवरण नाट्यशास्त्र में विस्तार से मिलता है। असंयुतहस्त की सारी क्रियायें एक हाथ से सम्पन्न होती हैं तथा ये ही संयुतहस्त तथा नृत्तहस्तों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

संयुतहस्तमुद्राएँ—दोनों हाथों के परस्पर संश्लेष या योग से निर्मित हस्तमुद्रा को 'संयुतहस्त' कहते हैं। जैसे असंयुतहस्तमुद्रा को वर्णमाला का एक अक्षर माना जाता है तो संयुतहस्त को संयुक्ताक्षर समझा जाता है। नाट्यशास्त्र में संयुतहस्त के तेरह भेद कहे गये हैं। ये हैं :—(१) अञ्जलि, (२) कपोत, (३) कर्कट, (४) स्वस्तिक, (५) कटकावर्धमान, (६) उत्सङ्ग, (७) निषध, (८) दोला, (९) पुष्पपुट, (१०) मकर, (११) गजदन्त, (१२) अवहित्थ तथा (१४) वर्धमान।

अभिनयदर्पण में संयुतहस्तों की संख्या तेईस मिलती है, जिनमें नाट्यशास्त्र के अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटकावर्धमान, उत्सङ्ग दोला तथा पुष्पपुट के अतिरिक्त शिवलिङ्ग, कर्तरीस्वस्तिक, शकट, शङ्ख, चक्र, सम्पुट, पाश, कीलक, मत्स्य, कूर्म, वराह, गरुड़, नागवन्ध, खट्वा तथा भेरुड हैं। नाट्यशास्त्र का मकरहस्त अभिनयदर्पण में मत्स्य है। इस प्रसंग में आचार्य अभिनवगुप्त[1] ने भी वतलाया कि भरतमुनि के द्वारा निर्दिष्ट हस्तमुद्राओं के अतिरिक्त भी हस्तमुद्राओं की परिकल्पना की जा सकती है तथा इसी कारण कोहल आदि अन्य नाट्याचार्यों (नन्दिकेश्वर) ने भी हस्तमुद्राओं के इनके अतिरिक्त अन्यप्रभेद भी दिखलाये हैं। इन मुद्राओं के द्वारा जिन्-जिन अर्थों को संकेतित किया गया उनके अतिरिक्त भावों के अभिनय भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं, यदि वे लोकप्रचलित स्थिति या भावगम्यता को लिये हों तो। उदाहरणार्थ एक ही केशाकर्षण के व्यापार का अभिनय पात्रों के द्वारा विभिन्न हस्तमुद्राओं के द्वारा हो सकता है। जैसे विदूषक द्वारा केशाकर्षण 'कटकामुख' हस्तों से तथा (नायक द्वारा) प्रिया का केशाकर्षण अरालहस्त' से तथा रतिक्रीड़ा का केशाकर्षण 'मुष्टि' हस्त के द्वारा किया जाता है। इसी

१. द्रष्ट ना० शा० अभिनवभारती खण्ड–२ GOS पृष्ठ ५७।

प्रकार एक ही केशार्पण क्रिया की स्थिति को मनोभावों तथा पात्रों की भिन्नता रहने पर भिन्न-भिन्न स्वरूप की रचना करते हुए रखना तथा सम्पन्न करना उचित माना गया। कथकलि के परम्परागत आधार ग्रन्थ **'हस्तलक्षण-दीपिका'** में इन हस्तों के स्वरूप तथा योजना का विवरण है परन्तु इस ग्रन्थ में असंयुक्त हस्तों का विवरण मात्र है, संयुक्तहस्तों का नहीं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि हस्तमुद्राओं में असंयुक्तहस्तों का ही अधिक महत्त्व है, क्योंकि इन्हीं को मिला कर संयुक्तहस्तों का निर्माण किया जा सकता है। इससे यह भी संकेतित हो सकता है कि असंयुतहस्तों में संयुक्तहस्तों की मुद्राएँ समाविष्ट हो सकती हैं तथा जो अर्थ दोनों हाथों को मिला कर दर्शाया जाता है उसे अलग रहने वाले असंयुतहस्त से अधिक भिन्न नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ अञ्जलि नामक संयुक्त हस्त के द्वारा जो नमस्कार करने का अर्थ (भाव) दिखलाया जाता है वही दो पताक हस्तों को मिलाने के सीधे उल्लेख से भी संभव है। इतना होने पर भी जब प्रयोगदशा में दोनों हाथों का मिलाना ही अभीष्ट हो तो संयुत हस्तमुद्राओं का प्रतिषेध सम्भव भी नहीं है तथा न ही उचित भी। इसी कारण संयुत हस्तमुद्राओं का स्वरूप तथा उनसे दिखलाये जाने वाले भावों का विवरण भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ में विशेष मनोयोग से दिया भी है क्योंकि संयुक्तमुद्राओं का नाट्यादि में प्रयोग असंयुक्त मुद्राओं की अपेक्षा भिन्न रूप में अपेक्षित है।

मुद्राओं के अतिरिक्त भी हस्त के अनेक कार्य होते हैं जिनका मुनि ने निर्देश किया। उदाहरणार्थ हाथ से विकर्षण, उत्कर्ष, व्याकर्पण, परिग्रह, निग्रह, आह्वान, ताडन, छेदन, भेदन, संश्लेष, विश्लेष, रक्षण, मोक्षण, विक्षेप तथा तर्जन आदि अनेक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं जिनका विवरण नाट्यशास्त्र में विद्यमान है भी तथा जो अपने हस्तरूपों से अभिनव भावों की सृष्टि कर प्रयोग को उज्ज्वलता देता है। इन हस्तों का स्वरूप मानव की भावसम्पदा के प्रकाशन में महत्त्व का होकर सदा शास्त्रीय अध्ययन का विषय बन कर अपने विषय का महत्त्व दिखलाता रहेगा यह निर्विवाद है।

नृत्तहस्त—भरतमुनि ने इन हस्तों के अतिरिक्त तीस नृत्तहस्तों का भी विवरण दिया है। हस्ताभिनय के आकर्षक विविध रूपों से शोभा लाने के लिये जिन हस्त स्थितियों की रचना विभिन्न अवस्थाओं में की जाती

है वे **'नृत्तहस्त'** हैं। यद्यपि ये हाथों की विभिन्न स्थितियाँ या रचना मात्र होती हैं किन्तु इनके द्वारा अर्थ या भाव का प्रदर्शन नहीं होता, ये केवल अङ्गभङ्ग या लावण्य दर्शाने के लिये (ही) प्रयोग में रखे जाते हैं। इनकी रचना भी वास्तव में ध्यान से देखें तो वह समुतुलन (balance) के आधार पर की गई प्रतीत होती है। ये नृत्तहस्त हाथ, पैर तथा शरीर के सामञ्जस्यपूर्ण सन्तुलन के द्वारा अलौकिक आभा के सर्जन से लावण्य को साधते हैं। इसी कारण नाट्याचार्य इन्हें शोभाधायिता के कारण नाट्य प्रयोग अलंकरण मानते हैं।

नृत्तहस्तों की भी रचना यद्यपि संयुत तथा असंयुत हस्तों के द्वारा ही होती है तथा कहीं कभी मिश्र भी; फिर भी ये उन हस्तमुद्राओं से भिन्न ही माने जाते हैं। अभिनयदर्पण में कुछेक नृत्तहस्तों की वही नामावलि है जो भरत के नाट्यशास्त्र में है तथा इनकी रचना के विवरण भी प्रायः समान हैं किन्तु इनकी योजना तथा संख्या के विवरण भिन्न है। अभिनयदर्पण में नृत्तहस्तों की संख्या तेरह ही रखी है जब कि नाट्यशास्त्र में नृत्तहस्तों की संख्या तीस हैं। नाट्यशास्त्र में निर्देशित नृत्तहस्तों का क्रमिक विवरण इस प्रकार है:— (१) चतुरस्र, (२) उद्वृत्त या तालवृत्त, (३) ततमुख, (४) स्वस्तिक, (५) विप्रकीर्ण, (६) अरालकटकामुख, (७) आविद्धवक्त्र, (८) सूचीमुख, (९) रेचित, (१०) अर्धरेचित, (११) उत्तानवञ्चित, (१२) पल्लव, (१३) नितम्ब, (१४) केशबन्ध, (१५) लता, (१६) करिहस्त, (१७) पक्षवञ्चित, (१८) पक्षप्रद्योतक, (१९) गरुडपक्ष, (२०) हंसपक्ष, (२१) ऊर्ध्वमण्डल, (२२) पार्श्वमण्डल, (२३) उरोमंडल, (२४) पार्श्वावर्त या पार्श्वार्धमण्डल, (२५) मुष्टिक स्वस्तिक, (२६) वलिनीं पद्मकोष, (२७) अलपल्लव, (२८) उल्वण, (२९) ललित तथा (३०) वलित। अभिनय-दर्पण में नृत्तहस्तों की संख्या तेरह ही है। जिनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) स्वस्तिक, (२) दोला, (३) अंजलि, (४) कटकावर्धमानक, (५) शकट, (६) पाश, (७) कीलक, (८) पाश, (९) शिखर, (१०) कूर्म, (११) हंसास्य, (१२) अलपल्लव तथा (१३) पताक। इनमें पताक, त्रिपताक, शिखर, कपित्थ, अलपद्म तथा हंसास्य ये असंयुत हस्तमुद्रायें हैं तथा अंजलि, स्वस्तिक, दोला, कटकावर्धमानक आदि शेष संयुतहस्त हैं तथा ये विशिष्ट या भिन्नरूप में केवल शोभा के लिये विना भाव प्रदर्शन के रखने पर 'नृत्तहस्त' हो जाते हैं।

नाट्यशास्त्र में नृत्तहस्तों के जो लक्षण दिये गये हैं उनसे भी नृत्य के अर्थों की सूचना मात्र दर्शाना ही संभव है। इसी कारण पूर्ण विवरण से इनकी रचना दिखलाने पर भी इनकी स्थिति का स्थिरीकरण संभव नहीं है तथा इसी कारण इनका जितना वर्णन शब्दों से संभव था वह किया गया परन्तु ये हैं हाथों की चलितस्थितियाँ। इसीलिये यह भी हमें दिखलाई देता है कि पताक जैसे अभिनयहस्तों के योग के साथ अभिनय तथा नृत्तहस्तों का मिश्रण होगा तथा ऐसे स्थानों पर नाट्य की प्रधान स्थिति रहने पर ऐसे हस्त को अभिनयहस्त तथा नृत्त की प्रमुखता रहने पर 'नृत्तहस्त' समझना पड़ेगा। जैसे उदाहृण के लिये नृत्ताभिनय की स्थिति में लताहस्त का प्रयोग या नृत्य की स्थिति में 'करिहस्त' का प्रयोग करना। इसी प्रकार चतुरस्त्र हस्तादि का प्रयोग भी। नाट्यगत विशुद्ध हस्तमुद्राओं के या नृत्तहस्तों के सम्पादन में करणों का योग तथा उनका प्रयोग नितान्त वाञ्छनीय है। हस्तकरण के द्वारा हाथ की मुद्राएँ अपना स्वरूप लेती हैं। ये करण भी चार प्रकार का होता है :—(१) आवेष्टित, (२) उद्वेष्टित, (३) व्यावर्तित, तथा (४) परावर्तित। करणों का प्रयोग विशुद्ध नाट्य तथा नृत्त दोनों ही दशाओं में किया जाता है। इन करणों का प्रयोग भी मुख, नेत्र, भ्रू तथा मुखराग आदि के अनुगत या साथ रखते हुए किया जाता है जिससे अपेक्षित भावाभिव्यक्ति हो सके। क्योंकि ये नृत्तहस्त उपाङ्ग के अभिनय के साथ जब प्रस्तुत होंगे तथा भाव एवं रस के आश्रित होकर संचालित होंगें तो उससे प्रयोग या नाट्यार्थ की पूर्ति या सफलता होती है।

नृत्तहस्तों की एक (मुख्य) विधि यह है कि इनका संचलन शरीर की क्रिया तथा पैर को उठाने और रखने के साथ रखा जाता है। अतः यह संचलन की स्थिति पाँच प्रकार से होती हैं। ये हैं, ऊपर, नीचे, दाहिने, वायें तथा सामने की ओर संचलन होना।

आधुनिक प्रचलित नृत्यों में नृत्तप्रधान शैली में परिगणनीय भरतनाट्य में नृत्यहस्तों की विविधता देखने में आती है जब कि दक्षिणभारत के मलावार में लोकप्रिय एवं परम्परागत 'कथकलि' (नृत्य) में नृत्तहस्तों का प्रयोग अल्प रखा जाता है, क्योंकि यह अभिनयप्रधान नृत्य होता है तथा इसी कारण इसमें अर्थदर्शक हस्तमुद्राओं का ही प्रयोग इष्ट होता है। यदि प्रयोग के उपयोग को देखते हुए विचार करें तो नृत्तहस्तों में भी पताक, त्रिपताक, मुद्रा तथा अर्धचन्द्र जैसे नृत्तहस्तों का प्रचुर प्रयोग दृष्टिगत हो जाता है। कथकली की परम्परा में नृतहस्तों को ऐसे भिन्नतायुक्त नामकरण

से नहीं जाना जाता है फिर भी वहाँ मुद्रा (नाट्यशास्त्र का सन्दंश) तथा अर्धचन्द्र जैसें हस्तों की विविध भङ्गिमाओं वाले रूपों में योजना रख कर प्रयोग को सौष्ठव युक्त रखा जाता है।

हस्ताङ्गुलियों तथा बाहुओं का सञ्चलन प्रकार

नाट्यशास्त्र में हस्तकरण के प्रसंग में चार प्रकार से हस्तसंचलन दिखलाया गया है यह हम पूर्व में दिखला आये हैं। यहाँ पर हस्तकरण हस्त की अंगुलियों की विभिन्न क्रियाओं की स्थितियाँ होती हैं तथा इन्हीं का विभिन्न नृत्यों में प्रयोग किया जाता है। इनके लक्षण भी नाट्यशास्त्र में (९।२१५–२१८) दिये गये हैं।

इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में बाहुओं की विविध दशाओं में रहनेवाली संचलन क्रियाओं (वाले हस्तों) का वर्णन है जिन्हें बाहुप्रचार कहा गया है। यद्यपि हस्त के भेदों का करणों के अन्तर्गत सञ्चलन दिखलाया गया था किन्तु बाहुप्रचार भी नाम देकर पृथक् से उन्हें फिर दिखलाया गया है। यहाँ बाहुओं के संचलन के नाममात्र मिलते हैं उनके लक्षण नहीं परन्तु आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इनके स्वरूप की थोड़ी व्याख्या दे दी है। तदनुसार इनका विवरण इस प्रकार है :—

(१) **तिर्यक् या तिर्यग्गत**—दोनों बाजुओं में तिरछे रखे गये हाथ।

(२) **ऊर्ध्वसंस्थ**—मस्तक पर ऊँचे कर रखे गये या उठाये हुए हाथ।

(३) **अधोमुख**—नीचे रखा गया या पृथ्वी को छूने वाला हाथ।

(४) **अञ्चित**—हाथ को वक्षःस्थल के पास से मस्तक तक ले जाकर पुनः उसी प्रकार अपने मूल स्थान पर वापस लाना।

(४) **अपविद्ध**—हाथ को वक्षःस्थल के पास से घुमाते हुए चक्राकार गति में सभी ओर बढ़ाते हुए आगे ले जाना।

(६) **मण्डलगति**—हाथ को शरीर के चारो ओर फिराना या घुमाव देना।

(७) **स्वस्तिक**—बायें हाथ से दाहिने हाथ की ओर दाहिने हाथ से बाँये हाथ की भुजा को पकड़ना या छूना।

(८) **पृष्ठानुसारी**—पीछे रखा या ले जाया गया हाथ।

(९) **उद्वेष्टित**—हाथ को कलाई का सहारा लेकर निकालते या फैलाते हुए दोनों को छूते हुए रखना और फिर एक को दूसरे का अनुगत करना।

(१०) **प्रसारित**—हाथ को आगे की ओर लम्बा करते हुए फैलाना।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इन बाहुप्रकारों की संचलनक्रियागत योजना को द्रुत, मध्य या विलम्बित गति में रख कर विचित्रता उत्पन्न करने का भी निर्देश दिया। इनके मत में इसके अतिरिक्त अन्य हस्त प्रचारों की आवश्यकता नहीं है जो अन्य आचार्यों ने दिखलाये हैं। क्योंकि ऐसे अतिरिक्त प्रकारों का अन्तर्भाव इन्हीं दस प्रभेदों में सरलता से किया जा सकता है। परन्तु नाटचशास्त्रसंग्रह तथा सङ्गीतरत्नाकर ग्रन्थों में बाहुओं के सोलह प्रभेद दिये गये हैं। इनमें नाटचशास्त्र के उपर्युक्त दस प्रभेदों के अतिरिक्त छः अन्य प्रभेद भी मिलते हैं। इनके नाम तथा स्वरूप इस प्रकार हैं :—(१) आविद्ध, (२) कुञ्चित, (३) नम्र, (४) सरल, (५) आन्दोलित तथा (६) उत्सारित।

इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं:—

(१) **आविद्ध**—बाहर से अपनी ओर खींचा गया हाथ।

(२) **कुञ्चित**—कोहनी को सिकुड़ा कर हाथ को मोड़ना।

(३) **नम्र**—सहज भाव से थोड़ा तिरछा रखा या झुकाया हुआ हाथ।

(४) **सरल**—दोनों बाजुओं की ओर सौष्ठवपूर्ण रीति में सरलता से या सीधा रखा हुआ हाथ।

(५) **आन्दोलित**—हाथों को झूलते हुए रखना।

(६) **उत्सारण**—विरुद्ध दिशा में रखे हुए हाथ को अपनी बाजू से दूसरी ओर चलता हुआ रखना।

अङ्गों के अन्य अभिनय—नाटचशास्त्र के दशम-अध्याय में अभिनय-विधि के प्रसंग में हृदय, उदर, पार्श्व, कटि, ऊरु, जङ्घा तथा पाद के द्वारा होने वाले अभिनय का विवेचन है। इनमें **हृदय** या वक्षःस्थल की पांच अवस्थाएँ या प्रकार होते हैं। ये हैं :—आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित तथा सम। इनके स्वरूप तथा अभिनययोजना का विशद विवरण है। **उदर** के तीन रूप या प्रभेद होते हैं। ये हैं—क्षाम, खल्व तथा पूर्ण। दुबला या पिचका हुआ उदर 'क्षाम', फूला हुआ 'पूर्ण' तथा अतिशय झुका हुआ या गढ़े वाला नत उदर 'खल्व' कहलाता है। इनमें हास्य, रुदन आदि में 'क्षाम' की, व्याधि, तपस्या आदि में 'खल्व' की तथा तन्द्रा, स्थूलता या अतिभोजन की स्थिति में 'पूर्ण' की योजना की जाती है। पार्श्व के (बाजू) भी नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्तित तथा प्रसृत नामक पाँच प्रभेद होते हैं।

जिनसे क्रमशः प्रसर्पण, अपसर्पण, आनन्द प्राप्ति, चक्राकार भ्रमण तथा सीधे पीछे हटने के भावों का अभिनय किया जाता है।

इसी प्रकार कटिके भी पाँच प्रभेद होते हैं। यथा—(१) छिन्ना, (२) निवृत्ता, (३) रेचिता, (४) कम्पिता तथा (५) उद्वाहिता। इनका स्वरूप तथा योजना को यथास्थान दिखलाया गया है। ऊरु, जंघा तथा पाद के भी कर्म या क्रिया के कारण पाँच-पाँच प्रभेद हो जाते हैं। इनमें ऊरु के पाँच कर्म हैं—(१) कंपन, (२) वलन, (३) स्तम्भन, (४) उद्वर्तन, (५) निवर्तन। इनकी विभिन्न स्वभाव एवं स्थितियों में योजना रखी जाती है। इसी प्रकार जङ्घा के भी पाँच कर्म माने जाते हैं—(१) आवर्तित, (२) नत, (३) क्षिप्त, (४) उद्वाहित तथा (५) परिवृत्त। इनकी योजना भी पात्रों के स्वभाव, स्थिति, गति तथा नृत्य आदि में की जाती है। इसी प्रकार पाद के भी पाँच प्रभेद माने गये हैं। यथा—(१) उद्घट्टित, (२) सम, (३) अग्रतलसञ्चर (४) अञ्चित तथा (५) कुञ्चित। इनके स्वरूप तथा योजना का विवरण भरत मुनि ने विस्तार से दिया है। इसके अतिरिक्त प्राप्य अन्य पाठ को भी लिया जाए तो पाद के 'त्र्यस्र', तथा 'सूची' नामक और दो प्रभेद होते हैं जिनका लक्षण तथा योजना भी मिलती हैं।

ये पाद, जंघा तथा ऊरू के कार्य या व्यापार परस्पर सम्बद्ध होते हैं तथा भाव एवं रस की स्थिति के अनुसार इनको एक साथ रखते हुए संचालित किया जाता है और इनके समन्वित कार्य या व्यापार से अभिनय प्रयोग पूर्ण तथा प्रभावकारी बन जाता है। इनमें भी सर्वाधिक महत्त्व पाद का माना गया है। क्योंकि उसी के आधार या आश्रय पर ऊरू तथा जंघा के कार्य निर्भर करते हैं तथा इन्हीं तीनों के कार्यों के समीकरण या एकीभाव से 'चारी' का निर्माण होता है। इसी कारण 'पैरों' का नृत्य तथा अभिनय दोनों के ही लिये समान महत्त्व है।

चारीविधान—नाट्यशास्त्र का एकादशअध्याय 'चारीविधान' है। हम बतला आये हैं कि कटि, पार्श्व, ऊरू- (तथा) जंघा और पाद के द्वारा होने वाले कार्य या व्यापार का एक साथ होना 'चारी' है, जिनमें चेष्टाएँ व्याप्त रहती हैं। इनका अभिनय में बड़ा महत्त्व माना गया है, क्योंकि चारी के द्वारा ही नृत्त तथा अङ्गहारों की रचना तथा शस्त्रों का चलाना भी सम्पन्न होता है। नाट्य में चारी की स्थिति को बतलाते हुए भरतमुनि ने बतलाया कि बिना चारी के मस्तक, हस्त आदि अंगों का संचालन नहीं हो सकता

अतः आङ्गिक अभिनय की आधारभूत रहने से चारी का अभिनय के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व माना गया है। इसके अतिरिक्त नृत्य के कारण, खण्ड तथा मण्डल का भी चारी ही आधार होती है, जिसकी विशेषरूप से 'नृत्त' में संयोजना की जाती है तथा युद्ध एवं शस्त्रप्रहार के अभिनय प्रसंगों में प्रयोग रखे जाते हैं।

एक पाद के प्रचार या आगे बढ़ने के व्यापार से चारी की, दो बार पाद प्रचार के द्वारा 'करण' की तथा करणों के एकीभाव या समयोग से 'खण्ड' की तथा दो या तीन खण्डों के योग से 'मण्डल' का निर्माण होता है। चारी के अभिनयव्यापार को सर्व प्रथम दो भागों में विभक्त किया जाता है। एक भौमी तथा दूसरी आकाशिकी चारी। इनमें प्रत्येक चारी के सोलह-सोलह भेद रखे गये हैं जो कुल भेद बत्तीस हो जाते हैं। अभिनयदर्पण में चारी के आठ प्रभेद ही दिखलाये गए तथा यहाँ भौमी एवं आकाशिकी के रूप में उनका विभाग भी नहीं मिलता। **'संगीतरत्नाकर'** में देशी चारी के अतिरिक्त प्रभेद भी दिखलाये गये हैं जो कोहल आदि नृत्याचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दिये थे। तदनुसार ३५ भौमी चारियाँ तथा २७ आकाशिकी चारियाँ मानी गयी हैं। कोहल ने ३५ मधुपाचारी को भी बतलाया या जिनका विवरण **'संगीतरत्नाकर'** की चतुरकल्लिनाथ की व्याख्या में मिलता है। आचार्य कोहल ने नृत्याचार्य की अपेक्षा से चारी में संवर्द्धन या संशोधन को भी सहमति दी हुई थी। इस प्रकार चारी के भेदों के विषय में प्राचीन तथा उत्तरवर्ती आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है जो इसके प्रयोग के महत्त्व को दर्शाता है। चारी को वर्तमान कलाविद् 'चाल' शब्द से (भी) दिखलाते हैं। इन चारियों के मेल या समूह से 'मण्डल' का निर्माण होता है। ये भी अपनी आधारभूत चारियों के भेद के कारण आरम्भ में भौम तथा आकाशिक भेद से दो प्रकार के हो जाते हैं। इन मण्डलों के भी भौम प्रभेद दस तथा आकाशिक प्रभेद दस होकर कुल संख्या बीस हो जाती है।

भौमी चारी—मूलतः एवं मुख्य रूप से चारियों का प्रयोग भूमि पर होने के कारण अपनी संज्ञा के अनुरूप ही इनका 'भौमी' अन्वर्थ नामकरण है। इनके सोलह प्रभेद हैं। जो इस प्रकार हैं—(१) समपादा, (२) स्थितावर्ता, (३) शकटास्या, (४) अध्यर्धिका, (५) चाषगति, (६) विच्युता, (७) ऐलकाक्रीडिता, (८) बद्धा, (९) उरूद्वृत्ता, (१०) अड्डिता, (११) उत्स्पन्दिता, (उत्स्यन्दिता) (१२) जनिता, (१३)

स्पन्दिता, (१४) अपस्पन्दिता, (१५) समोत्सारित मत्तल्ली तथा (१६) मत्तल्ली। इनके लक्षण तथा योजनादि विवरण नाटयशास्त्र में विद्यमान है।

आकाशिकी चारी—आकाशिकी चारी के अन्तर्गत आकाश की ओर अर्थात् ऊपर होने वाले पाद प्रयोग या अभिनय व्यापारों का समावेश रहता है तथा इसी कारण इसका भी अन्वर्थ नामकरण है। इनके पारस्परिक अन्तर की स्थिति बतलाते हुए भरतमुनि ने एक प्रयोगगत विशिष्ट तथ्य भी संकेतित किया कि भौमीचारी का प्रयोग मुख्यरूप से करणाश्रित नृत्य तथा द्वन्द्वयुद्ध में होता है तथा प्रासंगिक रूप में 'नाटय' में रखा जाता है जब कि आकाशिकी चारी का प्रयोग ललित अंग से युक्त क्रियाओं के प्रसंग में तथा धनुष, वज्र, असि आदि शस्त्रों के चलाने के (युद्धगत) व्यापार में किया जाता है। आकाशिकी चारी के भी सोलह प्रभेद होते हैं। ये हैं—(१) अतिक्रान्ता, (२) अपक्रान्ता, (३) पार्श्वक्रान्ता, (४) ऊर्ध्वजानु (५) सूची, (६) नूपुरपादिका, (७) दोलपादा, (८) आक्षिप्ता, (९) आविद्धा, (१०) उद्वृत्ता, (११) विद्युद्भ्रान्ता, (१२) अलाता (१३) भुजङ्गत्रासिता, (१४) हरिणीप्लुता, (१५) दण्डा (दण्डपादा) तथा (१६) भ्रमरी। इनके लक्षण तथा प्रयोगादि योजना का विवरण नाटयशास्त्र में है।

इस प्रकार यद्यपि नाटयशास्त्र (आदि ग्रन्थों) में इन चारियों के लक्षण तथा योजना की रीति निर्दशित की गयी किन्तु यह सभी शास्त्रीयपदावलि तथा सांकेतिक पद्धति में रखी जाने के कारण केवल नाटयशास्त्र के अध्येता या अभ्यासकों के द्वारा ही वेद्य होती हैं। भारत की विभिन्न नृत्य या नाटय प्रणालियों में अभी भी इन चारियों में से अधिकांश का प्रयोग चल रहा है यह ठीक है किन्तु इतने से भी इसकी व्यवस्थित स्थिति का स्पष्ट परिभान नहीं होता। इसे यदि सरल शब्दों में संक्षेप में समझना चाहें तो यही कि पाद की गति को तीन प्रकारों में बाँटा गया है। इनमें प्रथम को गति, द्वितीय को चारी तथा तृतीय को 'मँडल' कह सकते हैं।

इन चारियों के प्रदर्शन के अवसर पर नाटय या नृत्य प्रयोग के प्रसंग में हस्त एवं पाद प्रचार का पारस्परिक अनुगत सम्बन्ध या क्रियाक्रम रखा जाता है। नाटय, नृत्य (तथा नृत्त के) प्रयोग में कभी हस्तप्रचार की कभी पादप्रचार की तथा कभी दोनों की समान रूप में प्रमुखता होती है। अतएव हस्तप्रचार की प्रधानता में पादप्रचार (उसी का) अनुगत रहता

है तथा पादप्रचार की प्रमुखता में हस्तप्रचार भी उसी प्रकार अनुगत हो जाता है। यदि दोनों की प्रमुखता रखना हो तो फिर दोनों का प्रत्येक का एककालिक विनियोजन हो जाता है। इस प्रसंग में भरतमुनि का यह सिद्धान्त बड़ा ही न्यायसम्मत तथा ध्यान देने योग्य है जो नाट्यप्रयोग के सुदीर्घ अनुभव को दिखलाते हुए इस सम्बन्ध में दिखलाया गया है।

स्थान—विविध अभिनय प्रदर्शन के अवसर पर चारी तथा हस्तादि के प्रदर्शन को करते समय शरीर को एक विशिष्ट एवं नियतस्थिति में रखना अपेक्षित होता है। इस स्थिति को 'स्थान' कहा जाता है जिसे आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने कायसन्निवेश या शरीर की विशिष्ट स्थिति कहा है। स्थान के विषय में नाट्य-नृत्य के आचार्यों में मतैक्य नहीं है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इनकी संख्या छः मानी गयी है। यथा—(१) वैष्णव, (२) समपाद, (३) वैशाख, (४) मण्डल, (५) आलीढ़ तथा (६) प्रत्यालीढ़। इन स्थानों के अधिष्ठाता देवता तथा इनकी योजना आदि का शास्त्र में विवरण दिया गया है जिसका संक्षेप इस प्रकार है :—

वैष्णवस्थान—इसके अधिष्ठाता देव श्रीविष्णु हैं। इसमें दोनों पैर अढ़ाई ताल के अन्तर से, एक पैर खड़ा हुआ और दूसरा टेढ़ा, जंघा ऊँची तथा झुकी हुई और अंग सौष्ठव-सम्पन्न रखा जाता है।

समपाद-स्थान :—इसके अधिष्ठाता देव श्री ब्रह्मा हैं। इसमें दोनों पैर का अन्तर एक ताल का और दोनों (ही) पैर सहज सौष्ठव से युक्त होते हैं।

वैशाख-स्थान—इसके अधिष्ठाता देव श्री स्कन्द (कार्तिकेय) है। इसमें दोनों पैर तीन ताल के अन्तर से तिरछे, स्तब्ध तथा एक दूसरे के सम्मुख बाजू को बतलाते हुए।

मण्डल-स्थान—इसके अधिष्ठाता देव श्रीइन्द्र हैं। इसमें दोनों पैरों का अन्तर चार ताल, दोनों एक दूसरे के सम्मुख तिरछे तथा घुटने और कटि सहज भाव में रखकर खडे होना।

आलीढ़ तथा **प्रत्यालीढ-स्थान**—इन दोनों स्थानों के अधिष्ठातृ देव श्रीरुद्र हैं। इसमें मण्डल स्थान की स्थिति में दाहिना पैर पाँच ताल के अन्तर पर आगे रखने पर 'आलीढ़' तथा इसके विपरीत बायाँ पैर इसी प्रकार आगे रखना या दाहिना पैर सिकोड़ कर बायाँ पैर आगे रखने पर प्रत्यालीढ़ 'स्थान'।

नाट्यशास्त्र में इन स्थानों के स्वरूप तथा उनकी अभिनय योजना दी

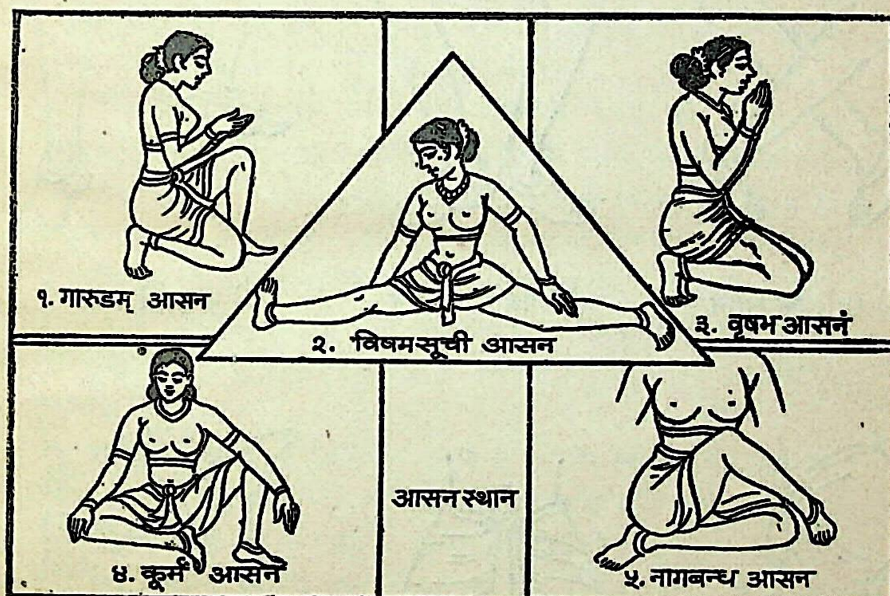
गयी है। इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों में भी स्थानकों का वर्णन मिलता है। इनमें सङ्गीतरत्नाकर में आसन तथा स्थान का विवरण अधिक स्पष्ट तथा व्यवस्थित रूप में मिलता है। ये स्थान इस प्रकार हैं :— (१) स्वस्तिक, (२) वर्धमान, (३) नन्द्यावर्त, (४) संहत, (५) समपाद, (६) एकपाद, (७) पृष्ठोत्तानतल, (८) चतुरस्र, (९) पार्ष्णिविद्ध, (१०) पार्ष्णिपार्श्वगत, (११) एकपार्श्वगत, (१२) एकजानुगत, (१३) परावृत्त, (१४) समसूची, (१५) विषमसूची, (१६) खण्डसूची, (१७) ब्राह्म, (१८) वैष्णव, (१९) शैव, (२०) गारुड, (२१) कूर्मासन, (२२) नागवन्ध तथा (२३) वृषभासन। इनमें समसूची, विषमसूची, खण्डसूची, गारुड, कूर्मासन, नागवन्ध तथा वृषभासन ये सभी आसन (स्थान) हैं तथा शेष स्थान है। नृत्याचार्यों के मत में (इन्हीं में से) पार्ष्णिविद्ध, पार्ष्णिपार्श्वागत तथा एकपार्श्वगत जैसे स्थानों के स्पष्ट लक्षण ज्ञात नहीं हैं।

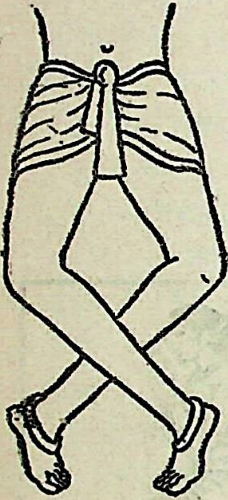
अशोकमल्ल आदि उत्तरवर्ती नृत्य नाट्य के आचार्यों के मत के अनुसार वैष्णव, समपाद आदि छः पुरुष स्थानक कहलाते हैं, जिनका नाट्यशास्त्र में विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त आठ स्त्री स्थानक भी होते हैं। इनके नाम हैं:—आयत, अवहित्य, अश्वक्रान्त, गतागत, वलित, मोटित, विनिर्वतित, तथा प्रोन्नत। इसके अतिरिक्त पूर्वकथित तेईस देशी स्थानक भी होते हैं तथा छः शयन या सुप्त स्थानक होते हैं। यथा—सम, नत, आकुञ्चित, विवर्तित तथा उद्वाहित। **सङ्गीतरत्नाकर** में भी छ पुरुष स्थानक तथा उपर्युक्त आठ स्त्री स्थानक के अतिरिक्त ये ही छः सुप्त स्थानक वतलाये गये हैं तथा साथ ही नौ उपविष्ट स्थान भी वतलाये गये हैं। ये नौ उपविष्ट स्थान इस प्रकार हैं, (१) स्वस्थ, (२) मदालस, (३) क्रान्त, (४) विष्कम्भित, (५) उत्कट, (६) स्रस्तालस, (७) जानुगत, (८) मुक्तजानु तथा (९) विमुक्त। विस्तार भय से इनके लक्षणादि विवरण को यहाँ नहीं दे रहे हैं।

न्याय—अभिनय में शस्त्रमोक्षण की चार विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं जिनकी शास्त्रीय संज्ञा 'न्याय' कहलाती है। क्योंकि इन्ही न्याय के आश्रित अङ्गहार तथा 'न्याय' से ही उपस्थित युद्ध को रंगमञ्च पर लाते हैं। ये न्याय चार हैं :—(१) भारत, (२) सात्वत, (३) वार्षगण्य तथा (४) कैशिक। भारत के अनुसार कटि प्रदेश पर, सात्वत के अनुसार पैर पर, वार्षगण्य के अनुसार वक्षःस्थल पर तथा कैशिक के अनुसार मस्तक से शस्त्र प्रहार का विधान होता है।

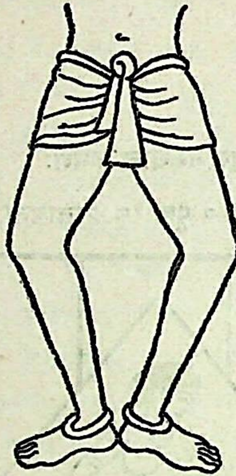
आसनस्थान क्रमशः

(ना० शा० पृष्ठ १८ प्रस्तावना)

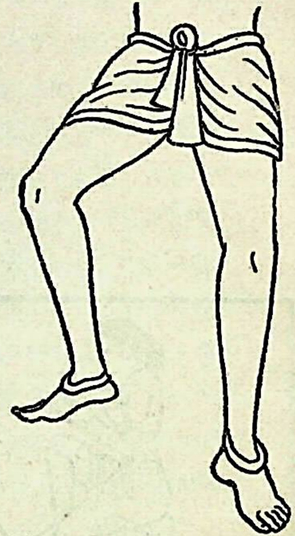




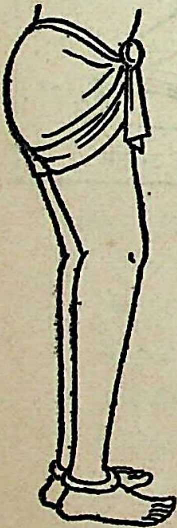
(७) स्वस्तिक स्थान



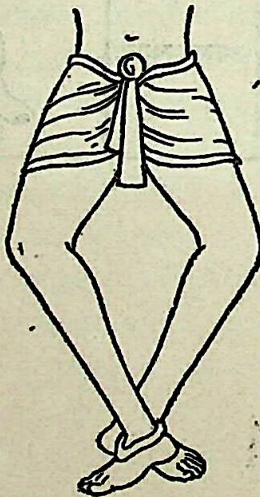
(८) वर्धमानक स्थान



(९) नद्यावर्त्त स्थान



(१०) संहत स्थान



(११) परावृत्त स्थान



(१२) ब्राह्म स्थान

भारतन्याय के अनुसार पात्र प्रवेश करते हुए बायें हाथ में खेटक तथा दाहिने हाथ में शस्त्र लेकर रंगमञ्च पर परिक्रमा करता है। इसी प्रकार अन्य न्यायों में भी थोड़े परिवर्तन के साथ शस्त्रों को लेकर (नाटच-प्रदर्शन में) परिक्रमा की जाती है। भरतमुनि ने शस्त्रमोक्षण के इन अभिनयों (के सम्वन्ध) में प्रयुक्त (इन) न्यायों के विषय में कुछ निषेध भी वतलाये हैं। तदनुसार धनुष या वज्रादि के प्रहार या प्रयोग की स्थिति में वह संकेतमात्र से छोड़ा जाए न कि उससे वास्तविक रक्तस्राव कराने वाला प्रहार हो परन्तु यदि ऐसा आवश्यक ही हो तो फिर आहार्यविधि के अभिनय-विधान का आवश्यकता के अनुसार अनुगमन किया जाए।

सौष्ठव—इस प्रकार जो नाटच प्रयोग में चारी की योजना का विधिवत् विधान दिखलाया गया परन्तु चारी के प्रयोग में 'अङ्ग सौष्ठव' आवश्यक होता है, क्योंकि अङ्गसौष्ठव से ही नाटच या नृत्य में शोभा का संचार (सम्भव) होता है। जव कटि, कर्ण, स्कन्ध तथा मस्तक सम स्थिति में और वक्षःस्थल उन्नत या उठा हुआ रखते हुए शरीर को व्यवस्थित करते हैं तो यही 'सौष्ठव' कहलाता है। इसमें शरीर को लक्षणानुसारी क्रम में रखा जाता है क्योंकि अङ्ग-सौष्ठव ही पात्रों के अभिनय को प्रभाव एवं समृद्धिशाली वनाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटचप्रयोग में चारी विधान का अतिशय महत्व होता है, जिसके मूल में भरतमुनि की शास्त्रीय दृष्टि तो है ही साथ में लौकिकता की धारा भी संयुक्त होकर चल रही है। इनमें सर्वत्र ही—चाहे हस्तसञ्चार हो या शस्त्रप्रक्षेप या पाद (प्रक्षेप या) प्रचार एक अनुगतता अवश्य विद्यमान रहती है। इसके अतिरिक्त रङ्गमञ्च पर किये गये छेदन आदि के निषेध, अङ्गों के सौष्ठव पूर्ण विधान तथा व्यायामकर्म आदि सभी नाट्यविधानों की प्रयोग में महत्त्वपूर्ण शृङ्खला रहती है जो भरतमुनि की प्रयोगगत सूक्ष्म एवं व्यावहारिक दृष्टि की अभिव्यक्ति करती है।

मण्डलप्रचार—नाटचशास्त्र का द्वादश-अध्याय **'मण्डलविधान'** नामक अध्याय है। यह वतलाया जा चुका है कि चारी द्वारा आङ्गिक अभिनय सम्पन्न किया जाता है जो करण, खण्ड तथा मण्डल का आधार होता है। इनमें एकपाद के प्रचार से 'चारी' दोनों पादों के प्रचार के द्वारा 'करण तथा करणों के योग मेल से 'खण्ड' तथा खण्डों के योग से 'मण्डल' का निर्माण होता है। चारियों के समूह से यह मण्डल निर्मित होता है। चारियों के समान मण्डल को भी भौमिक तथा आकाशित वर्ग में विभाजित किया गया

है। इनमें भौमिक तथा आकाशिक मण्डल के दस दस प्रभेद किये गये हैं जो सब मिल कर मण्डलों के बीस प्रभेद बनाते हैं। इनका नामादि विवरण इस प्रकार है—

भौमिकमण्डल—(१) भ्रमर, (२) आस्कन्दित, (३) आवर्त, (४) समोत्सारित, (५) एलकाक्रीडित, (६) अड्डित, (७) शकटास्य, (८) अध्यर्धक, (९) पिष्टकुट्ट तथा (१०) चाषगत।

आकाशिक मण्डल—(१) अतिक्रान्त, (२) विचित्र, (३) ललित-सञ्चर, (४) सूचीविद्ध, (५) दण्डपाद, (६) विहृत, (७) अलातक, (८) वामविद्ध, (९) ललित तथा (१०) क्रान्त।

नाटयशास्त्र में इनके स्वरूपादि का विवरण है। इन मण्डलों का युद्ध, सञ्चरण तथा बाहुयुद्ध आदि में लीलापूर्ण अङ्ग सञ्चालन के साथ वाद्यों के वादन के अनुगत प्रदर्शन रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है।

गतिप्रचार—नाटयशास्त्र का तेरहवाँ अध्याय 'गतिप्रचार' अध्याय है। आङ्गिक अभिनय के क्रम में पात्रों द्वारा प्रयोज्य विभिन्न अवस्था, भाव, स्थान, आसन आदि के समय उनकी जो चाल या गति होती है वह भी विभिन्नता लिये हुए रहती है तथा इसी विभिन्नता सम्पन्न गति से इन पात्रों के स्थान, भाव, प्रचार आदि का विधान निश्चय किया जाता है। यही विधान 'गति प्रचार' कहलाता है जिसमें पात्रों की अवस्था, काल, स्थान आदि विविध सन्दर्भों में स्वरूपानुसार उनकी चाल या गति को दिखलाया जाता है। इसका कारण यह है कि नाटच प्रयोग में विविध पात्रों की चाल उनकी प्रकृति तथा कार्य के अनुरूप बदलती हुई रखना आवश्यक होता है तथा पात्र की अपनी चाल में भी कभी-कभी समय, अवस्था या कारणवश (संयोगवश भी) भिन्नता आ जाती है। जिसका प्रभाव शरीर के अङ्ग तथा उपाङ्गों पर (विभिन्न रूप में) पड़ता है तथा इनसे उनके पाद-प्रचार या गति प्रभावित (या परिचालित) रहती है। अतएव गतिविधान नाटचप्रयोग की सिद्धि में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अन्तर्गत पात्र जब रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे तभी से लेकर उसके निष्क्रमण तक की प्रत्येक गति का विधान विभिन्न भूमिकाओं के प्रस्तुतीकरण की स्थिति में अपना अतिशय (महत्व एवं) मूल्य रखती है।

पात्रप्रवेश—नाटचप्रयोग के आरम्भ में रङ्गमञ्च पर पात्र का प्रवेश होता है। यह प्रवेश इस प्रकार होना चाहिए कि उससे प्रतिपाद्य

या साध्य रस के उदय का आरम्भ सामाजिकों में होने लगे। इसलिये ऐसे समय भाण्डवाद्य के वादन के साथ-साथ मार्ग एवं रस से युक्त ध्रुवागान को (पात्र प्रवेश-काल में) रखा जाता है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद[1] ने कोहल आचार्य का इस सन्दर्भ में मत दिखलाते हुए बतलाया कि प्रवेशकाल के समय नाट्यप्रयोग के अनुसार ध्रुवा या शुष्काक्षर गान करवाया जाए तथा पात्र को उचित स्थान, दृष्टि, मुखराग आदि से संयुक्त रखते हुए रखा जाए, जिससे सामाजिकों के अन्तःकारण में शीघ्र प्रतिपाद्य (मुख्य) रस के उदय का आरम्भ होने लगे। इसमें उत्तम तथा मध्यम पात्रों का प्रवेश वैष्णवस्थान द्वारा किया जाता है। उस समय उनका वक्षः, बाहु तथा मस्तक सम, उन्नत तथा एक समान रखा जाता है, ग्रीवा मयूर सी उन्नत, सुन्दर तथा प्रसन्न, दाहिना तथा बायाँ हाथ क्रमशः नाभि तथा कटि के पास अवस्थित रखते हुए भूमिकानुसार उन्हें अन्तर (तथा समय) लेते हुए अपने डगों को रखना चाहिए। इस प्रकार रङ्गमञ्च पर प्रविष्ट पात्र के चरण अपनी प्रकृति और मानसी दशा के अनुरूप निश्चित दूरी पर समय के अनुसार रखे जाएँगे। इसका कारण पात्रों की अपनी प्रकृति रहती हैं। उत्तमपात्रों की प्रकृति गम्भीर होती है तथा अधम की चंचल या असंयत।

देवता तथा राजा जैसे उत्तमपात्रों के पादक्षेप का अन्तर चार ताल, मध्यमपात्रों का दो ताल तथा स्त्री एवं नीच पात्रों का अन्तर एक ताल की दूरी पर होता है। इसी प्रकार इनका समय भी दिखलाया गया है। यथा— उत्तम पात्र के पाद क्षेप में चार कला, मध्यम में दो कला तथा अधम में एक कला का समय लगना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसे लय के अनुगत भी रखा जाता हैं अतः उत्तमपात्रों का गति क्रम स्थित या विलम्बित लय में, मध्यमपात्र का मध्यम लय में तथा अधम पात्रों का द्रुत लय में रखा जाता है।।

इस विवरण से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जब गति का निर्धारण ताल, लय तथा समय का आश्रय लेकर नियमानुसार रखा जाता है तो उसे सत्व या मनोदशा के सन्दर्भ में भी रहना चाहिए। क्योंकि मनःस्थिति जब असाधारण हो तो पात्रों की उपर्युक्त गति में प्रकृतिभेद से उसे रखा जाएगा क्योंकि सत्व प्रकृति की अपेक्षा से आवश्यक रहता है। चरणों के अन्तर में रखे गये काल, लय और गति के क्रम में प्रकृति की अपेक्षा से चित्तवृत्तियों की

१. द्रष्ट० अभि० भार० vol II पृ० १३७.

भी प्रमुखता रहती है। इसी कारण भयत्रस्तता तथा हर्ष की अवस्था में उत्तम प्रकृति के पात्रों का पाद प्रचार या गति 'द्रुत' तथा क्षुधा, व्याधि एवं शोक आदि की दशा में अधम प्रकृति के पात्रों का पाद प्रचार भी विलम्वित या स्थित लय में रखा जाता है। अतएव पात्रों की प्रकृति के सन्दर्भ में उनकी गति का स्वरूप चित्तवृत्ति या सत्व की अपेक्षा से निश्चित किया जाता है यह स्पष्ट नियम दिखलाई देता है। परन्तु उत्तमपात्र की गति मध्यम पात्र में तथा मध्यमपात्र की (निर्धारित) गति की योजना उत्तमपात्र में नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि पात्रों की गति का निश्चय उनके गुण के आधार पर किया जाता है, क्योंकि ऐसा करने से ही रस की स्थिति सम्भव है। भरत का यह विधान लोकानुवर्तन की स्थिति एवं प्रवृत्ति की पुष्टि करता है। इस सन्दर्भ में आचार्य **अभिनवगुप्तपाद** ने वतलाया कि जब भी असामान्य मानसिक दशाओं के कारण गति के निश्चय में विपर्यय या अनियम दिखलाई पड़ेगा फिर भी उसमें सत्व से अनुगत एक सूक्ष्म सूत्र के सदृश नियम धारा का अनुगमन विद्यमान रहेगा ही; जिससे उत्तमपात्र की शोकादि में द्रुत तथा अधम की विलम्वित कर दी जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भरताचार्य ने प्रत्येक गति का सत्व तथा रस के अनुरूप विस्तृत विधान ही इसके सन्दर्भ में दिखलाया है।

रसगति—भरतमुनि ने प्रत्येक रस के अनुरूप गति का अतिसूक्ष्म एवं प्रभावकारी विवरण के साथ रसों के नियम तथा गति को दिखलाया है। संक्षेप में यहाँ उन्हें दिया जारहा है :—

शृङ्गार रस—इसमें पात्र की ललित एवं कोमल गति रखी जाती है। यहाँ चरण भी ताल लयाश्रित मन्द तथा स्वच्छन्द भाव से पृथ्वी पर रखे जाते हैं। प्रच्छन्न-कामी पात्र चन्द्रज्योत्स्ना से प्रकाशित मार्ग में शब्दमात्र से आशंकित एवं भीत होकर चुपचाप लड़खड़ाते चरणों से डग भरते हुए चलता है तथा उस समय इसकी स्वच्छन्द या निर्भीक स्थिति नहीं होती है। यहीं जब अन्धकार पूर्ण मार्ग पर चलता है तो इसे धूजते या लड़खड़ाते चरणों में ठोकर खाते हुए रखा जाता है। **हास्यरस** में पात्र की गति विक्षिप्त रखी जाती है। **करुणरस** में शिथिलगति में पात्र चलता है। इस गति की योजना मरण के समय विशेष रूप से की जाती है। इसमें स्थित (विलम्वित) लय में पाद प्रचार तथा अश्रुओं के प्रवाह से अवरुद्ध नयन रखें जाते हैं। यहाँ उत्तमपात्र की गति धैर्य युक्त सहज अश्रु प्रवाह तथा निश्वास और ऊर्ध्व-

निरीक्षण के साथ रखी जाती है। इस समय पादप्रक्षेप या प्रचार ही सहज होता है। शोकग्रस्त पात्र का वक्षःस्थल 'नत' रखा जाता है तथा गाढ़प्रहार की स्थिति में शरीर को भुजा के सहारे टिका हुआ दर्शाया जाता है। रौद्ररस में चण्डगति होती है। इस गति की योजना क्रोध में शत्रु का पीछा करने में की जाती है। इसमें पैरों का अन्तर चार ताल का रखा जाता है। राक्षस एवं दैत्य पात्रों में इसे स्वाभाविक गति के रूप में रखा जाता है, क्योंकि ऐसे पात्र स्वभाव से ही रौद्र प्रकृति के होते हैं। इसमें पाद प्रचार विषम रहता है। **वीररस** के प्रयोग में गौरवगति रहती है जो उत्तम या वीर प्रकृति के पात्रों की सहज गति मानी जाती है। इसमें गति का क्रम द्रुत तथा इसी कारण चरणविन्यास न्यूनकलाओं वाला रखा जाता है। **भयानकरस** में गति भयत्रासित रखी जाती है। इसमें दोनों बाजुओं की ओर देखना, धूजना, आँखों को खुली रखना, ओठों का सूख जाना आदि के साथ स्खलितगति में पादसंचार रहता है। इसमें गति चूर्णपद में रहती है तथा विकल तथा कापुरुष व्यक्ति की यह स्वाभाविक गति मानी गयी है। **वीभत्सरस** में सङ्कोचगति रहती है। इसमें हाथ पैर के पीछे रखे जाते हैं तथा चरणविन्यास पास-पास या एक के पीछे एक या एक दूसरे के मध्य में रखे जाते हैं। (तथा यह अनियन्त्रित स्वरूप में भी रहता है)। **अद्भुत-रस** में आश्चर्यगति रहती है। इसमें पैरों की गति लड़खड़ाते हुए तथा चारों ओर घूमते हुए रहती है तथा पात्र मुग्धभाव में रहता है। **शान्तरस** में स्थिरगति या अचंचलगति रखी जाती है, जो स्थितप्रज्ञ या शान्त पुरुष की होती है। इसमें समपाद की स्थिति में पात्र अवस्थित रहता है।

विविध पात्र गति—नाट्यशास्त्र में पात्रों के स्तर, दशा तथा प्रकृति की विभिन्नता के आधार पर तथा उनके उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणी के विभाजन के द्वारा (उनकी) गति का विस्तार से निरूपण किया गया है। इसका कारण है—अभिनय में यथार्थता आकर प्रतिपाद्य रस में निर्वाध आस्वाद्यमानता का उत्पन्न होना। भरत का यह विविध पात्रों की गति का विवरण अति विस्तीर्ण है, जिसमें उत्तम आदि पात्रों में परिगणनीय नृप, सचिव, यति, वणिक्, तपस्वी, वृद्ध एवं युवा, स्थूल तथा कृश, मत्त एवं उन्मत्त तथा पंगु, वामन, कुब्ज एवं खञ्ज पुरुष के अतिरिक्त शकार, चेट, विदूषक, कञ्चुकी तथा दास जैसे पात्रों की गतियाँ निरूपित हैं। यह गति निरूपण नाट्य के प्रयोग में उपयोगी एवं प्रभावकारी तो है ही वड़ा ही मौलिक भी है।

इसके अतिरिक्त मुनि ने म्लेच्छ, शवर आदि प्रजातियों की प्रकृति एवं स्थिति के अनुरूप गति निरूपण के साथ-साथ नाट्य में प्रयुज्यमान सिंह, वानर, रीछ जैसे पशुओं तथा पक्षि एवं सर्प आदि प्राणियों की गति का भी व्यवस्थित विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त पुरुषपात्रों के समान ही स्त्री-पात्रों की गति का भी विस्तार से विवरण है। सुकुमार प्रकृति के कारण स्त्रियों की गति में कला, ताल एवं लय के प्रमाण को पुरुष की अपेक्षा आधा रखा जाता है, तथा अवस्था भेद से भी युवती, मध्या, प्रौढ़ा तथा वृद्धा के भेद से भी स्त्रीगति में अन्तर रहता है। जैसे वाला की गति में अधिक स्वच्छन्दता रहनी चाहिए तथा सभी स्त्रियों की गति में लालित्य एवं विलास के साथ-साथ सौष्ठव भी दिखना चाहिए। (यें) सभी पात्रों की गतियाँ उनकी प्रकृति, चित्तवृत्ति, अवस्था, देश एवं काल के अनुरूप रखी जाती है। इन विवरणों में जिन जातियों, पदार्थों (या वस्तु) का विधान न हो उन्हें लोकव्यवहार एवं उनके स्वरूप को देख कर नाटचप्रयोग में आचार्यबुद्धि से नियोजित करना चाहिए।

भूमिका-विपर्यय—नाटचप्रयोग की अपेक्षा या अन्य स्थितिवश इसके अतिरिक्त भी पात्रों की भूमिका में परिवर्तन किया जा सकता है। मुनि ने ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भूमिका विपर्यय का विधान दिया है। इसमें ऐसे कार्य का उद्देश्य तथा विधान के साथ पर्याप्त व्यवस्थित विश्लेषण (भी किया गया) है कि पुरुष एवं स्त्रीपात्र अपने स्वभाव, स्थिति एवं प्रकृति के विपरीत ऐसी भूमिका क्यों ग्रहण करते हैं। यह दो स्थितियों में होता है—(१) आत्मस्वभाव या स्वरूप का परिवर्तन तथा (२) परभाव या समय के अनुसार इष्ट स्वरूप का धारण या तद्भावगमन। इस प्रकार स्त्रीपात्र वेष, कर्म, भाषा एवं गति से पुरुषों का तथा पुरुष भी स्त्रीवेष तथा मृदुगति आदि से स्त्रीभाव का अभिनय सम्पन्न करता है। यह भूमिकाविपर्यय सिद्धान्त अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह प्रयोग की दृष्टि से विलक्षणता लिये हुए है, क्योंकि इसमें अधिक नाटच-कौशल दिखलाना पड़ता है जो अतिशय अभ्यास तथा परिश्रम की अपेक्षा रखता है। दूसरे इसका ऐतिहासिक महत्व भी कम मूल्यवान् नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि भरतमुनि के समय तक नाटचविज्ञान इतना विकसित तथा समृद्ध हो चुका था, जिसमें मनोवैज्ञानिक स्तर पर चमत्कार की उद्भावना के उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य तात्कालिक व्यवस्था की पूर्ति के लिये 'भूमिकाविपर्यय' की योजना हो सकती थी। इसने संस्कृत नाटचप्रयोग

को गति एवं सौन्दर्य प्रदान करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया यह निर्विवाद है।

विमान आदि गति—नाट्यप्रदर्शन में कथावस्तु के अनुरोध से अनेक दृश्यों का दिखलाना आवश्यक रहता है, किन्तु सामान्यतः ऐसे नाट्यप्रयोग में विमान आदि प्रत्यक्ष दर्शाना संभव नहीं। ऐसी परिस्थिति में भरतमुनि ने विमानगमन, रथारोहण, पर्वतारोहण, जलसन्तरण, आकाशगमन, अन्धकार-यात्रा जैसे दृश्यों, पदार्थों एवं क्रियाओं को नाट्य में प्रस्तुत करने के लिये कुछ प्रतीकात्मक अभिनयों तथा युक्तियों की परिकल्पना की है। इस प्रसंग में की जाने वाली पात्रों की गतियों का निरूपण अतिशय स्पष्ट विवरण के साथ किया गया है। निर्जीव पदार्थों एवं सजीव प्राणिपात्रों की रङ्गमञ्च पर अवतारणा की यह पद्धति नाट्यप्रयोग के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति रखती है। देश, काल आदि भेद से प्रतीकात्मक अभिनय के तथा तदनुरूप काव्यपाठ के द्वारा ऐसे दृश्यों को रूपायित करने का विधान रखा गया है जो लोकानुसारी होता है। इस सन्दर्भ में **आचार्य अभिनवगुप्तपाद** ने अनुकृतियों के प्रयोग करने की भी सहमति दी है। उनका मत है कि अनुकृत प्रतिकृतियों तथा शोभाधायक पटचित्रों के द्वारा भी ऐसे दृश्यों को उपस्थापित करना चाहिए। पतञ्जलिमुनि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में शोभाधायक चित्रपटों के धारण करने वाले शोभिकों का उल्लेख किया था जो अभिनवगुप्त के विचारों का उत्स प्रतीत होता है। इस प्रकार नाट्यधर्मी प्रतीकों तथा अभिनयों के द्वारा न केवल आन्तर चित्तवृत्तियों की किन्तु बाह्य जगत् के स्वरूप एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सम्भव है यह भरतमुनि ने अपने विवरणों से दिखलाया जो नाट्यार्थ ग्रहण करवाने में अतिशय मूल्यवान् है।

गति के अनुगत सङ्गीततत्त्व—विभिन्नपात्रों के रङ्गमञ्च पर होने वाले गति प्रचार का (जो उनके प्रवेश से लेकर निष्क्रमण तक है) विवरण इतनी उतमता के साथ अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं है। इनमें अभिनेता या पात्र केवल एक निश्चित प्रमाणयुक्त गति से पादनिक्षेप करते हुए मञ्च पर आते ही नहीं हैं किन्तु यहाँ उनकी गति को उपयुक्त संगीत का अनुगमन या संगत भी करनी पड़ती है, विशेष कर वाद्य तथा कण्ठ संगीत की। वाद्यों में इनकी संगत वासुरी तथा वीणा से होती थी तथा विभिन्न मृदङ्गवादन के विषय में एक नियम था। ऐसे समय गायी जाने वाली ध्रुवाओं के लिये भी विधान (या नियम) था जिनका प्रयोगादि के साथ स्वरूप विवरण नाट्यशास्त्र के

अध्याय ३२ में दिया गया है। उस समय का यह वाद्यवादन दर्शकों को दिखलायी पड़ता था तथा आज के समय की तरह पार्श्वसंगीत या पर्दे के पीछे से यह कार्य नहीं किया जाता था।

जब यह कहा गया कि नाट्य एक कला है जो स्वयं यथार्थ नहीं है परन्तु यथार्थ का अनुकरण है। अतः इस नाट्य में संगीत के अभिव्यञ्जक एवं भावस्पर्शी कार्य को लगाना उसी के उद्देश्य को आगे बढ़ाते हुए रसों की समृद्धि करना है। मुनि को यहाँ ऐसे प्रयोक्ता पात्र की अपेक्षा रही जो दर्शकों के समक्ष आवें तथा वे जब तक अपना सम्भाषण या संवाद कथन आरम्भ न करें या उसे समाप्त न करें। इसी कारण ऐसे समय मृदँग या बासुरी का शीघ्र ही वादन आरम्भ किया जाता था और उसी के साथ पर्दे के हटते ही पात्र रङ्गमञ्च पर प्रवेश करेगा तथा यह क्रम तब तक चलता रहता था जब तक कि वह संवाद या सम्भाषण की स्थिति में न पहुँच पाए। इसी प्रकार का क्रम उसके रङ्गमञ्च से निष्क्रमण के समय भी रहता था। अतः यही वह समय था जब ध्रुवा गान हो। कण्ठ तथा वाद्य संगीत का यह चलने वाला प्रयोगक्रम (नृत्यगत) अभिनेता एवं अभिनेत्रियों के पादविक्षेप तथा अभिनय के साथ-साथ चलता था जो आज हमें किसी बँलेट या आपेरा नाट्य या नृत्य की सूचना सा देता दिखाई देता है तथा नाटकीय संवाद के साथ चलने वाले संगीत के कारण यह पुनः आपेरा के समीप आ जाता है। ये विवरण या नाट्यप्रयोग के नियम भारत में प्राचीन काल में प्रस्तुत नाट्य-विधान में प्राप्त हैं, जो आज भी विश्व कलासन्धान के महत्वपूर्ण स्रोत एवं आधार बनने में समर्थ होकर अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

स्थानक या स्थान—नाट्यशास्त्र में गति विधान के प्रसंग में स्त्रियों एवं पुरुषों के स्थानक तथा भूमिका विपर्यय का विचारपूर्वक निरूपण किया गया है। इनमें पात्रों के सम्भाषण एवं गति के समय तीन प्रकार के स्थानक होते हैं—(१) आयतस्थान, (२) अवहित्थ स्थान तथा (३) अश्वक्रान्तक स्थान।

आयतस्थान—इसमें नारी का दाहिना पैर सम, बायाँ तिरछा होकर एक ताल के अन्तर से उठा हुआ तथा बायीं ओर से कमर ऊपर उठी हुई रहती है। नाट्यप्रयोग की दृष्टि से यह स्थान बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके द्वारा आवाहन, विसर्जन, चिन्ता, पुष्पमोक्षण जैसी क्रियाओं तथा कोप, गर्व, मान आदि स्त्रीजनोचित भावों का अभिनय किया जाता है।

अवहित्थस्थान—इसमें वायाँ पैर सम, दाहिना तिरछा तथा कटि का वायाँ भाग उन्नत या उठा हुआ रहता है। इसके द्वारा सहजसम्भाषण, निश्चय, वितर्क आदि क्रियाओं तथा लीला, विलास, विव्वोक आदि नारी सुलभ सुकुमार भावों का अभिनय किया जाता है।

अश्वक्रान्तकस्थान—इसमें एक चरण उठा हुआ, दूसरा अग्रतलसंचर स्थिति में झुका हुआ तथा सूची या आविद्ध चारी रहती है। इसके द्वारा वृक्ष की टहनियों को छूने, पुष्प गुच्छकों को ग्रहण करने, अङ्गों से वस्त्र के खिसकने आदि क्रियाओं का तथा लालित्यपूर्ण नाटचार्थ के ग्रहण करने जैसे अर्थों का अभिनय किया जाता है। इन स्थानकों का प्रदर्शन चेष्टाएँ तथा चारी के आरम्भक क्षण तक ही रखा जाता है। ये स्त्री तथा पुरुष पात्रों के द्वारा सामान्यतः नियमानुसार रखे जा सकते हैं।

नाटचशास्त्र में स्थानक का विवरण अल्प है तथा इनकी स्थिति का स्वरूप भी (इसी कारण) पूर्ण नहीं प्रतीत होता। परन्तु अभिनयदर्पण, सङ्गीतरत्नाकर तथा नृत्यरत्नकोश आदि नाटचसंगीत ग्रन्थों में स्थानों का विवरण विस्तार से प्राप्त होता है। यह स्थानकों का विवरण इसी कारण यहाँ देना आवश्यक है। स्थानों का प्रयोग भी विविध अभिनय तथा मुद्राओं के प्रस्तुत करने के समय रखा जाता है, जहाँ एक नियत स्थिति में पात्र को खड़ा रहना होता है। यही स्थिति 'स्थान' (Pose) कहलाती है।[1] ये स्थान (आरम्भ में) छः हैं—(१) वैष्णव, (२) समपाद, (३) वैशाख, (४) मण्डल, (५) आलीढ तथा (६) प्रत्यालीढ़। इन सभी स्थानों के अधिष्ठाता देवता भी नियत है तथा इनका विवरण शास्त्र में मिलता है। तदनुसार यह क्रम इस प्रकार है :—

वैष्णव—देवता विष्णु। आगे रखने का प्रमाण २½ ताल के अन्तर से, एक पैर ऊँचा तथा दूसरा तिरछा, जंघा ऊँची तथा एडी तिरछी रखी जाती है।

---

१. नाटच के इस स्थानक विवरण की विस्तार से मीमांसा यहाँ सम्भव नहीं है परन्तु इन विवरणों के आधार पर हमने कुछ रेखाचित्र लगा दिये हैं। इन्हें नाटचशास्त्र के अभिनयप्रयोग विवरण में उपयोगी तथा परम्परानुमोदित मानकर आज भी दक्षिण भारत के कलाकार इन्हें प्रस्तुत करते रहे हैं (अतः ये प्राचीन ही हैं)—सम्पादक।

समपाद—देवता ब्रह्मा। दोनों पैरों का अन्तर का प्रमाण एक ताल का तथा दोनों पैर घुटनों के साथ सहज मुड़े हुए।

वैशाख—देवता कार्तिकेय। पैर एक दूसरे के पीछे तीन वल में लपेट लिये हुए रख कर नमे हुए होकर खड़ा रहना।

मण्डल—देवता इन्द्र। दोनों पैरों का यहाँ अन्तर तीन ताल तथा कटि तथा पृष्ठ सीधी रखकर झुकते हुए खड़े रहना।

आलीढ—तथा **प्रत्यालीढ**—दोनों के देव इन्द्र। मण्डल-स्थान में दाहिने पैर को पांच ताल के अन्तर से आगे रखने पर आलीढ़ तथा इसके विपरीत दाहिने पैर को सिकुड़ा कर वायें पैर को पाँच ताल के अन्तर से आगे रखना प्रत्यालीढ है।

उपर्युक्त छः स्थान पुरुषसंस्थान है तथा नाट्यशास्त्रानुमोदित हैं, परन्तु शास्त्रीय ग्रन्थों में इनके अतिरिक्त अन्य स्थान भी प्राप्त होते हैं। **'सङ्गीत-रत्नाकर'** में इस सन्दर्भ में तेईस (देशी) स्थान दिखलाये गये हैं। जिनका स्वरूप सहज वोध्य है। ये इस प्रकार हैं—(१) स्वस्तिक, (२) वर्धमान, (३) नन्द्यावर्त, (४) संहज, (५) समपाद, (६) एकपाद, (७) पृष्ठोत्तानतल, (८) चतुरस्र, (९) पार्ष्णिविद्ध, (१०) पार्ष्णि-पार्श्वगत, (११) एकपार्श्वगत, (१२) एकजानुगत, (१३) परावृत्त, (१४) समसूचि, (१५) विषमसूचि, (१६) खण्डसूचि, (१७) ब्राह्म, (१८) वैष्णव, (१९) शैव, (२०) गारुड, (२१) कूर्मासन, (२२) नागवन्ध तथा (२३) वृषभासन।

इनमें समसूची, विषमसूची, खण्डसूची, गारुड, कूर्मासन, नागवन्ध तथा वृषभासन ये आसन हैं तथा शेष स्थान हैं। इनमें स्थानकों के कुछ चित्र हमने दिये भी हैं, जिनसे इनका स्वरूप स्पष्टतः समझा जा सके। इन स्थानकों का ग्रन्थगतरूप स्वरूप इस प्रकार है :—

स्वस्तिक—दाहिने पैर को वायीं ओर तथा वायी ओर रखते हुए दोनों पैरों की तिरछे करते हुए रखना (Cross)। ये सहजभाव में झुके हुए और एक दूसरे को छूते हुए रखे जाएँ।

वर्धमान—दोनों पैरों की एडी को एक दूसरे की ओर मुँह किये हुए पास-पास रखकर दाहिने पैर की नोक दाहिनी ओर तथा वायें की वायीं ओर रखते हुए खड़े रहना।

नद्यावर्त—वर्धमान स्थिति में खड़े होकर दोनों पैरों का अन्तर छः से वारह अंगुल रखना।

संहत—दोनों पैरों को मिला कर रखते हुए उनके अंगूठे तथा टकने को एक दूसरे से लगा कर खडे हो जाना।

समपाद—दोनों पैरों को एक वालिश्त के अन्तर पर समान रूप में एडी के बल पर खड़े रहना। यह स्थिति वैष्णव-स्थान में आगे वतलायी गयी है।

एकपाद—समपाद में एक पैर को ऊपर उठाना।

पृष्ठोत्तान-तल—एक सीधे पैर के पीछे दूसरा पैर एड़ी को ऊँचा कर पंजे (के फण) को ऊँचा करते हुए मोड़ कर रखना और एक पैर से उसे पीछे ढकेलना।

चतुरस्र—नद्यावर्त को स्थिति में पैरों का अन्तर ढ़ाई अंगुल के अन्तर से रखना।

पार्ष्णिविद्ध—एक पैर की एड़ी को दूसरे पैर के अंगूठे का स्पर्श हो इस प्रकार खड़े रहना।

पार्ष्णि-पार्श्वगत—बायाँ पैर सीधा रख दाहिने पैर की एड़ी बाँयीं पैर की ओर रहे इस प्रकार आड़ी रख कर खड़े रहना।

एकपार्श्वगत—उपर्युक्त स्थान में दाहिने पैर को उलटी रीति से अर्थात् दाहिने पैर की एड़ी दाहिनी ओर रखकर खड़े होना।

एकजानुगत—एक पैर को सीधा रख कर दूसरे पैर को एक बाजु में चार अंगुल दूर टखने से सहज मोड़ के साथ रखना।

परावृत्त—बाये पैर की एड़ी के सामने दाहिने पैर का अंगूठा तथा दाहिने पैर की एड़ी के पास बायें पैर की कनिष्ठिका अंगुली को एक दूसरे के साथ स्वस्तिक रखना।

समसूचि—एड़ी तथा जंघा को जमीन से स्पर्श कर दोनों पैरों को तिरछे तथा लम्बे (क्रमशः) करना।

विषमसूची—समसूचि में एक पैर को पीछे लंबा करना अर्थात् एक पैर आगे और दूसरा पीछे की ओर लम्बा कर स्थित होना।

खण्डसूची—नियमसूची की स्थिति में एक (अर्थात् अगले) पैर को सिकुड़ा लेना (तथा पिछले पैर को लम्बा रख कर बैठना।)

ब्राह्म—एक पैर से सीधे खड़े होकर पिछला पैर पीठ की ओर घुटनों को मिला कर रखना।

वैष्णव—इसे नाट्यशास्त्र में दिखलाया ही है।

शैव—बायाँ पैर जमीन पर सीधा रख कर दाहिना पैर घुटने से ऊपर

ऊँचा कर तिरछा मोड़ते हुए (आगे की ओर) रखना । (वैशाख स्थान में तथा इस स्थान में अतिशय साम्य है)

गारुड—दायाँ बायाँ पैर उलटा कर ऐसे सिकुड़ाते हुए रखना जिसमें दोनों एड़ियाँ जमीन का स्पर्श पंजे के अगले अंगूठों से करे ।

कूर्मासन—दाहिने पैर को आगे सिकुड़ा कर बैठे तथा पंजा सीधा रखे जिससे एड़ी ऊपर रहे तथा बायाँ पैर खड़ा जमीन पर टिकाना ।

नागबन्ध—उपर्युक्त मुद्रा में बायें पैर की जंघा पर दाहिने को तिरछी रख कर बैठना ।

वृषभासन—दोनों घुटने जमीन पर जुड़ा कर अन्तर से रखते हुए दोनों पंजों के बल बैठना ।

उपर्युक्त स्थान तथा आसनों की करणों में योजना का विवरण मिलता है । जैसे स्वस्तिककरण की स्वस्तिक, ऊर्ध्वस्वस्तिक, वक्षःस्वस्तिक, पृष्ठ स्वस्तिक जैसे स्वस्तिक करणों में योजना होती है । वर्धमानक (इस) स्थान की तलपुष्पपुट, रेचित निकुट्टक, छिन्न तथा अन्य करणों में योजित होता है । संहत को समनख तथा लीन करणों में संयुक्त किया जा सकता है । नद्यावर्त को अपविद्ध, अर्धरेचित, भुजङ्गत्रस्त, रेचित, जैसे करणों में संयोजित किया जाता है । चतुरस्र की मण्डलस्वस्तिक, स्वस्तिकरेचित, कटिसम तथा उन्नत जैसे करणों में योजित होता है । गरुड की कुञ्चित में योजना होती है । इसी दिशा में अन्य स्थान की भी करणों में योजना हो सकती है यह ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो सकता है । नाट्यशास्त्र के किसी उत्तरकालभव पाठ या कोहलादि प्रणीत स्थानक विवरण को लेकर ही सङ्गीतरत्नाकरादि[1] में इनका विस्तार है जो नाट्यशास्त्र का ही है । क्योंकि अभिनयादि प्रयोग में आज भी इनका उपयोग हो रहा है । अतः ये जो स्थान अतिरिक्त है वे भी नाट्यशास्त्र के भरत प्रोक्त ही होना (उचित) लगता है, तथा इन्हें परम्परागत नाट्याचार्यों की परम्परा में आज माना भी जाता है (परन्तु इनका प्रामाणिक संशोधनपूर्ण उत्तर अभी शेष है । जो भी हो इसपर हमने इसी कारण प्रस्तुत संस्करण में कुछ ही ऐसे चित्र देकर विषय को रखा है । जिसे आशा है प्रमाणादि के साथ हम आगे और भी संशोधित कर प्रस्तुत करने का उद्योग करेंगे—(सम्पा०)

---

१. ये २३ देशी स्थानक जिनको संगी. रत्ना. में नर्त० पृ० ३२९-३३५ अड्यार सं० में देखा जाए ।

आसन एवं शयन विधान—नाटचशास्त्र में पात्रों के देश, काल, प्रकृति तथा चित्तवृत्ति आदि के अनुरूप उपयुक्त आसन तथा शयन विधान का निरूपण किया गया है। यह विधान राजसभा तथा समाज में प्रचलित व्यवहारों के आधार पर निर्धारित किया गया है। ये आसन स्वस्थ या विश्रामदशा में, विचार, चिन्ता, शोक, मूर्च्छा, लज्जा, मद, ग्लानि, रोग तथा निद्रा की अवस्था में विभिन्न स्वरूप वाले दिखलाये गये हैं। इसी प्रकार प्रियाप्रसादन, धार्मिकविधि सम्पादन एवं देववन्दना आदि के समय इनके विभिन्न स्वरूप रहते हैं। इन भावों के लिये विभिन्न शारीरिक भङ्गिमाओं के तथा मुद्राओं के प्रयोग का भी भरतमुनि ने निर्देश किया है, तदनुसार शोक की दशा के अभिनय में दोनों हाथों के सहारे चिबुक को रखा जाता है, मस्तक गर्दन पर झुकाया जाता है तथा इन्द्रिय एवं मन की निष्क्रियता दिखलाई जाती है। इसी प्रकार प्रिया के प्रसादन में दोनों घुटनों को पृथ्वी पर रख कर नीचे मुख किये हुए रहते हैं तथा देववन्दना में भी यही आसन रखा जाता है।

इस प्रकार पात्रों के उत्तम, मध्यम आदि सामाजिक आधारों पर अनेक प्रकार के आसनों का विधान दिखलाया गया है। तदनुसार राजा एवं महारानी के लिये **सिंहासन,** पुरोहित, अमात्य एवं उनकी पत्नियों के लिये **वेत्रासन,** सेनापति एवं युवराज के लिये **मुण्डासन,** ब्राह्मणों के लिये **काष्ठासन,** वैश्याओं के लिये **मसूरक आसन** तथा शेष स्त्रियों एवं सेवकों आदि के लिये **भूम्यासन** का विधान बतलाया गया है।

शयन—इसी प्रकार शयनदशा में शरीर की स्थिति एवं भङ्गिमा के आधार पर छः प्रकार के शयन का विवरण नाटचशास्त्र में दिया गया है। यह विधान अतिसङ्क्षिप्त है क्योंकि नाटचप्रयोग में इसका उपयोग अधिक नहीं होता। ये छः प्रकार हैं :—(१) आकुञ्चित, (२) सम, (३) प्रसारित, (४) विवर्तित, (५) उद्वाहित तथा (६) नत।

'आकुञ्चित' में समस्त अङ्ग सिकुड़े हुए तथा दोनों घुटने शयन से सटे हुए रखते हैं। इसकी योजना ठण्ड से ठिठुरते हुए पात्र के लिये रखी जाती है। **'सम'** में मुँह ऊपर तथा दोनों हाथ शिथिल रहते हैं। इसे सोए हुए व्यक्ति के लिये प्रयुक्त किया जाता है। **'प्रसारित'** में एक भुजा को सिरहाना बना कर जंघाओं को फैला कर लेटा जाता है। सुख से या निश्चिन्त होकर नींद लेने की दशा में इसकी योजना रहती है। **'बिवर्तित'** में पात्र नीचा मुँह रख कर सोता है। शस्त्र से क्षत या मृत, उन्मत्त या

मद्य पान कर मस्त पड़े हुए पात्र की दशा बतलाने में इसका प्रयोग किया जाता है। 'उद्वाहित' में पात्र अपने मस्तक को हाथ या कलाई पर रख कर सोता है। इसकी योजना लीला या स्वामी के आने आदि में रखी जाती है। 'नत' में जंघाएँ फैला कर तथा दोनों हाथों को ढीले रखते हुए शयन करते हैं। इसकी योजना आलस्य, श्रम तथा थकावट की स्थिति में की जाती है।

इस प्रकार नाटचशास्त्र में गतिविधान के अन्तर्गत हस्त-पाद-प्रचार, आसन एवं शयन की विधियों का सभी पक्षों को ध्यान में रख कर यथाशक्य पूर्ण विवरण दिया गया है। (इसके अतिरिक्त) मुनि ने इतने विस्तीर्ण इस विषय पर विवरण देकर भी-जो कि सूक्ष्म तथा प्रयोगात्मकता से सम्पन्न है—नाटचार्थ की अपेक्षा होने पर अन्य विधियों की भी स्वतन्त्रता पूर्वक परिकल्पना करने की छूट नाट्याचार्यों को दे दी है तथा नाटचप्रयोग के सभी उपादेय तत्त्वों को इस क्रम में व्यायकता के साम्य संगृहीत किया है जो अपने आप में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, यह निस्सन्दिग्ध है।

परिशेष—(विचार एवं विवरण)

अङ्गभङ्ग—नाटचशास्त्र में आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत शरीर के द्वारा होनेवाली क्रियाओं एवं करणों, स्थानकों आदि शरीर रचनाओं (Postures) तथा नृत्य में होने वाले विविध अङ्ग परिचालनों का विवरण दिया है किन्तु ये रचेगये है अङ्गभङ्ग या शरीर के मरोड़ने की क्रियाओं के आधार पर ही। अतः अङ्गभङ्ग की सुन्दरता पर नृत्यादि अभिनय की सुन्दरता से प्रस्तुति निर्भर करती है तथा इसी कारण नृत्यादि में 'अङ्गभङ्ग' का भी अपना स्वन्त्र महत्व है ही।

नाट्यशास्त्र में ऐसे 'अङ्गभङ्ग' का पृथक् से उल्लेख तथा विवरण नहीं दिया गया है परन्तु शरीर की सुन्दरता भङ्गिमाओं के प्रसङ्ग में इसका विवरण अभिनय में आवश्यक एवं अपेक्षित अवश्य है क्योंकि अङ्गसौष्ठव का निखार ही अङ्गभङ्ग से आता है। अन्य शास्त्रीयग्रन्थों में इस विषय का विवरण मिलता है तदनुसार अङ्गभङ्ग के चार प्रभेद होते हैं। ये हैः—(१) अभङ्ग, (२) समभङ्ग, (३) त्रिभङ्ग तथा (४) अतिभङ्ग।

अभङ्ग—शरीर की सम एवं स्थाभाविक दशा में यह 'भङ्ग' सौष्ठवपूर्ण भाव लिये हुए होता है। इसमें शरीर विना किसी मरोड़ या मोड़ के पूर्ण सीधे भाव में खड़ा रखा जाता है। इस स्थिति को प्राचीन शिल्प में श्रीविष्णु

की सीधी खड़ी प्रतिमा में देखा जा सकता है। इसे अभङ्ग या अन्य विद्वान 'सहजभङ्ग' भी कहते हैं।

समभङ्ग—सहज भाव की स्थिति एवं सौन्दर्य पूर्ण भङ्गिमा में शरीर को एक ओर किञ्चित् झुकाना 'समभङ्ग' होता है। इसमें सम्पूर्ण शरीर को अन्यूनानतिरिक्त समान मुद्रा में एक ओर थोडा तिरछा रखते हुए खड़ा रखा जाता है। इसे 'समभङ्ग' भी इसी कारण कहते हैं कि इसमें तिरछापन एक समान स्थिति में रहता है। नाट्य में समभङ्ग का प्रचुर प्रयोग रहता है और शिल्प में इस स्थिति में अवस्थित अनेक प्रतिमाएँ देखी जा सकती है।

त्रिभङ्ग—मुख, शरीर तथा पाद इन तीनों को मरोड़ने या तिरछा करते हुए खड़े रहना 'त्रिभङ्ग' कहलाता है। शरीर की ऐसी दशा अति सामान्य होने के कारण प्राचीन शिल्पादि आकृतियों में यह प्रचुर मात्रा में मिलती है विशेषकर श्रीकृष्ण की बाँसुरीवादन करती हुई प्रतिमा 'त्रिभङ्ग' का उत्तम निदर्शन है।

अतिभङ्ग—शरीर को अतिशय (या अधिक मात्रा में) मरोड़ते हुए ओजपूर्ण एवं उग्रभाव में खड़ा रहना 'अतिभङ्ग' कहलाता है। इसकी योजना 'ताण्डव' जैसे नृत्य में रहती ही है तथा इसका निदर्शन 'नटराज' की प्रतिमा है; जिसमें हस्त, पाद, कटि तथा ग्रीवा अतिशय भङ्गिमा के साथ भङ्गता के ओज भरे पाद प्रचार को लिये हुए दिखलाई पड़ती है।

अभिनय में 'सौष्ठव' का स्थान—यदि आङ्गिक क्रियाकलापों के शास्त्रानुकूल प्रस्तुतीकरण को एक 'कला' कहा जाए तो इसका आधार-स्तम्भ मानना पड़ेगा 'सौष्ठव' को, जिस पर नृत्य का समग्र प्रासाद खड़ा किया जाता है। इसी कारण अङ्गभङ्ग का आधार भी अङ्गसौष्ठव ही है जो लावण्य एवं सौन्दर्य का आधायक है भी। अङ्गों की सप्राणता के बिना नृत्य में अपेक्षित स्वरूप दिया जाना सम्भव नहीं रहता तथा बिना शरीर सन्तुलन के आङ्गिक क्रियाएँ बेडोल हो जाती हैं। अतएव जैसे गायन के लिये उत्तम कण्ठ की अनिवार्यता होती है इसी तरह नृत्य के लिये सप्रमाण शरीर की भी। अङ्गसौष्ठव नाट्यशास्त्र में वर्णित सौष्ठव ही है, जो नृत्य में अपेक्षित वाह्य स्वरूप को सुन्दर वनाता है परन्तु इसके साथ प्रस्तोता का आन्तरिक भावसौन्दर्य भी यहाँ कार्य करता है; जिसके बिना बाह्य प्रदर्शन भी मनोरम पद्धति में व्यक्त नहीं किया जा सकता। हृदय में सौन्दर्य का सुप्त भाव यदि पहिले से विद्यमान रहेगा तो अभ्यास से कलाकार की सुप्त

कला अवश्य जाग्रत हो जाएगी। इसी जाग्रति के लिये कलाकार को प्रशिक्षण देने का प्रावधान है भी।

रङ्गमञ्च की कक्ष्या-परिधि—नाट्यशास्त्र के चतुर्दशअध्याय में नाट्य-मण्डप पर प्रस्तुत दृश्यविधान का विवरण है। इस विवरण का एक अंश रङ्गमञ्च के स्वरूप एवं साजसज्जा को दिखलाते हुए नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका था, किन्तु नाटकीय इतिवृत्त के अनुरोध पर शेष तत्त्वों का इसी अध्याय में विवेचन हुआ है।

इतिवृत्त के अनुरोध पर रङ्गमञ्च पर अनेक दृश्यों की योजना करनी पड़ती है। भरत मुनि ने ऐसे दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिये अनेक उपयोगी विधियाँ बतलाईं जिससे दृश्यविधान अधिकाधिक यथार्थ या लोकानुरूपता-शाली वन सके।

दृश्यविधान की विधियों का आहार्यअभिनय के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र में विचार हुआ है जिसका कुछ और विचार उसी प्रसङ्ग में नाट्यशास्त्र की प्रस्तुत इसी व्याख्या के तृतीय भाग में किया जा रहा है। इसी के लिये कक्ष्याविभाग की महत्त्वपूर्ण प्रथा (रूढि) की (जिसमें प्रतीकात्मक नाट्यप्रयोगविधान है) उद्भावना की गयी थी; यह थी दृश्यविधान में रंगमञ्च पर स्थापित कक्ष्याविभाग पद्धति। कक्ष्याविभाग का यह प्रयोग परम्परा तथा कल्पना पर आधृत रख कर किया गया है। कक्ष्याविभाग का सामान्यतः आशय यही है कि कथानक के अनुरूप रंगमञ्च पर स्थान या देश की कल्पना करना जो नाट्यधर्मी रूढ़ियों आदि पर आश्रित रखते हुए दिखलाई जाए। भरत के द्वारा किये गये ऐसे कक्ष्याविभाग निरूपण का उद्देश्य यही है कि नाट्यप्रयोग अधिकाधिक प्रकृत एवं अनुरूपता पर आधारित हो सके, क्योंकि अनुरूपता ही यथार्थ के समीप नाट्यविधान को लाने में सक्षम होती है।

इन कक्ष्याओं का विभाजन रंगमञ्च पर इस प्रकार कर लिया जाता था कि एक विभाग से दूसरे विभाग पर आ जाने पर समझा जाता था कि पात्र एक स्थान या देश से दूसरे में प्रवेश कर रहा है। मुनि ने कक्ष्या-विभाग के अन्तर्गत आभ्यन्तर, वाह्य तथा मध्यम भाग की रङ्गमञ्च पर ही परिकल्पना की तथा रंगमञ्च की परिधि में चलने से ही इनके विभाग सूचित हो जाते थे। ये कक्ष्यायें या इनके स्थान कितनी दूर पर निर्दिष्ट हो—इसका विनिश्चय पात्रों के परिक्रमण की संख्या या स्थिति से होता था। यदि दूर का स्थान निर्दिष्ट करना हो तो पात्र देर तक परिक्रमण

करता था तथा समीप की स्थिति में थोड़ा परिक्रमण होता था। इनमें रङ्गमञ्च का मुख भाग रङ्गपीठ होता है तथा यही आभ्यन्तर भाग कहलाता है जहाँ पात्र नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करते हैं। इनमें नेपथ्यगृह से लगी हुई कक्ष्या आभ्यन्तर-कक्ष्या, रंगपीठ से लगी कक्ष्या वाह्य-कक्षा तथा इन दोनों की मध्यवर्ती कक्ष्या मध्यम होती थी। ये कक्ष्यायें रङ्गमंच के दोनों ओर होती थीं, ये ही वाहर से आड़ या पक्ष (पखवाई) का भी कार्य सम्पन्न करती थी तथा इन्हीं से पार्श्व की ओर आगम एवं निर्गम होता था और इन्हीं कक्ष्याओं में विभिन्न दृश्यों की अवतारणा कर ली जाती थी। इस कक्ष्या-विभाग की परिधि में (जो पात्र के विशेष भाग में स्थित होने से जानी जाए तथा जहाँ दृश्य निरूपण कथावस्तु के कारण इष्ट हो तो वहीं पर) ऐसे सभी प्रदेश, नगर, वन, पर्वत आदि आ जाते हैं जो प्रस्तुत दृश्य में प्रदर्शित होने चाहिए थे। इस प्रकार ये सभी प्रदेश-फिर चाहे वे अन्दर, वाहर, मध्य, दूर या समीपवर्ती प्रदेश हों—कथावस्तु के कारण परस्पर सम्वद्ध हो जाते थे। इन कक्ष्या विभागों की विधि या रूढ़ि के अनुसार जो पात्र रंगमंच पर प्रथम प्रवेश करें वे आभ्यन्तरपात्र मञ्च के अन्तः स्थान (गृह, प्रासाद) में स्थित रहते हैं तथा आभ्यन्तर प्रकृति कहलाते हैं। इसके वाद जो पात्र रंगमञ्च पर प्रवेश करते हैं वे वाह्य होते हैं तथा जिस मार्ग से वे प्रवेश करेंगें वह भाग मध्यम कहलाता है, क्योंकि इसी से वे अन्दर प्रवेश करते हैं। रंगमंच के आभ्यान्तर भाग से जो पात्र इन पूर्व प्रविष्ट पात्रों को देखने या मिलने के लिए आए वह अपनी वात दाहिनी ओर (दक्षिण दिशा की ओर) होकर कहते हैं।

यहाँ रङ्गमञ्च पर दिशा का भो संकेत रखा गया है, इसका आधार है नेपथ्यगृह तथा वाद्ययन्त्रों के लिये निर्मित द्वार का मुख; क्योंकि यह मुख जिस ओर रहेगा उसे नाट्यप्रदर्शन के विधानानुसार पूर्व दिशा मानी जाती है। इसी पूर्वद्वार से पात्रों का प्रवेश या आवागमन भी किया जाता है, अतः जो पात्र इन निर्दिष्ट द्वारों में से जिस द्वार से निकलता है उसे उसी द्वार से प्रवेश करना होता है। वाह्य पात्र का प्रवेश तथा निर्गम एक ही द्वार से होता है। आभ्यन्तरपात्र भी कार्यवश यदि वाह्यपात्र के साथ निकलता है तो जिस द्वार से वाह्यपात्र आया था उसी द्वार से निकलेगा। कोई पात्र एकाकी या किसी अन्य पात्र के साथ प्रवेश करता है तो उसे निर्दिष्ट द्वार से ही प्रवेश करना होता है। किसी कार्यवश बाहर

निकल जाने पर यदि वही पात्र पुनः लौटे तो वह उसी मार्ग तथा द्वार से प्रवेश करता है जिससे वह बाहर गया था। पात्रों के प्रवेश के समय अन्य कक्ष्या की सूचना के लिये रंगमञ्च पर एक या अनेक बार आवश्यकतानुसार परिक्रमा करने से दूसरी कक्ष्या सूचित हो जाती है। यदि समानस्थिति के पात्र हों तो साथ-साथ तथा अधम पात्र से युक्त रहने पर उनसे घिरे हुए चलने वाले नृपपात्र के प्रवेश की स्थिति में प्रतीहारी का उसके आगे चलना बतलाया जाए। इसके अतिरिक्त प्रेक्षागृह के बाहर खुले स्थान या रंगमञ्च पर नाट्य-प्रयोग की दशा में वाद्ययन्त्रों की ओर पीठ कर प्रयोक्ता या पात्र जिस दिशा में मुख रख कर खड़े होते हों उसे भी रूढ़ि के अनुसार पूर्वदिशा मानकर कार्य सम्पन्न किया जाता है।

इसी प्रकार इसी कक्ष्याविभाग में दूरी या निकटता के देश का संकेत विधान भी रखा गया है। पात्र की दूर या निकट प्रदेश की यात्रा का भान उसके अधिक चलने या घूमने की गति से दूर का प्रदेश तथा कम चलने से मध्यम व्यवधान वाले अथवा निकट प्रदेश को दिखलाया जाता है। यह क्रम यद्यपि नाट्यविधान के अन्तर्गत रहता है किन्तु यह नियम लोकपरम्परा से प्रभावित नियम है। लोकव्यवहार में अधिक दूरी की यात्रा करने में अधिक चरणसंचार तथा कम दूरी में कम चरणसंचार रहता है यहीं इस नियम का आधार था यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

दिव्यपात्रों का कक्षावस्तु की अपेक्षा के अनुसार नगर, वन, पर्वत, सागर, वर्ष, द्वीप आदि सभी प्रदेशों पर आकाश, विमान या अपने से उद्भावित माया के द्वारा पहुँचना बतलाया जाता है; क्योंकि दिव्य पात्रों की शक्ति असीम होती है। पात्रों का संचार प्रयोजनवश यदि प्रच्छन्नस्वरूप में रखा जाए तो उसको पृथ्वी पर ही बतलाया जाए क्योंकि यहाँ वे मनुष्य रूप में दिखलाई दे सकते हैं। दिव्य तथा दिव्यादिव्य पात्र जम्बूद्वीप आदि सभी वर्षों में अपनी इच्छानुसार आ जा सकते हैं परन्तु पात्र केवल भारतवर्ष में घूमने वाले ही रखना चाहिये। यदि किसी पात्र का कार्यवश दूर देश में प्रस्थान बतलाना ही हो तो अङ्क को वहीं समाप्त करते हुए दूसरे अङ्क के आरम्भ में प्रवेशक के द्वारा यह दिखलाना चाहिए। इस प्रकार पात्रों की अपनी स्थिति, सामर्थ्य तथा पहुँच के साथ-साथ प्रयोग के अनुसार कक्ष्या-विभाग में प्रदेश दिखलाये जाते हैं।

इसी प्रसंग में भरतमुनि ने दिव्यजातियों के निवास भूत विशिष्ट पर्वत

तथा प्रदेशों का भी उल्लेख किया है (जिनका विवरण नाटचशास्त्र में यथास्थान प्राप्य है)। नियमवश इन पात्रों का निवास इन्हीं प्रदेशों पर दिखलाना चाहिए। तदनुसार यक्ष, गुह्यक तथा कुबेर के अनुचरों के लिए शुभ्रकूट या कैलास, गन्धर्व एवं अप्सराओं के लिये हेमकूट, वासुकी, तक्षक तथा अन्य नागों के लिये निषध, तैंतीस कोटि देवताओं के लिये महामेरु, ब्रह्मर्षि एवं सिद्धों के लिये वैदूर्यमणिरञ्जित नीलाचल तथा दैत्य, दानव एवं पितरों के लिये श्वेतपर्वत पर आवास दिखलाना चाहिए। इस पर आचार्य अभिनवगुप्तपाद का मत है कि कथावस्तु से सम्बद्ध स्थानों के रहने पर ही प्रसंगानुसार कक्ष्याविभाग की परिकल्पना से इनका प्रदर्शन करना चाहिए। तथा यह प्रदर्शन कक्ष्याविधान के द्वारा रंगमञ्च पर अवस्थित एक भाग पर (काल्पनिकता के साथ) प्रस्तुत करना चाहिए। इन पात्रों के कार्य, भाव एवं चेष्टाएँ मानवीय रहनी चाहिए तथा यहाँ देवताओं की दृष्टि अनिमेष नहीं होती। क्योंकि नाटचप्रदर्शन में सभी भाव दृष्टि पर टिके रहते हैं। भाव सभी दृष्टि द्वारा ही सर्वप्रथम अभिव्यक्त होकर वाद में अङ्गावयवों से अभिनीत होते हैं। यह कक्ष्याविभागगत सभी विधान नाटचधर्मी प्रथा की रूढ़ि से सम्पन्न होता है तथा इन्हीं नाटचरूढ़ियों के आधिक्य के कारण प्राचीन संस्कृत रूपक में आधुनिक नाटकों की तरह दृश्यों का स्पष्ट विभाजन जैसा प्रावधान नहीं दिखलाई देता है। यहाँ तो पात्र अपनी उदात्त काव्यशैली में नाटकीय घटना की स्थिति की कल्पना दर्शकों में जागृत कर देता है, क्योंकि जब प्रेक्षक रसज्ञ हो तो उन्हें नाटकीय सौन्दर्यबोध के लिये अतिरिक्त या अधिक अपेक्षित ही नहीं था। यह सही है कि नाट्य का उपयोगी अङ्ग कक्ष्याविधान है जिसका नाटचप्रदर्शन के लिये उपयोग अनिवार्य है। इसी कारण नाटकादि में इसका विधान रखा गया है। यह नाटचप्रयोग का विषय होने के साथ-साथ आवश्यक भी है केवल कल्पनामात्र नहीं है। यह विधान भी सिद्धान्त तथा स्वरूप की सीमाओं में आबद्ध है तथा इससे अति व्यापक अपेक्षाएँ नहीं रखी जा सकती।

प्रवृत्ति—नाटचप्रयोग को रसानुग्राहक स्वरूप प्रदान करने के लिए 'प्रवृत्ति' का विधान है। प्रवृत्ति शब्द अपनी व्युत्पत्ति के (प्र+√वृत्+क्तिन्) साथ-साथ अनेक अर्थ प्रकट करता है। यह बुद्धि तथा कर्मेन्द्रिय की चेष्टाएँ, शरीर के लीला विलास आदि व्यापार, उनके हाव हेला आदि विकार तथा आलाप एवं विलाप आदि वाग् व्यापार, मनुष्य की पाप-पुण्य वृत्ति आदि ये सभी प्रवृत्ति के अर्थ है। प्रवृत्ति का यहाँ नाटचप्रयोग के सन्दर्भ

में व्यापक अर्थ में विधान भी है। भरतमुनि के अनुसार जो वृत्ति भारतवर्ष के देशों में प्रचलित विभिन्न वेष, भाषा, आचार एवं वार्ता को स्थापन करती हो वही 'प्रवृत्ति' है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने प्रवृत्ति शब्द की व्यापक व्याख्या की है। उनके अनुसार प्रवृत्ति शब्द सूचना या प्रख्यापन के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। अतः जो सम्पूर्ण लोक में प्रचलित मानव की जीवन की प्रवृत्तियों का ज्ञान करवाती हो वही 'प्रवृत्ति' है। यह मानवीय सभ्यता को जतलाने का एक सशक्त साधन होती है जो वाह्य या ऊपरी (अर्थ या) स्वरूप का पूर्णतः ज्ञान करवाती है।[1]

देश, वेष भाषा एवं आचार से मुख्यतः प्रवृत्ति का सम्वन्ध रहता है जो इनका आधार भी है, परन्तु इनकी विभिन्नताओं के कारण प्रवृत्तियों के अनेक प्रभद नहीं हुए वे केवल चार ही रखे गये हैं। इसका कारण भी अभिनवगुप्तपाद ने बतलाया कि—'नाटच चित्तवृत्ति प्रधान होता है, जिसमें अनेक मानवीय मनोदशाओं को नाटचरूप प्रदान करना पड़ता है तथा जिनमें देश, भाषा, वेष एवं आचार सहायक होते है, परन्तु यदि इन असंख्य प्रवृत्तियों के वर्गीकरण से व्यवस्थित रूप में इनकी शिक्षा तथा अभ्यास सम्भव नहीं होगा। इसी कारण विभिन्नता के मध्य भी समान लक्षणों के आधार पर वर्गीकरण में प्रधानतः प्रवृत्तियों के चार प्रभेद ही रखे गये है।

उत्तरकालीन नाटच एवं साहित्य के आचार्यों ने भी प्रवृत्ति के स्वरूपादि पर विचार किये हैं। राजशेखर तथा महाराजाधिराज भोज ने वेषविन्यास-क्रम को 'प्रवृत्ति' माना जब कि धनञ्जय तथा शारदातनय ने देश, वेष, भाषा तथा व्यवहारों को प्रवृत्ति के अन्तर्गत मान्य किया। इस विवेचन से भरतमुनि के व्यापक विवरण को प्रगति नहीं मिली। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने स्वतन्त्र रूप में प्रवृत्ति का विवेचन न देकर उसे भाषाविधान कह कर ही अपना विवरण पूर्ण कर डाला। इस प्रकार भरतमुनि ने जिस प्रवृत्तिविवेचन को परम्परा के मूलपीठगंत आधारके कारण संकेतित किया था उसे उत्तरवर्त्ती शास्त्रकारों ने केवल उसका संकेत करते हुए ही विवरण दिया तथा उसकी उपयोगिता एवं महत्त्व पर अधिक ध्यान नहीं दिया यही प्रतीत होता है।

परन्तु प्रवृत्ति की उपयोगिता एवं महत्व की नाटचप्रयोग के क्षेत्र में स्थिति वही है जो भरत मुनि ने बतलायी है। पात्रों की वेषभूषा, भाष, व्यवहार

---

१. द्रष्ट—अभि० भा० Vol II B O. S. E. Page. 205 207 202

आदि की स्थानीय विशेतायें नाट्य में दिखलाना अभीष्ट होता है, जिससे नाट्याभिनय में यथार्थता आ सके। यद्यपि प्रवृति को अन्य विद्वान् आहार्य-अभिनय के अन्तर्गत भी (इसमें स्थित वेष के कारण) मानते हैं तथा उसके अन्तर्गत स्थानीय संस्कार, व्यवहार एवं भाषा का समावेश करते हैं, जो नाट्यकार के सूक्ष्मनिरीक्षण के कारण अभिनय में समायोजित करना नाट्याचार्य के द्वारा आवश्यक भी होता है। क्योंकि नाट्यकार अपनी कृति में विभिन्न प्रदेश के पात्रों की सहज प्रवृत्ति रखता है। यदि नाट्यकार सभी पात्रों को एक समान रूप में अङ्कित करें तो उसे सामाजिक सहृदय ठीक से नहीं देखते न ही उनकी रुचि उसमें आ पाएगी।

नाट्यप्रयोक्ताजन एवं शास्त्रपरम्परा की मान्यता के अनुरोध पर भरत-मुनि प्रतिपादित प्रवृत्ति के चार भेदों का संकेत पूर्व में दिया जा चुका है। ये चार प्रभेद हैं—(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणात्या, (३) पाञ्चाल मध्यमा तथा (४) औढ्रमागधी। भोज ने वाद में एक पाञ्चाली प्रवृत्ति को जोड़ कर प्रवृत्तियों की संख्या पाँच मानी थी। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य वात है कि प्रवृत्ति का यह विभाजन भरतकालीन भारत के भौगौलिक विभाजन तथा वेषभूषा से सम्वद्ध लोकव्यवहारों पर निर्भर था। इसलिये कई जनपदों को मिला कर वनाए गये एक वड़े भूभाग के लिये एक प्रवृत्ति का प्रधानतः उपयोग होता था जो उसकी प्रधानता को सूचक भी हो जाती थी। जैसे यदि किसी विस्तीर्ण भूभाग में श्रृङ्गार की प्रधानता है तो किसी में अन्य। अतएव इन विविध विशेषताओं से युक्त एवं प्रसाधित होकर ही पात्र अपना नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करते थे परन्तु उनकी वेषभूषा, भाषा तथा व्यवहार उन्हें अन्म पात्रों से विशिष्ट बना देते थे। वेष और भाषा तो वास्तविक रूप में अवान्तर कारण थे किन्तु यहाँ देशभेद एवं स्वभाव की भिन्नता भी प्रवृत्ति भेद में भिन्नता का संकेत देते ही हैं।

दाक्षिणात्या प्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति शृंगारप्रधान होती है। इसका कारण है दक्षिणदेशवासियों की नृत्य, गीत एवं वाद्यप्रियता रहना। इसी कारण उनके अभिनय चतुर, मधुर तथा ललित रहते हैं। दाक्षिणात्य देश के अन्तर्गत दक्षिण के सभी प्रदेशों का समावेश समझना चाहिए। महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल तथा पालमंजर पर्वतों के मध्य स्थित प्रदेश दाक्षिणात्य माने जाते हैं। इनके वेप, भाषा तथा आचार में परस्पर अतिशय साम्य रहता है। दाक्षिणात्य प्रवृत्ति सुकुमारता लिये रहने से वैदर्भी रीति से भी साम्य रखती है, क्योंकि विदर्भ दाक्षिणात्य देश के रूप में भी प्रसिद्ध है ही। दाक्षिणात्यों

की संगीत विषयक सुस्वरता एवं ध्वनि की सहज रमणीयता को तो कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति-जीवित' नामक ग्रन्थ में दिखलाया भी है।

आवन्तिकी-प्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, मालव, सिन्धु, सौवीर, आर्बुद, दशार्ण, त्रिपुर, मृत्तिकावत् प्रदेशों के वासियों की भाषा, वेषभूषा तथा आचार-विचार आदि से सम्बद्ध होती है। अतः जब इन देशों के पात्र नाटचप्रयोग में प्रस्तुत होते हैं तो उनकी वेषभूषा तथा भाषा तदनुसार रहती है। इसमें सात्वती तथा कैशिकी वृत्तियों का प्रयोग रहता है। अवन्ती प्रदेश की स्त्रियों के वेशविन्यास में कुन्तल या घुंघराले केशों में उनका प्रसाधन रखा जाता है, क्योंकि नाटचप्रयोग में देशज वेष महत्त्व रखता है। इसमें धर्मशृङ्गार की प्रधानता होती है अतः सात्वती एवं कैशिकी वृत्ति का यहाँ समन्वय रखा जाता है।

औढ्रमागधी प्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति अङ्ग, कलिङ्ग, वत्स, औढ्रमागध, पौण्ड्र, नेपाल, अन्तर्गिरि, वहिर्गिरि, मालद, ब्रह्मोत्तर, प्राग्ज्योतिष, पुलिन्द, विदेह, ताम्रलिप्त तथा प्राच्य देशों के निवासी पात्रों में प्रयुक्त की जाती है तथा पूर्वदिशा के निवासी भी इसी का प्रयोग करते हैं। प्राच्यदेश की सीमा समुद्र तट से चलती हुई दक्षिण तक जाती है तथा इधर उत्तर में मगध देश तक लगती है, अतः इन दोनों छोरों की मध्यवर्ती होने से इसे औढ्रमागधी कहा जाता है। यह आन्ध्र तथा कलिङ्ग दोनों के आचारों आदि की उपजीव्यता धारण करती है तथा दोनों के कारण ही इसके नाम में एकीभाव या मिश्रण विद्यमान है जो इस प्रवृत्ति में भी परिलक्षित होता है। इसमें भारती तथा आरभटी वृत्ति का समन्वय रहता है तथा आडम्बर प्रधान घटाटोप भरे वाक्यों का प्रयोग इसमें प्रचुरता से रखा जाता है। इसके अन्तर्गत जिन-जिन प्रदेशों की परिगणना हुई है उनका उल्लेख किञ्चित् परिवर्तन से पुराणों में मिलता है।

पाञ्चालमध्यमाप्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति पाँचाल, शूरसेन, काश्मीर, हस्तिनापुर वाह्लीक, काकल, मद्र, कुशीनर तथा हिमालय के समीपवर्ती प्रदेश एवं गङ्गानदी के उत्तर की ओर के निवासी जनपदों के पात्रों में प्रयुक्त की जाती है। इस प्रवृत्ति में सात्वती और आरभटी वृत्तियों की प्रचुरता रखी जाती है तथा गीतप्रयोग की अल्पता के कारण कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं रहता है।

इन प्रवृत्तियों के अनुसार ही भरतमुनि ने पात्रों के रंगमञ्च पर प्रवेश की विधि भी दिखलाई है। इसकी दो विधियाँ हैं :—आवन्ती तथा दाक्षिणात्या

प्रवृत्ति के पात्रों का रङ्गमञ्च पर प्रवेश उत्तर दिशा से तथा पाञ्चालमध्यमा एवं औड्रमागधी प्रवृत्ति के पात्रों का दक्षिण दिशा के द्वार से होता है। जहाँ मञ्च पर द्वार न हो वहाँ आवन्ती और दाक्षिणात्या के पात्र दाहिनी बाजू से तथा पाञ्चाल मध्यमा एवं औड्रमागधी के पात्र बाईं बाजू से प्रवेश करते हैं। इस प्रकार नाट्य में किया गया यह विधान प्रवृत्तिभेद को दिखलाता है। प्रवृत्तियों की इन विभिन्नताओं का प्रयोग नाट्य (अभिनय) में ही होता है गीत में नहीं। गीत में इनका समन्वित प्रयोग ही इष्ट होता है।

महाराजाधिराज भोज ने भी प्रवृत्तियों का विस्तृत विवरण दिया है तथा एक अतिरिक्त प्रवृत्ति पाञ्चाली या पौरस्त्या की भी परिगणना की है। यह प्रवृत्ति पूर्व देशों का सङ्केत करती है परन्तु पूर्वदेशों का संकेत करने वाली औड्रमागधी का भी उल्लेख भोज ने किया है। भोज के प्रवृत्तिविधान में वेषभूषा की विभिन्नता का विवेचन करते हुए बतलाया गया कि लोक में वेषभूषा केवल पात्र की विभिन्नता से ही परिवर्तित नहीं हो जाती परन्तु एक ही पात्र की वेषभूषा अनेक कारणों एवं अवस्थाओं के सन्दर्भ में परिवर्तित भी होती रहती है। इन कारणों तथा अवस्थाओं की परिगणना यद्यपि सम्भव नहीं है परन्तु भोज ने इसे प्रवृत्ति के हेतु दिखलाया है। तदनुसार देश, काल, पात्र, वय, शक्ति, साधन, अभिप्राय, व्याघात, विपरिणाम, निमित्त, विहार, उपहार, थल, छन्द, आश्रय, जाति, व्यक्ति, तथा विभव आदि के कारण पात्र की (मनुष्य की) वेषभूषा में अन्तर आ जाता है तथा तदनुसार नाट्यप्रयोग में उस लोकाचार का प्रयोग उचित होता है। उसे आहार्य अभिनय के प्रसंग में भरत मुनि ने वेष, वय, अवस्था के अनुसार कथा के परिवर्तन से प्रवृत्ति के विधान का संकेत किया है।

भरतमुनि ने प्रवृत्तियों का विभाग मुख्यतः वृत्तियों के आधार पर ही किया था। वृत्ति पात्रों की शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं से सम्बद्ध होती है जब कि प्रवृत्ति पात्रों की वेषभूषा, व्यवहार आदि से सम्बद्ध होती है। वृत्ति व्यक्ति की अन्तश्चेतना तथा प्रवृत्ति उसकी बाह्य अभिव्यक्ति होती है। इसीलिये नाट्यप्रयोग के चित्तवृत्ति प्रधान होने से उसमें वेषभूषादि का प्रयोग सहायक हो जाता है। इसका मूलतत्त्व यह है कि चित्तवृत्ति से वेषभूषादि का प्रयोग होता है, जो वेष एवं भाषागत भेद तथा देशभेद से स्वभाव भेद को नाट्यायित करने का है। स्वभावभिन्नता के आधार पर ही उद्धत या मृदु वृत्तियों का विनिश्चय भी होता है। इस तथ्य को मुनि ने

व्यापक दृष्टि से देखा था तथा उसे नियोजित करने का विधान भी दिखलाया जिसकी अभिनवगुप्तपाद ने भी समर्थन करते हुए स्पष्ट व्याख्या दी। नाट्यप्रयोग के क्रम में देश, काल एवं अवस्था के अनुरूप प्रवृत्ति विधान रहने पर ही रसास्वादन शक्य होता है। कभी प्रवृत्तियों का समन्वय भी नाट्यप्रयोग के सौन्दर्य या अर्थ—युक्ति के आग्रहवश किया जाता है तथा कभी देश, काल आदि के कारण भी। यदि यह होता है तो ही नाट्य की समग्र परिकल्पना सम्भव है तथा ऐसे सामञ्जस्य के विपरीत नाट्य-प्रयोग अयथार्थ एवं रसानुभूति की हीनता से ग्रसित हो सकता है। अतः प्रवृत्ति के अनुरूप ही पात्रों की नाट्यप्रयोग में योजना का विधान रखा गया, क्योंकि पात्र प्रेक्षकों के हृदय में भाव अङ्कित करने में इसी वाह्यपरिवेशमयी प्रवृत्ति के योग से ही सफल होता है। यहाँ इन्हीं कारणों से प्रवृत्ति का ऐतिहासिक महत्त्व एवं मूल्य भी है। यह सही है कि ये प्रवृत्तियाँ अपने स्वरूप में कदाचित् भरतमुनि के पूर्व भी विद्यमान रहीं होगीं जिनको मुनि ने शास्त्र वद्ध कर नाट्यप्रयोग में विनियोजित किया, क्योंकि ऐसा करने से नाट्यप्रयोग समृद्ध एवं भाव सम्पन्न होता है यह निर्विवाद है।

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी—भरतमुनि ने अभिनय के इसी कथन क्रम में नाट्याभिनय के अनुगामि होने से धर्मी का उल्लेख (अभिनय कथन में वाद में) किया यद्यपि षष्ठ अध्याय में संग्रह तथा उद्देश्य के कथन के प्रसंग में रस, भाव आदि एकादश (या त्रयोदश) तत्त्वों में धर्मी का उल्लेख किया था। अभिनय अर्थात् नाट्यप्रयोग का जो अपना धर्म या स्वभाव है उसके अनुकूल कार्य 'धर्मी' होता है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति भी 'ध्रियते अनेन' 'धरति इति वा'। इस प्रकार √धृ धातु से मन् प्रत्यय निष्पन्न 'धर्म' शब्द है। अतः धर्मी का अर्थ हुआ जिसमें धर्म हो या जो धर्म का अनुगमन करता हो। इसी कारण नाट्य में दो प्रकार के धर्मी निरूपित किये गये—(१) लोकधर्मी तथा (२) नाट्यधर्मी। लोक में प्रचलित कार्य, आचार एवं व्यवहारों का शुद्ध अनुकरणात्मक प्रस्तुतीकरण 'लोकधर्मी' होगा। जिसमें अपने सहज या प्रकृत भाग में स्वरूप प्रस्तुत होता है तथा इसी कारण उसमें लोकजीवन की सहजवृत्तियों का प्रभाव दिखता है। नाट्यधर्मी में शास्त्रीय उक्तियाँ या साङ्केतिक वाक्य, स्वगत या आकाशभाषित आदि तथा रङ्गमञ्च पर प्रयोज्य वस्तु तथा भावों का सङ्केत करने वाली असंख्य विधियाँ तथा निर्देश आते हैं। इसके अतिरिक्त लोकदृष्ट सुख, दुःखादि के आङ्गिक अभिनयादि से प्रस्तुत नाट्य तथा

अभिनयविधान एवं उनका प्रतिपादक यह नाट्यशास्त्र—ये सभी नाट्यधर्मी कहलाते हैं ।

लोकधर्मी (स्वरूप)—लोकधर्मी का स्वरूप बतलाते हुए मुनि ने (नाटचशास्त्र १४।६९–७० में) कहा कि—'यदि कोई रूपक लोकस्वभाव के अनुसार भावप्रदर्शित करनेवाला, सादगी और विना वाहरी दिखावट वाला (अविकृत) कथावस्तु में प्रजाजन के सामान्य आचार, अवस्था एवं क्रियाओं को प्रदर्शित करने वाला, लीला आदि ललित वर्तन से रहित आङ्गिक चेष्टाओं से सहज भावों को प्रस्तुत करे तथा जिसमें अनेकविध स्त्री एवं पुरुष पात्र हों तो वह 'लोकधर्मी' नाटच है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी कवि के द्वारा लोकधर्मी रूढ़ि के अनुसार यथावत् वस्तु मात्र के रचना द्वारा तथा अभिनेता के द्वारा उसे तथैव प्रस्तुत करने को 'लोकधर्मी' वतलाया क्योंकि इसमें स्वप्रतिभा से निर्मित अनुरञ्जनकारी वैचित्र्य की कल्पित उद्भावनायें नहीं होतीं । आशय यही हैं कि यहाँ लोकानुसारी मानव पात्रों की सहज प्रवृत्तियों को प्रमुखता देकर उपस्थित करने का उद्योग रहता है अतः यह लोकधर्मी प्रयोग कहलाता है । इसके अतिरिक्त मानव की सुख दुःखात्मक भावों में रहने वाली स्थिति का प्रकृतिसम्मत अङ्कन या प्रकृत स्थिति में अभिनयविधान भी 'लोकधर्मी' ही होगा ।

नाट्यधर्मी (स्वरूप)—इसी क्रम में भरतमुनि ने नाटचधर्मी का भी विशद विवरण दिया तथा उसे लोकधर्मी रूढ़ि की अपेक्षा अधिक वैचित्र्याधायक, कल्पनासम्भरित तथा अनुरञ्जनक्षम बतलाया । तदनुसार यदि किसी रूपकादि में इतिहास, पुराण आदि में प्रसिद्ध इतिवृत्त को कल्पनात्मक परिवर्तन के द्वारा रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया जाए तो वह 'नाटचधर्मी' होता है । इसी प्रकार नाटचरचना या रूपकादि में वाक्यावलि, क्रियायें, प्राणिवर्ग (पुरुष तथा स्त्री पात्रादि) तथा भाव असामान्य रहें, लक्षण से युक्त अङ्गहारों, नृत्त, अभिनयादि को स्वर तथा अलङ्कारादि की योजना से युक्त रखा जाए तथा दिव्य तथा अदिव्य पात्रों के चरित्र कुशलतापूर्वक वहन किये जाए तो यह भी 'नाटचधर्मी' ही होगा । इसी प्रकार जहाँ लोकप्रसिद्ध वस्तु के मूर्त रूप में कुशलता से प्रयोग किया जाता हो, जहाँ समीपवर्ती पात्र के कथन न सुने जाते हों तथा अनुक्त कथन को सुनकर उसका प्रत्युत्तर दिया जाय, जहाँ पर्वत, वाहन, विमान तथा ढाल, कवच, शस्त्र तथा ध्वज आदि का मूर्त रूप में प्रयोग होता हो, जहाँ एक अभिनेता

एक भूमिका का निर्वाह करने के वाद पुनः दूसरी भूमिका को भी धारण कर उसका भी अपने अभिनय कौशल से निर्वाह करता हो, जो स्त्री एक बार अगम्य (पूज्य या वृद्ध) स्त्री की भूमिका (को अभिनय द्वारा) प्रस्तुत कर पुनः गम्या (नायिका या अन्य युवती स्त्री) की भूमिका ले लेती हो तो यह भी 'नाटचधर्मी' हो जाता है।

इस प्रकार मुनि ने काव्य एवं नाटच में चमत्कार तथा सौन्दर्य के उद्भावन में लोकधर्मी रूढ़ियों की भाँति कुछ आधार ग्रहण करते हुए सिद्धान्ततः 'नाट्यधर्मी' को दिखलाया है। यहाँ इतिहासादि प्रसिद्ध इतिवृत्त में कल्पना के योग से नाटचधर्मी' भाव रूढ़िवद्ध हो जाता है। इसी प्रकार लक्षणादि सम्पन्न आङ्गिक अभिनय का अंगहारादि शास्त्रीय अङ्गों के साथ प्रस्तुतीकरण तथा वाचिक अभिनय में अलङ्कारादि की योजना के साथ स्वर, गीत आदि के साथ काव्य का व्यवस्थित रूप में नियमबद्ध उपस्थापन भी 'नाटचधर्मी' है। नाटचधर्मी का क्षेत्र व्यापक है जहाँ पात्रों की भूमिका में विपर्यय होना, पात्रों का स्वभाव त्याग तथा परभाव में अभिनय करना, संसार प्रसिद्ध पदार्थों एवं भावों का प्रतीकादि रूपों में प्रदर्शन तथा एक पात्र का एक से अधिक भूमिका में आना, आङ्गिक अभिनय को विविध वाद्यवादनादि के साथ प्रस्तुत करना, कक्ष्याविभाग के अन्तर्गत निर्दिष्ट विधानों का अनुसरण करना तथा चित्राभिनयादि के सङ्केतात्मक विशिष्ट अभिनय को सम्पन्न करना आदि अनेक वातें आतीं हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि लोक के सहज जीवन या भाव का अनुकरण करने वाला सहज अभिनय 'लोकधर्मी' तथा शास्त्रीय परम्परा का अनुगमन करने वाला प्रतीकात्मक अभिनय 'नाटचधर्मी' होता है। प्राचीन नाटचाचार्यों का भी ध्यान नाटचप्रयोग में स्वभाविकता तथा प्रभावोत्पादकता की समस्या पर गया था जिसके लिये उनने इन दो धर्मियों का विभाग करते हुए अपना प्रयोगगत रास्ता निकाल लिया। इस प्रकार से स्त्री-पुरुषों के सहज प्रस्तुतियाँ भी नाटचप्रयोग में रहे तथा आवश्यकतानुसार उसमें परिष्कार तथा अभिनयगत दक्षता के शास्त्रीय नियम तथा रूढ़ियों का भी संयोजन रखा जाए। प्राचीन रङ्गकर्म के उपदेष्टा तथा प्रयोक्ता आचार्यों ने इस सत्य को वहुत पहिले ही पहिचान लिया था कि वास्तविक कला की उपलब्धि के लिये नाटचधर्मी रूढ़ियों का परम्परानुगमन आवश्यक है। यदि अतिवास्तविकतावादी ऐसी स्थिति में अस्वाभाविकता का दोषारोपण करें

भी तो भी इस तथ्य से नकारा नहीं जा सकता है कि रूपक की रचनागत स्थितियों के साथ-साथ उसके रङ्गमञ्च पर प्रयोग की सम्भावनाओं का सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रेक्षकवर्ग यदि वास्तविकता का अतिशय कठोरता से आग्रह रखते होंगे तो किसी प्रकार भी रंगमञ्च पर कोई भी नाट्यप्रयोग प्रस्तुत होना सम्भव नहीं है।

इससे यह भी विचार अल्पचिन्तन से विनिश्चित लगता है कि [1]"भरत-काल में लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी परम्पराएँ स्वतन्त्र रूप में विकसित हो रहीं थीं। धर्मी पद्धति की अनभिज्ञता, रंगमञ्च निर्माण की विस्तृतविधियों से अपरिचय तथा वस्तुगत वैचित्र्य के अभाव में भी 'लोकधर्मी 'तत्व जनपदों की छाया में विकसित हो रहा था। जब कि नगरों में आयोजित नाट्यप्रयोग शास्त्रानुमोदित तथा सुसंस्कृत होते थे तो ग्रामों के आयोजन शुद्ध तथा प्रकृतरूप में। इस प्रकार ग्रामों तथा नगरों में प्रचलित नाट्य की दो धाराओं को भरतमुनि ने लोक तथा नाट्यधर्मी के रूप में परिगणित किया है"। क्योंकि दोनों विधाएँ ही नाट्यप्रयोग को प्रभावित करती है तथा इनकी समान रूप से विकासयात्रा भी रहती है। अतः जनपदीय नाट्यरूपों को किसी भी स्थिति में शास्त्रसम्मत लोकधर्मी का उदाहरण नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार यह भी समझने की बात है कि नाट्यप्रयोग जिसे धारण करता हो वही 'धर्मी' होता है तो नाट्यप्रयोग एक ओर तो अनुकरण मूलक होगा तथा दूसरी कल्पनामूलक भी। नाटक फिर चाहे संस्कृत का हो या ग्रामीण भाषा का—अपने अभिनयन के लिये उन्हें स्वाभाविकता के साथ-साथ प्रतीकात्मकता का आधार लेना ही पड़ेगा। परन्तु स्वाभाविक अभिनय विधान को लोकधर्मी तथा प्रतीकात्मक विधि को 'नाट्यधर्मी' मान कर प्रयोग की समस्या का भरतमुनि ने समाधान निकाला था। अतः देशी नाट्यपद्धति के नाम पर अभिनय व्यापार को प्रयोग में प्रविष्ट कर श्री हबीब तनवीर ने भवभूति के जिस परिनिष्ठित रूपक 'उत्तररामचरित' नाटक का भोंड़ा प्रदर्शन उज्जयिनी के **"कालिदास समारोह"** (वि० सं० २०३२) में किया था वह किसी भी प्रकार रंगकर्मिता की प्रतिष्ठित लोकपरम्परा का अनुगमन नहीं करता, न ही अभिनय की एक शैली कहकर उसे भारतीय परम्परा से अनुगत वस्तु माना जा सकता है। इनमें स्थित अस्वाभाविकता को लोकवृत्ति का विशेष या अनगढ़ रूप भी नहीं माना जा

---

१. द्रष्ट—भरत और भारतीय नाट्यकला—पृष्ठ ४४८

सकता है, क्योंकि वैसा रहने पर होने वाला नाट्यप्रयोग एक अतिहीन या सस्ता मनोरंजन का रूप लेकर उसे अधम श्रेणी की ओर धकेल देगा।

इस प्रकार लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी के विवरण से जहाँ उनकी स्थिति तथा स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है वहीं उनकी पारस्परिक विभेदकरेखाएँ भी स्पष्टतः परिलक्षित हो जाती हैं। अतएव वाचिक अभिनय में प्रयुक्त संवाद जहाँ लोकधर्मी होंगें वही 'गान' नाट्यधर्मी हो जायगा। इसी प्रकार स्वगत, जनान्तिक, अपवारितक तथा आकाशभाषित जैसी विधियाँ नाट्यधर्मी ही रहेंगी। आहार्यअभिनय के अन्तर्गत अलङ्कारों तथा वस्त्रों का परिधान लोकधर्मी होगा तो गति प्रचार में आने वाली आरोहण तथा अवरोहण आदि की विधियाँ नाट्यधर्मी होंगी। सात्विक अभिनय के अन्तर्गत सहजभाव में अश्रुप्रवाह की अवस्था लोकधर्मी तथा भावों के प्रदर्शन की स्थिति में शास्त्रीय विधान के अन्तर्गत प्रस्तुत यही विधि 'नाट्यधर्मी हो जायगी। इस प्रकार इन विभेदों की कल्पना से ही स्पष्ट है कि 'लोकधर्मी' रूढ़ियाँ नाट्यधर्मी रूढ़ियों की आधार तथा अनुग्राहक है अतः उनकी नाट्यप्रयोग की सिद्धि में समान उपयोगिता तथा सहकार रहता है तथा किसी एक ही परम्परा से रूपक को मञ्च पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है (नहीं इसमें विशुद्धता का कोई आग्रह ही होना चाहिए)।

भरतमुनि के उत्तरभावी नाट्याचार्यो की दृष्टि ऐसी प्रयोगप्रधान नहीं रही तथा इसी कारण धनञ्जय, धनिक आदि ने नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी तथ्यों पर कोई विवरण नहीं दिये। महाराणा कुम्भ, वेमभूपाल आदि के विवरण भी इस तथ्य पर अधिक नवीनता नहीं देते। 'नाट्यशास्त्रसंग्रह' में अवश्य इस विषय में कुछ विशेष विवरण मिलता है। तदनुसार लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी विधाओं की स्थिति को दिखलाते हुए बतलाया गया कि ये 'धर्मी' दो प्रकार के हैं लोक तथा नाट्य। इनमें 'लोकधर्मी विधा के दो विभाग होंगे—(१) चितवृत्त्यर्पिका तथा (२) बाह्यवस्त्वनुकारिणी। इसी प्रकार नाट्यधर्मी के भी—(१) कैशिकी शोभिनी तथा (२) अंशोपजीविनो जैसे विभाग होंगे।

इनमें लोकधर्मी रूढि के अन्तर्गत जिन दो भेदों को दिखलाया गया उनमें एक के अन्तर्गत मानव के सुखदुःखात्मक स्वभावगत प्रकृत अभिनय का विधान है जहाँ आन्तरचित्तवृत्तियों का प्रस्फुटन होता है। दूसरे में नाट्यवस्तुओं का संङ्केत रहता है जो मानव जीवन के चारों ओर स्थित प्राकृतिक सौन्दर्य है। मानव जीवन उसकी आन्तरवृत्तियों तथा नाट्यपरिवेश दोनों ही लोकधर्मी

प्रक्रियाओं से प्रयुक्त होता है। नाटचधर्मी में कैशिकी शोभा की प्रक्रिया के द्वारा अंगों के विलासपूर्ण हस्तव्यापार, गीत नृत्य आदि का प्रयोग होता है। इसके अंशोपजीवनी नामक भेद के द्वारा ही कक्ष्याविभाग, प्रसाद, पर्वत, आदि की विविध मुद्राओं तथा विधानों के द्वारा इच्छानुरूप प्रयोग होता है, क्योंकि रंगमञ्च की सीमा के सीमित रहने से इनका पूर्णरूप में प्रयोग सम्भव नहीं इसी कारण उनका अंशतः प्रयोग ही सम्भव रहता है तथा उसकी सूचना दृश्यरूप में रङ्गमञ्च पर होती है तथा यही अंशोपजीवनी नाटचधर्मी रूढ़ि या विधा होती है।

भरतमुनि नाटचविद्या के सिद्धान्त प्रदर्शक मात्र नहीं थे वे नाटचप्रयोक्ता भी थे, अतः स्वभावतः वे इन वातों में सन्तुलन रखते थे। उनकी यही वृत्ति धर्मी निरूपण के प्रसंग में देखी जा सकती हैं। उनके लोकानुभूति तथा लोकाचार से ही नाट्य तथा लोकधर्मी रूढ़ि के विकास को लिया भी था। अतः लोकधर्मी रूढ़ियाँ नाटचधर्मी के लिये चित्राधारवत् रहेंगी ही, क्योंकि जो शास्त्र, कर्म, शिल्प तथा अन्य क्रियाएँ लोकधर्म में प्रवृत्त हैं, वे ही 'नाटच' हैं। उनके इस कथन के अतिरिक्त यह भी कहना कि "लोक जीवन के नितान्त प्रकृतरूप में प्रस्तुत होने पर नाटचप्रयोग में न सौन्दर्यविधान होगा न ही जीवन का प्रभावशाली रूप ही चित्रित हो पाएगा। क्योंकि समस्त अभिनयों की रूपक में योजना नाट्यार्थ को ध्यान में रख कर ही की जाती है तथा नाटचधर्मिता रूप आंशिक तत्त्व के (अभिनय के) विना सामाजिक के हृदय में राग की प्रतीति नहीं होगी तथा रस की सिद्धि भी।" (ना० शा० १४।८२) अतः उसे प्रयोग की स्थिति के अनुरूप ही धर्मियों की सामञ्जस्यपूर्ण योजना रखना होगा यह स्पष्ट हो जाता है।

वाचिक अभिनय—नाटशास्त्र के पञ्चदशअध्याय से आरम्भ होकर उन्नीसवें अध्याय तक (सामान्यतः) चलने वाला अभिनय का द्वितीय प्रमुख प्रभेद है **'वाचिक अभिनय'** जिसका नाटचप्रयोग में संवाद रूप-में विधान (रहता) है तथा उपयोग किया जाता है। नाटच का यह प्रमुख आधार भूत तत्त्व है तथा सर्वप्रमुख अभिनय भी। इसी कारण भरतमुनि ने इसे नाटच का शरीर भी कहा है जिसका कारण है इसका वाणी द्वारा प्रस्तुत होना तथा वाणी ही जब सब का मूल हो तो फिर अन्य अभिनय इसी का आधार लेकर प्रवृत्त होगें हीं। यद्यपि मानवीय अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति सात्विक अभिनय से करने का विधान है किन्तु इनकी भी पूर्ति या पूर्णता

होती है वाचिक अभिनय से ही। इसलिये वाचिक अभिनय सभी का मूल भूत आधार वन जाने के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इस वाचिक अभिनय के अन्तर्गत शब्दविधान छन्द, लक्षण, अलङ्कार, गुण, दोष, भाषा तथा सम्वोधन विधान जैसे विषय आते हैं जिनका तात्विक एवं उपयोगी विवरण नाटचशास्त्र में दिया गया है।

शब्दविधान—नाटच के आधारभूत तत्त्व वाचिकअभिनय का प्रस्तुतीकरण वाणी से ही होता है—यह वात पूर्व में कही गयी थी। वाणी की उत्पत्ति नाद से होती है। जब शरीर में स्थित वायु क्रमशः हृदय, कण्ठ, शीर्ष से होकर मुख द्वारा ध्वनि रूप में प्रकट हो तो वह 'नाद' कहलाता है। इस नाद के तीन प्रभेद माने गये हैं—मन्द्र, मध्य तथा तार। हृदय से उत्पन्न होनेवाला नाद **'मन्द्र'**, कण्ठ से उत्पन्न होने वाला **'मध्य'** तथा शीर्ष से होने वाला 'तार' कहलाता है। नाद से उद्भूत वाक्तत्त्व का जव शब्दमय प्रयोग होता है तो यही वाचिक अभिनय हो जाता है, यह स्पष्ट है। इस वाचिक के अन्तर्गत शब्द का विवरण देते हुए नाटचशास्त्र में 'अ' से आरम्भ होने वाले (चौदह) स्वर, 'क' से 'ह' तक के व्यञ्जन तथा इनके उच्चारण स्थान, प्रयत्न, घोष तथा अघोष वर्ण के विवरण के साथ ही शव्द या पद के नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात को दिखला कर पदों के साथ संयुक्त होने वाले प्रत्यय, सन्धि, समास, तद्धित, कृदन्त जैसे व्याकरण-शास्त्र के प्रमुख एवं अन्य आवश्यक विषयों का (बड़े ही) संक्षेप में तथा सरलता से उपयोगी विवेचन किया गया है। ऐसे शब्दविधान के अनुसार की गयी रचना ही 'पदवन्ध' है जो 'काव्य' कहलाती है तथा जिसका अभिनय के द्वारा प्रस्तुतीकरण 'नाटच' हो जाता है। यहाँ भरतमुनि ने जिस शब्दशास्त्र का विवरण दिया है वह अपने स्वरूप में अतिप्राचीन परम्परा से मेल खाता है जिसमें अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन वैयाकरणों की अनेक मान्यताओं का विवरण है किन्तु है यह सभी अतिप्राचीन ही।

पदबन्ध—वाचिक अभिनय के पाठ्य रूप के मुनि ने सर्व प्रथम दो भेद करते हुए उसका संस्कृत तथा प्राकृत में विभाजन किया तथा शब्द स्वरूप के विवरण के क्रम में पदवन्ध को काव्य का जनक वतलाया। यह पदवन्ध विभक्त्यन्त शब्द से निर्मित होता है। इसके दो विभेद होते हैं—(१) निवद्ध तथा (२) चूर्णपद। **'निबद्ध'** (प्रकार) में गुरु लघु युक्त अक्षरों या मात्राओं की संख्या नियत रहती है जिससे आगे चल कर पद्य की अवतारणा होती है। **'चूर्णपद'** में अर्थ की अपेक्षा से अक्षर युक्त पदों की

योजना रखी जाती है। इसका प्रयोग अनियत स्वरूप वाले संवादों में होता है। इसी के द्वारा 'गद्य' की अवतारणा होती है। रूपकादि नाट्य रचनाओं के संवाद गद्य में प्रायः रहते ही हैं, किन्तु पात्रों के मनोभावों एवं संवेदनाओं के अतिरिक्त उनके स्थान, वातावरण आदि को व्यक्त करने के लिये उनमें 'पद्य' की भी योजना (संवादों में) रखी जाती है जो गति एवं लय की चारुता से सम्पन्न रहती है। इसमें चार पादों के रहने से इसकी पद्य-संज्ञा अन्वर्थ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गद्य तथा पद्य का सम्मिलित रूप 'पदवन्ध' है जो नाट्य का प्रयोजक तत्त्व है। इसी पद्य की एक अन्य संज्ञा 'छन्द' होती है।

पद्य तथा उसके प्रकार—आरम्भ में पद्य या छन्द के दो प्रभेद किये गये—(१) जाति तथा वृत्त। इनमें अक्षरों की संख्या पर आधारित पाद वाले 'छन्द' को **'जाति'** तथा अक्षरों की गणना पर आधारित पाद वाले छन्द को 'वृत्त' या वर्णिक वृत्त कहा जाता है। इसका (जाति छन्दों की मात्रा गणना के विपरीत) अक्षरों की संख्या को नियत क्रम तथा त्रिकों या गणों के आधार पर विधान किया गया है। प्रत्येक त्रिक या गण में गुरु, लघु वर्ण नियत रहते हैं तथा प्रत्येक छन्द में गण से युक्त या नियत 'पाद' रखे जाते हैं। भरतमुनि ने भी (शास्त्र की परम्परानुसार) इन गणादि का विवरण दिया है। यथा :—

आदि गुरु भगण (SII), सर्वगुरु मगण (SSS), मध्यगुरु जगण (ISS) अन्त गुरु सगण (IIS), मध्य लघु रगण (SIS), अन्त लघु तगण (SSI), आदि लघु यगण (ISS) तथा सर्व लघु नगण (III)।

इनमें गुरु अक्षर का संकेत 'ग' (या S तथा ˘) तथा लघु का संकेत 'ल' अक्षर (या । तथा –) किया गया है। छन्दों में त्रिकों के स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत रूप के तथा ध्वनि के तार, मन्द्र और मध्य भेद की परिगणना के भेद या दृष्टि से छन्दों के पादों को लेकर सम, विषम तथा अर्धसम वृत्त के भेद वन जाते हैं। ये तीनों प्रभेद वर्णिक वृत्त के होते हैं, जिनका स्वरूप विवरण तथा उदाहरणादि नाट्यशास्त्र में दिये गये हैं।

इसी प्रकार अक्षरगत मात्राओं की संख्या पर आधारित पादों के भी सम, विषम पाद गत भेद होते हैं। यहाँ लघु अक्षर की एक मात्रा तथा गुरु अक्षर की दो मात्रायें परिगणित की जाती हैं। जाति छन्दों के अन्तर्गत मुनि ने आर्या तथा उसके पाँच प्रभेदों के सोदाहरण स्वरूप के अतिरिक्त अन्य छन्दों का स्वरूप विधान भी दिखलाया है। मात्राओं के भेद से जाति छन्द के

गीति तथा उपगीति प्रभेद होते हैं जिनमें गीति के प्राकृत भाषा में उद्‌गाथा आदि प्रभेद किये गये है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद का इस विषय में मत्त है कि जातिवृत्तों के प्रस्तार भेद से पूर्वापर गण की गणना करने पर अनन्त प्रभेद हो सकते हैं।

छन्दः प्रभेद—भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अक्षरगणना के अनुसार पाद वाले छन्दों के विभेद करते हुए एक अक्षर के पाद वाले वृत्त से लेकर विवरण दिया है जिनके गणादि प्रभेद से विभिन्न वृत्त बनते हैं। इस क्रम में मुनि ने 'उक्ता' से अतिकृति तक के वृत्तों को दिखला कर मालावृत्त आदि का स्वरूप भी बतलाया जिनके पाद छब्बीस अक्षर से अधिक संख्या के होते हैं।

इसके अतिरिक्त इनका अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण मुनि ने दिया है। यथा:—दिव्यगण, दिव्येतरगण तथा दिव्यमानुषगण। इनमें दिव्यगण के अन्तर्गत गायत्री, अनुष्टुप्, बृहती आदि सात छन्दों के गण एवं प्रस्तार को रखा गया है, दिव्येतरगण के अन्तर्गत अतिजगती, शक्करी, अष्टि, अत्यष्टि आदि को तथा दिव्यमानुषगण में कृति, प्रकृति, आकृति आदि गण एवं प्रस्तार आते हैं। भरतमुनि तथा उनके अभिनवगुप्तपाद ने इस प्रकार प्रस्तार भेद से छन्दों के अनन्तप्रभेद की ओर भी संकेत किया। विभिन्न छन्दों की परिगणना तथा स्वरूप आदि का विवरण नाट्यशास्त्र में सोदाहरण दिया गया है। (अतः यहाँ प्रत्येक छन्दः की चर्चा नहीं की जा रही है, सभी विवरण सम्बद्ध स्थान पर ही देखना चाहिए।)

नाट्यशास्त्रगत छन्दों के लक्षणादि देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि भरतमुनि के समय तक छन्दःशास्त्र का जो विकास हो चुका था वह उनके स्थितिकाल का भी थोड़ा बहुत संकेत दे सकता है। इस तथ्य की चर्चा के समय हमने नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग में संकेत किया है परन्तु इस खण्ड या भाग में इस पक्ष से भी इसके स्थितिकाल की विशेष चर्चा रखी गयी है। इस प्रकार छन्दों के गायत्री से उत्कृति तक के विविध वृत्तों के स्वरूप के अतिरिक्त मात्रिकवृत्तों के स्वरूपादि का विशद विवेचन नाट्यशास्त्र के पञ्चदश तथा षोडशअध्याय में किया गया है।

छन्दों की रसानुगतता—यद्यपि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र छन्दःशास्त्र या व्याकरणादि शास्त्र का न तो स्वतन्त्र और न ही प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें तो शब्द के वाचिक अभिनय से सम्बद्ध सन्दर्भ में जो भी अपेक्षित विषय नाट्यार्थ के उद्योतन में उपस्कारक थे उन सभी का अपेक्षित विस्तार से

निरूपण किया गया है, जिससे नाटचशास्त्र का स्वरूप पूर्ण तथा व्यवस्थित हो सके। यह वात इसमें स्थित छन्दःशास्त्र के विवरण से स्पष्ट है तथा इस विवरण का प्रभाव परवर्ती छन्दःशास्त्रीय रचनाओं पर देखा जा सकता है। यहाँ तो रसोद्वोध के लक्ष्य एवं नाटचार्थ की समृद्धि में आवश्यक होने के कारण छन्दोगत यह सभी विवेचन हुआ है, यह स्पष्ट ही है।

इस विवरण से दूसरी वात यह भी दिखलाई देती है कि ये छन्दः काव्यार्थ के द्वारा रसाभिव्यक्ति में सहायक रहते हैं। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मत में इन वृत्तों से भयानक, हास्य या शान्त आदि रसों में यथाशक्य संवेदना के परिस्पन्दन व्यापार से आस्वाद्यमानता एवं आश्चर्यमयता की सृष्टि द्वारा रस की अनुकूलता का निर्माण होता है; जिससे अर्थात् रसानुकूल छन्दों के प्रयोग से—नाटचार्थ उद्योतित हो उठता है[1]। भरतमुनि के अनुसार भी[2] शृङ्गाररस के लिये आर्या आदि मृदुवृत्तों का तथा वीर, अद्भुत जैसे रसों के लिये लघु अक्षराश्रित वृत्तों का प्रयोग उपयुक्त होता है।

परिभाषित छन्द—नाटचशास्त्र के छन्दोविवरण तथा पिङ्गल के छन्दःशास्त्र को देखने पर यह स्पष्ट (दिखने) लगता है कि पिङ्गलमुनि प्रणीत 'छन्दःसूत्र' नाटचशास्त्र का परवर्ती ग्रन्थ है। इसका आपाततः कारण यह है कि इस ग्रन्थ में नाटचशास्त्र से अधिक संख्या में छन्दों का विवरण मिलता है। नाट्यशास्त्र के प्रथमभाग में हमने यह भी संकेत किया था कि नाटचशास्त्र वाल्मीकि कृत रामायण तथा व्यास के महाभारत से परवर्ती तथा भास एवं कालिदास का पूर्ववर्ती है। यह तथ्य देखने के लिये यदि वाल्मीकि रामायण को ही सर्वप्रथम लिया जाय तो स्पष्ट प्रतीत हो जायगा। वाल्मीकि रामायण को छन्द की दृष्टि से देखने पर उसमें—(१) अनुष्टुप्, (२) इन्द्रवज्रा, (३) उपेन्द्रवज्रा, (४) उपजाति, (५) प्रहर्षिणी, (६) वसन्ततिलका, (७) नान्दीमुखी (मालिनी), (८) पुष्पिताग्रा, (९) वैतालीय तथा (१०) औपच्छन्दसकीय (दोनों मात्रिक) नामक छन्द प्राप्त हैं। इसी प्रकार महाभारत में इन छन्दों के अतिरिक्त (१) रथोद्धता, हरिणप्लुता (द्रुतविलम्बित) (३) अप्रमेय (भुजङ्गप्रयात), (४) प्रहर्षिणी,

---

१. द्रष्टव्य—अभि० भा० Vol. II पृष्ठ. ३४५—"अतएव भयानके शान्ते हास्ये वा यथायोगं संवेदनस्पन्दतां चर्व्यमाण स्वाद्यताश्चर्यकृतो विभागो वृत्तानां मन्तव्यः।"

२. द्रष्ट०—ना० शा० १६।११३—१२०।

(५) शार्दूलविक्रीडित, (६) आर्या, (७) अपरवक्त्रक तथा (८) मात्रा समक (वैश्वदेवी) छन्द मिलते हैं। इन सभी छन्दों का उल्लेख नाटचशात्र में मिलता है।

अव यदि इसी क्रम में हम भास तथा अश्वघोष कवि की रचनाओं को (जो नाटचशास्त्र की परवर्ती रचनाएँ हैं) देखें तो भास के नाटकों में नाटचशास्त्र में वर्णित इक्कीस छन्द तथा अश्वघोष के द्वारा नाटचशास्त्र में वर्णित वीस छन्दों का प्रयोग मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि रामायण में विद्यमान छन्दों में तथा महाभारत में प्राप्त छन्दों में ऐसा कोई छन्द नहीं जिसे कि नाटच-शास्त्र में परिभाषित न किया हो। अतः यह स्पष्ट है कि रामायण तथा महाभारत की अपेक्षा नाटचशास्त्र की उत्तरभाविता स्पष्ट है। परन्तु यदि इसी प्रकाश में भास एवं अश्वघोष की रचनाओं में प्रयुक्त ऐसे छन्द को देखें (जो क्रमशः २ तथा ५ होते हैं) तो यह स्पष्ट होगा कि भास तथा अश्वघोष कवि भरत प्रणीत नाटचशास्त्र के उत्तर भावी हैं यह स्पष्ट है।

इसी क्रम में पतञ्जलि प्रणीत सुप्रसिद्ध ग्रन्थ व्याकरण महाभाष्य में उद्धृत छन्दों को भी परीक्षा हेतु रखा जाए तो स्पष्टतः उसमें इन छन्दों का प्रयोग है :—(१) अनुष्टुप्, (२) विद्युल्लेखा, (३) दोधक, (४) इन्द्रवज्रा, (५) उपेन्द्रवज्रा, (६) शालिनी, (७) तोटक, (८) वंशस्थ (वंशस्थ विल—पिङ्गल), (९) प्रमिताक्षरा, (१०) प्रहर्षिणी, (११) वसन्त-तिलका, (१२) आर्या तथा (१३) वक्त्र। इन सभी छन्दों का नाटचशास्त्र में स्वरूप प्राप्त होता है। [पतञ्जलि ने महाभाष्य में जिन ३०० पद्यों को उद्धृत किया है उनसे यह छन्दों का प्रयोग विवरण निकाला गया है] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पतञ्जलि मुनि ने जिन स्रोत ग्रन्थों से इन पद्यमय उद्धरणों को चुना था उनमें छन्दों के प्रयोग उसी रूप में हुए हैं जो नाटचशास्त्र में वर्णित हैं। अतः स्पष्ट है कि पतञ्जलि के ये उद्धरण जिन स्रोतों से संकलित हुए वे ग्रन्थ ईसा पूर्व २०० वर्ष से पूर्ववर्ती अवश्य थे। अतः नाटच-शास्त्र सहज रूप में ईसा पूर्व ३०० से बाद में नहीं रखा जा सकता है। इस प्रकार छन्दो-विवरण से भी नाटचशास्त्र के प्रथमभाग में चर्चित स्थितिकाल में ईसा पूर्व की स्थिति की पुष्टि ही होती है। इसके अतिरिक्त छन्दोगत तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष के लिये नाटचशास्त्र के प्रयुक्त अनुष्टुप् छन्द के रूपों का परीक्षण भी उपयोगी होगा। इनमें एक तो अन्तर्वर्ती यति के स्थान पर

सन्धि का न होना तथा दूसरे एक दूसरे की अनुवर्ती घटना में विच्छेद का अभाव होना पाया जाता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(१) पुण्ड्राक्षं पुण्ड्रनासञ्च असितं सितमेव च। (ना० शा० १।३६)
(२) ततश्च करमावृत्य ऊरुपृष्ठे निपातयेत्। (ना० शा० ४।१९९)
(३) आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्विकस्तथा। (ना० शा० ६।२३)
(४) अंगुल्यो यस्य हस्तस्य अन्योन्यान्तरनिस्सृताः। (ना० शा० ९।१३२)
(५) पर्यायतश्च क्रियते एलकाक्रीडिता तु सा। (ना० शा० ११।२०)
(६) अत्यायतपदत्वाच्च अङ्गहास्यो भवेत् स तु। (ना० शा० १३।१४०)

अनुष्टुप् छन्द के ये उपर्युक्त नमूने स्पष्टतः ही वैदिक छन्दों की परम्परा का अनुगमन है तथा रामायण एवं महाभारत में होने वाले आर्षप्रयोगों की तरह भी हैं। इस सन्दर्भ में हम केवल ऋग्वेद से संकलित एक दो उदाहरण प्रस्तुत करना चाहेंगे :—

(१) हिरण्ययेन सविता रथेना
देवो याति भुवनानि पश्यन्। (ऋ० सं १।३२।२)
(२) तिस्त्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ
एका यमस्य भुवने विराषाट्॥ (ऋ० सं० १।३५।६।

यद्यपि संहितापाठ के दृष्टा ने उपर्युक्त ऋक् १ में आ में सन्धि रखी है जो यति को हटाने के उद्देश्य से है। जब कि ऐसा कहीं-कहीं ही करने की छूट रही तथा वह भी तब जब किसी यज्ञादि में वैदिक् ऋक् का पाठ किया जाता हो। क्योंकि इसमें एक अक्षर की कमी हो जाती है तथा छन्द भी इससे न्यूनतादोष ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटयशास्त्र के पाठ में भी कुछ पद्यों में यति या सन्धि का छेद होना या न करना इस बात की सूचना दे रहा है कि नाटय-शास्त्र की रचना अतिप्राचीन काल में तव हुई जब वैदिकच्छन्दों की नियमादि परम्परा का पालन हो रहा था तथा यह स्थिति भी नाटयशास्त्र के स्थिति-काल को ईसा पूर्व ५०० वर्ष के समय में ही ले जाती है जो हमने प्रथमभाग में निश्चित किया है।

प्रक्षिप्त अंश—अव यदि नाटयशास्त्र में आये हुए प्रक्षिप्त अंशों पर विचार करें तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इसके पन्द्रहवें तथा सोलहवें अध्याय में जो पाठान्तर युक्त अंश अधिक रूप में प्राप्त हैं वे सभी अंश निश्चित रूप से बाद में जोड़ दिये गये होंगे। यह जोड़ने की कल्पना भी

किन्हीं उत्तरभावी अध्येताओं आदि ने वैदुष्यपूर्ण संशोधन की भावना से स्वबुद्धि से लगा दिये होंगें जो नाटचशास्त्र के मूलपाठ की सुरक्षा में सब से बड़ी बाधा हो गये। परन्तु इन्हें देखकर दूसरी ओर यह भी विचार आता है कि प्रक्षेपकर्ता ने ऐसे अंशों को जोड़ने के द्वारा केवल अपने गणितशास्त्र के ज्ञान की ही कवायद दर्शायी है जिसमें प्रायः साधारण विचार या दृष्टि ही आ पायी है। उसे इसके लिये और अधिक कारण रखना चाहिए था परन्तु बिना किसी विशेष प्राप्ति के ही उसने ऐसा कार्य कर डाला—यही प्रतीत होता है। यह क्या बात होगी? यदि हम इस प्रश्न को उठाएँ तो यहाँ हमें एक ही विचार आता है। वह इस प्रकार कि प्रक्षेपकर्त्ता के समय ऐसे छन्द भी प्रचलन में आ गये थे जिनका लक्षण नाटचशास्त्र के मूल में नहीं मिलता था। तव उसने यहाँ उन छन्दों को भी अपने गणितीय ज्ञान के तथा प्रस्तारादि के साथ यहाँ जोड़ दिया जिसका उद्देश्य यही दिखलाना था कि सभी छन्दों की पूर्णता के साथ उपलब्धि इस एक प्राचीन आकर ग्रन्थ में प्राप्य है। यह प्रवृत्ति एक ही प्राचीन रचना से सभी की गतार्थता दर्शाना है जो प्रायः प्राचीन ग्रन्थों के साथ ऐसे ही उत्तरभावी अज्ञात पण्डितों के द्वारा किया जाता रहा है। इसके विषय में खोजबीन करना कल्पना से परे ही होगा कि यह कार्य नाटचशास्त्र के बाद कब से आरम्भ हुआ परन्तु ऐसा कार्य झक्कीपन की तुष्टि से अधिक प्रक्षेपकर्त्ता के लिए कुछ भी महत्व नहीं लाता न ही इससे मूल ग्रन्थ का महत्व बढ़ता ही है।

नाटचशास्त्र में जब यह छन्दोविधान निरूपित हुआ होगा वह नाटचकला के चरम विकास एवं गौरव का युग था, जिसका परभावी नाटच, काव्य तथा छन्दः शास्त्र के रचनाकारों पर अक्षुण्ण प्रभाव बना रहा। यद्यपि भरत निरूपित छन्दों के पश्चात् इस शास्त्र का पर्याप्त विकास स्वतन्त्ररूप में हुआ परन्तु इसका काव्य एवं नाटच के क्षेत्र में जो महत्व धारावाहिक रूप में आता रहा वह अविस्मरणीय है। इसी कारण पुनरुद्धार एवं चतुरस्र पर्यालोचना के वर्तमान युग में भी नव छन्दों की संभावनाएँ गति पर आरूढ़ हैं और आशावाद के महान् संकल्प को संजोकर बढ़ती चली जा रही है।

लक्षणादि विधान—नाटचशास्त्र का "सत्रहवाँ अध्याय" काव्य-लक्षणादि विधानाध्याय कहलाता है। इसमें काव्यरचना के अंग लक्षण, अलङ्कार, दोष तथा गुण का लक्षणादि विधान है। इसमें सर्वप्रथम मुनि ने छत्तीस लक्षणों को काव्य की सहज सुन्दरता के रूप में मान्य कर उनका

स्वरूप दिया है। नाट्य एवं काव्य के महत्वपूर्ण अङ्गों के रूप में मुनि ने यहाँ लक्षणों का विवेचन किया है क्योंकि 'लक्षण' काव्य के सर्वाधिक विधायक तत्त्वों में होते हैं। लक्षणों के कारण ही रसात्मक काव्य की इतर काव्य से भिन्नता संभव होती है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार 'लक्षण की लोकप्रचलित अर्थ में भी समानता देखी जा सकती है। जैसे किसी महापुरुष के शरीर में अङ्कित पद्म आदि शुभ चिह्नों से उसके सौभाग्य का सङ्केत मिलता है इसी प्रकार लक्षणों से काव्य का सहज सौन्दर्य।

नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में लक्षण के दो पाठ उपलब्ध होते हैं। इनमें काशी संस्करण में (तथा घोष के संस्करण में भी) दीर्घपाठ परम्परा के अनुसार अनुष्टुप् वृत्त से लक्षण निरूपण आरम्भ होता है तो काव्यमाला बम्बई तथा बड़ौदा संस्करण में उपजाति वृत्त से। इन दोनों में पर्याप्त पार्थक्य है। दोनों पाठों के मिलान करने पर इनमें अठारह लक्षण समान मिलते हैं तथा शेष भिन्न। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने दोनों पाठों पर व्याख्या की किन्तु अपने उपाध्याय भट्ट तोत की परम्परा में चलने वाले नाट्यशास्त्र के उपजातिवृत्त वाले पाठ को प्राथमिकता दी। इसी पाठ परम्परा का अनुगमन धनञ्जय, कीर्तिधर आदि आचार्यों के द्वारा भी हुआ था। इसके विपरीत सिंहभूपाल तथा विश्वनाथ कविराज (आदि) ने दीर्घ-पाठ परम्परा का अनुसरण किया था। वृत्तिकार भी अभिनवगुप्त की तोत परम्परा के पाठों को ही लेता था परन्तु धाराधिप श्री भोजदेव ने दोनों परम्परा के पाठों के अनुसार लक्षणों को लेकर तथा बारह नवीन भेद सङ्कलित कर लक्षणों के चौसठ प्रभेदों का विवरण दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षणों की परम्परा में भिन्न पाठ का प्रवर्तन भरतपुत्र नाट्याचार्य कोहल द्वारा आरम्भ हुआ होगा तथा इसी कारण इस पाठ की परम्परा-धारा चलती रही। जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में लक्षणों की संख्या केवल ग्यारह ही मानी तथा दोनों पाठ-भेद परम्पराओं से लक्षणों की पाँच-पाँच संख्या ले ली। शारदातनय तथा विश्वनाथ कविराज ने भी लक्षणों के भिन्न स्वरूपादि माने जिनका उल्लेख आगे यथास्थान किया जा रहा है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित लक्षण तथा उनका क्रम—नाट्यशास्त्र के पाठों में दीर्घपाठ परम्परा में लक्षणों का जो क्रम है वही इस संस्करण में भी लिया गया है। तदनुसार क्रम इस प्रकार है :—(१) भूषण, (२) अक्षर-

सङ्घात, (३) शोभा, (४) उदाहरण, (५) हेतु, (६) संशय, (७) दृष्टान्त, (८) प्राप्ति, (९) अभिप्राय, (१०) निदर्शन, (११) निरुक्त, (१२) सिद्धि, (१३) विशेषण, (१४) गुणातिपात, (१५) अतिशय, (१६) तुल्यतर्क, (१७) पदोच्चय, (१८) दिष्ट, (१९) उपदिष्ट, (२०) विचार, (२१) विपर्यय, (२२) भ्रंश, (२३) अनुनय, (२४) माला, (२५) दाक्षिण्य, (२६) गर्हण, (२७) अर्थापत्ति, (२८) प्रसिद्धि, (२९) पृच्छा, (३०) सारूप्य, (३१) मनोरथ, (३२) लेश, (३३) सङ्क्षेप, (३४) गुणकीर्तन, (३५) अनुक्तसिद्धि तथा (३६) प्रियवचन (प्रियोक्ति)। इसके अतिरिक्त (आचार्य अभिनवगुप्तपाद के नाटचशास्त्र के उपाध्याय) भट्ट तोत के परम्परानुसारी काश्मीरी पाठ के अनुसार लक्षणों का क्रम इस प्रकार है :—(१) विभूषण, (२) अक्षरसंहति, (३) शोभा, (४) अभिमान, (५) गुणकीर्तन, (६) प्रोत्साहन, (७) उदाहरण, (८) निरुक्त, (९) गुणानुवाद, (१०) अतिशय, (११) सहेतु, (१२) सारूप्य, (१३) मिथ्याध्यवसाय, (१४) सिद्धि, (१५) पदोच्चय, (१६) आक्रन्द, (१७) मनोरथ, (१८) आख्यान, (१९) याञ्चा, (२०) प्रतिषेध, (२१) पृच्छा, (२२) दृष्टान्त, (२३) निर्भासन, (२४) संशय, (२५) आशीः, (२६) प्रियोक्ति, (२७) कपट, (२८) क्षमा, (२९) प्राप्ति, (३०) पश्चात्तपन, (३१) अर्थानुवृत्ति, (३२) उपपत्ति, (३३) युक्ति, (३४) कार्य, (३५) अनुनीति तथा (३६) परिदेवन।

इन लक्षणों के नाम तथा स्वरूप में भिन्नता का सूत्रपात नाटचशास्त्र की भिन्नपाठपरम्परा द्वारा होने के कारण उत्तरभावी आचार्यों ने इन्हें अपने प्राप्तिक्रम के अनुसार ले लिया जिससे लक्षणों के नाम तथा स्वरूप में विभेद बना रहा। इस सारे विवरण को देख कर भोज ने स्वकल्पित १२ लक्षणों को अतिरिक्त रूप में लेकर लक्षणों की संख्या ६४ मानी थी। जिनमें इन १२ लक्षणों के नाम इस प्रकार हैं—(१) स्पृहा, (२) परिवादन, (३) उद्यम, (४) छलोक्ति, (५) काकु, (६) उन्माद, (७) परिहास, (८) विकत्थन, (९) यदृच्छायोग, (१०) वैषम्य, (११) प्रतिज्ञान तथा (१२) प्रवृत्ति। इसी प्रकार शारदातनय ने भी इन लक्षणों से भिन्न अन्य ग्यारह लक्षणों का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं :—(१) नय, (२) अभिज्ञान, (३) उद्देश, (४) नीति, (५) अर्थ-विशेषण, (६) निवेदन, (७) परिहार, (८) आश्रय, (९) प्रहर्ष, (१०) उक्ति तथा (११) क्षेत्र।

इस प्रकार इन नामावलियों के पार्थक्य से लक्षणों के अनेक प्रभेद होना इस काव्याङ्ग की व्यापकता का सङ्केत देता है। भरतमुनि ने लक्षणों की छत्तीस संख्या की सूची में उन्हीं लक्षणों को लिया जिनका साहित्य में सामान्यतः अधिक उपयोग हो सके किन्तु उन्हें इसके तथ्य के विषय में भी स्पष्टतः विदित था कि लक्षण के प्रभेदों की सीमा स्थिर नहीं हो सकती है। इतना अवश्य था कि तत्कालीन काव्याङ्गों में इन लक्षणों का महत्व भी था। इसी कारण उत्तरभावी कोहल आदि आचार्यों के द्वारा लक्षणों के अन्य स्वरूप भी उद्भावित किये गये तथा इसी कारण आगे भी भोजराज, शारदातनय जैसे नाटचविद्या के आचार्यों ने लक्षणों के जो प्रभेद दिखलाये ये सभी लक्षणों की विशिष्टता को तथा महत्व को दिखलाने के लिये प्रर्याप्त आधार रहे हैं।

भरतमुनि की परम्परा में लक्षणों के जो जो स्वरूप उद्भावित एवं व्याख्यात हुए उनसे भी उपर्युक्त विचारों की ही पुष्टि होती है। इसी कारण **आचार्य अभिनवगुप्तपाद** ने लक्षणों के विषय में अनेक परम्परागत मत मतान्तर दिखलाये तथा परम्परा प्राप्त दोनों पाठों की सोदाहरण व्याख्या भी की। 'लक्षण' का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य भरत ने उन्हें काव्य का शरीर माना तथा कथाशरीर में लक्षणों से ही वैचित्र्य की उद्भावना को मान्यता दी। काव्यगत अपृथक् सौन्दर्य का आधायक लक्षण होता है तथा पृथक् सिद्ध सौन्दर्य का आधायक अलङ्कार कहलाता है। इस प्रकार लक्षण तथा अलंकार दोनों निरपेक्ष तत्त्व है तथा सौन्दर्य के आधायक भी तथा इसी कारण अलङ्कार का द्विविध व्यक्तित्व है। एक ओर वे नाटकीय इतिवृत्त के सन्ध्यङ्ग जैसे अंश के रूप में हैं क्योंकि नाटकादि के इतिवृत्त से इनका सम्बन्ध है, काव्यमात्र से नहीं। दूसरी ओर वे अलङ्कार के अनुगत धर्म भी थे। इस प्रकार काव्यगत अपृथक् सिद्ध सौन्दर्य के आधायक तथा शोभा धायक अंग के रूप में लक्षणों की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी, यह स्पष्ट ही है।

यदि इसके स्वरूपगततत्त्व पर विचार किया जाए तो उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट हो जाएगा। लक्षण का पाठ उपजाति छन्द से आरम्भ होता है वे नाटकीय सन्ध्यङ्गों के सर्वथा अनुरूप थे, यह बात उनके अभिनवभारती व्याख्यान से स्पष्ट है जब कि दूसरा पाठ इस तथ्य का अनुगमन कम ही करता है। इसके अतिरिक्त दूसरा तथ्य यह भी है कि अनेक लक्षण अलङ्कारों के अनुगत है तथा इन्हीं का आगे चल कर परिवर्तन तथा परिष्कार होकर अलङ्कारों के रूप में विकास (भी) हुआ था। इस तथ्य पर भी **अभिनव-**

गुप्तपाद ने **भट्ट तोत** का मत उद्धृत करते हुए बतलाया कि—[1]"लक्षणों के सामर्थ्य से ही अलङ्कारों में वैचित्र्य है तथा अलंकारों के वैचित्र्य का मूल लक्षण में ही विद्यमान है। जैसे गुणानुवाद नामक लक्षण से प्रशंसोपमा अलङ्कार का, अतिशय से अतिशयोक्ति का, मनोरथ से अप्रस्तुतप्रशंसा का, मिथ्याध्यवसाय से अपह्नुति का, सिद्धि से तुल्योगिता का उद्भावन किया जा सकता है। इसी प्रकार लक्षणों के परस्पर मिश्रण से उद्भूत वैचित्र्य से भी कुछ अलङ्कारों की उद्भावना हो सकती है। जैसे प्रतिषेध तथा मनोरथ के मिश्रण से आक्षेप अलङ्कार की उद्भावना। इसके अतिरिक्त कुछ लक्षण उक्ति वैचित्र्य रूप है जो अलङ्कारों के अनुग्राहक हो सकते हैं। इस प्रकार लक्षणों का द्विविध व्यक्तित्व है, यह स्पष्ट है।

उपर्युक्त विवरण से लक्षणों का महत्व तथा उसकी काव्याङ्गों में अतिशय मौलिकता को दिखलाया गया है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने तो—'अलङ्कार तथा गुण की अपेक्षा न रखते हुए जिस निसर्ग सौन्दर्य की उत्पत्ति काव्य (या नाटय) में होती है उसका हेतुरूप धर्म लक्षण ही है"[2] कहा भी। इसका आशय यही है कि लक्षण गुण और अलङ्कारों के विना भी अपने सहज सौन्दर्य से प्रतिभासित हो सकता है तथा जैसे लक्षण रहित मनुष्य सुन्दर नहीं कहलाता उसी प्रकार लक्षण रहित इतिवृत्त का शरीर भी काव्य (या नाटय) की अपेक्षित गरिमा को प्राप्त नहीं कर सकता। आचार्य अभिनव-गुप्तपाद की उपर्युक्त लक्षण व्याख्या तथा उनके उपाध्याय भट्ट तोत के समीक्षात्मक विवरण से यही तथ्य सामने आता है कि काव्याङ्गों में लक्षण अपना विशेष महत्व रखते थे तथा कथा एवं काव्यशरीर के वे अपृथक् अङ्ग तो थे ही, गुण तथा अलङ्कारों के आधार एवं उद्भावक भी थे। इसी कारण काव्य एवं नाटय के क्षेत्र में लक्षणों का व्यापक प्रभाव रहा भी।

इस प्रकार भरतमुनि के युग से लेकर अनेक शतकों तक लक्षणों का

---

१. उपाध्यायमतं तु—लक्षण-वलादलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथाहि—गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशंसोपमा, अतिशयनाम्नाऽतिशयोक्तिः, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः, सिद्ध्या तुल्ययोगितेति। एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम्। लक्षणानाञ्च परस्परवैचित्र्यादनन्तो विचित्रभावः। यथा प्रतिषेधमनोरथयोः सम्मेलनादाक्षेप" इति। (अभि० भा० Vol. II पृ० ३२१।

२. "काव्येऽप्यस्ति यथा कश्चित् स्निग्धः शब्दोऽर्थशब्दयोः। य श्लेषादि गुणव्यक्तिदक्षः स्याल्लक्षणस्थितः॥" इति (अभि० भा० Vol. II पृ० २९६)

यद्यपि काव्याङ्गों के रूप में महत्व बना रहा किन्तु आगे चलकर काव्यशास्त्र के विकास में अलङ्कारों की परम्परा ने धीरे-धीरे अधिक प्रसार एवं महत्व प्राप्त किया जिससे लक्षणों की आभा धूमिल पड़ती गयी तथा उनका क्षेत्र भी कम पड़ने लग गया। जहाँ एक ओर महाराज भोज ने लक्षणों की संख्या वृद्धि की तथा अन्य आचार्यों ने भी यथाशक्य इसी क्रम में कहीं लक्षणों के नाम तथा कहीं उनके स्वरूप को भिन्न बतला कर लक्षणों के विवेचन-विवरण के विवर्जन क्रम को बनाए रखा था तो दूसरी ओर विश्वनाथ कविराज तथा सागरनन्दी आदि आचार्यों ने इन लक्षणों को नाटच-लक्षण कहकर छत्तीस प्रभेद दिखला कर इन्हीं के साथ साथ 'नाटचालङ्कारों' को भी प्रतिपादित किया। ये नाटचालङ्कार या तो भोज आदि से नवीन उद्भावित 'लक्षण' थे या नाटचशास्त्र की पाठ भेद परम्परा से प्राप्त ऐसे 'लक्षण' थे जो छत्तीस लक्षणों में समायोजित नहीं हो पाए थे अतः इनके सोदाहरण विवरण इन ग्रन्थों में लगाये गये। इसके अतिरिक्त धनञ्जय आदि ने इन लक्षणों का अन्तर्भाव अलङ्कार, गुण, सन्धि तथा भाव में हो जाने से काव्याङ्गों में उनके विवरण को देना ही अनावश्यक मान लिया था।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि नाटच-लक्षणों या नाटचालङ्कारों का विवरण देना एक परम्परा-निर्वाह मात्र हो गया तथा कालान्तर में यह लक्षण-विवेचन का क्रम मन्दतर होने लगा। काव्यशास्त्र के उत्तरोत्तर विकास के साथ गतिमान् होकर ये लक्षण नहीं चल पाये तथा उनकी ह्रासोन्मुखी स्थिति ने धीरे-धीरे न केवल उनकी महत्वपूर्ण स्थिति ही रहने दी परन्तु उनकी अनुपयोगिता को भी बतलाना आरम्भ कर दिया था जिसका सङ्केत धनञ्जय के इस विवरण से मिलता है। परिणाम स्वरूप लक्षण पद्धति का स्थान साहित्यशास्त्र में 'अलङ्कारों ने ले लिया जो नाटचशास्त्र के रचनाकाल के समय अतिशय अल्पावस्था में अवस्थित थे।

अलङ्कार—नाटचशास्त्र में लक्षणों के विवरण के पश्चात् अलङ्कारों का विवेचन दिया गया है। इसमें जहाँ लक्षणों की संख्या छत्तीस थी वहाँ अलङ्कारों की संख्या चार (ही) है तथा नाटचशास्त्र के इस भाग पर कोई भिन्न पाठ तथा प्रक्षिप्त अंश भी उपलब्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि नाटच-शास्त्र के लेखन के समय से लेकर अनेक शताब्दियों बाद तक अलंकार-पद्धति अपनी स्थिति आरम्भक-बिन्दुओं से अधिक विस्तीर्ण नहीं बना सकी थी।

---

१. "लक्षणसन्ध्यङ्गकाव्यानि सालङ्कारेषु तेषु हर्षोत्साहेषु अन्तर्भावान्न-कीर्तिता"।—दश० रू० ४।

भरत के उत्तरभावी साहित्य के आचार्यों ने इसी अलङ्कारपद्धति को धीरे-धीरे विकसित, व्यवस्थित एवं व्यापक बनाकर उसे शास्त्रीय गौरव की इतनी ऊँचाई तक पहुँचा दिया कि फिर उनके सम्मुख 'लक्षण' नीची स्थिति में दिखाई देने लगे तथा इसी कारण उनकी स्थिति गौण बनती चली गयी। इतना होने पर भी काव्यशास्त्र के (तथा काव्य के) अङ्ग के रूप में अलङ्कार के निरूपक आचार्यों में भरत ही सर्वप्रथम आचार्य रहे थे। अतः यह ऐतिहासिक गौरव भी केवल भरतमुनि को ही प्राप्त है, यह निर्विवाद है।

लक्षण तथा अलङ्कारगत विभेद—भरत प्रतिपादित लक्षणों तथा अलङ्कारों के सन्दर्भ में विचार की स्थिति में सर्वप्रथम इनके विभेद पर भी ध्यान जाता है। भरतमुनि ने लक्षणों तथा अलङ्कारों के जो विवरण दिये उनके अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि लक्षण की महिमा से ही अलङ्कारों के द्वारा काव्य में शोभा का आधान होता है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने अलङ्कारों के इस आधारभूत तथ्य को काव्यरचना की प्रासादरचना से तुलना करते हुए समझाया कि लक्षण तो काव्यरचना में भित्ति स्थानीय होते है तथा उन पर चित्ररचना के कार्य के समान अलङ्कारों का प्रयोग माना गया है। काव्य में अलङ्कार उस रत्नमाला के समान है जो अलङ्कार्य या शरीर से भिन्न हो जब कि लक्षण शारीरिक (एवं) सहज सौन्दर्य है जो विना अङ्ककारों के भी सुन्दर होता है।[1]

नाट्यशास्त्र में निरूपित अलङ्कार—काव्य के प्रसंग में भरतमुनि ने केवल चार अलङ्कारों का निरूपण किया है जिनमें उपमा, रूपक तथा दीपक अलङ्कारों को उत्तरभावी आचार्यो ने अर्थालङ्कार तथा यमक को शब्दालङ्कार माना। अलङ्कारों के सन्दर्भ में उनका शब्द तथा अर्थगत विभेद भरत के समय तक उद्भावित नहीं हुआ था जिससे एक परम्परा प्रवर्तित हो, परन्तु भरतमुनि अलङ्कारों के व्यापक सामर्थ्य से परिचित प्रतीत होते हैं, यह उनके ग्रन्थ के अनुशीलन से समझा जा सकता है। इसी कारण उनके ग्रन्थ में बीजरूप में अलङ्कारों का (काव्य के उपकरणों के सन्दर्भ में) निरूपण करने के पश्चात् अन्त में यह भी कहा गया कि अर्थक्रियापेक्षी लक्षणों तथा अलङ्कारों के द्वारा काव्य की रचना की जाए। यहाँ अर्थक्रिया से उनका आशय यही है कि काव्य में रस की अपेक्षा अवश्य रहनी चाहिए, क्योंकि सौन्दर्याधायक तत्व—चाहे वे फिर एतादृश अलङ्कार ही क्यों न हों—समवाय सम्बन्ध से रस के उपकारक होंगे। उसी प्रकार जैसे कटक केयूर शरीर के शोभाधायक

---

१. द्रष्ट०—अभिनवभारती Vol. II पृ० २९२–२९७।

बन कर उसकी आत्मा के भी उपकारक वन जाते हैं। वे केवल वहिरंग के प्रसाधक मात्र नहीं रहते। भरतमुनि का यह संकेत मानवीय वृत्तियों एवं संवेदनाओं की उद्भावक ऐसी ही काव्यरचनाओं को करता है जो रससम्पृक्त हों। कालान्तर में अलङ्कार-पद्धति का विकास रस से स्वतन्त्र होकर चमत्कार की उद्भावक एवं असाधारण उक्ति वैचित्र्य को प्रश्रय देने वाली प्रवृत्तियों की बहुलता को लेकर हुआ, जिसने कविता को सर्वजनसंवेद्य एवं सहजवेद्य (तथा सरस) रूप से हटाकर अनेक रत्नादि के हार तथा विभूषणादि से मण्डित रमणी के सौन्दर्य को दिखलाने की प्रवृति में अधिक रुचि ली। यह शोभा के प्रसार की न्यूनाधिक मात्रा को अलङ्कारादि से सम्पादित करने वाली विभेदकशक्ति थी जिसे इसी रुचि की पूर्ति में पूर्णतः जुटा दिया गया था। अतः यहाँ अब हम क्रमशः नाटयशास्त्र में चर्चित अलङ्कारों का थोड़ा विवरण देते हैं।

उपमा—गुण तथा आकृति की समानता के आधार पर दो भिन्न वस्तुओं का उपमित होना 'उपमा' है। विषय की दृष्टि से नाटयशास्त्र में उपमा के प्रभेद भी पाँच रूप में दिखलाये गये हैं। प्रशंसा में प्रशंसोपमा, निन्दा में निन्दितोपमा, कल्पना में कल्पितोपमा, सादृश्य में सादृशोपमा तथा किञ्चित् सादृश्य में किञ्चित् सदृशोपमा। यद्यपि उपमा के रूप प्राचीन वैदिक मन्त्रों में प्राप्त थे तथा यास्क के निरूक्त में इसकी चर्चा भी है किन्तु इसकी सर्वप्रथम शास्त्रीय परिभाषा देकर प्रभेद विनिश्चय प्रथमतः भरतमुनि ने ही किया जिसके आधार पर बाद में आगे चलकर अनेक उपमामूलक नवीन अलङ्कारों की उद्भावना हुई। भारतीय कविता की सौन्दर्यसृष्टि में उपमा का योगदान महत्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक भी है। अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा. अपहनुति, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति जैसे सादृश्यमूलक अलङ्कार उपमा के विस्तार या विकास ही हैं। इसी कारण उत्तरभावी अलङ्कार शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् अप्पयदीक्षित ने उपमा को ऐसी नटी निरूपित किया जो काव्य के रङ्गमञ्च पर विभिन्न भूमिकाओं में अवतरित होकर सहृदयों के चित्त का अनुरूञ्जन करती हो।[1]

दीपक—एक अर्थ के द्वारा अनेक अर्थों का दीपक की भाँति प्रकाशक **"दीपक"** है। भरतमुनि ने उपमा की तरह दीपक के अनेक प्रभेद नहीं किये। अभिनवगुप्तपाद ने भरत के लक्षण के आधार पर इसी के स्वरूप

१. "उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥"—कुव०

को—'एक अवान्तर से असंयुक्त रहकर जो क्रिया, गुण, जाति आदि की आकाङ्क्षा की सम्यक् पूर्ति करता हो तो उसे दीपक की प्रकृति के कारण 'दीपक' समझना चाहिए' कहकर विशेष स्पष्ट किया जिसकी भरतमुनि के द्वारा दिये गये उदाहरण से पुष्टि होती है।

रूपक—इस अलङ्कार में किञ्चित् सादृश्य तथा तुल्यावयवत्व की स्थिति होती है। इसके भी मुनि ने प्रभेद नहीं किये किन्तु उनके विवरण से रूपक के साङ्ग या एकदेशविवर्ति होने के संकेत अवश्य मिल जाते हैं। यहाँ पाठभेद में रूपक का अन्य एक लक्षण भी मिलता है। (जिसकी व्याख्या यथास्थान देखनी चाहिए)।

यमक—भरतमुनि ने यमक अलङ्कार के लक्षण तथा उसके प्रभेदों के सोदाहरण विवरण से शब्दालङ्कारों को आधार प्रदान किया यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। यहाँ भरतमुनि ने वर्गीकरण के उद्देश्य से यमक के प्रभेद नहीं किये केवल वर्णन ही उनका लक्ष्य था। इसी कारण उन्होंने शब्दाभ्यास को ही यमक का लक्षण बतला कर उसके दस प्रभेद कर डाले थे। यहाँ इस प्रकार किसी क्रम की स्थापना प्रतीत नहीं होती है। आगे चलकर ये प्रभेद इस प्रकार बन जाते हैं—(१) पादान्त-यमक, (२) काञ्ची-यमक, (३) समुद्ग-यमक, (४) विक्रान्त-यमक, (५) चक्रवात-यमक, (६) सन्दष्ट-यमक, (७) पादादि-यमक, (८) आम्रेडित-यमक (या पादान्ताम्रेडित-यमक), (९) चतुर्व्यवसित-यमक तथा (१०) माला-यमक।

नाटचशास्त्र में इन प्रभेदों के लक्षण तथा उदाहरण देकर विषय को हृदयंगम करवाया गया है। इसमें मालायमक में एक व्यञ्जन की समस्त पद्य में आवृत्ति रहने से इसे परवर्ती आचार्यों ने एक विशिष्ट अलङ्कार के अनुप्रास नाम को देकर इसके प्रभेद दिखलाये। भरत प्रतिपादित इन प्रभेदों ने आगे चल कर यमक के अनेक प्रभेदों को आधार प्रदान किया जिसे अग्निपुराण, दण्डी के काव्यादर्श, भामह के काव्यालङ्कार तथा भट्टिकाव्य में देखा जा सकता है। यहाँ हम विस्तारभय से तथा अप्रासङ्गिक रहने से इसकी चर्चा नहीं करेंगे। क्योंकि यमकों के प्रभेद उस समय वर्गीकरण की स्थिति में नहीं थे अतः इनके उदाहरणों की स्थिति से भी अन्वेषक विद्वानों को अधिक सन्तोष नहीं हुआ[१]। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने यमक के प्रभेदों के उदाहरणों की यथाशक्य संगति बैठाने का अवश्य उद्योग किया था।

---

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी—'संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार, पृष्ठ—११९–१२० का विवरण।

अलङ्कारशास्त्र को नाट्यशास्त्र का आधार—यद्यपि नाटचशास्त्र में शब्द तथा अर्थ के आधार पर शब्दालङ्कार तथा अर्थालकारों की परिकल्पना तथा चर्चा नहीं हुई और नहीं विभाजन ही हुआ किन्तु इन अलङ्कारों के विवेचन में परवर्ती अलंकारों की शब्द तथा अर्थगत स्थिति के प्रभेदों की सम्भावनाएँ विद्यमान थीं। भरतमुनि ने नाटचलक्षणों के अतिरिक्त चार पृथक् अलंकारों का विवरण दिया था जब कि अलङ्कारों की संख्या अप्पयदीक्षित के समय (१७ वीं शती) तक एक सौ चौवीस हो चुकी थी (और वह भी केवल अर्थालङ्कारों की) जिनमें अलंकारों के अवान्तर भेदों का पृथक् (ही) विस्तार है। इस प्रसंग में एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भरतमुनि को केवल चार अलङ्कारों का निरूपण ही अभीष्ट या तथा उन्होंने अपने समय तक प्रचलित सभी साहित्यिक तथ्यों के सभी पक्षों पर समान रूप में तथा न्यायपूर्ण चिन्तन किया था। अब इस प्रश्न के सन्दर्भ में साहित्य तथा उसके ऐतिहासिक क्रम पर दृष्टि डाली जाए तो यह स्पष्ट हो जायगा कि नाटचशास्त्र को गम्भीरता से देखने पर उपर्युक्त आशंका के लिये स्थान ही कम रह जायगा।

भरतमुनि ने लक्षणों एवं अलङ्कारों का निरूपण किया था तथा उनमें विभेद भी दर्शाया था जैसा पिछले विवरण से स्पष्ट है। इसमें जहाँ लक्षणों की संख्या छत्तीस है वहीं पाठान्तरगत लक्षणों के भेद से यह संखया और भी अधिक हो गयी है। अलङ्कारशास्त्र के उत्तरभावी आचार्यों ने अलङ्कार तथा लक्षणों के इन प्रभेदों की ओर गम्भीरता से अवधान न देकर अनेक लक्षणों को अलङ्कार प्रभेद के रूप में प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति ही दर्शायी जो कुछ शाब्दिक परिभाषाओं के एवं उदाहरणों के नवीनीकरण को लिये हुए रहा भी था। अतएव अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों ने अनेक नये ऐसे अलङ्कारों की उद्भावना कर डाली जिनसे भरतमुनि अनभिज्ञ नहीं थे। परन्तु इतना सही है कि भरतमुनि लक्षणों का आधार लेकर ही अपने अलङ्कार तथा उनके प्रभेदों के आविष्कार या निर्माण में समर्थ हो पाए थे। इस कारण सभी उत्तरभावी आलङ्कारिक आचार्य किसी प्रकार अपने उपजीव्य ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के आभारी हैं ही। भरतमुनि ने मूलभूत अलङ्कारों तथा लक्षण, गुण, दोष आदि के द्वारा जिस काव्यमार्ग का आरम्भ किया था उसे ही उत्तरभावी भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से विकसित एवं व्यवस्थित किया था यह स्पष्टतः प्रतीत होता है।

दोषविधान—वाचिक अभिनय के इस क्रम में काव्यदोषों का भी भरत-

मुनि ने विवरण दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोषपद्धति को प्राचीन शास्त्र परम्परा के आधार पर—विशेषतः गौतम के न्यायसूत्र या महाभारत आदि के आधार पर पल्लवित किया गया था। इनमें सामान्यतः जिन दोषों को बतलाया गया था उन्हींके अनुसरण या आदर्श पर काव्यदोषों का भी निरूपण हुआ जिसका उद्देश्य था काव्य में पूर्णता की स्थिति बनाए रखना। काव्यदोषों के निरूपण का विवरण सर्व प्रथम नाट्यशास्त्र में ही मिलता है। अतः इसके प्रवर्तक भी भरतमुनि ही थे यह स्पष्ट है। उत्तरभावी आचार्यों ने दोष के स्वरूप का विवेचन तथा विस्तार लोकव्यवहार एवं विविधशास्त्रों के परिशीलन के प्रकाश में ही किया है। भरतमुनि की पूर्ववर्ती जो काव्य-शास्त्रीयपद्धति दोष आदि के लिये चल रही होगी उसका भी भरतमुनि ने अपनी रचना में निवेश किया था तथा समकालीन मान्यताओं को ध्यान में रखकर नाट्यशास्त्र में 'दोषविधान' निरूपित किया था जो उनके ग्रन्थ के परिशीलन से स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

दोष तथा उनके प्रभेद—भरत मुनि ने गुणों की संख्या दस मानी है जिसे हम आगे दिखलाएँगे तथा गुणों को दोषों का विपर्यय मानने के आधार पर दोषों की भी संख्या दस ही की है। निश्चित ही काव्य के क्षेत्र में दोष पहिले उपस्थित थे क्योंकि काव्य भाषा के क्षेत्र की वस्तु मानी जाती है तथा इसी कारण गुण ही दोषों के विपर्यय होंगे यह बात उपयुक्त ही है। इन दोनों का क्रम इस प्रकार दिया गया है :—

(१) गूढ़ार्थ, (२) अर्थान्तर, (३) अर्थहीन, (४) भिन्नार्थ, (५) एकार्थ; (६) अभिप्लुतार्थ, (७) न्यायादपेत, (८) विषम, (९) विसन्धि तथा (१०) शब्द (पद) च्युत। क्रमशः इनका विवरण इस प्रकार है।

गूढ़ार्थ—शब्दों के गूढ़ार्थ को पर्याय शब्द से बतलाना 'गूढ़ार्थ दोष' है। नाट्य एवं काव्य के प्रयोग में गूढ़ार्थता अर्थबोध में बाधक होती है। जैसे (टिप्पणी में भी) 'दशरथ' पद के लिये 'अधिकनवविमान' का प्रयोग। यहाँ ऐसे यदृच्छा शब्द को पर्याय द्वारा संकेतित किया गया जो दुर्बोधताग्रस्त है। मम्मट ने इसे ही 'निहतार्थ' दोष कहा है।

अर्थान्तर—अवर्ण्य का वर्णन करना 'अर्थान्तर नामक दोष' है। इसी कारण वर्ण्य वस्तु का औचित्य दब जाता है तथा प्रतिपाद्य विषय या रस की उपेक्षा होने लगती है। इसे मम्मटादि ने अवाच्यवचन या अमतपरार्थता जैसे दोषों में परिगणित कर व्यापक विचार किया।

अर्थहीन—अर्थ की असम्बद्धता या अपूर्ण अर्थ की बहुलता से यह दोष होता है। इसे मम्मटादि सम्मत न्यूनपद या निरर्थक के रूप में समझा जा सकता है।

भिन्नार्थ—अविवक्षित अर्थ को कहने या ग्राम्यशब्दों के प्रयोग करने पर यह दोष होता है। इसके दूसरे लक्षण से अनपेक्षित अर्थ में अभिहित अर्थ का परिणत होना भी इसी दोष का स्वरूप हो जाएगा। इसे मम्मटादि सम्मत प्रकाशितविरुद्धता या विरुद्धमतिकृत् के समान समझा जा सकता है।

एकार्थ—एक ही वर्ण्य के लिये अनेक पदों का प्रयोग करना जो पुनरुक्तता सा लगे तो 'एकार्थ' दोष कहलाता है।

अभिप्लुतार्थ—पद्य के प्रत्येक पाद में अर्थ का समाप्त हो जाना, जो कि एक दूसरे से निरपेक्ष हों तो 'अभिप्लुतार्थ' दोष होता है अथवा लम्बे समास का एक पूरे पद्य के पाद में प्रयोग के द्वारा अर्थ को दुर्बोध बनाना। इसे मम्मटादि सम्मत क्लिष्टत्व के समान माना जा सकता है।

न्यायादपेत—लोकपरम्परा के विरोध होने या देश, काल, कला, न्याय या आगम के विरुद्ध किसी उपयुक्त तर्क के न देने पर यह दोष होता है। इसमें प्रतिज्ञा या दृष्टान्त का विरोध या अभाव रहता है। यह मम्मटादि सम्मत विद्याविरुद्धता या प्रसिद्धिविरुद्धता जैसे दोषों के समान समझा जा सकता है।

विषम—छन्द या वृत्तों के अनुचित प्रयोग करने पर यह छन्दोशैथिल्य के कारण दोष होता है। यह विवक्षित अर्थ या रस के प्रतिकूल होता है। मम्मटादि सम्मत हतवृत्तता के समान इसे समझा जा सकता है।

विसन्धि—जब पदों को सन्धि के नियमानुसार न रख कर सन्धिहीन स्थिति में प्रयुक्त किया जाता है तो यह दोष होता है।

शब्दच्युत—उचित शब्दों के यथासमय प्रयोग न करने से यह दोष होता है। इस दोष का क्षेत्र विस्तीर्ण है जिसमें विवक्षित भाव का प्रकाशन न होना इस दोष की स्थिति निर्माण करता है। क्योंकि ऐसे अपशब्दों के प्रयोग से विवक्षित अर्थ के बोध में बाधा उत्पन्न हो जाती है। इसे मम्मटादि सम्मत अवाचकत्व, असमर्थत्व तथा च्युतसंस्कृति जैसा समझा जा सकता है। यह व्याकरण से भी एक और सम्बन्ध रखता है तथा अर्थ से भी।

इस प्रकार इस दोषनिरूपण के विवरण से स्पष्ट है कि शब्द के साधु प्रयोग, वर्ण्य या अर्थ के उपयुक्त काव्यरचना करना तथा रसानुवर्ती छन्द

का विधान होने से काव्य उत्तम या निर्दोष होता है। यद्यपि भरतमुनि के समय शब्द और अर्थ में विभाजन होकर दोष विचार आरम्भ नहीं हो पाया था परन्तु ऐसे विभाजन की सम्भावनाओं के आधार अवश्य निर्मित हो चुके थे। भरत के दोषनिरूपण ने उत्तरभावी आचार्यों को दोषों के सूक्ष्म विवेचन (तथा दोषों की अनित्यता तथा अनौचित्य जैसे विन्दुओं पर विचार) करने की प्रेरणा (अवश्य) दी। नाट्यशास्त्र में अलङ्कारों की संख्या अतिन्यून तथा सीमित रहने से अलङ्कार में आनेवाले दोषों की चर्चा नहीं हो पायी यद्यपि दोष के आधार का तत्व भरतमुनि ने ही संकेतित किया है। भरतमुनि ने निर्दोषता को उत्तम काव्यरचना का सौन्दर्य मानकर काव्य में अदोषत्व का विचार मुख्य विन्दुरूप में स्थापित किया जो काव्यशास्त्र के इतिहास में विशेषतः उल्लेखनीय तथा महत्वपूर्ण भी है।

गुणविधान—काव्यगत गुणों का विवरण भी इसी क्रम में आता है। भरतमुनि ने दस गुणों के विवरण के प्रसङ्ग में दोषों के अभाव या विपर्यय के रूप में 'गुण' को प्रतिपादित किया था। इस काव्यगुण के विवेचन ने शब्दार्थ तथा रसाश्रित गुणविवेचन को आधार प्रदान किया। वाचिक-अभिनय में नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से किया गया यह गुणनिरूपण रीतिवादी एवं रसवादी प्रवृत्तियों का मूल विचारबिन्दु बन कर उन्हें प्रभावित करने में आगे चल कर समर्थ हो सका जिसके प्रवर्तन का श्रेय भी भरतमुनि को ही है।

गुणस्वरूप—भरत ने दोषों की तरह गुणों के भी दस प्रभेद कर उनका विवरण दिया है। ये हैं—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, (५) माधुर्य, (६) ओज, (७) सौकुमार्य, (८) अर्थ-व्यक्ति, (९) उदारता तथा (१०) कान्ति। क्रमशः संक्षेप में इनके स्वरूप इस प्रकार हैं—

श्लेष—जहाँ पदों की श्लिष्टता अभिलषित अर्थपरम्परा या समुदाय से सम्वद्ध रहती हो अथवा जहाँ पद में गहन विचार की अर्थधारा स्वभावतः स्फुट होती हो तो वहाँ श्लेष गुण होता है। अभिनवगुप्तपाद ने इसके लक्षण-गत दोनों पाठों को शब्द तथा अर्थश्लेष अलङ्कार का उद्भव स्रोत निर्दशित किया है।

प्रसाद—शब्दार्थ के आह्लादक संयोग से अर्थ के स्वच्छ स्फटिक की तरह प्रतिभासित होने पर 'प्रसाद' गुण होता है। अपनी अर्थ विमलता के कारण यह अर्थगुण हो जाता है—यह अभिनवगुप्तपाद आचार्य

ने माना है। तीन गुणों को ही काव्य में मान्य करने वाले मम्मटादि ने भी इसे एक गुण ही स्वीकृत किया है।

समता—जिसमें न अधिक असमस्त पद तथा न व्यर्थाभिधायी या दुर्बोध पद हों तो 'समता' गुण होता है। अन्य पाठ के अनुसार गुण तथा अलङ्कारों का समुचित योग होना 'समता' है। आचार्य हेमचन्द्र ने अन्य पाठ को मान्य कर वतलाया कि भिन्न अधिकरण में अवस्थित गुण तथा अलङ्कार परस्पर विभूषित नहीं करते। सर्वेश्वर ने भी (अपने साहित्यसार ग्रन्थ में) यही पाठ स्वीकार किया। वामन ने समता को वृत्ति में अन्तर्भुक्त किया तथा अन्य कुछ आचार्य मार्ग की भिन्नता के कारण समता को दोष मानने लगे थे।

समाधि—इष्टार्थ की अभिव्यक्ति के लिये उपमा को ग्रहण करना या कविप्रतिभा द्वारा प्रयुक्त पद या वाक्य से विशिष्ट अर्थान्तिर की प्रतीति होना 'समाधि' है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इसे शब्द का गुण निरूपित कर विस्तृत विवरण दिया है।

माधुर्य—वाक्य की बार-बार आवृत्ति होने पर भी उद्वेग रहित मधुरता का बना रहना 'माधुर्य' है। इस गुण को मम्मटादि ने त्रिगुण में मान्यता दी है तथा अभिनवगुप्त इसे अर्थगुण बतलाते हैं।

ओज—जिसमें समासबहुल रचना हो तथा जो अनेक विचित्र, उदार तथा परस्पर अपेक्षित अर्थों से अनुमत रहे तो 'ओज' गुण होता है। अन्य पाठ के अनुसार शब्दार्थ की समृद्धि से उदात्त अर्थ का प्रतिभासित होना 'ओज' है। आचार्य हेमचन्द्र ने ओज के इसी लक्षण को मान्य करते हुए इसे प्रकृत कवि कर्म निरूपित किया। आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने ओज को अर्थगुण माना तथा मम्मटादि ने इसे त्रिगुण में एक गुण के रूप में मान्य किया। डॉ॰ वी॰ राघवन्[1] ने इसके पाठ में 'सानुरागैः' के सानु शब्द के स्थान पर काकुशब्द सुझाया तथा तदनुसार अर्थसङ्गति को बैठाने का आग्रह किया। परन्तु ऐसे पाठ को मानने का आधार (किन्हीं नाट्यशास्त्र की प्राचीन प्रति या हस्तलेखों में प्राप्त नहीं होने) स्पष्टतः प्राप्त नहीं होता। दूसरे अभिनवगुप्तपाद ने इसके दोनों पाठों की भी परम्परा के अनुगत व्याख्या दी है तथा इसी कारण विषय के अनुगत स्वतन्त्र कल्पना को अधिक बढ़ावा मिलने के सभी अवसर क्षीण हो गये हैं।

---

१. द्रष्ट-डॉ॰ राघवन्-भोज का शृङ्गारप्रकाश-पृष्ठ २६८।

सौकुमार्य—सुखपूर्वक उच्चारण या प्रयोग के उपयुक्त तथा सुश्लिष्ट सन्धि एवं कोमल अर्थ से अनुप्राणित रचना 'सौकुमार्य' कहलाती है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इसे शब्द तथा अर्थ गुण मानकर बतलाया है कि 'सुकुमारता' दोनों में होती है। दण्डी तथा हेमचन्द्राचार्य ने इसे शब्दगुण माना है।

अर्थव्यक्ति—नाट्य या काव्य व्यापार में सुप्रसिद्ध तथा लोकप्रसिद्ध पदार्थ या क्रिया का अभिधान होने से अर्थ का सुस्पष्ट अववोध होना 'अर्थव्यक्ति' है। अन्य पाठ के अनुसार पात्र के द्वारा अपने मनोवल के योग द्वारा प्रेक्षक के हृदय में अवस्थित भाव या वस्तु का अभिनय द्वारा प्रस्तुतीकरण 'अर्थव्यक्ति' होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसी अन्य पाठ को लिया है। आचार्य वामन इसे अर्थगुण तथा दण्डी एवं अन्य आचार्य इसे जाति या स्वाभावोक्ति अलङ्कार के निकटवर्ती मानते हैं। विश्वनाथ कविराज तथा मम्मट भट्ट आदि ने इसे प्रसाद गुण स्वीकार नहीं किया।

उदारत्व (उदात्तता, उदारता)—विविध दिव्यभावों से विभूषित तथा श्रृङ्गार एवं अद्भुत रसों से समायोजित 'उदारत्व' गुण है। अन्य पाठ के अनुसार अनेक विशिष्ट या सूक्ष्म अर्थों तथा सौष्ठव से पूर्ण रचना 'उदात्त' कहलाती है। इस अन्य पाठ को हेमचन्द्र, वामन तथा भोज ने लिया है। उदारत्व काव्य का प्राणभूत तत्व माना जाता है। आचार्य वामन ने उदारता को ग्राम्यत्व दोष का अभाव वतलाया तथा ओज में अन्तर्भाव माना क्योंकि दोषाभाव स्वतन्त्र गुण नहीं हो सकता। श्री मम्मट तथा विश्वनाथ कविराज आदि ने भी वामन का अनुसरण किया परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त इसे शब्द गुण मान कर व्याख्या करते हैं।

कान्ति—चन्द्र के समान मन तथा श्रोत्र को आह्लादित करने वाली, लीला आदि चेष्टालङ्कारों से रमणीय शब्दवन्ध या रचना 'कान्ति' कहलाती है। वामन ने इसे 'दीप्तरस' कहा तथा दण्डी इसमें लोकसीमा का अतिक्रमण मानते हैं। आचार्य अभिनवगुप्तपाद इसे शब्दगुण मानते हैं, परन्तु कान्ति में अर्थगुण का भी समन्वय दिखलाई पडता है।

गुण-स्वरूप तथा स्थिति-मीमांसा—नाट्यशास्त्र में निर्दशित गुण निरूपण से स्पष्ट है कि ये शब्द तथा अर्थ दोनों को ही ध्यान में रखकर भरतमुनि ने निरूपित किये थे तथा इनकी विभाजक रेखा भी इन गुणलक्षणों में देखी जा सकती है, किन्तु यह तथ्य केवल परिभाषित स्वरूप के परिशीलन से प्राप्त होता है। इस परिशीलन से बाद में दो मत प्रधानतः उभरते हैं जिनमें प्रथम मत में भी दो वर्ग हैं। इनमें भरतमुनि, वामन तथा अभिनव-

गुप्तपाद के अनुसार ये गुण शब्द तथा अर्थ दोनों से सम्बद्ध हैं। द्वितीय वर्ग के आचार्य दण्डी का मत है कि श्लेष जैसे कुछ गुण शब्दों से, प्रसाद जैसे कुछ गुण अर्थों से तथा सौकुमार्य जैसे कुछ गुण दोनों से सम्बद्ध हैं। आचार्य वामन के मत में भरत निरूपित दस गुण शब्दों के तथा दस अर्थगुण होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर गुण बीस हैं। भोजराज ने वामन का अनुसरण करते हुए चौबीस गुणों का प्रतिपादन किया। इनके मत में गुणयोग नित्य हैं तथा अलंकृत होने पर भी गुण-रहित काव्य प्रीतिकर नहीं होता। काव्य में गुण-आदान नियमतः या नित्य होता है तथा अलङ्कार का विधान कामचार है। उद्भट के काव्यालङ्कारसूत्र के व्याख्याकार प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार गुण काव्य का नित्य धर्म होता है। जयदेव ने चन्द्रालोक में वामन के अनुसार ही गुणों का विवरण दिया है।

इन गुणों की संख्या के विषय में भी दो भिन्न-भिन्न मत साहित्य में विकसित हुए। सर्वप्राचीन आचार्य तथा गुणों के प्रवर्तक भरतमुनि के मत में गुणों की संख्या दस है। इस मत का अनुसरण वामन, दण्डी तथा अभिनव-गुप्तपादाचार्य करते हैं। द्वितीयमत के अनुसार गुणों की संख्या मात्र तीन हैं। इस मत के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं जो काव्य के लिये तीन गुणों—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—का ही उल्लेख करते हैं। भामह का आधार भरत तथा दण्डी से भिन्न है तथा वे दस गुणों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते। आगे इस मत का अनुसरण किया आनन्दवर्धनाचार्य तथा उनके अनुयायी मम्मटादि ने भी गुणों की संख्या तीन मान कर। ये भी कुछ गुणों को स्वतन्त्रगुण न मान कर उन्हें दोषाभाव तथा कुछ गुणों को अलङ्कारों के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार काव्यगुणों के विषय में दो परस्पर स्वतन्त्र या निरपेक्ष मत विकसित हुए थे। इनमें एक का भरतमुनि ने तथा अन्य का प्रवर्तन आचार्य भामह ने किया था। यह भी इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि जहाँ आचार्य भरत नाट्यविद्या के सम्प्रदाय के प्रमुख थे वहीं आचार्य भामह काव्यशास्त्र के प्रमुख रहे। दोनों में इस विषय में भिन्नता है कि काव्यरचना के साधनवर्ग में कौन अधिक अपेक्षित है। इस क्रम में भरतमुनि के मत में नाट्यरचना के लिये गुणों की अधिक आवश्यकता होगी, अलङ्कारों की नहीं। इसी कारण काव्यरचना के साधनों में नाट्यशास्त्रीय आचार्य भरत ने अपने साधनों की सूची में काव्यगुणों तथा लक्षणों की संख्या अधिक रखी तथा अलङ्कारों की

कम। दूसरे पक्ष के आचार्यों में—जिनमें भामह प्रमुख थे—काव्यरचना के साधनों की सूची में अलङ्कारों पर प्रधानरूप से ध्यान देते हुए अलङ्कारों को अधिक संख्या में रख कर अन्य ऐसे तत्वों को भी काव्यरचना के साधनों में सम्मिलित कर लिया गया जिन्हें नाट्यशास्त्र में काव्यगुणों की सूची में रखा गया था।

गुणों का सम्बन्ध—इसके अतिरिक्त आचार्यों में गुणों के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। काव्यलक्षणवादी आचार्य भामह के अनुसार काव्य गुणों का शब्द तथा अर्थ के साथ विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है। इनके अनुसार माधुर्य आदि गुण इसी प्रकार शब्द एवं अर्थ के गुण हैं जैसे सामान्य व्यवहार में दूध का गुण सहज मधुर होता है। परन्तु अन्यपक्ष में इस विषय में भी भिन्न मत हैं। काव्यगुणों का रस के साथ रसानुभवात्मा समवाय सम्बन्ध रहता है, क्योंकि काव्य की मधुरता अनुभवस्वरूप होती है। अतएव इसमें शब्द तथा अर्थ की सत्ता मात्र अवस्थित नहीं होती। यह केवल दृष्टि-भेद मात्र था परमार्थतः दोनों की विवेचना ने वास्तविकता का ही प्रतिपादन किया पर भिन्न दृष्टि अपेक्षाभेद से रहती ही है ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्तपाद, मम्मट, हेमचन्द्राचार्य, जयदेव तथा विश्वनाथ कविराज के विचारों का स्रोत भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र में विद्यमान है। इन आचार्यों ने गुण, अलङ्कार तथा लक्षण जैसे काव्याङ्गों का विवेचन रस के सन्दर्भ में ही किया तथा भरत की रसवादी दृष्टि को इनकी समीक्षापद्धतियों ने आत्मसात् कर लिया। भरत के अनुसार कोई काव्यार्थ रस के बिना प्रवृत्त ही नहीं हो सकता था। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने काव्य एवं नाट्य के प्राण के रूप में उसे साहित्य के साधनों में शीर्ष स्थान प्रदान किया। इनके मत में रस रूप आत्मा के गुण नित्य धर्म हैं तथा ये समान अङ्गों के माध्यम से आत्मरूप रस के उपकारक होते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य की इस नव्यसमीक्षा ने साहित्य के क्षेत्र में मौलिक उद्भावना की तथा भरत के रससिद्धान्त को पुनरुज्जीवित करते हुए ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना की जो काव्यशास्त्रीय समीक्षा के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

भाषाविधान—नाटयशास्त्र के अष्टादश अध्याय में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत काव्यशरीर के अङ्गों के रूप में छन्द, लक्षण, अलङ्कार, गुण आदि के विवेचन क्रम में भाषा का भी विचार किया गया कि यह काव्य या नाटय का

शरीर है तथा सर्वस्व भी। भाषा के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र में विभिन्न भाषाओं, सम्वोधनादि विधियों, पात्रों के नामकरण तथा पाठ्यविधि जैसे नाट्योपयोगी विषयों को लेकर उनका तात्विक विवेचन हुआ है। जिनमें से इस अध्याय में भाषा का विशेषरूप में विवरण दिया गया है।

भाषाएँ—नाट्यशास्त्र में भाषाविषयक विवरण संक्षेप में हैं जो संस्कृत तथा प्राकृत के है। इस अष्टादशअध्याय के अतिरिक्त ध्रुवाध्याय (अध्याय ३२) में भी प्राकृतभाषा के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं, जो इस भाषा की ऐतिहासिक स्थिति के अध्ययन में बड़ा मूल्य रखते हैं। इसके विषय में नाट्यशास्त्र के चतुर्थभाग में विशिष्ट रूप में विचार किया जा रहा है। यहाँ (इसके अतिरिक्त) सामान्य तथ्य यह है कि रङ्गमञ्च पर व्यवहार में आने वाली भाषाओं में नाटकादि की (प्राचीन काल में) प्रयुज्यमान भाषायें संस्कृत तथा प्राकृत रही हैं। भाषा के इसी तथ्य को भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अपनी ही पद्धति में इस प्रकार रखा भी है—

भाषा चतुर्विधा ज्ञेया दशरूपप्रयोगतः।
संस्कृतं प्राकृतञ्चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते॥
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च।
तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रतिष्ठिता॥

(नाट्यशास्त्र १८। २५-२६)

इस प्रकार स्पष्ट है कि भरतमुनि ने रूपकों में प्रयुक्त को जाने वाली भाषा के ये चार प्रभेद किये—(१) अतिभाषा, (२) आर्यभाषा, (३) जातिभाषा तथा (४) योन्यन्तरी भाषा। इनमें अतिभाषा वैदिक शब्दबहुल भाषा है। आर्यभाषा श्रेष्ठजन को भाषा होती है तथा योन्यन्तरी भाषा मनुष्येतर या पशुपक्षियों की भाषा मानी जाती है।

जातिभाषा के प्रधानतः दो भेद होते हैं—(१) संस्कृत तथा (२) प्राकृत जिनका रूपकादि में प्रयोग होता है। इनमें जो संस्कार गुण से सम्पन्न भाषा है वही संस्कृत भाषा है, जिसमें देशादि भेद से स्वरूप में अन्तर नहीं पड़ता। जनभाषा है प्राकृत जिसमें संस्कारगुण सम्पन्नता नहीं होती तथा इसी कारण जिसमें देशादि भेद के कारण प्रकृति में भिन्नता आ जाती है। इनमें संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के व्यवहार रूपकों में सम्भाषणप्रथा के अनुगत रखे जाते थे। यह सम्भाषणप्रथा भाषा के प्रयोग का विचार करने पर किस विशिष्ट पात्र को किस विधि से सम्भाषण करना है—इस प्रश्न पर आकर विस्तीर्ण रूप धारण करती है तथा थोड़ी उलझन भी उत्पन्न करती है।

भाषा-नियम—भरतमुनि ने पात्रानुसारी भाषा के नियम दिखलाये हैं। तदनुसार उत्तम एवं उच्चवर्ग के संस्कारी पात्रों की संस्कृतभाषा होती है तथा सभी स्त्री पात्रों, विभिन्न स्तर के सेवकों, सामान्यजन तथा निम्नवर्ग (वर्ण) के पात्रों की प्राकृत-भाषा। इस नियम का अपवाद यह है कि ऐश्वर्यादि से प्रमत्त या दरिद्रता से अभिभूत धीरोदात्त आदि पात्रों की भी प्राकृतभाषा बीच-बीच में आवश्यकतानुसार रखी जाती है। इसी प्रकार नारीपात्रों में भी महारानी, वेश्या, शिल्पकारिणी जैसे पात्रों की वैदग्ध्यार्थ संस्कृतभाषा भी रखी जाती है। अप्सरा आदि दिव्यपात्र होने से संस्कृत-भाषा का प्रयोग करती हैं परन्तु यदि ये नृपपत्नी के रूप में नायिका भाव प्राप्त करे तो इन्हें भी प्राकृतभाषा में ही अपना व्यवहार रखना पड़ेगा।

प्राकृत-भाषा-भेद—भाषाविधान के प्रसंग में नाटचशास्त्र में सात प्राकृतभाषाओं का उल्लेख किया गया है। ये हैं—(१) मागधी, (२) अवन्तिजा, (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्धमागधी, (६) वाह्लीका तथा (७) दाक्षिणात्या। ये ही वे सात भाषाएँ हैं जो तत्कालीन विविध जनपदों की प्रचलित भाषायें रहीं थीं। इसके अतिरिक्त विभाषायें होती हैं—जिनके अन्तर्गत शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल (द्रविड) तथा वनेचरों की भाषाएँ आतीं हैं तथा जिनका नाटचशास्त्र में विधान दिया गया है। इन भाषाओं का विधान पात्रों में देश, जाति तथा अवस्था के अनुरूप किया जाता है, क्योंकि भाषायें भी देश तथा जातिभेद से विभिन्नता धारण करने वाली होती ही हैं। इन भाषाओं को रूपकों में सम्भाषण के अनुसार रखा जाता है तथा भाषा के प्रयोग का (विधाना-नुसारी तथा विचार पूर्वक रखा गया) पात्रा.नुसारी प्रस्तुतीकरण रहता है।

भाषाविधान—हम पूर्व में दिखला आये हैं कि नाटकों में प्रयुज्यमान भाषाओं में संस्कृत तथा प्राकृतभाषायें आती हैं। नाटचशास्त्र में संस्कृत भाषा के विषय में संक्षेप में विवरण देकर फिर प्राकृतभाषा का भी विवेचन किया गया है। यहाँ हम पूर्व कथित चारों भाषा प्रभेदों पर क्रमशः विचार करेंगे। ये हैं—(१) अतिभाषा, (२) आर्यभाषा, (३) जातिभाषा तथा (४) योन्यन्तरी भाषा। इनमें अन्तिम भाषा योन्यन्तरी उन पशु-पक्षियों की भाषा होती है जिनका मञ्च पर प्रस्तुतीकरण अभीष्ट होता है।

अतिभाषा—शेष या अन्य तीन भाषाओं में सर्व प्रथम 'अतिभाषा' आती है जो प्राचीन आर्यभारतीय भाषा या वैदिकभाषा जैसी कोई शिष्टभाषा थी

तथा जिसका तत्कालीन प्रजाजन में बोलचाल में व्यवहार होता था। वही भाषा नाट्यशास्त्र में वर्णित 'अतिभाषा' थी जिसका देवताओं की (या पवित्र) भाषा के रूप में विवरण दिया गया है। इसका स्वरूप कैसा था ? यह प्रश्न कोई कठिन बात नहीं क्योंकि ऐसे स्थान पर हमें पाणिनि से थोड़ी सहायता मिल जाती है। पुराकालीन वैयाकरणों (तथा पाणिनि) ने अपने ग्रन्थों में छन्दों की (वेदादि की) भाषा के साथ-साथ अपने समय में प्रचलित भाषा के रूप दिये हैं। इन सभी आचार्यों ने पूर्वशास्त्रकालीन संस्कृतभाषा को छन्दों की भाषा मान्य की है। जो निश्चित रूप में प्राचीनभारतीय-आर्य भाषा या वैदिक-संस्कृतभाषा थी तथा जिसका ब्राह्मणों के द्वारा यज्ञविधियों आदि में प्रयोग होता था। इसी का महर्षि पाणिनि ने छन्दोभाषा के रूप में निरूपण किया था तथा दिव्यपात्रों में इसी भाषा का अतिभाषा के रूप में भरतमुनि ने विधान दिया है। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि वैदिक-शब्दों के बहुल प्रयोग तथा स्वरभेद आदि संस्कार से पूर्ण मण्डित भाषा की स्थिति को 'अतिभाषा' में देखा जा सकता है।

आर्यभाषा—अतिभाषा की परवर्ती भाषा आर्यभाषा थी, जिसका व्यवहार (नाटकादि) रूपक में राजा जैसे उदात्त पात्र करते थे। आर्यभाषा का स्वरूप हम मोटे रूप में शास्त्रीय-संस्कृत या लौकिकसंस्कृत मान सकते हैं। जिसका समाज के उच्चस्तरीय वर्ग में व्यवहार होता था। इसका आर्यभाषा नामकरण तथा नाट्यशास्त्र में स्थित विवरण यह संकेत करने के लिये पर्याप्त है कि यह समग्र आर्यावर्त से सम्बद्ध भाषा थी। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि पूर्ण संस्कार सम्पन्न संस्कृतभाषा को ही आर्य-भाषा समझना चाहिए।[1]

जातिभाषा—आर्यभारतीय प्रजा की आवासीय या प्रादेशिक भाषाएँ ही 'जातिभाषा' है। ये संस्कृत तथा प्राकृतभाषा के अन्तर्वर्ती विस्तीर्ण प्रभेद रखती थीं। अब यहाँ प्रश्न यह होगा कि क्या यह भाषा सामान्य-भारतीय प्रजा की आवासीय या क्षेत्रीय भाषा रही थी ? इसका उत्तर बहुत साफ है। यद्यपि हमारे पास तत्कालीन समाज के स्पष्ट नृवंशीयतत्व से सम्बद्ध चित्र विद्यमान नहीं है परन्तु प्राप्य तथ्यों के तथा सुदृढ़ परिकल्पना के आधार पर यह माना जा सकता है कि उस समय नाट्यप्रदर्शन देखने वाली प्रजा विशुद्ध आर्यजातीय तथा मिश्र आर्यजातीय अवश्य रही थी तथा सामान्य

---

१. द्रष्टव्य-अभि० भार० Vol II पृ० ३७२ (बड़ौदा सं०)।

प्रजा में आर्यजाति के समाज से सामीप्य रखने वाली जातियाँ या उनसे सम्वद्ध कुछ अनार्य जातियाँ भी थी। अतः जातिभाषा विभिन्न प्रजातियों की क्षेत्रीय या स्थानीय भाषाएँ रही जिनका प्रयोग संस्कृत या प्राकृतभाषा की सम्वोध्यविधि के अनुसार रखा जाता था। इन भाषाओं में अपने प्रजातीय तथा क्षेत्रीय शब्दों का मिश्रण रहता था जो बाद में अधिक विस्तार पाने पर पृथक् विभाषा के रूप में विकास पा जाता था तथा जिनसे एक पृथक् भाषा का रूप बन जाता था। इस क्रम ने पूर्वकालिक भाषाव्यवहार का स्थान धीरे-धीरे ले लिया, जिसमें आर्यभाषा का प्रकृतविधि से व्यवहार होता था तथा जिसे ये प्रजातियाँ समझती तथा स्वीकार करती थी। परन्तु अतिशय स्पष्टता के साथ यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रजातीय भाषाएँ अपने तात्कालिक या वास्तविक रूप में (रूपकों में) प्रस्तुत की जाती थी। यह तथ्य नाट्यशास्त्र के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता।
म्लेच्छशब्दोपचारा च भारतं वर्षमाश्रिता॥ (ना० शा० १८।२८)

इस प्रकार स्पष्ट है कि जातिभाषा विभिन्न प्रजातियों की स्थानीय भाषा थी, जो प्राचीन आर्यभारतीय सम्वोधविधि के अनुसार प्रयोज्य रहती थी तथा जिसमें प्रजातीय शब्दों का मिश्रण रहता था।

इन भाषाओं पर विचार के पश्चात् हमारा ध्यान उन अब सात भाषाओं पर भी जाता है जो इसी जातिभाषा के अन्तर्गत क्षेत्रों से सम्वद्ध हैं। ये सात भाषाएँ पहिले कही जा चुकी हैं जिनमें शौरसेनी, मागधी तथा अर्धमागधी स्पष्टतः, आर्यभाषा से उद्‌भूत हैं तथा यही स्थिति आवन्ती, प्राच्या, वाह्लीकी तथा दाक्षिणात्या के उद्भव के विषय में भी है। यद्यपि आज हमें अवन्ती या प्राच्या के अंश नाट्यकृति में अधिकता से प्राप्य नहीं है तथा वाह्लीकी एवं दाक्षिणात्या का भी नाट्यशास्त्रगत विवरणमात्र ही मिलता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनके रूप अतीत के गर्भ में (नमूने के साथ साथ ही) विलीन हो चुके हैं। इन तथ्यों से एक बात और भी स्पष्ट रूप में उभर कर आती है कि नाटकादि में अवस्थित प्राकृतभाषाएँ सर्वदा एक लचीली दशा में ही स्थित रही थी जिनका प्रयोग पात्रों की स्थिति, प्रकृति तथा देश के अनुरूप रखा जाता था। यहाँ नाट्यप्रयोग के प्रस्तोता को इसी कारण भरतमुनि ने अपनी सुविधा के अनुरूप भाषाप्रयोग की स्वतन्त्रता दे दी है।

भरतमुनि के इस भाषाविधान का परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा नाट्यरचनाओं पर पर्याप्त प्रभाव रहा तथा भरतानुसारी भाषाविधान को लेते

हुए उनमें नवीन अंश जुड़ते रहे। शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन में प्राकृतभाषा के पैशाची, मागधी तथा शौरसेनी प्रभेदों को ग्राम्य, नागरक तथा उपनागरक प्रभेदों के विवरण देकर अठारह कर दिया जो भरत के मत में दिखलाया गया था (भाषा४ + सप्तभाषा + सप्तविभाषा = १८)। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में तेरह प्राकृतभाषाओं का नामतः विवरण देकर उनका प्रयोगविधान दिखलाया भी है। शौरसेनी, मागधी तथा अर्धमागधी प्राकृतों का संस्कृत नाटकों में व्यवहार (सदा) लोकप्रियता बनाये भी रहा। प्रायः (महाराष्ट्री तथा) शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग सभी नाटकों में मिलता है। सर्वाधिक प्राकृतभाषाओं के विधानानुगतप्रयोग के दर्शन शूद्रक के मृच्छकटिक में हमें मिलते हैं जहाँ चाण्डाली, शाकारी तथा ढक्की भाषाओं का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भरतमुनि का दाय तथा प्रभाव नाट्यशास्त्रीयग्रन्थों तथा नाट्यरचनाओं पर सभी संभव स्थितियों के साथ पड़ता रहा है यह निर्विवाद है।

नाट्यशास्त्र के उन्नीसवें अध्याय में भाषाविधान के एक अन्य प्रयोगगत पक्ष को लेकर सम्बोधन तथा काकुस्वरव्यञ्जनादि की विधि निरूपित है। इनमें सर्वप्रथम सम्बोधन का विवरण है—

सम्बोधन-प्रकार—नाटकों के पात्र अपनी उत्तम, मध्यम तथा हीन स्थिति में अवस्थादि के अनुसार एक दूसरे को सम्बोधित कर सम्भाषण करते हैं, जिनका नाट्यशास्त्र में विस्तार से विवरण दिया गया है। इन असंख्य सम्बोधनों का आधार पात्रों की सामाजिक स्थिति, पारिवारिक भावना, आदरअनुराग व्यवसाय तथा सेवादि नियोजित कार्य तो है ही उनका लोक-प्रचलित व्यवहार भी है। ये सभी सम्बोधन पुरुष तथा नारी पात्रों को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान कर भारतीय समाज की महनीय स्थिति को संकेतित करते हैं।

इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने इस सम्बोधन-विधान के साथ साथ पात्रों के विभिन्न जातीय एवं सामाजिक स्तर का ध्यान रखते हुए तदनुसारी नामकरण के विधान भी दिये हैं, जो बड़े व्यापक है तथा जिनसे पात्रों के कर्मादि के अनुरूप नामकरण की प्रवृत्ति का भी आभास मिलता है। इसका प्रभाव परवर्ती नाट्यरचनाओं पर पर्याप्त रूप में प्राप्त होता है।

पाठ्य—(गुण तथा उसकी उपयोगिता) :—वाचिक अभिनय का प्रस्तुतीकरण संवाद या पाठ्य के द्वारा सम्पन्न होने के कारण भरतमुनि ने पाठ्यतत्व को वाचिकअभिनय का प्राण कहा है। इस सन्दर्भ में मुनि ने

'पाठ्य-गुण' पद का प्रयोग किया था जिसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने वतलाया कि पाठ्य के जो उपकारक या आधार हों उन (उपकरणों) का विश्लेषण जिनसे अभिनय का पल्लवन किया जाए 'पाठ्य-गुण' कहलाते हैं। ये उपकारक उपकरण हैं :—सप्तस्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो काकु, छः अलङ्कार तथा छः अङ्ग। यहाँ क्रमशः इनका विवरण दे रहे हैं :—

सप्तस्वर—रसों के सन्दर्भ में गीतादि के स्वरों का विनियोजन ही पाठ्य का सप्तस्वर गुण कहलाता है। ये सप्तस्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम पञ्चम, धैवत तथा निषाद। इनमें हास्य तथा शृङ्गाररस के योग में मध्यम तथा पञ्चम स्वरों का करुणरस के योग में गान्धार तथा निषाद स्वरों का तथा भयानक एवं बीभत्स रस के योग में धैवत स्वर का विधान विहित है।

स्थान—इसके अन्तर्गत शरीर के शिर, कण्ठ तथा उरस् प्रदेश आते हैं जिनके विशिष्ट क्रम से स्वरों का उत्थान किया जाता है तथा काकु का प्रयोग। पाठ्य के प्रसंग में पात्रों की दूरस्थ स्थिति में शिर तथा कण्ठ को किञ्चिद् दूरी में रखते हुए तथा निकटस्थ पात्रों के साथ संवाद की स्थिति में उरस् का प्रयोग किया जाता है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इस प्रसंग में वतलाया कि दूरस्थ पात्रों को शिर यां मूर्धा निष्पन्न स्वर से तार या उच्च-ध्वनि में बुलाया या संभाषण किया जाता है जव कि अतिदूरी के न होने पर कण्ठ के मध्य स्वर से संभाषण किया जाता है। इसी प्रकार समीपवर्ती पात्र से उरस् या वक्षःस्थल के समीपवर्ती मन्द्रस्वर से संभाषण होता है।

वर्ण—नाट्यशास्त्र में चार पाठ्यवर्ण वतलाये हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित जिनका हास्य आदि रसों के योग में प्रयोग (या उपयोग) होता है। स्वरित तथा उदात्त का प्रयोग हास्य तथा शृङ्गार रस में, उदात्त तथा कम्पित का वीर, रौद्र तथा अद्भुतरस में तथा करुण, बीभत्स एवं भयानक रसों में अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित वर्णों का प्रयोग किया जाता है।

काकु—पाठ्यगुण का प्राणभूततत्व काकु होता है, क्योंकि काकु के ही द्वारा स्वरवैभिन्य से विचित्रता आती है तथा नवीन अर्थ का आधार विस्तीर्णता को प्राप्त करता है। इस काकु के दो प्रभेद होते हैं—(१) साकाङ्क्ष, (२) निराकाङ्क्ष। प्रकरणादि की अपेक्षा करने वाला काकुविधान साकाङ्क्ष कहलाता है। इसमें तार से मन्द्र तक स्वर, अनियत

अर्थ, उदात्त आदि वर्ण तथा उच्चादि अलङ्कार अपरिसमाप्त रहते हैं। निराकाङ्क्ष-काकु में इसके विपरीत अर्थ नियत, उच्च आदि वर्ण तथा अलङ्कार परिसमाप्त स्थान शिर और मन्द्र से तार तक स्वरों की योजना रहती है। काकु का जिह्वा के द्वारा सम्पादन होता है तथा उच्च, दीप्त आदि वर्णों तथा सन्धिविच्छेद आदि के द्वारा पाठ्य में काकु को प्रमुखता दी जाती है क्योंकि सर्वत्र काकु प्रधान रहता है।

पाठ्यगत अलङ्कार—पाठ्य के छः अलङ्कार माने गये हैं, जिनसे काकु को पूर्णता प्राप्त होती है। ये हैं—(१) उच्च, (२) दीप्त, (३) मन्द्र, (४) नीच, (५) द्रुत, तथा (६) विलम्बित। दूरस्थित पात्रों की विस्मय, त्रास तथा बाधा की दशा में होने वाले संवादों में पाठ को उच्चस्वर में रखा जाता है। पारस्परिक आक्षेप, क्रोध, तथा कलह आदि की स्थिति में विलम्बितस्वर में पाठ रखा जाता है। इस प्रकार विभिन्न भावदशाओं के अनुरूप पात्रों का पाठविधान भी रखा गया है जिससे अभिनय या नाट्यप्रयोग को प्रभावशाली एवं सफल बनाया जा सके।

पाठ्याङ्ग—पाठ्य के छः अङ्ग भी होते हैं—(१) विच्छेद, (२) अर्पण, (३) विसर्ग, (४) अनुबन्ध, (५) दीपन तथा (६) प्रशमन। विराम के कारण पाठ में **'विच्छेद'** होता है। यह नाट्यार्थ के अनुरोध पर या उसे ध्यान में रख कर किया जाता है तथा यह अर्थदर्शक होता है। इसी कारण नाट्यार्थ को पूर्णतः हृदयंगम करने एवं अर्थानुरोध के लिये विरामों की योजना रखी जाती है। इन अर्थदर्शक विरामों से युक्त जब पाठ्य होता है या किया जाता है तो नाट्यप्रयोग को यह समृद्ध कर देता है। गम्भीर एवं मधुरस्वर में पात्र द्वारा किये जाने वाले पाठ के द्वारा दर्शकों का अभिनीत भावों में समाहित हो जाना **'अर्पण'** कहलाता है। इसमें अभिनेता कवि या नाटचकार द्वारा उन्नीत संवेदना को दर्शकों को अर्पण करता है। वाक्य की समाप्ति होना **'विसर्ग'** तथा पाठ्य की शृङ्खला को बनाए रखना **'अनुबन्ध'** कहलाता है। विभिन्न स्थानों से उत्थित स्वर का उत्तरोत्तर दीप्त होना **'दीपन'** तथा तार स्वर में उच्चारित स्वर का क्रमशः मन्द्रस्थिति में आना **'प्रशमन'** है।

भरतमुनि ने इन अङ्गों से होने वाले रसाश्रित प्रयोग भी दिखलाये हैं। तदनुसार हास्य तथा शृङ्गाररस में अर्पण, विच्छेद, दीपन तथा प्रशमन नामक अङ्गों का, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में विच्छेद, प्रशमन, दीपन

और अनुवन्ध का तथा बीभत्स एवं भयानकरस में विसर्ग तथा विच्छेद का विधान रखा जाता है। इन अङ्गों के विभिन्न रसाश्रित प्रयोगों को तार, मन्द्र तथा मध्य नामक अलङ्कारों के आधार पर रखा जाता है। तारस्वर से मन्द्र तथा मन्द्र से तार स्वर पर सहसा पाठ नहीं रखा जाता है; क्योंकि ऐसा करना नाटचार्थ का प्रतिरोधक होता है। किन्तु द्रुत, मध्य तथा विलम्वित का प्रयोग नाटचार्थ को उद्दीपित करने के कारण सदा इष्ट होता है।

इस प्रकार भाषाविभेद सम्बोधन विधि, पात्रों के नामकरण तथा काकु, स्वर, अलङ्कार तथा पाठ्याङ्गों के विवरण के साथ छन्दों की तथा भाषा की प्रकृति को विस्तार से देकर वाचिक-अभिनय का साङ्ग एवं तात्विक विवरण नाट्यशास्त्र में इन चार अध्यायों में दिया गया है। इससे पाठ्य के अङ्गों के ठीक रखने की स्थिति का निर्माण होता है जो नाटचार्थ की भावना को व्यवस्थित कर देता है। ऐसा होने पर कवि या नाटचकार की उद्भावित संवेदना का दर्शक समाहित दशा में अववोध करने में समर्थ हो जाता है। पाठ्यगुणों का व्यवस्थित एवं साङ्ग विवरण सर्वप्रथम नाटचशास्त्र में ही हुआ जो उस समय की प्रयोग-पद्धति का पूर्ण संकेत देता है कि वह कितनी समृद्ध रही थी। यह विवरण तथा इसमें निर्दशित विधान से यदि अभिनयगत निपुणता प्राप्त की जाए तो नाटचप्रयोग सदा ही निश्चित रूप से सफलता प्राप्त करेंगे। भरतमुनि की प्रयोग विज्ञानगत निपुणता तो इस विवरण से प्रकट होती ही है साथ ही उनकी दीर्घदृष्टि का भी इससे वोध होता है। परवर्तीकाल में नाटचशास्त्रीय ग्रन्थकारों ने ऐसे विषयों का अधिक विस्तार से विवरण ही नहीं दिया तथा ऐसे विषयों का व्यवस्थित विश्लेषण भी नाटच-शास्त्र के (सार तत्व के) आधार पर नहीं लिखा गया। उनने पाठ्यादि के भरतोक्त विवेचन को ऐसा करते हुए विना किसी संशोधन के सार्वकालिक स्वीकृति ही प्रदान की तथा भरतमुनि की प्रतिभा को ही इस सन्दर्भ में (आदि से लेकर अन्तिम भाग तक) अक्षुण्ण मान्यता प्रदान करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अपना एकमत से इसे समर्थन ही दे दिया था।

प्रस्तुत खण्ड तथा उसके पाठान्तर—इस प्रकार इस द्वितीयभाग में नाट्यशास्त्र के अष्टमअध्याय से एकोनविंश अध्याय तक के विवरण को उपस्थापित किया गया। विंश अध्याय से षट्त्रिंश अध्याय तक इसी प्रकार क्रमशः अगले भागों में विवेचन किया जाता रहेगा। यह हम पूर्व में भी वतला चुके हैं कि नाट्यशास्त्र के प्रस्तुत संस्करण में प्रायः सभी अद्यतन एवं

उपलब्ध सामग्री का यथाशक्य उपयोग किया गया है तथा प्रायः सभी अद्यतन सामग्री का प्राप्य तथ्यों के आधार पर अनुशीलन भी। नाट्यशास्त्र के पाठों के अन्तर्गत जो पाठ नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक तथ्य लिये हुए थे उन्हें मूलपाठ बनाकर तथा अवशिष्ट पाठान्तरों को टिप्पणी में दिखलाया गया है जिससे नाट्यशास्त्र के सभी उपलब्ध पाठान्तरों का एकत्र संग्रह हो जाए। कुछ पाठान्तरों के अर्थ भी यथास्थान आवश्यकतानुसार दे दिये गये हैं जिससे अध्येता एवं अनुशीलनकर्त्ता को सभी विषयों की अभिप्राप्ति हो तथा किसी महत्वपूर्ण पाठ या पाठान्तर को वे भी अपने विचार का विषय वना सकें।

पाठान्तर सङ्केत—इसमें **'क'** पाठ के अन्तर्गत गायकवाड ओरि० सीरिज़ वड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती व्याख्या के अनुगत पाठ तथा इसी के साथ रहने वाले पाठान्तरों को भी कोष्ठकान्तर्गत 'म' या 'भ' देकर दिखलाया गया है। इसी प्रकार **'ख'** पाठ के अन्तर्गत. काव्यमाला संस्करण वम्वई के प्रकाशित पाठों को तथा **'ग'** पाठ के अन्तर्गत प्रथमभाग की तरह ही काशी संस्कृत ग्रन्थमाला चौखम्वा वाराणसी के पाठों को लिया गया है। इसमें भी प्रथमभाग की तरह ही मूलपाठ को काशी संस्करण की दीर्घपाठ परम्परा के अनुसार यथासम्भव रखा गया है किन्तु आवश्यकतानुसार इनमें अनेक स्थानों पर (थोड़ा) परिवर्तन भी हो गया है। नवम अध्याय तथा आगे अध्यायों में वर्णित हस्ताभिनयादि के रेखाचित्रों को भी इस भाग में यथाशक्य लगाया गया है, जिससे नाट्यशास्त्रीय विषयों को हृदयंगम करने में सहायता मिलेगी। यही क्रम अगले भागों में रखा जा रहा है तथा नाट्यशास्त्र के शेष भाग भी शीघ्र ही प्रस्तुत करने का उद्योग जारी है। आवश्यक विवरण को पूर्ववत् ध्यान में रख कर प्रस्तुत भाग के परिशिष्ट १ में अतिरिक्त टिप्पणियाँ तथा परिशिष्ट २ में पद्यार्धानुक्रमणिका लगायी गयी हैं तथा अन्त में शुद्धिपत्र भी दे दिया गया है। इतना रहने पर भी सुधी पाठकों से प्रमादवश छूटी हुई अशुद्धियों तथा विषयगत विस्तार सम्बन्धी सुझावों को भेजने की अभ्यर्थना है जिससे उनका उपयोग होकर अगले संस्करणों को और भी परिमार्जित किया जा सकेगा।

पाठान्तर प्रक्रिया—नाट्यशास्त्र के प्रथमभाग में पाठों को लेकर कुछ विवरण अल्प मात्रा में ही संकेत रूप में रखा गया था। इसका कारण यही था कि वहाँ विषय-विवरण ने पर्याप्त स्थान ले लिया था तथा वही बात फिर इस भाग के समय भी विद्यमान है परन्तु अपेक्षित बात को यहाँ अवश्य रखना

है। जैसा कि हमने प्रथमभाग में कहा था कि श्रीग्रासे को अपने संस्करण के लिये नाट्यशास्त्र के विभिन्न हस्त लेखों के कारण एक नवीन पद्धति निर्मित करनी पड़ी थी। उसकी प्रक्रिया तथा पाठ विनिश्चायक सरणि का अल्पविवरण पुनः यहाँ देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा क्योंकि यह नाट्यशास्त्र के परिशीलन में एक प्रमुख (पक्ष की) स्थिति रखता है। वे कहते हैं कि—

"[1]भारतीय नाट्यशास्त्र के हमारे मूलपाठ का स्वरूप अधिकांशतः सभी ओर से प्राप्य उत्तम या इष्ट को ग्रहण कर लेने की प्रकृति का है, क्योंकि एक पाठ को स्थिर करने में किसी आग्रह या दवाव का अनुभव नहीं होता, जो एक सहज प्राथमिकता के अनुरोध पर किसी हस्तलेख को लेने हेतु रहती है। हमने कभी कभी तो हस्तलेखों की संख्यागत वृद्धि या आधिक्य का अनुगमन किया है तो कभी किसी समग्र तथ्य को ध्यान में रखते हुए रुचि को आधार वना कर पाठों को लिया था। ऐसा करते हुए हम भरतमुनि के मूलपाठ को शुद्ध या संशोधित करने की अमूलक महत्वाकाक्षा से दूर ही रहे हैं, जिसमें अनधिकृत संशोधन भी हो जाते हैं। यहाँ तो केवल ऐसे पाठ भी मूल में ले लिये गये हैं जो किसी उत्तरकालीन संशोधन के कारण किसी एक ही हस्तलेख में थे। इसमें इतनी बात की सतर्कता अवश्य रखी गयी कि ये विना किसी आधार के नहीं लिये गयें हों तथा साथ ही उनके पाठान्तर भी यथास्थान रख दिये गये हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में वे आवश्यक थे।"

श्री ग्रासे के इस विवरण से थोड़ी आंशिक भिन्नता रखने पर भी उनके इस कथन में नाट्यशास्त्र के सम्पादन के ऐसे संकेत विद्यमान हैं जिनके महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है परन्तु प्रस्तुत सम्पादक इस विषय में थोड़ी विचार भिन्नता भी रखता है। नाट्यशास्त्र के अच्छे संशोधित पाठों को प्रकृतसंस्करण में हमारे द्वारा लिया गया है जबकि उनके अन्य पाठ भी हस्त लेखों के कारण विद्यमान थे परन्तु सन्तोषजनक रूप में जो स्वीकार्य नहीं हो सकते थे। अतएव ऐसे पाठों को उपयुक्त विचार के बाद ले लिया गया जो संशोधन की उपयुक्तता लिए हुए थे परन्तु ऐसी स्थिति में शेष पाठान्तरों की भी (अच्छे रूप में रहने पर या तो) व्याख्या कर दी गयी है या फिर उन्हें पाठान्तर के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है जिससे आगे चलकर उनके औचित्य पर और भी विचार हो सके। प्रकृत सम्पादक अपने आग्रह

---

१. द्रष्टव्य—ग्रासे संस्करण की प्रस्तावना—पृ० ५, ११-१२ पेरिस संस्करण।

पूर्ण पाठों को थोपने के पक्ष में नहीं है तथा उसने कहीं ऐसी स्वतन्त्रता का उपयोग भी नहीं किया है। नाटचशास्त्र के पाठान्तरों के अनुशीलनकर्त्ता संशोधक विद्वानों से इस सन्दर्भ में यही निवेदन है कि वे अपनी मीमांसा के समय इस विशिष्ट स्थिति को भी अवश्य ध्यान में रखेंगे जो सम्पादन के समय प्रायः सभी पूर्व सम्पादकों ने अनुभव की थी तथा उसे अपने-अपने संस्करणों में वर्णित भी किया था।

यह एक बड़े ही आदर्श की तथा महत्व की भी बात होती यदि हम हस्तलेखों में तथा नाटयशास्त्र के संस्करणों में प्राप्य एवं विद्यमान सभी पाठ-भेदों को पादटिप्पणी में दे देते किन्तु ऐसा करना मुश्किल से व्यावहारिक बन पाता। अतएव यहाँ पाठान्तर देते समय यह बात भी सर्वदा ध्यान में रखी गयी है कि दिये गये पाठ या पाठान्तर किन्हीं संशोधित संस्करणों में किस प्रकार रहे हैं। इस प्रकार वर्तमान संशोधित संस्करण में उन संस्करणों के पाठों को आवश्यक संकेत के साथ पाठान्तर टिप्पणी में दिखलाया गया है। परन्तु यहाँ इतना अवश्य हुआ है कि ऐसे पाठान्तरों को प्रायः नहीं लिया गया जो केवल पुनरुक्ति या शाब्दिकभेद मात्र के कारण अधिक महत्व के नहीं थे, परन्तु ऐसे पाठों में भी जो प्राप्त करवाने योग्य थे तो उन्हें बराबर रखा ही गया है। इसके प्रथमअध्याय से चौदह अध्याय तक के पाठों का श्री ग्रासे के संस्करण से भी समीकरण करते हुए उसे 'क' पाठ के अन्तर्गत (या अन्य वर्ग के अन्तर्गत) रखते हुए संकेत बनाये गये हैं तथा बम्बई काव्यमाला संस्करण के सामान्यतः 'ख' के संकेत के अन्तर्गत पाठों को इस संस्करण में दर्शाया गया है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक था।

आभार-प्रदर्शन—

"नाटचशास्त्र" के इस द्वितीयभाग के लिये भी प्रथमभाग की तरह ही अनेक सुधीजन, एवं साहित्य-विद्या-निष्णात मनीषियों का सहयोग, प्रोत्साहन तथा प्रेरणा मिली है, जिनका उपकार सदैव मानते हुए उन्हें धन्यवाद देना अपना प्रथम कर्तव्य मानता हूँ। इसी प्रकार नाटचशास्त्र के पूर्व प्रकाशित संस्करणों के सम्पादकों का भी सामान्यतः अधमर्ण हूँ जिनके संस्करणों के कारण ही प्रस्तुत संस्करण को संवारने में सहायता मिली है। इनमें भी सर्व प्रथम गायकवाड ओरियेन्टल सीरिज, बड़ौदा के अभिनवभारती टीका सहित संस्करण के प्रथितयशस्क सम्पादक म० म० रामकृष्ण 'कवि' का, काव्यमाला—निर्णयसागर प्रेस बम्बई के सम्पादक श्री पाण्डुरंग परब

तथा द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री पण्डित केदारनाथ साहित्यभूषण का तथा काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी के नाटचशास्त्र के सम्पादक श्री बटुकनाथ शर्मा तथा पण्डित बलदेव उपाध्याय के प्रति भी अपनी कृतज्ञता मानता हूँ जिनके संस्करणों ने प्रस्तुत संस्करण को संवारने में आधार प्रदान किया। इसी प्रकार एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से प्रकाशित नाटचशास्त्र (श्री मनोमोहन घोष के अंग्रेजी अनुवाद सहित) के संस्करण से भी पर्याप्त सहायता मिलने से उसके प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्रीय वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थकारों के प्रति तथा अभिनव संशोधकों तथा समालोचकों का भी कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों के अनुशीलन ने मुझे प्रस्तुत संस्करण में अनेक अभिनव तथ्यों तथा शास्त्रीयप्रमेयों पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार तथा विषय मीमांसा करने में प्रवृत्त करवाया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन-काल में जिन अनेक ख्यातिप्राप्त विद्वानों, मित्रों तथा लेखकों का हार्दिक एवं व्यावहारिक सहयोग मिला था तथा जिसका प्रथम भाग में उल्लेख किया जा चुका है उन महानुभावों के साथ साथ उसी क्रम में श्री डॉ० प्रभाकर नारायणजी कवठेकर, कुलपति विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनने इस नाटचशास्त्र के प्रदीप व्याख्यान को अपनी गुणग्राहिता तथा उदारता से नाटचशास्त्र की तात्विक मीमांसा को प्रश्रय दिया। इसी प्रकार इन्दौर के शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन का भी नाटचशास्त्र की समीक्षा करने ('नई दुनिया' दैनिक में) के कारण आभारी हूँ। नाटचशास्त्र के प्रदीप व्याख्यान को प्रोत्साहित कर शीघ्र प्रकाशित करवाने के आग्रह के साथ साथ उसके अनुशीलन को अनुशंसित करने वाले विद्वानों में स्व० श्री डॉ० बलदेवप्रसादजी मिश्र (विधायक तथा सुप्रसिद्ध मानसमर्मज्ञ एवं समीक्षक—राजनांदगाँव), श्री सुधाकर पाण्डेय—(प्रधानमन्त्री काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), प्रो० श्री डॉ० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित अमरावती का भी मैं कृतज्ञ हूँ। इसके अतिरिक्त प्राध्यापक श्री वेङ्कटाचलजी, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, सुहृद्वर डॉ० रामेश्वर शर्मा, रीडर नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर, प्रो० गणेशदत्त त्रिपाठी, हिन्दी विभाग, शास० कला वाणिज्य महा०, इन्दौर, डॉ० लक्ष्मण नारायण शुक्ल, प्राध्यापक संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर, प्रो० हर्षदधोलकिया, संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर, प्रो० डॉ० पुरु दाधीच, भातखण्डे संगीत महाविद्यालय,

लखनऊ तथा श्री प्रो० कृष्णशास्त्री कानिटकर, शास० कला वाणिज्य महा० इन्दौर आदि का भी हृदय से आभारी हूँ।

नाट्यशास्त्र के सभी खण्डों में प्रशस्त सहकार के कारण डॉ० रुद्रदेवजी त्रिपाठी, लालवहादुर संस्कृत विद्यापीठ, देहली का तथा हिन्दी के परम सुकवि सुहृद्वर डॉ० शिवमङ्गल सिंह 'सुमन' (भूतपूर्व कुलपति विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन) का भी इस सन्दर्भ में विशेषतः आभारी हूँ।

नाट्यशास्त्र के व्याख्यानादि लेखन के समस्त कार्य को मध्यप्रदेश शासन की सेवा में रहकर करने के कारण मैं मध्यप्रदेश शासन के प्रति भी अपना विनम्र आभार प्रदर्शन करता हूँ। साथ ही नाट्यशास्त्र जैसे महाग्रन्थ के लेखन के सुदीर्घ समय में सदा एकनिष्ठ होकर सहयोग देने वाले मेरे अपने परिवार के सभी सदस्य भी धन्यवाद के अधिकारी हैं।

इसी प्रसंग में मैं गोलोकवासी श्रेष्ठिप्रवर बाबू जयकृष्णदासजी गुप्त का भी स्मरण आवश्यक मानता हूँ जो ऐसे आकरभूत शास्त्रीय ग्रन्थ के प्रकाशन में सदा रुचि लेते रहे हैं।

मैं चौखम्भा संस्कृत संस्थान के संचालक गुप्त बन्धुओं का भी आभारी हूँ जिनने नाट्यशास्त्र के भागों को अपनी गौरवशाली परम्परा के अनुरूप प्रस्तुत करने का अतिशय उद्यम किया। इसी परिवार के श्री पं० देवनारायण झा जी का भी मुद्रण कार्य में सहयोग के कारण आभार व्यक्त करता हूँ।

किं बहुना—

नाट्याम्नाय-नितान्ततान्तमनसामासेतुशीताचला—
क्षोणीमण्डलमध्यवर्तिविदुषामाभोगिनी चेतसाम्।
जीयादुक्तिविवेकजालनिकरैः संशोधिता निस्तुलैः
गम्भीरा मधुरा प्रबोधजननी **व्याख्या प्रदीपा**भिधा॥

उज्जयिनी,
विजयादशमी, सं० २०३५

सुधीजनकृपाकाङ्क्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

ग्रन्थ सङ्केत

अभि० द०	:	अभिनय-दर्पण
अभि० भा०	:	अभिनवभारती (नाटचशास्त्र व्याख्या) ।
अ० भा०	:	अभिनवभारती (नाटचशास्त्र व्याख्या) ।
का० प्र०	:	काव्यप्रकाश ।
काव्या० सू०	:	काव्यालङ्कारसूत्र ।
द० रू०	:	दशरूपक ।
ना० चं०	:	नाटकचन्द्रिका
ना० द० सू०	:	नाटचदर्पणसूत्र ।
ना० शा०	:	नाट्यशास्त्र
ना० शा० सं०	:	नाटचशास्त्र-संङ्ग्रह ।
ना० ल० र० को०	:	नाटकलक्षणरत्नकोश ।
भ० को०	:	भरतकोश ।
र० गं०	:	रसगङ्गाधर ।
रसा० सु०	:	रसार्णवसुधाकर ।
शृ० प्र०	:	शृङ्गारप्रकाश ।
सर० क०	:	सरस्वती-कण्ठाभरण ।
सा० द०	:	साहित्यदर्पण ।
सं० र०	:	सङ्गीतरत्नाकर ।

सामान्य सङ्केत

अ०	:	अध्याय ।
अं०	:	अङ्क ।
का० सं०	:	काशी संस्करण ।
चौ० सं०	:	चौखम्वा संस्करण ।
द्र०	:	दृष्टव्य
नि० सा०	:	निर्णय-सागर संस्करण ।
गा० ओ० सी०	:	गायकवाड ओरियेन्टल सीरिज, बडौदा ।
श्लो० सं०	:	श्लोक संख्या ।
सं०	:	संख्या ।





विषयानुक्रमणिका

नवम अध्याय

(हस्ताभिनय) (श्लोक १-२१४)

दशम अध्याय

(शारीराभिनय) (श्लोक १–५७)

एकादश अध्याय

(चारीविधान) (श्लोक १-१०४)

दशम अध्याय

(शारीराभिनय) (श्लोक १–५७)

द्वादश अध्याय

(मण्डलप्रचार) (श्लोक १–६८)

त्रयोदश अध्याय

(गतिप्रचार) (श्लोक १–२२८)

चतुर्दश अध्याय

(कक्ष्यापरिधि तथा लोकधर्मी-निरूपण) (श्लोक १-८४)

पञ्चदश अध्याय

(वाचिकाभिनय तथा छन्द)

(श्लोक १-१०२)

षोडश अध्याय

(छन्दोविचिति) (श्लोक १-१७६)

सप्तदश अध्याय

(काव्यालक्षणालङ्कारादि)

(श्लोक १-१२१)

अष्टादश अध्याय

(भाषाविधान) (श्लोक १–६१)

एकोनविंश अध्याय

(सम्बोधन तथा काकुस्वर-व्यञ्जन विधान) (श्लोक १–७८)



श्रीभरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

'प्रदीप' हिन्दी-व्याख्योपेतम्

(द्वितीयो भागः)

अष्टमोऽध्यायः

मुनि जन का प्रश्न :—

ऋषय ऊचुः—

भावानाञ्च रसानाञ्च समुत्थानं यथाक्रमम् ।
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सर्वमिच्छामो वेदितुं पुनः ॥ १ ॥
नाट्ये कतिविधः कार्यस्तज्ज्ञैरभिनयक्रमः ।
कथं वाभिनयो ह्येष कतिभेदश्च कीर्तितः ॥ २ ॥

हे मुने ! आपकी कृपा से हमने भावों तथा रसों का यथाक्रम उद्गम (तथा स्वरूप) आदि सुना । अब आप हमें यह बतलावें कि विद्वानों ने नाट्यप्रयोगों में 'अभिनय' के विभिन्न प्रकारों का क्या स्वरूप कहा है ? यह कैसे सम्पन्न किया जाता है तथा उसके कितने प्रकार (भेद) हैं ? ॥ १–२ ॥

सर्वमेतद्यथातत्त्वं कथयस्व महामुने[1] ।
यो यथाभिनयो यस्मिन् योक्तव्यः सिद्धिमिच्छता ॥ ३ ॥

हे महामुने ! आप हमें 'अभिनय' के इन सभी प्रकारों को यथावत् बतलाइये जिन्हें नाट्यप्रयोग में सिद्धि केइच्छुकों द्वारा–जहाँ जिस अभिनय की अपेक्षा हो उसे वहाँ–किया जा सके ॥ ३ ॥

भरत मुनि का उत्तर :—

तेषां तद्वचनं[2] श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं चतुरोऽभिनयान् प्रति ॥ ४ ॥

उन मुनियों के प्रश्न को सुन कर अभिनय के चार प्रकारों के विषय में भरत मुनि उत्तर देने लगे ॥ ४ ॥

अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
यस्मादभिनयो ह्येष विधिवत् समुदाहृतः ॥ ५ ॥

---

१. भगवन् वक्तुमर्हति—ग० ।
२. तु—ग० ।

हे मुनिजन! अब मैं आपको विस्तारपूर्वक उस 'अभिनय' को बतलाता हूँ जो विधिवत् मुझे प्राप्त हुआ था ॥ ५ ॥

यदुक्तं चत्वारोऽभिनया इति तान् वर्णयिष्यामः[1]। अत्राह–अभिनय इति कस्मात्? अत्रोच्यते—अभीत्युपसर्गः। णीञित्ययं धातुः प्रापणार्थः[2]। अस्याभिनीत्येवं व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तस्य 'अभिनय' इति[3] रूपं सिद्धम्। एतच्च धात्वर्थवचनेनावधार्यम्[4]। अत्र श्लोकौ—

पहिले हमने अभिनय के जिन चार प्रकारों को बतलाया था अब उन्हीं का वर्णन किया जा रहा है। प्रश्न—इसे 'अभिनय' किस हेतु कहा गया? । उत्तर—'अभि' यह उपसर्ग है तथा 'णी' धातु प्रापणार्थक है जिसमें 'अच्' प्रत्यय लगाया गया है। इस प्रकार 'अभिनय' शब्द के रूप की सिद्धि होती है। यही 'धातु' तथा उससे सम्बद्ध प्रत्ययादि के संसर्ग से निष्पन्न 'अभिनय' शब्द का अर्थ है। इस विषय में निम्न दो श्लोक हैं:—

अभिपूर्वस्य णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
[5]यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ॥ ६ ॥

'अभि' उपसर्गपूर्वक 'णीञ्' धातु से निष्पन्न 'अभिनय' शब्द है। जिसका अर्थ है कि 'यह मुख्य प्रयोजन की ओर प्रयोग को ले जाता है' अतएव इसे अभिनय कहते हैं ॥ ६ ॥

अभिनय शब्द का अर्थ :—

विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः ॥ ७ ॥

इसे अभिनय इसीलिए कहा गया है क्योंकि यह अनेक अर्थों को नाट्य-प्रयोग द्वारा अपने शाखा, अंग तथा उपांग से युक्त होकर बतलाता है (निर्दिष्ट करता है) ॥ ७ ॥

---

१. वर्तयिष्यामः—ख०।

२. णीञ् प्रापणार्थको धातुः—ख, ग०।

३. इत्येवं—ग०।

४. धात्वनुवचनेनावधार्यं भवति—ख, ग०।

५. यस्मात् पदार्थान् नयति—ग०।

अभिनय के चार प्रकार—

चतुर्विधश्चैव भवेन्नाट्यस्याभिनयो द्विजाः ।
अनेकभेदवंहुलं नाट्यंमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

हे मुनिगण, 'नाट्य' में प्रयुक्त होने वाला यह अभिनय चार प्रकार का होता है और इसी अभिनय में अनेक प्रकारों से विस्तीर्ण स्वरूप प्राप्त करने वाला 'नाट्य' स्थित रहता है ॥ ८ ॥

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्तितः ॥ ९ ॥

हे मुनियो, इस 'अभिनय' के जो चार प्रकार बतलाए हैं वे हैं—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य तथा (४) सात्विक ॥९॥

अभिनय एवं उसके शेष तीन प्रकार—

सात्त्विकः पूर्वमुक्तस्तु भावैश्च सहितो मया ।
अङ्गाभिनयमेवादौ गदतो मे निबोधत ॥ १० ॥

मैंने भावों से युक्त सात्विक पहिले बतला दिए हैं इसलिए अब सर्व-प्रथम 'अंगाभिनय' कहता हूँ जिसे आप समझिये ॥ १० ॥

अंगाभिनय के तीन भेद—

त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्तथा ।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः ॥ ११ ॥

यह 'अंगाभिनय' तीन प्रकार का होता है। वे प्रकार हैं—(१) शारीर, (२) मुखज (चेहरे पर होने वाले) तथा (३) चेष्टाकृत। ये ही प्रकार शाखा, अंग तथा उपांग से युक्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

शिरोहस्तकटीवक्षःपार्श्वपादसमन्वितः ।
अङ्गप्रत्यङ्गसंयुक्तः षडङ्गो नाट्यसङ्ग्रहः ॥ १२ ॥

यह नाट्य छः अंगों वाला एवं अंग तथा प्रत्यंग से युक्त होता है। ये छः अंग हैं—मस्तक, हस्त, वक्षःस्थल, कटिप्रदेश, कोख तथा पैर ॥१२॥

तस्य शिरोहस्तोरःपार्श्वकटीपादतः षडङ्गानि ।
नेत्रभ्रूनासाधरकपोलचिबुकान्युपाङ्गानि ॥ १३ ॥

इस अभिनय के मस्तक, हस्त, वक्षःस्थल, कोख तथा पैर ये छः 'अंग'

---

१. बाहुल्यं—ग० । २. नाट्यं ह्यस्मिन्—ग० ।
३. मेवातो—ग० । ४. दृष्टः—ग० ।

कहलाते हैं एवं नेत्र, भौंह, नासिका, ओंठ तथा ठुड्डी 'उपांग' (या प्रत्यंग) कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

अस्य शाखा च नृत्तञ्च तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तून्यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ॥ १४ ॥

प्रयोक्ता जन के द्वारा इसी अभिनय के शाखा, नृत्त तथा 'अङ्कुर' नामक वस्तुओं को भी जानना चाहिये ॥ १४ ॥

आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा ह्यङ्कुरस्सूचना भवेत् ।
अङ्गहारविनिष्पन्नं नृत्तन्तु करणाश्रयम् ॥ १५ ॥

आंगिक अभिनय को 'शाखा' कहते हैं। सूचना या सूच्य अभिनय को 'अङ्कुर' कहते हैं और अङ्गहारों के द्वारा निष्पन्न होने वाला एवं करणों पर आश्रित अभिनय 'नृत्त' कहलाता है ॥ १५ ॥

मुखजेऽभिनये[1] विप्रा नानाभावरसाश्रये ।
शिरसः प्रथमं कर्म गदतो मे निबोधत ॥ १६ ॥

हे मुनिजन ! अब मैं आपको मुख द्वारा होने वाले अभिनय के विषय में बतलाता हूँ—जो अनेक भाव तथा रसों का उपपादक होता है। इसमें अब आप सर्वप्रथम 'शिरोऽभिनय' (मस्तक के अभिनय) का स्वरूप जानिये ॥

मस्तकाभिनय—(भेद एवं लक्षण)—

आकम्पितं कम्पितञ्च धुतं विधुतमेव च ।
परिवाहितमाधूतमवधूतं[2] तथाञ्चितम् ॥ १७ ॥
निहञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तञ्चाप्यधोगतम् ।
लोलितञ्चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः ॥ १८ ॥

'शिर' की मुद्राएं १३ हैं। इनके नाम हैं—आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निहञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत तथा लोलित ॥ १७–१८ ॥

---

१. 'संगीतरत्नाकर' में 'शाखा' तथा 'अङ्कुर' का अन्य लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—

'अत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्तना ।
अंकुरो भूतवाक्यार्थमुपजीव्य प्रवर्तिता ।
वर्तना सा भवेत् सूची भाविवाक्योपजीवनात्' ॥

(स० २०७–३७, ३८)

---

१. मुखानभिनये—ख० । २. परिवाहितोद्वाहितक—ग० ।

शनैराकम्पनादूर्ध्वमधश्चाकम्पितं भवेत् ।
द्रुतन्तदेव बहुशः कम्पितं कम्पितं शिरः ॥ १९ ॥

ऊपर तथा नीचे की ओर धीरे-धीरे मस्तक के हिलाने को 'आकम्पित' तथा उसी को यदि अनेक बार द्रुत गति में कम्पित किया जाय तो 'कम्पित' कहलाता है ॥ १९ ॥

[ऋजुस्थितस्य चोर्ध्वाधःक्षेपादाकम्पितं भवेत् ।
बहुशश्चलितं यच्च तत् कम्पितमिहोच्यते ॥]

[मस्तक को अपनी सीधी स्थिति में रखकर ऊपर तथा नीचे की ओर ले जाना 'आकम्पित' तथा उसे अनेक बार कम्पित किये जाने पर 'कम्पित' कहलाता है ।]

संज्ञोपलम्भप्रश्नेषु स्वभावाभाषणे तथा ।
[1]निर्देशावाहने चैव भवेदाकम्पितं शिरः ॥ २० ॥

इशारा करने, उपदेश देने (उपलम्भ), प्रश्न करने, दैनिक सम्भाषण में सम्बोधित करने (या स्वाभाविक रूप से संभाषण करने), आज्ञा प्रदान करने तथा बुलाने में 'आकम्पित' मस्तक का प्रयोग करना चाहिए ॥ २० ॥

रोषे वितर्के विज्ञाने प्रतिज्ञा[2]नेऽथ तर्जने ।
प्रश्ना[3]तिशयवाक्येषु शिरः कम्पितमिष्यते ॥ २१ ॥

क्रोध, वितर्क, विज्ञान (किसी वस्तु की विशेषता) के समझने, प्रतिज्ञा करने, तर्जन करने, अतिशय प्रश्न करने (अन्य पाठान्तर के अनुसार, व्याधि तथा क्रोध करने) में 'कम्पित' मस्तक का प्रयोग करना चाहिये ॥ २१ ॥

शिरसो रेचनं स[4]म्यक्छनैस्तद्धुतमिष्य[5]ते ।
द्रुतमारेचनादेतद्विधुतं तु[6] भवेच्छिरः ॥ २२ ॥

मस्तक का धीरे-धीरे हिलाना 'धुत' तथा इसे ही यदि तीव्रता से हिलाया जाए तो 'विधुत' कहलाता है ॥ २२ ॥

अनीप्सिते विषादे च विस्मये प्रत्यये तथा ।
पार्श्वावलोकने शून्ये प्रतिषेधे धुतं शिरः ॥ २३ ॥

अनिच्छा, विषाद, विस्मय, विश्वास, कोखों के अवलोकन (पार्श्वविलोकन), शून्यता तथा प्रतिषेध में 'धुत' का विनियोजन करना चाहिए ॥ २३ ॥

---

१. निर्देशे वाहने—ग० ।
२. प्रतिज्ञातेऽथ—ग० ।
३. व्याध्यमर्षणयोश्चैव—ग० ।
४. यत्तु शनैः—ग० ।
५. मुच्यते—ख० ।
६. च—ख० ।

शीतग्रस्ते भयार्त्ते च त्रासिते ज्वरिते[1] तथा ।
पीतमात्रे तथा मद्ये विधुतं तु भवेच्छिरः ॥ २४ ॥

शीत से ग्रस्त, भय से पीड़ा होने, त्रास, ज्वर की अवस्था तथा मद्यपान की प्रथमावस्था में 'विधुत' की योजना करनी चाहिए ॥ २४ ॥

पर्यायशः[2] पार्श्वगतं शिरः स्यात् परिवाहितम् ।
आधूतमुच्यते तिर्यक् सकृदुद्वाहितन्तु यत्[3] ॥ २५ ॥

यदि दोनों पार्श्वों की ओर मस्तक को क्रमशः कम्पित किया जाए तो 'परिवाहित' तथा जब यह तिरछा तथा एक बार ही कम्पित किया जाय तो 'आधूत' कहलाता है ॥ २५ ॥

साधने विस्मये हर्षे स्मृते[4] चामर्षिते तथा ।
विचारे विहृते[5] चैव लीलायां परिवाहितम् ॥ २६ ॥

साधन, विस्मय, प्रसन्नता, स्मरण, क्रोध, विचार, भावगोपन तथा लीला-पूर्वक क्रीड़ा में 'परिवाहित' मस्तकाभिनय की योजना करनी चाहिए ॥२६॥

गर्वेच्छादर्शने[6] चैव पार्श्वस्थोद्ध्वनिरीक्षणे ।
आधूतन्तु शिरो ज्ञेयमात्मसम्भावनादिषु ॥ २७ ॥

गर्व की भावना में, पर्वविशेष पर (पौर्णमासी इत्यादि के अवसर पर चन्द्रादि को) ऊपर की ओर देखने ('पार्श्वस्थोर्ध्वनिरीक्षणे' पाठ के अनुसार) तथा आत्म-सम्मान बतलाने में 'आधूत' मस्तकाभिनय की योजना करे ॥ २७ ॥

यदधः सकृदाक्षिप्तमवधूतन्तु तच्छिरः ।
सँन्देशावाह्नालोपसंज्ञादिषु[7] तदिष्यते ॥ २८ ॥

यदि मस्तक को नीचे की ओर एक बार कम्पित किया जाए तो 'अवधूत' कहलाता है । इसकी योजना सन्देश देने, (देवता के) आवाहन करने, अलुप्त होने ('वाह्नालोप' पाठ के अनुसार) तथा किसी व्यक्ति को (समीप आने के हेतु) संकेत करने में की जाती है ॥ २८ ॥

---

१. त्वरिते—ख० ।
२. पर्यायतः—ग० । ३. सकृदुद्वाहितं चोर्ध्वमुद्वाहितमिति स्मृतम्—ग० ।
४. स्थिते—ग० । ५. निह्नुते—ख०, विस्मृते—ग० ।
६. गर्वात्मदर्शने—ख० । ७. वाह्नालाप—ख०, ग० ।

किञ्चित्पार्श्वानतग्रीवं शिरो विज्ञेयमञ्चितम् ।
व्याधिते मूर्च्छिते मत्ते सचिन्ते दुःखिते भवेत् ॥ २९ ॥

यदि ग्रीवा को एक ओर झुका लिया जाए तो 'अञ्चित' कहलाता है। इसकी योजना व्याधि-ग्रस्तता, मूर्च्छा, चिन्ता युक्त होने तथा दुःखी होने के भाव में की जाती है ॥ २९ ॥

उत्क्षिप्तबाहुशिरसस्तथाञ्चितशिरोधरम् ।
निहञ्चितं तु विज्ञेयं स्त्रीणामेतत् प्रयोजयेत् ॥ ३० ॥
गर्वे विलासे विब्वोके ललिते किलकिञ्चिते ।
मोट्टायिते कुट्टमिते स्तम्भे माने निहञ्चितम् ॥ ३१ ॥

यदि दोनों कन्धे ऊपर की ओर फैला दिये जाएं और गर्दन को एक ओर संकुचित कर लिया जाए तो 'निहञ्चित' कहलाता है —(वड़ौदा के 'उत्क्षिप्तांसावसक्तं यत् कुंचितभ्रूलतं मनाक्' के अनुसार अर्थ होगा— यदि दोनों कन्धे कोऊपर की ओर उठाकर एक बार भौंहों को संकुचित किया जाए तो 'निहञ्चित' कहलाता है) स्त्रियों के द्वारा गर्व, विलास, विब्वोक, ललित, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, स्तम्भ तथा मान में 'निहंचित' मस्तक का अभिनय किया जाए ॥ ३०–३१ ॥

परावृत्तानुकरणात् परावृत्तमिहोच्यते ।
तत् स्यान्मुखापहरणे पृष्ठतः प्रेक्षणादिषु ॥ ३२ ॥

यदि चेहरे को गोल घुमाव दिया जाए तो 'परावृत्त' कहलाता है। इसकी योजना मुँह के मोड़ने तथा पीछे की ओर देखने आदि में की जाती है ॥ ३२ ॥

---

१. देखिये 'विलास' का लक्षण—ना० शा० श० २४।१५। २. विब्वोक का ना० शा० २४।२१। ३. किलकिञ्चित का ना० शा० २४।२२। ४. मोट्टायित का ना० शा० २४।१८। ५. कुट्टमित का ना० शा० २५।१९। ६. स्तम्भ का ना० शा० २४।२०। ७. यह 'प्रांशु दिव्यास्त्रयोगेषु'–पाठ के अनुसार अर्थ है, यदि 'प्रांशुदिव्यार्थयोगेषु' पाठ के अनुसार अर्थ किया जाए तो इसका अर्थ होगा—ऊँचे स्थान से तथा दिव्य वस्तु की प्राप्ति के समय। यह 'गर्वे विलासे बिब्बोके ललिते किलकिञ्चिते' पाठानुसार अर्थ है।

---

१. मत्ते चिन्तायां हनुधारणे० ख०, मत्ते शङ्किते दुःखिते च यत्—क०।
२. उत्क्षिप्तबाहुशिखरं निकुञ्चितशिरोधरम्—ख०।
३. स्तम्भमाने—ग०। ४. शिरः स्मृतम्—ख०, ग०।

उत्क्षिप्तश्चापि विज्ञेयमुन्मुखावस्थितं शिरः ।
प्रांशु दिव्यास्त्रयोगेषु स्यादुत्क्षिप्तं प्रयोगतः ॥ ३३ ॥

यदि मस्तक ऊपर की ओर देखते हुए स्थित हो तो 'उत्क्षिप्त' कहलाता है । इसका प्रयोग ऊँची वस्तु तथा दिव्य-अस्त्र की प्राप्ति (करने) में किया जाएँ ॥ ३३ ॥

अवाङ्मुखस्थितश्चापि बुधाः प्राहुरधोगतम् ।
लज्जायाञ्च प्रणामे च दुःखे चाधोगतं शिरः ॥ ३४ ॥

यदि चेहरे को (सिर सहित) नीचे की ओर झुका लिया जाए तो 'अधोगत' कहलाता है । इसकी योजना लज्जा, प्रणाम करने तथा दुःख प्रकट करने में की जाए ॥ ३४ ॥

सर्वतोभ्रमणाच्चैव शिरो लोलितमुच्यते ।
मूर्च्छाव्याधिमदावेशग्रहनिद्रादिषु स्मृतम् ॥ ३५ ॥

यदि मस्तक को चारों ओर घुमाया जाए तो 'लोलित' (पाठान्तर 'परिलोलित') कहलाता है । इसकी योजना मूर्च्छा, व्याधि, मद, आवेश, भूत आदि ग्रहों से आविष्ट होने तथा निद्रा आदि में की जाए ॥ ३५ ॥

एभ्योऽन्ये बहवो भेदा लोकाभिनयसंश्रयाः ।
ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ॥ ३६ ॥

इसके अतिरिक्त मस्तक के अन्य अनेक भेद हो सकते हैं जो सामान्य लोकाभिनय के आधार पर बनते हैं । उनका लोक-प्रकृति के अनुसार यथोचित प्रयोग करना चाहिए ॥ ३६ ॥

त्रयोदशविधं ह्येतच्छिरःकर्म मयोदितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि दृष्टीनामपि लक्षणम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार मैंने मस्तक की तेरह (मुद्राएँ या) भेद बतलाए । अब मैं दृष्टियों के भेद तथा लक्षण बतलाता हूँ ॥ ३७ ॥

---

१ दिव्यार्थं—ख०

२. अधोमुखं स्थितञ्चापि शिरः प्राहुरधोमुखम्—ख०; अधोमुखं स्थितं—ग० ।

३. भवेत्—ग० ।

४. लोलनाच्चापि शिरः स्यात् परिलोलितम्—ख-ग० ।

५. मदावेग—ग० । ६. संश्रिताः—ग० ।

७. शिरकर्म—ग० । ८. मिह—ल० ।

दृष्टियों के प्रकार—

कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा ।
रौद्री वीरा च बीभत्सा विज्ञेया रसदृष्टयः ॥ ३८ ॥

रस की अभिव्यक्ति करने वाली ये दृष्टियाँ हैं—कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्री, वीरा तथा वीभत्सा (इन्हें रसदृष्टियाँ कहते हैं) ॥ ३८ ॥

स्निग्धा हृष्टा च दीना च क्रुद्धा दृप्ता[1] भयान्विता ।
जुगुप्सिता विस्मिता च स्थायिभावेषु दृष्टयः ॥ ३९ ॥

स्थायि भावों में प्रयुक्त होने वाली दृष्टियाँ हैं—स्निग्धा, हृष्टा, दीना, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता तथा विस्मिता ॥ ३९ ॥

शून्या च मलिना चैव श्रान्ता लज्जान्विता तथा ।
ग्लाना च शङ्किता चैव विषण्णा मुकुला तथा ॥ ४० ॥
कुञ्चिता चाभितप्ता[2] च जिह्मा सललिता तथा ।
वितर्कितार्धमुकुला विभ्रान्ता विप्लुता तथा ॥ ४१ ॥
आकेकरा विकोशा च त्रस्ता[3] च मदिरा तथा ।
षट्त्रिंशद् दृष्टयो ह्येता नामतोऽभिहिता मया ॥ ४२ ॥

संचारी भावों में उपयोगी दृष्टियाँ ये हैं :—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शंकिता, विषण्णा, मुकुला, कुंचिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विकोशा, त्रस्ता तथा मदिरा । इस प्रकार सभी मिलाकर ये द्रष्टियाँ ३६ हो जाती हैं, जिनके मैंने नाम यहाँ बतलाए हैं ॥ ४०–४२ ॥

अस्य दृष्टिविधानस्य नानाभावरसाश्रयम्[4] ।
लक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि यथाकर्मप्रयोगतः ॥ ४३ ॥

अब मैं इन दृष्टियों के अनेक रस तथा भावों के आश्रित (अभिव्यंजक) कर्म तथा प्रयोगों के अनुसार लक्षण बतलाता हूँ ॥ ४३ ॥

रसाभिव्यंजक दृष्टियाँ (लक्षण एवं प्रयोग)—

हर्षप्रसादजनिता[5] कान्तात्यर्थं समन्मथा ।
सभ्रूक्षेपकटाक्षा च शृङ्गारे दृष्टिरिष्यते ॥ ४४ ॥

जब अतिशय स्नेह (राग) में आविष्ट व्यक्ति भौंहें और कटाक्षपूर्ण

---

१. दम्भा—ख० । २. साभिमाना—ख०, ग० । ३. त्रस्ताथ—ग० ।
४. स्तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्—क० । ५. जनितकोपामर्षं—ख० ।

दृष्टि से देखे तो हर्ष और प्रसाद (मनोविनोद) से उद्भूत ऐसी दृष्टि 'कान्ता' कहलाती है। इसका प्रयोग शृङ्गाररस में किया जाए ॥ ४४ ॥

प्रोद्वृत्तनिष्टब्धपुटा स्फुरदुद्वृत्ततारका।
दृष्टिर्भयानकात्यर्थं भीता ज्ञेया भयानके ॥ ४५ ॥

जिसमें पलकों को ऊपर उठाकर स्थिर कर दिया जाए और पुतलियों को ऊपर की ओर चमकाते हुए गोल घुमाव दिया जाए तो 'भयानका' दृष्टि होती है। यह अतिशय भय को सूचित करती है और इसका प्रयोग 'भयानकरस' में किया जाता है ॥ ४५ ॥

क्रमादाकुञ्चितपुटा सविभ्रान्ताल्पतारका।
हास्या दृष्टिस्तु कर्त्तव्या कुहकाभिनयं प्रति ॥ ४६ ॥

'हास्या' दृष्टि में दोनों पलकें क्रमशः सिकुड़ी हुई रहती हैं और ये पुतलियों के साथ थोड़ी खुली तथा घूमती हुई (विभ्रान्त) रखी जाती हैं। इसका प्रयोग गुदगुदाने या छू कर हंसाने के प्रदर्शन के अवसर पर किया जाए ॥ ४६ ॥

पतितोद्धर्वपुटा सास्रा मन्युमन्थरतारका।
नासाग्रानुगता दृष्टिः करुणा करुणे रसे ॥ ४७ ॥

जिसमें दोनों ऊपरी पलकें नीचे की ओर आ रही हों, क्रोध के कारण पुतलियाँ धीमी हो गई हों, आँखों से आँसू ढलकते हों तथा नासिका की नोक पर दृष्टि स्थित हो तो उसे 'करुणा' दृष्टि समझना चाहिए। इसका 'करुणरस' में प्रयोग होता है ॥ ४७ ॥

या त्वाकुञ्चितपक्ष्माग्रा साश्चर्योद्वृत्ततारका।
सौम्या विकसितान्ता च साद्भुता दृष्टिरद्भुते ॥ ४८ ॥

जिस (दृष्टि) में बरौनियाँ नोक पर थोड़ी सिकुड़ी हुई रहें, पुतलियाँ आश्चर्य से ऊपर की ओर उठी हुई रहें और आँखें खिली हुई दशा को सुन्दरतापूर्वक प्रदर्शित करें तो उसे 'अद्भुता' दृष्टि जानो। इसे अद्भुत-रस में प्रयुक्त किया जाए ॥ ४८ ॥

क्रूरा रूक्षारुणोद्वृत्ता निष्टब्धपुटतारका।
भ्रुकुटीकुटिला दृष्टिः रौद्री रौद्ररसे स्मृता ॥ ४९ ॥

१. भयानकेत्यर्थं हीना ज्ञेया भयानका—क०।
२. विभ्रान्ताकुलतारका—ग ३. चकितो, प्रतीतो—क०।
४. रौद्री रौद्रे प्रकीर्तिता—क, रौद्रे रौद्री रसा स्मृता—ग०।

ऐसी क्रूर-दृष्टि जिसमें पुतलियाँ रूखी, लाल तथा घूमने वाली हों, पलकें स्थिर हों तथा भ्रुकुटी टेढ़ी हों तो ऐसी दृष्टि 'रौद्री' कहलाती है। इसका प्रयोग रौद्ररस में किया जाए ॥ ४९ ॥

दीप्ता विकसिता क्षुब्धा गम्भीरा समतारका।
उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु वीरा वीररसाश्रया ॥ ५० ॥

जो दृष्टि चमकीली, फैली हुई, क्षुब्ध गम्भीर हो, पुतलियाँ बीच में स्थित हों तथा जिसका मध्यभाग खिला हुआ हो तो (यह) 'वीरा' दृष्टि कहलाती है। इसे वीर रस में प्रयुक्त किया जाता है ॥ ५० ॥

निकुञ्चितपुटापाङ्गा घूर्णोपप्लुततारका।
संश्लिष्ट[1]स्थिरपक्ष्मा च बीभत्सा दृष्टिरिष्यते ॥ ५१ ॥

जिसमें पलकों से नेत्रों के कोने ढंक लिये गए हों, पुतलियाँ घुमाव के कारण दबी (उपप्लुत) या विघ्नित हों और बरौनियाँ एक दूसरे से मिली हुई और स्थिर हों तो (यह) 'बीभत्सा' दृष्टि कहलाती है। इसका उपयोग बीभत्सरस (के प्रदर्शन) में किया जाए ॥ ५१ ॥

[नासाग्रसक्तानिमिषा तथाधोभागचारिणी।
आकेकरपुटा चैव शान्ता दृष्टिर्भवेदसौ ॥][2]

(प्रक्षिप्त—जो नासिका के अग्र भाग में स्थित, अपलक तथा नीचे की ओर देखने वाली दृष्टि हो, जिसके पलक 'आकेरक' (मुद्रा) में रहें तो उसे 'शान्ता' दृष्टि जानो। इसका शान्त-रस में प्रयोग किया जाए।)

रसजा दृष्टयो ह्येता विज्ञेया लक्षणान्विताः।
अतः परं लक्ष[3]यिष्ये स्थायिभावसमाश्रयाः ॥ ५२ ॥

ये दृष्टियाँ रसों से सम्बद्ध हैं। अब मैं स्थायिभावों से सम्बद्ध दृष्टियों के लक्षण बतलाता हूँ ॥ ५२ ॥

स्थायीभावाभिव्यंजक दृष्टियाँ (लक्षण एवं योजना)—

व्याकोशमध्या मधुरा स्थि[4]ततारामिलाषिणी।
सानन्दा[5]श्रुकृता दृष्टिः स्निग्धेयं रतिभावजा ॥ ५३ ॥

जिसका मध्य भाग फैला हुआ हो, जो माधुर्य लिये हो, जिसकी

---

१. स्थितपक्ष्मा—क०, स्मितपद्मा—ग०।
२. पद्यमिदं—क० पुस्तके प्रक्षिप्तं ग० पुस्तके च नास्ति।
३. प्रवक्ष्यामि—ग०। ४. व्याकोशमध्यमधुरा स्मेरतारा—ग०।
५. सानन्दभ्रूलता—क०।

पुतलियाँ स्थिर हों तो आनन्द-जन्य अश्रुओं से पूर्ण ऐसी दृष्टि 'स्निग्धा' कहलाती है। इसका 'रति' नामक स्थायी भाव में प्रयोग करना चाहिए ॥

चला हसितगर्भा च विशत्तारा[1]निमेषिणी।
किञ्चिदाकुञ्चिता हृष्टा दृष्टिर्हासे प्रकीर्तिता ॥ ५४ ॥

जिसमें दृष्टि घूमने वाली (चंचल) हो, पलकें थोड़ी सी लगती हुई रहें और जिसकी पुतलियाँ पूर्णरूप से देखने योग्य न रह गई हों, पलक गिरती न हों तथा वे थोड़ी सिकुड़ी हुई हो तो ऐसी 'हृष्टा' दृष्टि कहलाती है। यह 'हास' नामक स्थायीभाव में प्रयुक्त होती है ॥ ५४ ॥

अव[2]स्रस्तोत्तरपुटा [3]किञ्चित्संरब्धतारका।
मन्दसञ्चारिणी दीना सा शोके दृष्टिरिष्यते[4] ॥ ५५ ॥

जिस (दृष्टि) में ऊपरी पलक थोड़ी झुकी रहें, पुतलियाँ (थोड़ी) रुकी (ढंकी) हुई रहें और जिसका हलन-चलन मन्द गति से हो रहा हो तो उसे 'दीना' दृष्टि जानो। इसका प्रयोग 'शोक' स्थायीभाव में किया जाए ॥

रूक्षा स्थिरोद्वृत्तपुटा निष्टब्धोद्वृत्ततारका।
कुटिल[5]भ्रुकुटी दृष्टिः क्रुद्धा क्रोधे विधीयते ॥ ५६ ॥

जो दृष्टि रूखी हो जिसमें पलकें ऊपर की ओर तथा गतिहीन हो पुतलियाँ ऊपर की ओर घूमने वाली तथा स्थिर हों और भ्रुकुटी टेढ़ी हो तो उसे 'क्रुद्धा' दृष्टि जानो। इसका प्रयोग 'क्रोध' स्थायीभाव में किया जाए ॥

संस्थिते तारके यस्याः स्थिरा[6] विकसिता तथा।
सत्वमुद्गिरती दृप्ता दृष्टिरुत्साहसम्भवा ॥ ५७ ॥

जिस दृष्टि में आँखे स्थिर और पूरी तरह फैली हो, पुतलियाँ स्तब्ध हों तथा जिससे सत्व प्रकट हो रहा तो उसे 'दृप्ता' दृष्टि जानो। इसका प्रयोग 'उत्साह' स्थायी भाव में किया जाए ॥ ५७ ॥

विस्फारितोभयपुटा भयकम्पिततारका।
निष्क्रान्तमध्या दृष्टिस्तु भयभावे भयान्विता ॥ ५८ ॥

जिसमें आँखों की पुट पूरी तरह फैली हों, पुतलियाँ भय से काँप रही

१. विशत्ताराभिलाषिणी—ख०; विश्वतारानिमेषिणी—ग०।
२. अर्धस्रस्तो—ख०; ईषत्स्रस्तो—ग०।
३. रुद्धतारा जलाविला—क-ख०।
४. रुच्यते—क०। ५. कुटिला—ग०। ६. स्थिता—ग०

हों और जो बीच के स्थान से थोड़ी हटकर रखी जाए तो वह 'भयान्विता' दृष्टि जानो। इसका प्रयोग 'भय' नामक स्थायी भाव में किया जाए ॥५८॥

सङ्कोचितपुटाध्यामा[1] दृष्टिर्मीलिततारका।
लक्ष्योद्देशात्[2] समुद्विग्ना जुगुप्सायां जुगुप्सिता ॥ ५९ ॥

जिसमें पलकें सिकुड़ी और परस्पर न मिलती हों, पुतलियाँ घूमती हों और वे (दृष्टि में आने वाले) लक्ष्य से लौटने वाली रखी जाए तो उसे 'जुगुप्सिता' दृष्टि जानो। इसका प्रयोग 'जुगुप्सा' स्थायी भाव में किया जाए ॥

भृशमुद्वृत्ततारा[3] च नष्टोभयपुटाञ्चिता[4]।
समा विकसिता दृष्टिर्विस्मिता विस्मये स्मृता ॥ ६० ॥

जो बराबर खुली (या फैली) हुई हो, जिसमें पुतलियाँ ऊपर की ओर घुमाव लेती हुई और पलके स्थिर हों तो 'विस्मिता' दृष्टि जानो। इसका प्रयोग 'विस्मय' स्थायी भाव में किया जाए ॥ ६० ॥

स्थायिभावाश्रया ह्येता विज्ञेया दृष्टयो[5] बुधैः।
सञ्चारिणीनां दृष्टीनां सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ६१ ॥

ये दृष्टियाँ स्थायी भावों की हैं। अब संचारी भावों में होने वाली दृष्टियों के लक्षण बतलाता हूँ ॥ ६१ ॥

संचारी भावों की अभिव्यंजक दृष्टियाँ—

समतारा समपुटा निष्कम्पा शून्यदर्शना।
बाह्यार्थाग्राहिणी[6] क्षामा[7] शून्या दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ६२ ॥

जो क्षीण तथा स्थिर दृष्टि हो जिसमें पुतलियां और पलकें सम हों और अपने स्थान पर ही लौटने वाली होकर जो किसी भी बाह्य-पदार्थ को ग्रहण न करें तो उसे 'शून्या' दृष्टि जानो ॥ ६२ ॥

प्रस्पन्दमानपक्ष्मान्ता[8] नात्यर्थमुकुलैः पुटैः।
मलिनान्ता च मलिना दृष्टिर्विहृ[9]ततारका ॥ ६३ ॥

जिसकी बरौनियां घूजती हों, जिसमें पलकें अतिशय सिकुड़ी हुई न

१. पुटश्यामा—क, पुटन्यासा—ख०, ग०। २. पक्ष्मोद्देशात् ग०।
३. विमलोद्वृत्त—ग०। ४. दृष्टोभय—ख०—ग०।
५. दृष्टयो लक्षिता मया—ख०। ६. बाह्यार्थग्राहिणी ख—ग०।
७. ध्यामा—क० श्यामा—ख०। ८. प्रस्यन्दमान—ख—ग०।
९. पक्ष्मा या—क० पक्ष्माग्रा—क०। १०. विभ्राम्र—क; विस्मित—ख—ग०।

रहें, आँखों के कोने मलिनता लिए हों और जिसमें पुतलियां घूमती न रहें (विहततारका) तो उसे 'मलिना' दृष्टि जानो ॥ ६३ ॥

श्रमात्[1] प्रम्लापितपुटा [2]क्षामान्ताञ्चितलोचना ।
सन्ना पतिततारा च श्रान्ता दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ६५ ॥

श्रम के कारण जिसकी पलकें म्लान हो गई हों, आंखों के कोने सिकुड़ गए हों, दृष्टि निर्बल हो (जिसकी) पुतलियां नीचे झुकी हों, तो उसे 'श्रान्ता' दृष्टि कहते हैं ॥ ६४ ॥

किञ्चिदञ्चितपक्ष्माग्रा पतितोर्ध्वपुटा[3] क्रिया ।
त्रपाधोर्गततारा[4] च दृष्टिर्लज्जान्विता तु सा ॥ ६५ ॥

जिसमें बरौनियों के अग्र भाग थोड़े झुके रहें, भीरुता से ऊपरी पलकें नीचे की ओर हों और पुतलियां लज्जा से झुकी हों तो उसे 'लज्जान्विता' दृष्टि जानो ॥ ६५ ॥

म्लान[5]भ्रूपुटपक्ष्मा या[6] शिथिला मन्दचारिणी ।
क्लमप्र[7]विष्टतारा च ग्लाना दृष्टिस्तु सा स्मृता ॥ ६६ ॥

जिसमें भौंहें, पलकें तथा बरौनियां म्लान हों, धीरे धीरे घूमती हों और पुतलियां श्रम के कारण पलकों में ढँकी रहें तो उसे 'ग्लाना' दृष्टि जानो ॥ ६६ ॥

किञ्चिच्चला स्थिरा किञ्चिदुद्वृ[8]ता तिर्यगायता ।
गूढा[9] चकिततारा च शङ्किता दृष्टिरिष्यते ॥ ६७ ॥

जो दृष्टि कभी हिलती हो कभी स्थिर रहती हो कभी ऊपर कभी तिरछी और कभी विस्तृत फैली हो, जो कभी गूढ़ हो जाए और जिसमें पुतलियां भयभीत (या चकित) लगती हों तो उसे 'शंकिता' दृष्टि जानो ॥

विषादविस्तीर्णपुटा पर्यस्ता[10]न्ता निमेषिणी ।
किञ्चिन्निष्टब्धतारा च कार्या दृष्टिर्विषादिनी ॥ ६८ ॥

जो दृष्टि व्यग्र हो, जिसमें विषाद के कारण पलकें फैली हों, नेत्रों के

---

१. श्रमप्रम्लायित—क, श्रमप्रम्ला-ख—ग० । २. क्षामाका—ख० ।
३. पतितोर्ध्वपुटा ह्रिया—ग० ४. त्रपाधोमुख—ग० ।
५. ग्लान—ग० । ६. च—ग० ।
७. क्रमप्रहृष्ट—क; क्लमप्रवृष्ट—ग० । ८. उत्तुङ्गा—क०, दुन्नता—ख० ।
९. मूढा—क । १०. पर्यस्तारा—ग० ।

कोने न खुलते और न बन्द होते हों और पुतलियां कुछ स्थिर हों तो उसे 'विषादिनी' दृष्टि जानो ॥ ६८ ॥

स्फुरदाश्लिष्टपक्ष्मार्धा मुकुलोर्ध्वपुटाञ्चिता ।
सुखोन्मीलिततारा च मुकुला दृष्टिरिष्यते ॥ ६९ ॥

जिसमें बरौनियां कुछ कुछ धूजती तथा (परस्पर) मिली हुई रहें, ऊपरी पलकें कलियों जैसी अधखुली हों तथा पुतलियां हर्ष के कारण फैली हों (या खिली हों) तो उसे 'मुकुला' दृष्टि जानो ॥ ६९ ॥

या निकुञ्चितपक्ष्माग्रा पुटैराकुञ्चितैस्तथा ।
सन्निकुञ्चिततारा च कुञ्चिता दृष्टिरिष्यते ॥ ७० ॥

सिकुड़ी पलकों के कारण जिसकी बरौनियों की नोकें झुकी हुई हों और पुतलियाँ भी (इसी कारण) जिसमें सिकुड़ी हुई रहें तो उसे 'कुञ्चिता' दृष्टि जानो ॥ ७० ॥

मन्दायमानतारा या पुटैः प्रचलितैस्तथा ।
सन्तापोपप्लुता दृष्टिरभितप्ता तु सव्यथा ॥ ७१ ॥

पलकों के हिलने से जिसमें पुतलियां धीरे धीरे घूमती रहती हों तथा (इस प्रकार) जो अतिशय दुर्गति और विघ्न को स्वतः प्रदर्शित करती हो तो ऐसी दृष्टि को 'अभितप्ता' जानो ॥ ७१ ॥

लम्बिता कुञ्चितपुटा शनैस्तिर्यङ्निरीक्षणैः ।
गूढाऽचकिततारा च जिह्मा दृष्टिरुदाहृता ॥ ७२ ॥

जिसमें पलकें झुकी तथा थोड़ी सिकुड़ी हुई हों, तिरछी चितवन हो, पुतलियां गूढ़ हों तथा दृष्टि भी (जिसके कारण गूढ़ हो) तो उसे 'जिह्मा' दृष्टि जानो ॥ ७२ ॥

मधुरा कुञ्चितान्ता च सभ्रूक्षेपा च सस्मिता ।
समन्मथविकारा च दृष्टिः सा ललिता स्मृता ॥ ७३ ॥

जिसका अवलोकन कार्य मधुरता लिये हो, पलकों के कोने सिकुड़े हुए हों और जो (दृष्टि) खिलती हुई भौंहो की हलन चलन द्वारा कामजन्य विकारों को अभिव्यक्त करने वाली हो तो उसे 'ललिता' दृष्टि जानो ॥७३॥

---

१. स्फुरिताश्लिष्ट—ग० । २. सुखामीलित-क; सुखी मीलित—ख० ।
३. आनिकुञ्चित क, —ख० । ४. सन्नाकुञ्चित—क० ।
५. निरीक्षणी—ख० । ६. निगूढा गूढ़तारा च क०—ख० ।
७. क्षेपाथ—ग० । ८. च—ख० ।

वितर्कोद्वर्तितपुटा तथैवोत्फुल्लतारका ।
अधोभागविचारा[1] च दृष्टिरेषा[2] वितर्किता ॥ ७४ ॥

जिसमें अटकल (या तर्क) के कारण पलकें ऊपर उठी हुई हों और पुतलियां खिली हुई तथा नीचे की ओर हिलने वाली हों तो उसे 'वितर्किता' दृष्टि जानो ॥ ७४ ॥

अर्धव्याकोशपक्ष्मा[3] च ह्लादार्धमुकुलैः पुटैः ।
स्मृतार्धमुकुला दृष्टिः किञ्चिल्लुलिततारका ॥ ७५ ॥

जिसमें बरौनियां आधी खिली हों (या खुली हों), पलकें भी आधी खिली (या खुली) हुई हों तथा पुतलियाँ (जिसमें) पूर्ण रूप में खिली हुई एवं नीचे की ओर घूमती हुई रहती हों तो उसे 'अर्धमुकुला' दृष्टि जानो ॥७५॥

विभ्रान्ततारका[4] या तु विभ्रान्तपुटदर्शना ।
विस्तीर्णोत्फुल्लनेत्रा[5] च विभ्रान्ता दृष्टिरिष्यते ॥ ७६ ॥

जिसमें पुतलियाँ तथा पलकें घूमती हुई रहें और आंखें पूर्ण रूप से खिली तथा फैली हुई हों तो उसे 'विभ्रान्ता' दृष्टि जानो ॥ ७६ ॥

पुटौ प्रस्फुरितौ यस्या[6] निष्टब्धौ पतितौ पुनः ।
विप्लुतोद्वृत्ततारा च दृष्टिरेषा तु विप्लुता ॥ ७७ ॥

(पहिले) जिसमें (दोनों) पलकें धूजें और फिर स्थिर हो जाएं तथा पुतलियाँ विघ्न के कारण ऊपर की ओर फड़कती रहें तो उसे 'विप्लुता' दृष्टि जानो ॥ ७७ ॥

आकुञ्चितपुटापाङ्गा सङ्गतार्धनिमेषिणी ।
मुहुर्व्यावृत्ततारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता ॥ ७८ ॥

जिसमें पलकें और आँखों के कोने थोड़े सिकुड़े हुए, एक दूसरे से मिले हुए और आधे खुले हुए हों और पुतलियाँ बार बार गोल घुमाव लेते हुए रहती हों तो उसे 'आकेकरा' दृष्टि जानो ॥ ७८ ॥

विकोशितोभयपुटा प्रोत्फुल्ला चानिमेषिणी ।
अनवस्थिततारा च विकोशा दृष्टिरिष्यते[7] ॥ ७९ ॥

जिसमें दोनों पलकें फैली हुई, खिली हुई तथा न गिरने वाली हों और पुतलियाँ अन्यवस्थितगतिशील हों तो उसे 'विकोशा' दृष्टि जानो ॥७९॥

---

१. अधोमुख विरा च—क०, अधोगत—ख० ग० । २. दृष्टिरिष्टा—ग० ।
३. तारा—ग० । ४. अनवस्थिततारा च विभ्रान्ताकुलदर्शना–क—ख० ।
५. नयना–क,–मध्या—ख० । ६. यस्य—क० । ७. रुच्यते—ग० ।

त्रासोद्वृत्तपुटा या तु तथो[1]त्कम्पिततारका ।
सन्त्रासोत्फुल्लमध्या च त्रस्ता दृष्टिरुदाहृता ॥ ८० ॥

त्रास के कारण (जिसमें) पलकें उठी हुई हों, पुतलियाँ ऊपर की ओर घूमती रहती हों तथा जिसका खिला हुआ मध्य भाग रहे तो उस दृष्टि को 'त्रस्ता' कहते हैं ॥ ८० ॥

आघू[2]र्णमानमध्या या क्षामान्ताञ्चितलोचना ।
दृष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे ॥ ८१ ॥

जिसमें दृष्टि का मध्य भाग घूमने वाला, (आँखों के) कोने पतले और आखें झुकी हुई रहें और आँखों की नोकें पूर्ण फैली हुई हों तो उसे 'मदिरा' दृष्टि जानो । इस प्रकार की दृष्टि 'तरुणमद' में रखी जाती है ॥ ८१ ॥

किञ्चिदाकुञ्चितपुटा किञ्चि[3]ल्लुलिततारका ।
अनवस्थितसञ्चारा दृष्टिर्मध्यमदे भवेत् ॥ ८२ ॥

'मध्यमद' में इसी दृष्टि में पलकें थोड़ी सिकुड़ी हुई रहती हैं एवं पुतलियाँ और बरौनियाँ क्रमहीन दशा में (थोड़ी) हिलती रहती हैं ॥८२॥

सनिमेषाऽनिमेषा च किञ्चिद्दर्शिततारका ।
अधोभागचरी दृष्टिरधमे तु मदे स्मृता ॥ ८३ ॥

'अधममद' में इसी दृष्टि में या तो पलकें गिरने लगती है या एकदम रुक जाती हैं, पुतलियाँ थोड़ी मात्रा में देखने लगती है और नीचे की ओर घूमती रहती है ॥ ८३ ॥

इत्येवं लक्षिता ह्येषा षट्त्रिंशद्दृष्टयो मया ।
रस[4]जा भावजाश्चासां विनियोगं निबोधत ॥ ८४ ॥

इस प्रकार मैंने इन छत्तीस प्रकार की दृष्टियों के लक्षण बतलाये जो रस तथा भावों की अभिव्यंजक हैं । अब मैं इनकी योजना (या विधान) बतलाता हूँ ॥ ८४ ॥

रसजास्तु रसेष्वेव स्थायिषु स्थायिदृष्टयः ।
श्रृणु[5]त व्यभिचारिण्यः सञ्चारिषु यथास्थि[6]ताः ॥ ८५ ॥

इनमें रसदृष्टियों की रसों में योजना की जाती है तथा स्थायी-भाव-दृष्टियों की स्थायी-भावों में । (जो कि बतला दी गई है अतएव) अब

---

१. त्रासादुत्फुल्ल—क०; त्रासोत्कम्पित—ग० ।
२. व्याघूर्णमान—ग० । ३. ह्यनवस्थिततारका—ख—ग० ।
४. सहजा—क० । ५. श्रृणुध्वं—ग० । ६. यथा हि ताः—ग० ।

(अवशिष्ट) व्यभिचारीभावों की अभिव्यंजक दृष्टियों की योजना बतलाता हूँ ॥ ८५ ॥

संचारी दृष्टियों की योजना—

शून्या दृष्टिस्तु चिन्तायामभितप्तापि कीर्तिता।[1]
निर्वेदे चापि मलिना वैवर्ण्ये च विधीयते ॥ ८६ ॥

चिन्ता में 'शून्या' तथा 'अभितप्ता' दृष्टि की एवं निर्वेद तथा वैवर्ण्य में 'मलिना दृष्टि' की योजना करनी चाहिए ॥ ८६ ॥

श्रान्ता श्रमार्त्ते[2] स्वेदे च लज्जायां ललिता तथा।
अपस्मारे तथा व्याधौ ग्लान्यां[3] ग्लाना विधीयते ॥ ८७ ॥

श्रम तथा स्वेद में 'श्रान्ता' दृष्टि की, लज्जा में 'ललिता' की एवं अपस्मार, व्याधि तथा ग्लानि में 'ग्लाना' दृष्टि की योजना की जाए ॥ ८७ ॥

शङ्कायां शङ्किता ज्ञेया विषादार्थे विषादिनी।
निद्रास्वप्नसुखार्थेषु मुकुला दृष्टिरिष्यते ॥ ८८ ॥

शंका में 'शंकिता' की, विषाद में 'विषादिनी' की और निद्रा स्वप्न, तथा प्रसन्नता में 'मुकुला' दृष्टि की योजना की जाए ॥ ८८ ॥

कुञ्चितासूयितानिष्टदुष्प्रेक्षाक्षिव्यथासु च।
अभितप्ता च निर्वेदे ह्यभिघाताभितापयोः ॥ ८९ ॥

असूया, अनिष्ट, तथा कष्ट से अनवलोकनीय वस्तु और आँखों की पीड़ा में 'कुञ्चिता' दृष्टि की तथा निर्वेद, आकस्मिक चोट तथा अति-सन्ताप में 'अभितप्ता' दृष्टि की योजना की जाए ॥ ८९ ॥

जिह्मा दृष्टिरसूयायां जडतालस्ययोस्तथा।
धृतौ हर्षे सललिता स्मृतौ तर्के वितर्किता[4] ॥ ९० ॥

असूया, जड़ता तथा आलस्य में 'जिह्मा' की, धैर्य (धृति) तथा हर्ष में 'ललिता' की तथा स्मृति और तर्क में 'वितर्किता' दृष्टि की योजना की जाए ॥ ९० ॥

आह्लादिष्वर्धमुकुला[5] गन्धस्पर्शसुखादिषु[6]।
विभ्रान्ता दृष्टिरावेगे सम्भ्रमे विभ्रमे तथा ॥ ९१ ॥

---

१ स्तम्भे चापि प्रकीर्तिता—ग०। २. श्रमार्तौ—ख०।
३. म्लाने ग्लाना—ख, म्लाने ग्लाना—ग०।
४ स्मृता तर्के च तर्किता—ख०, ग०।
५ आह्लादेष्वर्धं—ख, ग०। ६. गण्डस्पर्शे—क०।

मधुर गन्ध तथा स्पर्श से होने वाले आनन्द में 'अर्धमुकुला' की और आवेग, संभ्रम तथा विभ्रम में 'विभ्रान्ता' दृष्टि की योजना की जाए ॥९१॥

विप्लुता चापलोन्मादद्दुःखार्त्तिमरणादिषु ।[1]
आकेकरा दुरालोके विच्छेदप्रोक्षितेषु च ॥ ९२ ॥[2]

चपलता, उन्माद, दुःख, मानसिक व्यथा तथा मरण आदि में 'विप्लुता' की, दूरी के कारण न दिखलाई देने वाले पदार्थ, वियोग तथा प्रोक्षण से संस्कृत वस्तु में 'आकेकरा' दृष्टि की योजना करना चाहिए ॥९२॥

विबोधगर्वामर्षौग्र्यमतिषु स्याद् विकोशिता ।[3]
त्रस्ता त्रासे भवेद्दृष्टिः मदिरा च मदेष्विति ॥ ९३ ॥

विबोध, मति, गर्व, अमर्ष, उग्रता तथा मति में 'विकोशिता' (दृष्टि) की त्रास में 'त्रस्ता' की तथा मद में 'मदिरा' दृष्टि की योजना करनी चाहिए ॥ ९३ ॥

षट्त्रिंशद्दृष्टयो ह्येता यथावत् समुदाहृताः ।
रसजानां तु दृष्टीनां भावजानां तथैव च ॥ ९४ ॥
तारापुटभ्रुवां कर्म गदतो मे निबोधत ।

इस प्रकार मैंने इन छत्तीस प्रकार की दृष्टियों का उचित प्रकार से वर्णन कर दिया। अब रस तथा भाव में होने वाले पुतलियों, पलकों तथा भौंहों के कार्य बतलाता हूँ ॥ ९४–९५ ॥

पुतलियों के कार्य (तारा-कर्म)—

भ्रमणं वलनं पातश्चलनं सम्प्रवेशनम् ॥ ९५ ॥
विवर्त्तनं समुद्वृत्तं निष्क्रामः प्राकृतं तथा ।
एतानि नवकर्माणि ताराकर्म द्विजोत्तमाः ॥ ९६ ॥[4]

पुतलियों के नव कार्य होते हैं—(१) भ्रमण (२) वलन (३) पात (४) चलन (५) सम्प्रवेशन (६) विवर्तन (७) समुद्वृत (८) निष्काम तथा (९) प्राकृत ॥ ९५–९६ ॥

शृणुध्वं लक्षणं तावत् साम्प्रतं प्रीतितः स्फुटम् ।
पुटान्तर्मण्डलावृत्तिस्तारयोर्भ्रमणं स्मृतम् ॥ ९७ ॥[5]

१. च चलोन्माद—क०, चापलो—ख० । २. विच्छेदे प्रेक्षितेषु—ख, ग० ।
३. द्विकासिता—ख० । ४. पद्यार्धमेतत् ख–ग–पुस्तकयोर्नास्ति ।
५. पर्यस्तमण्डला—क०, पर्यस्तं—ग० ।

वलनं[1] गमनं त्र्यश्रं पातनं स्रस्तता तथा।
चलनं कम्पनं ज्ञेयः प्रवेशोऽन्तः प्रवेशनम् ॥ ९८ ॥
विवर्तनं कटाक्षस्तु समुद्वृत्तं समुन्नतिः।
निष्क्रामो निर्गमः प्रोक्तः प्राकृतन्तु स्वभावजम् ॥ ९९ ॥

हे मुनियों, पुतलियों के कार्य के ये ९ प्रकार हैं। अब प्रीति पूर्वक इनके स्फुट लक्षण सुनिये—

पलकों में पुतलियों के गोल घुमाव को 'भ्रमण,' पुतली को तिरछा ले जाना 'वलन' पुतली का ऊपर से (सीधा) नीचे आना 'पात,' पुतली का दोनों ओर बराबर घूमना (हिलना) 'चलन,' पुतली का अन्दर खिंचना या जाना 'सम्प्रवेशन,' एक कोने में पुतली ले जाकर कटाक्षपूर्ण देखना 'विवर्तन,' पुतलियों का फैलाव लेते हुए ऊपर की ओर उठना 'समुद्वृत,' बाहर की ओर पुतलियों का धकेलना 'निष्क्राम' तथा पुतलियों का अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहना 'प्राकृत' (कर्म) कहलाता है ॥ ९७–९९)

ताराकर्म की अभिनय योजना—

अथैषां[2] रसभावेषु विनियोगं निबोधत।
भ्रमणं वलनोद्वृत्ते[3] निष्क्रामो वीररौद्रयोः ॥ १०० ॥
निष्क्रामणं संवलनं[4] कर्त्तव्यं हि भयानके।
हास्यबीभत्सयोश्चापि प्रवेशनमिहेष्यते ॥ १०१ ॥
पातनं करुणे कार्यं निष्क्रामणमथाद्भुते।
प्राकृतं शेषभावेषु श्रृङ्गारे च विवर्त्तितम् ॥ १०२ ॥
स्वभावसिद्धमेवैतत् कर्म लोकक्रियाश्रयम्।
एवं रसेषु[5] भावेषु ताराकर्माणि योजयेत् ॥ १०३ ॥

अब मैं इनकी रस तथा भावों में की जानेवाली योजना बतलाता हूँ—भ्रमण, वलन, उद्धृत तथा निष्काम की वीर तथा रौद्र रस में, निष्काम तथा वलन की भयानक रस में, प्रवेशन की हास्य तथा बीभत्स में, पातन की करुण में, निष्काम की अद्भुत में, प्राकृत की अवशिष्ट भावों में तथा श्रृङ्गार रस में विवर्तित की योजना की जाए। ये पुतलियों के स्वाभाविक तथा लोक-

१. चलनं—ख–ग०। २ तथैषां—ग०। ३. चलनो—ग०।
४. सचलनं–क०, सञ्चलनं–ख०, संवलनं–ग०।
५. सर्वेषु—ग०।

क्रियाओं के आश्रित रहने वाले कार्य हैं। इनकी इसी विधि से रस तथा भावों में संयोजना की जाए ॥ १००-१०३ ॥

दर्शन (अवलोकन) के विविध प्रकार—

अथात्रैव[1] प्रवक्ष्यामि प्रकारान् दर्शनस्य तु ।
समं साच्यनुवृत्ते च ह्यालोकितविलोकिते ॥ १०४ ॥
प्रलोकितोल्लोकिते चाप्यवलोकितमेव च ।
समतारश्च सौम्यश्च यद् दृष्टं तत्समं स्मृतम ॥ १०५ ॥
पक्ष्मान्तर्गततारं यत् त्र्यश्रं साचीकृतन्तु तत् ।
रूपनिर्वर्णना[2]युक्तमनुवृत्तमिति स्मृ[3]तम् ॥ १०६ ॥
सहसा दर्शनं यत् स्यात् तदालोकितमुच्यते ।
विलोकितं पृष्ठतस्तु पार्श्वाभ्यान्तु प्रलोकितम् ॥ १०७ ॥
ऊर्ध्वमुल्लोकितं ज्ञेयमवलोकितमप्यधः ।
इत्येषु[4] दर्शनविधिः सर्वभावरसाश्रयः ॥ १०८ ॥

अब मैं इन्हीं से सम्बद्ध दर्शन के (विभिन्न) प्रकारों को बतलाता हूँ। ये आठ होते हैं—(१) सम, (२) साची (३) अनुवृत्त (४) आलोकित (५) विलोकित (६) प्रलोकित (७) उल्लोकित तथा (८) अवलोकित। इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं :—

जिसमें पुतलियां समान तथा सौम्य (विश्रामयुक्त या किसी विशेष भाव से रहित) हों तो उसे 'सम', जिसमें पुतलियाँ पलकों के अन्दर दबकर तिरछी हो जाए तो 'साची', चारों ओर किसी भी स्वरूप को ध्यान पूर्वक देखने पर 'अनुवृत्त', सहसा किसी वस्तु का देखना 'आलोकित', पीछे की ओर देखना 'विलोकित', (क्रमशः) दोनों कोखों की ओर देखना 'प्रलोकित', ऊपर की ओर देखना 'उल्लोकित' तथा नीचे की (भूमि की) ओर देखना 'अवलोकित' समझना चाहिए। (इस प्रकार) सभी रसों तथा भावों में होने वाला दर्शन का यह विधान मैंने बतलाया ॥ १०४-१०८ ॥

पुट-कर्म (पलकों के प्रकार)—

तारागतोऽस्यानुगतं पुटकर्म निबोधत ।
उन्मेषश्च निमेषश्च प्रसृतं कुञ्चितं समम् ॥ १०९ ॥

---

१. तथा तत्रैव वक्ष्यामः प्रकारं—ग० । २. निर्वापणा—ग० ।
३. स्फुटम्—ग० । ४. इत्यष्टौ—क० ।

विवर्त्तितं स[1] स्फुरितं पिहितं सवितॊडितम्[2] ।

अब मैं पुतलियों की गति के अनुसार होने वाले 'पुटकर्म' विधान (पलकों के विभेदों) को बतलाता हूँ। ये पुटकर्म ९ हैं—(१) उन्मेष (२) निमेष (३) प्रसृत (४) कुञ्चित (५) सम (६) विवर्तित (७) स्फुरित (८) पिहित तथा (९) विताडित ॥ १०९–११० ॥

विश्लेषः पुटयोर्यस्तु स[3] उन्मेषः प्रकीर्तितः ॥ ११० ॥
समागमो[4] निमेषः स्यादायामः[5] प्रसृतं भवेत् ।
आकुञ्चितं कुञ्चितं स्यात् समं स्वाभाविकं स्मृतम् ॥१११॥
विवर्त्तितं समुद्वृत्तं स्फुरितं स्पन्दितं[6] तथा ।
स्थगितं पिहितं प्रोक्तमाहतन्तु वितॊडितम्[7] ॥ ११२ ॥

इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं :—

पलकों का एक दूसरे से अलग होना 'उन्मेष', उनका इकट्ठा होना (मिलना) 'निमेष', पलकों का फैलाव 'प्रसृत', पलकों का सिकुड़ना 'कुञ्चित', पलकों का अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहना 'सम', पलकों का ऊपर की ओर उठाना 'विवर्तित', पलकों का स्पन्दन (अर्थात् सिकुड़ाकर फैलाना) 'स्फुरित', पलकों का बन्द करना 'पिहित' तथा आकस्मिक रूप में पलकों का पटपटाना 'विताड़ित' कहलाता है ॥ ११०-११२ ॥

पुटकर्म की अभिनय-योजना—

अथैषां रसभावेषु विनियोगं निबोधत ।
क्रोधे विवर्तितं कार्यं[8] निमेषोन्मेषणैः सह ॥ ११३ ॥
विस्मयार्थं च हर्षं च वीरे[9] च प्रसृतं स्मृतम् ।
अनिष्टदर्शने गन्धे रसे स्पर्शे च कुञ्चितम् ॥ ११४ ॥
शृङ्गारे च समं कार्यमीर्ष्यासु स्फुरितं तथा[10] ।
सुप्तमूर्च्छितवातोष्णधूमवर्षाञ्जनार्त्तिषु[11] ॥ ११५ ॥

---

१. प्रस्फुरितं—ख० । २. सवितालितम्—ख–ग० ।
३. स तून्मेषः—ख, ग० । ४. समागतो—ग० ।
५. आयामस्तु प्रसारितम्—ग । ६ स्यन्दितं—ग० ।
७ वितालितम्—ख–ग० । ८. विवर्तितः कार्यः—ग० ।
९. वीर्ये चैव प्रसारितम्—ग० । १०. भवेत्—ग० ।
११. वर्षाञ्जनादिषु—ख, वर्षाशनार्थिषु—ग० ।

नेत्ररोगे च पिहितमभिघाते वितांडितम् ।
इत्येषु रसभावेषु तारकापुटयोर्विधिः ॥ ११६ ॥

अब इनकी रस तथा भावों में योजना बतलाता हूँ। निमेष, उन्मेष, तथा विवर्तन की क्रोध भाव में, अद्‌भुत, वीररस तथा हर्ष भाव में 'प्रसृत' की, कुत्सित पदार्थ के अवलोकन, गन्ध, रस तथा स्पर्श में 'कुञ्चित' की, शृङ्गार में 'सम' की, ईर्ष्या में 'स्फुरित' की, निद्रा, मूर्च्छा, पवन, उष्णता, धुआं, वर्षा, अंजन-लेपन, पीडा तथा नेत्र-रोग में 'पिहित' की तथा आकस्मिक चोंट में 'विताड़ित' की योजना करनी चाहिए।

इस प्रकार मैंने रस तथा भाव में होने वाला पुतलियों तथा पलकों का अभिनय विधान बतलाया॥ ११६ ॥

भ्रुकुटी-कर्म—

कार्यानुगतमस्यैव भ्रुवोः कर्म निबोधत ।
उत्क्षेपः पातनं चैव भ्रुकुटी चतुरन्तथा ॥ ११७ ॥
कुञ्चितं रेचितञ्चैव सहजञ्चेति सप्तधा ।

अब इन्हीं (पुतलियों तथा पलकों) के अनुसार होने वाले भ्रुकुटी के कार्यों को बतलाता हूँ। भ्रुकुटी-कर्म के सात प्रकार होते हैं—(१) उत्क्षेप, (२) पातन, (३) भ्रुकुटी, (४) चतुर, (५) कुञ्चित, (६) रेचित तथा (७) सहज॥ ११७–११८ ॥

भ्रुवोरुन्नतिरुत्क्षेपः सममेकैकशोऽपि वा ॥ ११८ ॥
अनेनैवं क्रमेणैव पातनं स्यादधोमुखम् ।
भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपाद् भ्रुकुटी परिकीर्तिता ॥ ११९ ॥
चतुरं किञ्चिदुच्छ्वासान्मधुरायतता भ्रुवोः ।
एकस्या हि द्वयोर्वापि मृदुभङ्गैस्तु कुञ्चितम् ॥ १२० ॥
एकस्या एक ललितादुत्क्षेपाद् रेचितं भ्रुवः ।
सहजातं तु सहजं कर्म स्वाभाविकं स्मृतम् ॥ १२१ ॥

---

१. वितालितम्—ख० । २. इत्येवं—ग० ।
३. कार्येऽनुगत—ग० । ४. भ्रुवोः—ख० ।
५. चैव—ग० । ६. रुद्गति—ख० ।
७. एकस्य वा द्वयोर्वापि—ग० ८. द्वयो—क० ।
९. मधुरायतयोर्भ्रुवोः—ग० । १० उभयो—ख–ग० ।
११. मृदुभागेन—क; मृदुभङ्गेन—ख–ग० ।

इनके लक्षण इस प्रकार हैं—भ्रुकुटियों का एक साथ या क्रमशः ऊपर चढ़ाना 'उत्क्षेप', इसी क्रम से (उनका) नीचे उतारता 'पातन', भ्रुकुटी के (दोनों) मूलों को एक साथ ऊपर चढ़ाना 'भ्रुकुटी', दोनों भ्रुकुटियों की थोड़े हलन चलन के द्वारा मधुरता तथा विस्तार को 'चतुर', भ्रुकुटियों का क्रमशः धीरे धीरे या (दोनों को) एक साथ पास पास झुकाना (लाना) 'कुंचित', एक भ्रुकुटी को लालित्य पूर्ण ढंग से ऊपर की ओर उठाना 'रेचित' तथा भ्रुकुटियों का अपनी स्वाभाविक दशा में होने वाला कर्म 'सहज' कहलाता है ॥ ११८-१२१ ॥

भ्रुकुटी-कर्म की (अभिनय) योजना—

अथैषां सम्प्रवक्ष्यामि रसभावप्रयोजनम् ।
कोपे वितर्के हेलायां लीलादौ सहजे तथा ॥ १२२ ॥

दर्शने श्रवणे चैव भ्रुवमेकां समुत्क्षिपेत् ।
उत्क्षेपो[1] विस्मये हर्षे रोषे चैव द्वयोरपि ॥ १२३ ॥

असूयिते[2] जुगुप्सायां हासे घ्राणे च पातनम् ।
क्रोधस्थानेषु दीप्तेषु योजयेद् भ्रुकुटीं बुधः ॥ १२४ ॥

शृङ्गारे ललिते सौम्ये सुखस्पर्शे[3] प्रबोधने ।
एवं[4] विधेषु भावेषु चतुरन्तु प्रयोजयेत् ॥ १२५ ॥

अब मैं इनकी रस तथा भावों में योजना बतलाता हूँ :—

क्रोध, वितर्क, हेला, लीला, सहज अवलोकन तथा श्रवण की दशा में एक भ्रुकुटी को ऊपर की ओर उठाकर तथा विस्मय, हर्ष और रोष की दशा में दोनों भ्रुकुटी को ऊपर उठाकर 'उत्क्षेप' की योजना की जाए । असूया, जुगुप्सा, हास तथा सुगन्धित पदार्थ के सूंघने की दशा में 'पातन' की योजना होती है । क्रोध के विषय तथा दीप्त प्रदेश में 'भ्रुकुटी' की योजना होती है । शृङ्गार, ललित, सौम्य वस्तु तथा स्पर्श और प्रबोध (जागना) भाव में तथा इसी प्रकार के अन्य भावों में 'चतुर' की योजना की जाए ॥ १२२-१२५ ॥

---

१. उत्क्षेते—ग० । २. असूयितजुगुप्सायां—ख०; आसूयित—ग० ।
३. स्पर्शे च चतुरं भवेत्—ख—ग ।
४. पद्यार्धमेतत् ख—ग—पुस्तकयोर्नास्ति ।

[स्त्रीपुरुषयोश्च संलापे नानावस्थान्तरात्मके ।]
मोट्टायिते कुट्टमिते तथा च किलकिञ्चिते ।
निकुञ्चितञ्च कर्तव्यं नृत्ते योज्यन्तु रेचितम् ॥ १२६ ॥

अनाविद्धेषु भावेषु कुर्यात्[1] स्वाभाविकं तथा ।
इत्येवं तु भ्रुवोः प्रोक्तं[2] नासाकर्म निबोधत ॥ १२७ ॥

(अनेक अवस्थाओं तथा भावों से पूर्ण स्त्री तथा पुरुषों के संलापों में तथा) मोट्टायित, कुट्टमित और किलकिंचित में 'कुंचित' का प्रयोग करना चाहिए। नृत में 'रेचित' का तथा अन्य सामान्य भावों में 'सहज' का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार मैंने 'भ्रुकुटी' का कर्म बतलाया। अब मैं नासिका का कर्म बतलाता हूँ॥ १२६–१२७ ॥

नासा-कर्म (लक्षण) :—

नता मन्दा विकृष्टा च सोच्छ्‌वासाथ विकूणिता ।
स्वाभाविका चेति बुधैः षड्‌विधा नासिका स्मृता ॥ १२८ ॥

नता मुहुः श्लिष्टपुटा मन्दा तु निभृता स्मृता ।
विकृष्टा फुल्लितपुटा सोच्छ्‌वासाकृष्टमारुता ॥ १२९ ॥

विकूणिता सङ्कुचिता समा स्वाभाविकी स्मृता ।
नासिका लक्षणं ह्येतद्विनियोगं निबोधत ॥ १३० ॥

ये नासाकर्म छः प्रकार का होता है—(१) नता (२) मन्दा (३) विकृष्टा (४) सोच्छ्‌वासा (५) विकूणिता तथा (६) स्वाभाविका। बार-बार यदि नासापुट मिलते हों (चपटे हो जाएँ) तो 'नता', यदि नासापुट स्थिर हों तो 'मन्दा', यदि नासापुट फूले हों तो 'विकृष्टा', सांस नासापुटों में खींचा जाए तो 'सोच्छ्‌वासा' यदि नासापुट सिकुड़े हों तो 'विकूणिता' तथा सहज भाव में नासापुट रहने पर 'समा' दशा होती है।

मैंने ये नासिका के लक्षण बतलाए अब मैं इनकी योजना बतलाता हूँ॥ १२८–१३० ॥

---

१. विद्यात्—ख–ग० ।
२. प्रोक्ता—ख–ग० ।
३. विघूर्णिता—ख० ग० ।
४. विकृष्टोत्फुल्लित—ख–ग० ।
५. विघूर्णिता—ख–ग० ।
६. स्वाभाविका—ख–ग० ।

योजना—

मंदोत्कम्पसमायुक्ते नारीणामनुरोधने ।
निश्वासे च नता कार्या नासिका नाट्ययोक्तृभिः ॥१३१॥
निर्वेदौत्सुक्यचिन्तासु मन्दा शोके च योजयेत् ।
विकृष्टा तीव्रगन्धे च श्वासरोषभयार्त्तिषु ॥ १३२ ॥
सोच्छ्वासा मधुरे गन्धे दीर्घोच्छ्वासकृतेषु च ।
विकूणिता च कर्त्तव्या जुगुप्सासूयितादिषु ॥ १३३ ॥
कार्या शेषेषु भावेषु तज्ज्ञैः स्वाभाविकी तथा ।

स्त्री जन (नायिका) को मनाने, मन्द कम्पन से युक्त रहने तथा सांस लेने में 'नता' की (पाठान्तर–रोदन के रुक जाने या मन्द हो जाने तथा उसाँस लेने में 'नता' की) निर्वेद, औत्सुक्य, चिन्ता तथा शोक में 'मन्दा' की, तीव्रगन्ध, श्वास, रोष भय तथा पीड़ा में (पाठान्तर–तीव्र गन्ध, रौद्र तथा वीर रस में) 'विकृष्टा' की, मीठी सुगन्ध (इष्ट गन्ध) दीर्घ श्वास तथा उसाँस में 'सोच्छ्वासा' की, जुगुप्सा, असूया आदि में 'विकूणिता' की (पाठान्तर–हास्य, जुगुप्सा तथा असूया में 'विकूणिता' की) तथा अवशिष्ट सहज भावों में 'समा' की योजना करनी चाहिए ॥

कपोल–कर्म–लक्षण—

क्षामं फुल्लञ्च पूर्णञ्च कम्पितं कुञ्चितं समम् ॥ १३४ ॥
षड्विधं गण्डमुद्दिष्टमस्य लक्षणमुच्यते ।
क्षामं चावनतं ज्ञेयं फुल्लं विकसितं भवेत् ॥ १३५ ॥
उन्नतं पूर्णमन्त्रोक्तं कम्पितं स्फुरितं भवेत् ।
स्यात् कुञ्चितं सङ्कुचितं समं प्राकृतमुच्यते ॥ १३६ ॥

---

१. विच्छिन्नमन्दरुदिते सोच्छ्वासे च नता स्मृता—ख–ग ।

२. पद्यार्धमेतत् ख–ग पुस्तकयोर्नास्ति ।

३. प्रकीर्तिता—ख०, तु कीर्तिता—ग० ।

४. तीव्रगन्धे विकृष्टां तां रौद्रे वीरे तथैव च—क०; विकृष्टा तीव्रगन्धोर्ध्व-श्वासरोषभयार्त्तिषु—ख–ग० ।

५. इष्टघ्राणे तथोच्छ्वासे दीर्घोच्छ्वासां प्रयोजयेत्—क० ।

६. विघूर्णितोक्ता हास्ये च जुगुप्सायामसूयिते—ख० ग० ।

७. स्वाभाविकाशेषभावेष्वित्येवं नासिका स्मृता—ख० ।

८. त्ववनतं—ग० । ९. विततं घूर्णमन्त्रोक्तं—क० ।

कपोल कर्म के छः प्रकार हैं:—यथा—(१) क्षाम, (२) फुल्ल, (३) पूर्ण, (४) कम्पित, (५) कुंचित तथा (६) सम। अब मैं इनके लक्षणों को बतलाता हूँ।

अवनत या बैठे हुए कपोल हों तो 'क्षाम', फूले या भरे हुए कपोल 'विकसित', उन्नत या ऊँचे उठे हुए कपोल 'पूर्ण', कम्पित या धूजते हुए कपोल 'कम्पित', सिकुड़े हुए कपोल 'कुंचित' तथा स्वाभाविक दशा में स्थित कपोल 'सम' कहलाते हैं ॥ १३४–१३६ ॥

योजना—

गण्डयोर्लक्षणं प्रोक्तं विनियोगं निबोधत।
क्षामं दुःखेषु कर्त्तव्यं प्रहर्षे फुल्लमेव च ॥ १३७ ॥
[1]पूर्णमुत्साहगर्वेषु रोषहर्षेषु कम्पितम्।
कुञ्चितञ्च सरोमाञ्चं[2]स्पर्शे शीते भये ज्वरे ॥ १३८ ॥
प्राकृतं शेषभावेषु गण्डकर्म भवेदिति।

इस प्रकार मैंने कपोलों के लक्षण वर्णन किये अब मैं इनकी योजना बतलाता हूँ। दुःख में 'क्षाम' की, हर्ष में 'फुल्ल' की, उत्साह तथा गर्व में 'पूर्ण' की, रोष तथा हर्ष में 'कम्पित' की, रोमांच, स्पर्श, शीत, भय तथा ज्वर में 'कुंचित' की तथा शेषभावों में 'सम' कपोल की योजना करनी चाहिए ॥ १३७–१३८ ॥

अधरोष्ठ कर्म-लक्षण—

विव[3]र्तनं कम्पनञ्च विसर्गो विनिगूहनम् ॥ १३९ ॥
सन्दष्टकं समुद्गञ्च षट्कर्माण्यधरस्य तु।
वि[4]कूणनं विवर्त्तस्तु वेपनं कम्पनं स्मृतम् ॥ १४० ॥
विनिष्क्रामो विसर्गस्तु प्रवेशो विनिगूहनम्।
[5]सन्दष्टकं द्विजैर्दष्टं समुद्गः[6] सहितोद्गतिः ॥ १४१ ॥
इत्योष्ठलक्षणं प्रोक्तं विनियोगं निबोधत।

अधरोष्ठ कर्म के छः प्रकार हैं—(१) विवर्तन, (२) कंपन, (३) विगर्ग, (४) विनिगूहन, (५) सन्दष्टक तथा (६) समुद्गक।

---

१. घूर्ण—क०। २. कम्पे—ख०।
३. विवर्तने—ग०। ४. विघूर्णनं—ख०।
५. सन्दष्टको द्विजैर्दंष्टः—ख–ग०। ६. समुद्गः सहजोन्नतिः—क०।

नीचले ओठ का फड़कना (या नीचे झुकना) 'विवर्तन', ओठ का धूजना 'कम्पन', ओठ का बाहर निकलना 'विसर्ग', ओठ का अन्दर ले जाना 'विनिगूहन', ओठ का दाँतों से दबाना 'सन्दष्टक' तथा ओंठ को बाहर की ओर ऊँचा करना 'समुद्गक' कहलाता है। ये अधरोष्ठ के लक्षण हैं। अब इनकी योजना सुनिये ॥ १३९–१४१ ॥

योजना—

असूयावेदनावज्ञाहास्यादिषु विवर्तनम् ॥ १४२ ॥
कम्पनं वेदनाशीतभयरोषजवादिषु ।
स्त्रीणां विलासे विब्बोके विसर्गो रञ्जने तथा ॥ १४३ ॥
विनिगूहनमायासे सन्दष्टं क्रोधकर्मसु ।
समुद्गस्त्वनुकम्पायां चुम्बने चाभिनन्दने ॥ १४४ ॥

असूया, वेदना, लज्जा, अनादर तथा हास्य आदि में 'विवर्तन' की, वेदना, शीत, भय, क्रोध, वेग आदि में 'कम्पन' की; स्त्रियों के विलास, बिब्बोक तथा रंजन में 'विसर्ग' की; (श्रम तथा) आयास में 'विनिगूहन' की, क्रोध के कार्य आदि में 'सन्दष्टक' की तथा अनुकम्पा, अभिनन्दन और चुम्बन में 'समुद्गक' की योजना करनी चाहिए ॥ १४२–१४४ ॥

चिबुक कर्म—(लक्षण)—

इत्योष्ठकर्माण्युक्तानि चिबुकस्य निबोधत ।
कुट्टनं खण्डनं छिन्नं चुक्कितं लेहितं समम् ॥ १४५ ॥
दष्टञ्च दन्तक्रियया चिबुकन्त्विह लक्ष्यते ।
कुट्टनं दन्तसङ्घर्षः सम्फोटः खण्डनं मुहुः ॥ १४६ ॥
छिन्नन्तु गाढसंश्लेषश्चुक्कितं दूरविच्युतिः ।
लेहनं जिह्वया लेढः किञ्चिच्छ्लेषः समं भवेत् ॥ १४७ ॥
दन्तैर्दष्टेऽधरे दष्टमित्येषां विनियोजनम् ।

---

१. वेदनालज्जालस्यादिषु—ख–ग० ।
२. वेपनं शीतज्वररोगजयादिषु—ग० ।
३. विसर्गं सुरते स्मृतः—ख० । ४. क्रोधकर्मणि—ग० ।
५. चिकितं—ख; चुक्षितं—ग० । ६. लेहनं—ख–ग० ।
७. चिकितं—ख; चुक्षितं—ग० । ८. किञ्चिच्चेष्टः—ख–ग० ।

इस प्रकार मैंने ओठों के अभिनय कार्य बतलाए, अब मैं चिबुक के (ठुड्डी के) कर्म बतलाता हूँ। चिबुक के ७ प्रकार होते हैं—यथा—(१) कुट्टन, (२) खण्डन, (३) छिन्न, (४) चुक्कित, (५) लेहित, (६) सम तथा (७) दष्ट। यहाँ दाँतों की क्रिया के अनुसार ही चिबुक कर्मों के लक्षण बतलाए जाते हैं (अर्थात् ये दांतों के लक्षण हैं तथा चिबुक के भेद और लक्षण भी इसी प्रकार से होते हैं) दाँतों के संघर्ष (कड़कड़ाने) को 'कुट्टन', दाँतों के बार-बार चबाने को 'खण्डन', दाँतों का जोर से मिलाना 'छिन्न' दाँतों को परस्पर ऊपर तक हटा लेना 'चुक्कित' जिह्वा से दाँतों का चाटना 'लेहित' दाँतों का थोड़ा मिलना 'सम' तथा दाँतों से ओठ का दबाना 'दष्ट' कहलाता है॥ १४५–१४८॥

योजना—

भयशीतज्वरक्रोधग्रस्तानां[1] कुट्टनं भवेत्॥ १४८॥
जप[2]ाध्ययनसल्लापभक्ष्ययोगे च खण्डनम्।
छिन्नं व्याधौ भये शीते व्यायामे रुदिते [3]मृते॥ १४९॥
जृम्भणे चुक्कि[4]तं कार्यं तथा लौल्ये[5] च लेहनम्।
समं स्वभावभावेषु सन्दष्टं क्रोधकर्मसु॥ १५०॥
इति दन्तोष्ठजिह्वानां करणे चिबुकक्रिया।

इनमें भय, शीत व्याधि तथा ज्वर में 'कुट्टन' की; जप, अध्ययन, संलाप (संवाद) तथा भक्षण करने में 'खण्डन' की, व्याधि, भय, शीत, व्यायाम, रूदित तथा मृत में 'छिन्न' की, चुम्बन लेने में 'चुक्कित' की; लेहन कर्म (चाटने) में (पाठान्तर–चंचलता में) 'लेहन' की; स्वाभाविक चेष्टाओं में 'सम' की तथा क्रोध के कार्यों में 'सन्दष्ट' की योजना करनी चाहिए।

इस प्रकार मैंने दन्त, ओष्ठ तथा जिह्वा से सम्बद्ध (इन) चिबुकों के कार्य बतलाए॥ १४८–१५१॥

मुखज कर्म—

[6]विनिवृत्तञ्च विधुतं निर्भुग्नं भुग्नमेव च॥ १५१॥

---

१. व्याधि—ख–ग०। २. जप्या—ख० ग०। ३. रुषितेक्षिते–ख०।
४. चिकितं—ख, चुक्षितं—ग०। ५. लेह्ये—स–ग०।
६. 'विनिवृत्तञ्च विधुतम्' इत्यादयोऽष्टौ श्लोकाः क्वचनादर्शेषु प्रक्षिप्ताः।

विवृत्तश्च तथोद्वाहि कर्माण्यत्रास्यजानि तु ।
व्यावृत्तं विनिवृत्तं स्याद् विधुतं तिर्यगायतम् ॥ १५२ ॥
अवाङ्मुखत्वं निर्भुग्नं व्याभुग्नं किञ्चिदायतम् ।
विश्लेष्टोष्ठश्च विवृत्तमुद्वाह्याक्षिप्तमेव च ॥ १५३ ॥

मुखज कर्म ६ हैं—यथा–(१) विनिवृत्त, (२) विधुत (३) निर्भुग्न, (४) भुग्न (५) विवर्त तथा (६) उद्वाही ।

सीधा खुला हुआ 'विनिवृत्त', तिरछा खुला हुआ मुंह 'विधुत', नीचे की ओर झुका हुआ 'निर्भुग्न', कुछ खुला हुआ 'भुग्न' (व्याभुग्न), ओठों से लगा हुआ मुँह 'विवर्त' तथा ऊपर की ओर उठा हुआ मुंह 'उद्वाही' कहलाता है ॥ १५१–१५३ ॥

योजना—

विनिवृत्तमसूयायामीर्ष्याकोपकृतेषु[1] च ।
अवज्ञाविहृतादौ च स्त्रीणां कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १५४ ॥
विधुतं वारणे चैव नैवमित्येवमादिषु ।
निर्भुग्नश्चापि विज्ञेयं गम्भीरालोकनादिषु ॥ १५५ ॥
भुग्नं लज्जान्विते योज्यं यतीनां तु स्वभावतः[2] ।
निर्वेदौत्सुक्यचिन्तासु तथा विनयमन्त्रणे[3] ॥ १५६ ॥

स्त्रियों के असूया, ईर्ष्या, कोप, अवज्ञा तथा विहृत आदि भावों में 'विनिवृत' की; निवारण तथा निषेध कथन में 'विधुत' की; गम्भीर आलोकन आदि में 'निर्भुग्न' की तथा लज्जित व्यक्ति तथा निर्वेद, औत्सुक्य चिन्ता, विनय विचार (मन्त्रणा) भावों में 'भुग्न' की योजना करनी चाहिए। यह यतीजन में स्वाभाविक होता है॥ १५४–१५६ ॥

विवृतं वापि विज्ञेयं हास्यशोकभयादिषु ।
स्त्रीणामुद्वाहि लीलायां गर्वे गच्छत्यनादरे[4] ॥ १५७ ॥
एवं नामेति कार्यश्च कोपवाक्ये विचक्षणैः ।
समंसाचीकृताद्युक्तं[5] यच्च दृष्टिविकल्पनम्[6] ॥ १५८ ॥

---

१. क्रोधकृतेत—ग० । २. स्वभावजम्—ख–ग ।
३. तथा च विनिमन्त्रणे—ख–ग० । ४. गच्छत्वना—ख–ग० ।
५. समं साचीकृताद्युक्ता—ख–ग० । ६. विकल्पितम्—ख–ग० ।

तज्ज्ञैस्तदनुसारेण कार्यं तदनुगं मुखम् ।

हास्य, शोक तथा भय आदि में 'विवृत', स्त्रियों की लीला तथा गर्व में, अनादर, 'जाओ' तथा ऐसा ही कार्य है इस प्रकार के कथन में एवं क्रोध पूर्ण वचनों में 'उद्वाही' मुख की योजना करनी चाहिए।

नाट्यप्रयोक्ताजन द्वारा दृष्टि भेदों के जो सम तथा साची भेद पहिले बतलाए गए उन्हीं के अनुसार मुख की भी योजना करनी चाहिए।

मुख-राग—

अथातो मुखरागस्तु चतुर्धा सम्प्रकीर्तितः ॥ १५९ ॥
स्वाभाविकः प्रसन्नश्च रक्तः श्यामोऽर्थसंश्रयः ।

अब मैं 'मुख-राग' को बतलाता हूँ। ये अपने अर्थों के अनुसार चार प्रकार के होते हैं। यथा—(१) स्वाभाविक, (२) प्रसन्न, (३) रक्त तथा (४) श्याम ॥ १५९–१६० ॥

योजना—

स्वाभाविकस्तु कर्तव्यः स्वभावाभिनयाश्रयः ॥ १६० ॥
मध्यस्थादिषु भावेषु मुखरागः प्रकीर्तितः ।
प्रसन्नस्त्वद्भुते कार्यो हास्यशृङ्गारयोस्तथा ॥ १६१ ॥
वीररौद्रमदाद्येषु रक्तः स्यात् करुणे तथा ।
भयानके सबीभत्से श्यामं सञ्जायते मुखम् ॥ १६२ ॥
एवं भावरसार्थेषु मुखरागं प्रयोजयेत् ।

'स्वाभाविक मुखराग' की; स्वाभाविक अभिनय में तथा मध्यस्थ आदि भाव में; 'प्रसन्न मुख राग' की अद्भुत, हास्य तथा शृंगार में; रक्त मुखराग की वीर, रौद्र रस और मद तथा करुण, भयानक तथा बीभत्स रस में श्याम मुख राग की योजना करनी चाहिए।

इसी प्रकार भाव तथा रस के प्रस्तुत करने में मुख राग की योजना की जाए ॥ १६०–१६३ ॥

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तः कृतोऽप्यभिनयः शुभः ॥ १६३ ॥
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत् ।
शारीराभिनयोऽल्पोऽपि मुखरागसमन्वितः ॥ १६४ ॥

---

१. स्तेनानुसारेण—ख० ग० । २. प्रयोक्तृभिः—ख० ग० ।
३. ह्यभिनयः—ख० ।

द्विगुणां लभते शोभां रात्राविव निशाकरः।
नयनाभिनयोऽपि स्यान्नानाभावरसस्फुटः॥ १६५॥
मुखरागान्वितो यस्मान्नाट्यमत्र प्रतिष्ठितम्।
यथा नेत्रं प्रसर्पेत मुखभ्रूदृष्टिसंयुतम्॥ १६६॥
तथा भावरसोपेतं मुखरागं प्रयोजयेत्।
इत्येष मुखरागस्तु प्रोक्तो भावरसाश्रयः॥ १६७॥

शाखा, अंग तथा उपांग के अभिनय अच्छी प्रकार किये जाने पर भी यदि वे 'मुखराग' से रहित हो तो उसकी शोभा नहीं होती।

पर जब शारीराभिनय के अल्प मात्रा में प्रस्तुत करते हुए भी यदि उसे मुखराग से युक्त रखा जाए तो रात्रि में चन्द्र के समान द्विगुणित शोभा को प्राप्त करता है।

नयनाभिनय भी यदि मुखराग से युक्त रहे तो वह अनेक भाव तथा रसों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है क्योंकि 'नाट्य' इसी पर निर्भर है (स्थित है)।

मुख, भ्रू, दृष्टि आदि से युक्त हो जिस प्रकार नेत्र हों मुखराग भी उसी प्रकार के भाव तथा रसों से युक्त रखते हुए प्रयुक्त करना चाहिए। इस प्रकार मैंने भाव तथा रस का आधारभूत तत्त्व 'मुखराग' का स्वरूप यहाँ बतलाया॥ १६३-१६७॥

ग्रीवाकर्म—लक्षण तथा योजना—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ग्रीवाकर्माणि वै द्विजाः।
समा नतोन्नता त्र्यस्रा रेचिता कुञ्चिताञ्चिता॥ १६८॥
वलिता च विवृत्ता च ग्रीवा नवविधार्थतः।

हे मुनिजन! अब मैं आपको ग्रीवा के कार्य बतलाता हूँ। ये ग्रीवा कर्म नौ प्रकार के हैं। यथा:—(१) समा, (२) नता, (३) उन्नता, (४) त्र्यस्रा, (५) रेचिता, (६) कुञ्चिता, (७) अञ्चिता, (८) वलिता, तथा (९) विवृत्ता॥ १६८-१६९॥

समा स्वाभाविकी ध्यानस्वभावजपकर्मसु॥ १६९॥
नता नतास्यालङ्कारबन्धे कण्ठावलम्बने।

---

१. भावरसान्वितः—ख०। २. इत्येवं—ख०।
३. ग्रीवाकर्म द्विजोत्तमाः—ख०। ४. निवृत्ता—ख०।

उन्नताभ्युन्नतमुखी ग्रीवा चोर्ध्वादिदर्शने ॥ १७० ॥
त्र्यस्रा पार्श्वगता ज्ञेया स्कन्धभारे च दुःखिते ।
रेचिता विधुता भ्रान्ता भावे मथननृत्तयोः ॥ १७१ ॥
कुञ्चिताऽकुञ्चिता मूर्ध्नि भारिते गलरक्षणे ।

अपनी सहज अवस्था में विद्यमान ग्रीवा 'समा' कहलाती है, इसकी योजना ध्यान, सहज भाव तथा जपकर्म में की जाए। यदि ग्रीवा झुकी हो तो 'नता' कहलाती है, इसकी योजना अलंकारों के धारण करने तथा किसी व्यक्ति के कण्ठ का सहारा लेने में करना चाहिए।

ऊपर की ओर चेहरे को उठा कर रखी हुई ग्रीवा 'उन्नता' कहलाती है। इसे ऊपर की ओर देखने के भाव में प्रयुक्त करना चाहिए।

यदि ग्रीवा को किसी एक ओर मोड़ा जाए तो यह 'त्र्यस्रा' कहलाती है। इसकी कन्धों से भार वहन तथा दुःख के प्रदर्शन में योजना की जाए।

यदि ग्रीवा कम्पित या घूमते हुए रखी जाए तो 'रेचिता' कहलाती है। इसकी योजना भाव, मथन तथा नृत्त में की जाए।

यदि मस्तक सहित ग्रीवा को नीचे की ओर झुकाया जाय तो 'कुञ्चिता' कहलाती है। इसकी योजना भारयुक्त होने तथा गले का बचाव करने में की जाए ॥ १६९–१७२ ॥

अञ्चितापसृतोद्बद्धकेशाकर्षोर्ध्वदर्शने ॥ १७२ ॥
पार्श्वोन्मुखी स्याद् वलिता ग्रीवाभङ्गे च वीक्षिते ।
विवृत्ताभिमुखीभूता स्वस्थानाभिमुखादिषु ॥ १७३ ॥

यदि ग्रीवा को मस्तक सहित पीछे की ओर मोड़ा जाए तो 'अंचिता' कहलाती है। इसकी योजना ऊपर की ओर लटकने, (फांसी लगा कर मरने हेतु), बालों को खींचने तथा ऊपर देखने में की जाए।

यदि ग्रीवा चहरे सहित बगल में मोड़ ली जाए तो 'वलिता' कहलाती है। इसकी योजना ग्रीवा को झुका कर देखने के भाव में की जाए।

यदि ग्रीवा सामने की ओर स्थित रहे (अभिमुखीभूता) तो 'विवृत्ता' कहलाती है। इसकी योजना अपने उद्दिष्ट स्थान की ओर प्रस्थान करने में की जाए ॥ १७२–१७३ ॥

---

१. चोर्ध्वनिवेशने—ख०। २. चैव—ख०।
३. विधुतभ्रान्ता हावे—ख०। ४. कुञ्चिताकुञ्चिते मूर्ध्नि धारिते—ख, ग०।
५. केशकर्षोर्ध्वदर्शने—ख०, ग०। ६. वीक्षणे—ख०।

इत्यादिलोकभावार्था ग्रीवाभेदैरनेकधा ।
ग्रीवाकर्माणि सर्वाणि शिरःकर्मानुगानि हि ॥ १७४ ॥
शिरसः कर्मणा कर्म ग्रीवायाः सम्प्रवर्तते ।

इस प्रकार मनुष्यों के भाव तथा व्यवहार आदि के अनुसार ये ग्रीवा के अनेक भेद बतलाए गये हैं। ये सभी ग्रीवाकर्म मस्तक की क्रिया का अनुसरण करते हैं और मस्तक के कर्म ग्रीवा के कर्मों से ही प्रवृत्त होते हैं ॥ १७४-१७५ ॥

इत्येतल्लक्षणं प्रोक्तं शीर्षोपाङ्गसमाश्रयम् ॥ १७५ ॥
अङ्गकर्माणि शेषाणि गदतो मे निबोधत ॥ १७६ ॥

इस प्रकार मैंने मस्तक के उपांगसहित सभी लक्षण बतलाए। अब मैं शेष अंगों के कर्म तथा लक्षण बतलाता हूँ जिन्हें आप समझिए ॥१७५-१७६॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे उत्तमाङ्गाभिनयो [उपाङ्गाभिनयो]
नाम अष्टमोऽध्यायः ।



भरत नाट्यशास्त्र का उत्तमांगाभिनय (उपांगाभिनय) नामक
अष्टम-अध्याय समाप्त ।



---

१. ग्रीवाभङ्गैः—ख० ।

नवमोऽध्यायः

एवमेतच्छिरोनेत्रभ्रूनासोष्ठकपोलजम्[1]।
कर्म लक्षणसंयुक्तमुपाङ्गानां मयोदितम्[2] ॥ १ ॥
हस्तानान्तु[3] प्रवक्ष्यामि कर्म नाट्यप्रयोजकम्।
यथा येनाभिनेयश्च गदतो मे निबोधत[4] ॥ २ ॥

भरतमुनि बोले—

हे मुनिजन ! अब तक आपको मैंने लक्षणों से युक्त शिर, नेत्र, भौंहें, नासिका, ओठ एवं कपोल से होनेवाले उपांगों के अभिनय को बतलाया। अब मैं हाथों का नाट्यप्रयोगों में होने वाला अभिनय-कार्य—जैसे और जिस व्यक्ति के द्वारा अभिनीत किया जाए—बतलाता हूँ ॥ १-२ ॥

हस्तोरःपार्श्वजठरकटीजङ्घोरुपादतः।
लक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि विनियोगश्च तत्त्वतः ॥ ३ ॥

अब मैं क्रमशः हाथ, उरःस्थल, पार्श्व, उदर, कटी, जंघा, ऊरू, (पिंडलियाँ) तथा पैरों के अभिनय कार्य तथा लक्षणों को बतलाता हूँ ॥३॥

हस्तमुद्राएँ—[1]

पताकस्त्रिपताकश्च तथा वै कर्तरीमुखः।
अर्धचन्द्रो ह्यरालश्च शुकतुण्डस्तथैव च ॥ ४ ॥

---

१. हस्तमुद्राओं के विषय में आचार्यों में अतिशय मतभेद दृष्टिगोचर होता है तथा नाटचशास्त्र की कई प्रतियों में उपलब्ध पाठान्तरों के अनुसार भी अनेक भिन्नताएं दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे-सूचीमुख को सूच्यास्य, कांगुलम् को लांगुलम्, अलपद्मम् को अलपल्लव या उत्पलपद्मम्, उत्पलपदम् इत्यादि। अभिनयदर्पण में असंयुक्त मुद्राएं २८ तथा ४ पूरक मुद्राओं सहित ३२ मिलती है। इसमें नाट्य-शास्त्र के अतिरिक्त ये मुद्राएँ हैं—अर्धपताक, मयूर, चन्द्रकला, सिंहमुख, त्रिशूल, व्याघ्र, अर्धसूची, कंटक तथा पल्ली। (इनमें नाट्यशास्त्र की ऊर्णनाभ मुद्रा को छोड़ शेष सभी अतिरिक्त मुद्राएँ हैं।) नाट्यशास्त्र तथा अभिनय-दर्पण की १६

---

१. इत्येतच्छिरसो नेत्र—क, च्छिरसो नेत्रे, ख—ग०।
२. कपोलकम्—क०।   ३. हस्तादीनां—क०।
४. तन्मे निगदतः शृणु—ग०।

मुष्टिश्च शिखराख्यश्च कपित्थः कटकामुखः[1] ।
सूच्यास्यः पद्मकोशश्च तथा वै सर्पशीर्षकः ॥ ५ ॥
मृगशीर्षः[2] परो ज्ञेयो हस्ताभिनययोक्तृभिः ।
लाङ्गूलोत्पलपद्मश्च[3] चतुरो भ्रमरस्तथा ॥ ६ ॥
हंसास्यो हंसपक्षश्च सन्दंशो मुकुलस्तथा ।
ऊर्णनाभस्ताम्रचूडश्चतुर्विंशतिरीरिताः ॥ ७ ॥
असंयुता संयुताश्च गदतो मे निबोधत ।
अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥ ८ ॥
कटकावर्धमानश्च[4] ह्युत्सङ्गो निषधस्तथा ।
दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च ॥ ९ ॥

मुद्राएँ ही समान हैं परन्तु इन मुद्राओं के अभिनय-दर्पण में जहाँ नाम समान है तो लक्षण भिन्न हैं । ये हैं—कर्तरीमुख, कटकामुख, सूचीमुख, हंसमुख, (हंसास्य) मृगशीर्ष, सन्दंश तथा ताम्रचूड़ । इस प्रकार यहाँ संयुक्त और असंयुक्त हस्तमुद्राओं के विषय में संक्षेप में बतलाया गया है । विशेष विवेचन के लिए परिशिष्ट देखिये ।

नाट्यशास्त्र में हस्तमुद्राओं का कुलयोग ६४ बतलाया गया है परन्तु हैं वे ६७ तथा भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित भी और ये (नाट्यशास्त्र में) भरतमुनि सम्मत ही मुद्राएँ निरूपित भी की गयी हैं । इस संख्या का उल्लेख श्रीकण्ठकृत रसमंजरी में (इस प्रकार) किया गया है :—'एतेऽभिनयहस्ताः स्युः सप्तत्रिंशन्मुनेर्मताः' (रसमंजरी ms—पत्र ६४ B. O. R. I. Poona)

हस्तमुद्राएं (विशेष)—मुद्रा का स्वरूप तथा उसका विनियोग नाट्यशास्त्र में सलक्षण दिया गया है । इसके अतिरिक्त भी इन मुद्राओं के द्वारा अनेक अर्थ सूचित किये जा सकते हैं जिनका आगे चित्राभिनय (नाट्यशास्त्र अध्याय २६) में वर्णन है । कुछ अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों में मूल मुद्राओं की उद्‌भव कथाएं तथा रस के समान इन मुद्राओं का भी वर्ण (रंग) जाति तथा अधिदेवता भी बतलायी गयी हैं । इन उल्लेखों से आचार्यों के नृत्य-शास्त्र में सौन्दर्य-पूर्ण सूक्ष्म तथा संशोधकदृष्टि के दर्शन सहज प्राप्य हैं । अभिनय-दर्पण आदि ग्रन्थों के द्वारा प्रदर्शित विभिन्न अर्थों को (जो नाट्यशास्त्र में नहीं दर्शाये गए) हमने परिशिष्ट में बतलाने का उद्योग किया है । यह विषय विस्तृत तथा अध्ययन सापेक्ष है ।

---

१. खटकामुखः—क–ख० । २. पद्यार्धमेतत् क–पुस्तके नास्ति ।
३. काङ्गूलकोऽलपद्मश्च—क० । ४. खटका—क० ।

चित्रावली : असंयुत करमुद्राएँ, पृष्ठ ३९


(१) पताक


(२) त्रिपताक

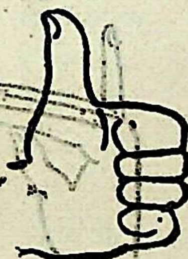

(३) कर्तरीमुख


(४) अर्धचन्द्र


(५) अराल


(६) शुकतुण्ड


(७) मुष्टि


(८) शिखर


(९) कपित्थ

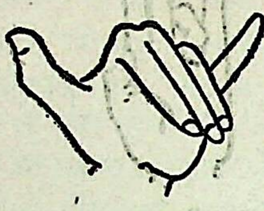

(१०) कटकामुख


(११) सूचीमुख


(१२) पद्मकोश



(१३) सर्पशीर्षक



(१४) मृगशीर्ष



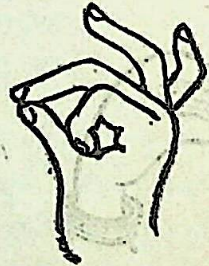
(१५) कङ्गुल



(१६) अलपद्म



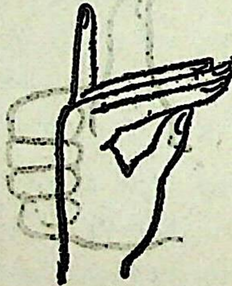
(१७) चतुर



(१८) भ्रमर



(१९) हंसास्य



(२०) हंसपक्ष



(२१) सन्दंश



(२२) मुकुल



(२३) ऊर्णनाभ



(२४) ताम्रचूड

गजदन्तोऽवहित्थश्च वर्धमानस्तथैव च।
एते तु संयुता हस्ता मया प्रोक्तास्त्रयोदश ॥ १० ॥

असंयुक्त हस्तमुद्राएं २४ हैं। जिनके नाम हैं—(१) पताक, (२)

यहाँ केवल उनकी मुद्रा, जाति, वर्ण तथा देवता दिये जा रहे हैं। प्रत्येक मुद्रा की उत्पत्तिकथा उस मुद्रा के लक्षण के नीचे पाद टिप्पणी में दे दी गई है तथा इसी कारण इस अध्याय में टिप्पणियाँ भी संक्षिप्त ही रखी हैं।

मुद्रानाम	देवता	जाति	वर्ण
(१) पताक	प्रब्रह्मा	ब्राह्मण	श्वेत
(२) त्रिपताक	शिव	क्षत्रिय	रक्त
(३) कर्तरीमुख	चक्रपाणि-विष्णु	क्षत्रिय	ताम्र
(४) अर्धचन्द्र	महादेव	वैश्य	धूम्र
(५) अराल	वासुदेव	मिश्र	रक्त
(६) शुकतुण्ड	मरीचि	ब्राह्मण	रक्त
(७) मुष्टि	चन्द्र	शूद्र	नील
(८) शिखर	कामदेव	गान्धर्व	धूलियाँ
(९) कपित्थ	पद्मगर्भ-विष्णु	ऋषि	श्वेत
(१०) कटकामुख	रघुराम	देव	ताम्र
(११) सूचीमुख	विश्वकर्मा	देव	श्वेत
(१२) पद्मकोष	भार्गव	यक्षकिन्नर	श्वेत
(१३) सर्पशीर्ष	शिव	देव	पीत
(१४) मृगशीर्ष	महेश्वरशिव	ऋषि	श्वेत
(१५) कंगुल	पद्म	सिद्ध	सुवर्ण
(१६) अलपद्म	सूर्य	गान्धर्व	धूलि
(१७) चतुर	सूर्य	मिश्र	धूलि
(१८) भ्रमर	गरुड	मिश्र	घन (काला)
(१९) हंसास्य	ब्रह्मा	मिश्र	श्वेत
(२०) हंसपक्ष	कामदेव	अप्सरा	नील
(२१) सन्दंश	वाल्मीकि	विद्याधर	श्वेत
(२२) मुकुल	चन्द्र	संकीर्ण	श्वेत
(२३) ऊर्णनाभ	इन्द्र	देव	श्वेत
(२४) ताम्रचूड	कूर्मावतार	क्षत्रिय	रक्त

त्रिपताक, (३) कर्तरीमुख, (४) अर्धचन्द्र, (५) अराल, (६) शुकतुण्ड, (७) मुष्टि, (८) शिखर, (९) कपित्थ, (१०) कटकामुख, (११) सूच्यास्य, (सूचीमुख), (१२) पद्मकोष, (१३) सर्पशीर्ष, (१४) मृगशीर्ष, (१५) कांगुल, (१६) अलपद्म, (१७) चतुर, (१८) भ्रमर, (१९) हंसास्य, (२०) हंसपक्ष, (२१) सन्दंश, (२२) मुकुल, (२३) ऊर्णनाभ तथा (२४) ताम्रचूर्ण।

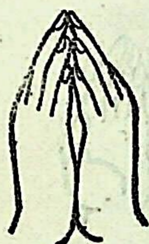
संयुत हस्तमुद्राएं तेरह हैं। जिनके नाम हैं—(१) अंजलि, (२) कपोत, (३) कर्कट, (४) स्वस्तिक, (५) कटकावर्धमानक, (६) उत्संग, (७) निषध, (८) दोला, (९) पुष्पपुट, (१०) मकर, (११) गजदन्त, (१२) अवहित्थ तथा (१३) वर्धमान ॥ ४–१० ॥

नृत्तहस्तानतश्चोर्ध्वं गदतो मे निबोधत।
चतुरस्रौ तथोद्वृत्तौ तथा तलमुखौ स्मृतौ ॥ ११ ॥
स्वस्तिकौ विप्रकीर्णौ चाप्यरालकटकामुखौ।[1]
आविद्धवक्रौ[2] सूच्यास्यौ रेचितावर्द्धरेचितौ ॥ १२ ॥
उत्तानवञ्चितौ[3] चैव पल्लवौ च तथा करौ।
नितम्बावपि[4] विज्ञेयौ केशबन्धौ तथैव च ॥ १३ ॥
लताख्यौ[5] च तथा प्रोक्तौ करिहस्तौ तथैव च।
पक्षवञ्चितकौ चैव पक्षप्रद्योतकौ तथा।
ज्ञेयौ गरुडपक्षौ च दण्डपक्षावतः[6] परम् ॥ १४ ॥
ऊर्ध्वमण्डलिनौ चैव पार्श्वमण्डलिनौ तथा।
उरोमण्डलिनौ चैव उरःपार्श्वार्धमण्डलौ[7] ॥ १५ ॥
मुष्टिकस्वस्तिकौ[8] चापि नलिनीपद्मकोशकौ।
अलपल्लवोल्बणौ[9] च ललितौ वलितौ तथा ॥ १६ ॥

अब मैं नृत्तहस्त बतलाता हूँ। इन नृत्तहस्तों के ३० प्रकार हैं—(१) चतुरस्र, (२) उद्वृत्त, (३) तलमुख, (४) स्वस्तिक, (५) विप्रकीर्ण, (६) अरालकटकामुख, (७) आविद्धवक्र, (८) सूच्यास्य,

१. प्यारालखटकामुखौ—क०–ख०। २. अविद्धव—ख०।
३. उत्तानावञ्चितौ—ख०–ग०। ४. नितम्बौ चापि—ग०।
५. सम्प्रोक्तौ करिहस्तौ च लताख्यौ च तथैव च—ग०।
६. हंसपक्षौ तथैव च—ख०, ग०। ७. मण्डले—ख०, ग०।
८. मुष्टिकः स्वस्तिकश्चापि—ख०। ९. अलपद्मौल्वणौ चापि—ग०।

चित्रावली : संयुत करमुद्राएँ, पृष्ठ ४०



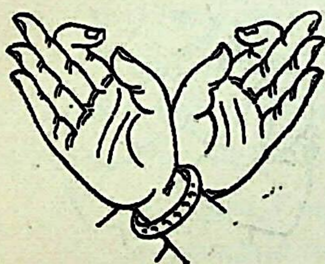
(१) अंजलि



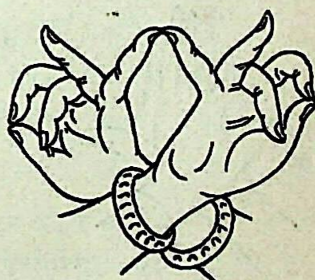
(२) कपोत



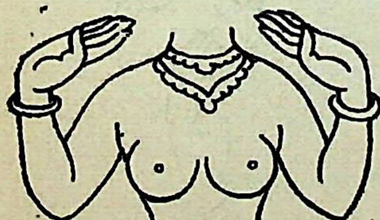
(३) कर्कट



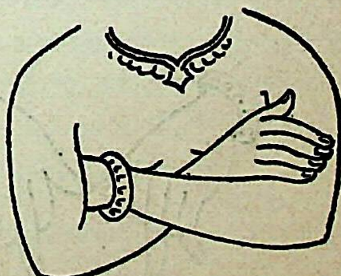
(४) स्वस्तिक



(५) कटकावर्धमान



(६) उत्सङ्ग



(७) निषध



(८) दोला



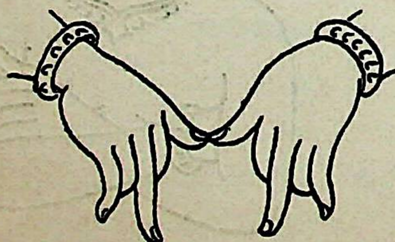
(९) पुष्पपुट



(१०) मकर



(११) गजदन्त



(१२) अवहित्थ



(१३) वर्द्धमान

(९) रेचित, (१०) अर्धरेचित, (११) उत्तानवञ्चित, (१२) पल्लव, (१३) नितम्ब, (१४) केशबन्ध, (१५) लता, (१६) करिहस्त, (१७) पक्षवंचितक, (१८) पक्षप्रद्योतक, (१९) गरुड़पक्ष, (२०) दण्डपक्ष, (२१) ऊर्ध्वमण्डलिन्, (२२) पार्श्वमण्डलिन् (२३) उरोमण्डली, (२४) उरःपार्श्वमण्डली, (२५) मुष्टिकस्वस्तिक, (२६) नलिनीपद्मकोष, (२७) अलपल्लव, (२८) उल्बण, (२९) ललित, तथा (३०) वलित ॥ ११-१६ ॥

चतुष्षष्टिकरा ह्येते नामतोऽभिहिता मया ।
यथा[1]लक्षणमेतेषां कर्माणि च निबोधत ॥ १७ ॥

इस प्रकार मैंने चौसठ हस्तमुद्राओं के नाम बतलाए । अब मैं इनके लक्षणों तथा तदनुरूप कर्मों को बतलाता हूँ ॥ १७ ॥

असंयुत—हस्तमुद्राएं (लक्षण तथा योजना)—

पताक[1]—

[2]प्रसारिताः समाः सर्वाः यस्याङ्गुल्यो[3] भवन्ति हि ।
कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्ठः स पताक इति स्मृतः ॥ १८ ॥

सभी ऊंगलियों को फैलाकर यदि अंगूठे की तिरछा (कुञ्चित) कर दे और उसे तर्जनी के मूल में लगा दे तो 'पताक' हस्त-मुद्रा होती है ॥१८॥

एष प्रहारपाते प्रता[4]पने नोदने प्रहर्षे च ।
गर्वे[5]ऽप्यहमिति तज्ज्ञैर्ललाटदेशोत्थितः कार्यः ॥ १९ ॥

योजना—प्रहार (चोंट) करने, (शीतनिवारण हेतु आग) तापने, प्रेरणा देने, हर्ष तथा गर्व बतलाने में पताकमुद्रायुक्त हाथ को ललाट प्रदेश से उठाते हुए रखना चाहिए ॥ १९ ॥

---

१. पताक—(उत्पत्ति कथा)—यह मुद्रा प्राचीन मूर्तियों में अभय मुद्रा के रूप में दिखाई देती है। शास्त्र में इस मुद्रा के स्रष्टा ब्रह्मा जी हैं। एक बार सृष्टि के उत्पादक ब्रह्मा प्रब्रह्मा (विष्णु) के समीप गये तथा जय घोष के साथ उनकी बन्दना की। इस समय उनके हाथ ने सहसा पताक (ध्वज) के आकार को धारण कर लिया, तभी से इसकी पताक हस्त के रूप में प्रसिद्धि है।

---

१. अथ लक्षणमेतेषां—ग० । २. प्रसारिताग्राः सहिताः—ख०, ग० ।
३. यस्याङ्गुल्यौ—क० । ४. प्रकोपने—क० ।
५. गर्वेष्वह—क० ।

एषोऽग्निवर्षधारानिरूपणे पुष्पवृष्टिपतने च ।
संयुतकरणः कार्यः प्रविरलचलिताङ्गुलिर्हस्तः ॥ २० ॥

यदि पताक-मुद्रा-युक्त दोनों हाथों को रखकर अंगुलियों को घुमाए तो उनके द्वारा वर्षा, पुष्पवृष्टि और (उग्रकम्पन द्वारा) अग्नि की ताप (या ज्वालाएँ) बतलाई जाती है ॥ २० ॥

स्वस्तिकविच्युतिकरणात् पल्लवपुष्पोपहारशष्पाणि ।
विरचितमुर्वीसंस्थं यद्द्रव्यं तच्च निर्देश्यम् ॥ २१ ॥

यदि पताक मुद्रा वाले दोनों हाथों से स्वस्तिक करते हुए उसे हटा लिया जाए तो उसके द्वारा पल्लव एवं पुष्पों का उपहार, लहलहाता घास तथा पृथ्वी पर स्थित किये हुए (बलि आदि) पदार्थों को बतलाया जाता है ॥ २१ ॥

स्वस्तिकविच्युतिकरणात् पुनरेवाधोमुखेन कर्तव्यम् ।
संवृतविवृतं पाल्यं छन्नं निबिडश्च गोप्यश्च ॥ २२ ॥

यदि हाथों को स्वस्तिक दशा से हटाकर उन्हें नीचे की ओर जाता हुआ रखे तो इससे किसी वस्तु के बन्द करने, उघाड़ने, रक्षा करने, ढँकने, घना करने तथा छुपाने (गोप्य) का भाव प्रकट होता है ॥ २२ ॥

अस्यैव चाङ्गुलीभिस्त्वधोमुखप्रस्थितोत्थितचलाभिः ।
वायूर्मिवेगवेलाक्षोभश्चौघश्च कर्त्तव्यः ॥ २३ ॥

यदि इसी मुद्रायुक्त हाथ को नीचे की ओर ले जाकर ऊपर उठाए तथा तभी आगे पीछे घुमाई जाने वाली अंगुलियां रखी जाएं तो इससे वायु का चलना, लहरों का वेग, समुद्र की वेला, क्षोभ तथा बाढ़ का वेग बतलाया जाता है ॥ २३ ॥

उत्साहनं बहु तथा महाजनप्रांशुपुष्करप्रहतम् ।
पक्षोत्क्षेपाभिनयं रेचककरणेन कुर्वीत ॥ २४ ॥

यदि इसी मुद्रा में हाथ को रेचक करण युक्त (रेचित) किया जाए तो उसके द्वारा प्रोत्साहन, अनेक (संख्या में विद्यमान) मनुष्यों का कोलाहल,

---

१. पल्वल—क० । २. विद्युति—ग० ।
३. भाद्यश्च—ख०, क्षोभश्चोद्यश्च—ग० । ४. प्रहतिम्—ख० ।
५. रेचककरणैः प्रयुञ्जीत—ग० ।

ऊँचाई (प्रांशु) (मृदङ्ग या) ढोल का पीटना तथा पक्षी का उड़ना (पक्षियों द्वारा पंखों को फड़फड़ाना या ऊपर उठाना) बतलाया जाता है ॥ २४ ॥

परिघृष्टतलस्थेन तु धौतं मृदितं प्रमृष्टपिष्टे च।
पुनरेव शैलधारणमुद्धाटनमेव[1] चाभिनयेत्[2] ॥ २५ ॥

इसी मुद्रा में यदि दोनों हाथों को परस्पर मसला जाए तो उनके द्वारा धोना, मसलना, मांजना, गूंथना, पीसना, पर्वत को उठाना या उखाड़ना आदि भाव बतलाया जाता है ॥ २५ ॥

एवमेषं[3] प्रयोक्तव्यः स्त्रीपुंसाभिनये करः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्रिपताकस्य लक्षणम् ॥ २६ ॥

स्त्री तथा पुरुष पात्र के द्वारा इसी प्रकार इस मुद्रा का प्रयोग किया जाए । अब मैं 'त्रिपताक' मुद्रा का लक्षण कहता हूँ ॥ २६ ॥

[1]त्रिपताक—

पताके तु यदा वक्रानामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् ।
त्रिपताकः स विज्ञेयः कर्म चास्य निबोधत ॥ २७ ॥

यदि पताक मुद्रा युक्त हाथ में अनामिका अंगुली को झुका दिया जाए तो 'त्रिपताक' मुद्रा हो जाती है । अब इसके द्वारा होनेवाले कार्य बतलाता हूँ ॥ २७ ॥

आवाहनमवतरणं विसर्जनं वारणं प्रवेशश्च ।
उन्नामनं प्रणामो निदर्शनं विविधवचनञ्च ॥ २८ ॥
माङ्गल्यद्रव्याणां स्पर्शः शिरसोऽथ सन्निवेशश्च ।
उष्णीषमुकुटधारणनासास्यश्रोत्रसंवरणम् ॥ २९ ॥

योजना—आवाहन, अवतरण (नीचे उतरना), विसर्जन वा धारण,

---

१. त्रिपताक—(उत्पत्तिकथा) जब देवराज इन्द्र ने वज्र को ग्रहण किया तब उनका हाथ तीन उंगलियों के अलग करने से (तीन भाग वाले) ध्वज जैसा हो गया । तभी से इस त्रिपताक मुद्रा का प्रचलन हुआ ।

---

१. मुत्पाटन—ख० ।
२. दशाख्याश्च शताख्याश्च सहस्राख्यास्तथैव च ।
पताकाभ्यान्तु हस्ताभ्यामभिनेयः प्रयोक्तृभिः ॥
(इति क० पुस्तकेऽधिकं प्रक्षिप्तश्च)
३. एवमेव—ख० ।

प्रवेश, उन्नामन (ऊपर चढ़ाना), प्रणाम, तुलना करना (निदर्शन), वैकल्पिक-कथन (विविध-वचन) मांगलिक वस्तुओं का स्पर्श तथा मस्तक पर धारण, पगड़ी या मुकुट का धारण तथा नासिका, मुख एवं कानों का ढकना बतलाया जाता है ॥ २८-२९ ॥

अस्यैव चाङ्गुलीभ्यामधोमुखप्र[1]स्थितोत्थितचलाभ्याम् ।
लघु[2]खगपतनस्रोतोभुजग[3]भ्रमरादिकान् कुर्यात् ॥ ३० ॥

यदि इसी मुद्रा से युक्त दोनों हाथों को नीचे की ओर जाने तथा ऊपर उठने वाली अंगुलियों वाला रखे तो इनके द्वारा छोटे पक्षियों का पतन, स्रोत, सर्प तथा भ्रमर आदि बतलाए जाते हैं ॥ ३० ॥

अश्रुप्र[4]मार्जनं तिलकविरचनं रोचनालभनकञ्च ।
[5]त्रिपताकानामिकयोः स्पर्शनमलकस्य कर्तव्यम् ॥ ३१ ॥

त्रिपताकमुद्रावाले हाथ में अनामिका के स्पर्श द्वारा आंसुओं का पोंछना, तिलक करना, गोरोचना का तिलक आदि के लिए ग्रहण करना, पत्रलेखा रचना (जो कि भुजाओं तथा वक्षःस्थल पर की जाती है) और अलक स्पर्श बतलाया जाता है ॥ ३१ ॥

स्व[6]स्तिकौ त्रिपताकौ तु गुरूणां पाद[7]वन्दने ।
परस्पराग्रसंश्लिष्टौ कार्यौवुद्वाहदर्शने ॥ ३२ ॥

यदि त्रिपताक हाथ स्वस्तिक दशा में रहें तो उससे गुरुजन के चरण-स्पर्श तथा स्वस्तिक दशा युक्त होकर एक दूसरे के कोनों को छूते हों तो उससे विवाह बतलाया जाता है ॥ ३२ ॥

विच्युतौ चलितावस्थौ कर्तव्यौ नृपदर्शने ।
तिर्यक्स्वस्तिकसम्बद्धौ स्यातां तौ ग्रहदर्शने ॥ ३३ ॥

यदि इसी अवस्था वाले हाथ एक दूसरे से हटते हुए तथा धूज़ते हुए

---

१. मुखप्रस्थितौ—ग० ।

२. लघुवटपवन—क, लघुमुखपवनस्रोतो—ख० । लघुचटपवन—ग० ।

३. भुजगतभ्रमणादिकान्—ग० ।

४ अश्रुप्रमार्जनतिलकविरोचनलोचनालभनकं च—ग० ।

५. त्रिपताकानामिकया दर्शनमलकस्य कार्यञ्च—ग० ।

६. 'स्वस्तिकौ त्रिपताकावि'त्यारभ्य 'याने नृणां प्रयोक्तभि'रित्यन्तं श्लोकषट्कं ग—पुस्तके नास्ति । ७. वन्दनम्—ख० ।

रखे जाएँ तो उनके द्वारा राजा का दर्शन बतलाते हैं और यदि ये स्वस्तिक दशा में तिरछे रखें जाएं तो इनके द्वारा 'ग्रहों' के दर्शन बतलाए जाते हैं ॥३३॥

तपस्विदर्शने कार्यावूर्ध्वौ चापि पराङ्मुखौ ।
परस्पराभिमुखौ च कर्तव्यौ द्वारदर्शने ॥ ३४ ॥

यदि त्रिपताक मुद्रावाले हाथ ऊपर की ओर उठे तथा उनको फिर पीछे की ओर रखा जाए तो उससे तपस्विजन का दर्शन बतलाया जाता हैं। और यदि ये ही हाथ एक दूसरे के सम्मुख रखें जाए तो उनसे द्वार का स्वरूप या दर्शन बतलाया जाता है ॥ ३४ ॥

उत्तानाधोमुखौ कार्यावग्रे वक्त्रस्य संस्थितौ ।
वडवानलसङ्ग्रामे मकराणाञ्च दर्शने ॥ ३५ ॥

यदि ये ही हाथ एक दूसरे के सम्मुख रखकर फिर (उंगुलियों को हिलाते हुए) नीचे की ओर मुंह वाले (मिलाकर) किये जाएँ तो उससे वडवानल, संग्राम तथा मकर की अभिव्यक्ति होती है ॥ ३५ ॥

अभिनेयास्त्वनेनैव वानरप्लवनोर्मयः ।
पवनश्च स्त्रियश्चैव नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ॥ ३६ ॥

और नाट्यविद् आचार्यों के मत में इसी हस्तमुद्रा के द्वारा वानर का उछलना, लहरें, पवन तथा स्त्रियों को भी बतलाया जाता है ॥ ३६ ॥

सम्मुखप्रसृताङ्गुष्ठः कार्यो बालेन्दुदर्शने ।
पराङ्मुखस्तु कर्तव्यो याने नृणां प्रयोक्तृभिः ॥ ३७ ॥

यदि इसी मुद्रावाले हाथ को सम्मुख रखते हुए अँगूठे को फैला दे तो उससे बालचन्द्र तथा यदि इसी हाथ को पीछे की ओर मोड़ लिया जाए तो उससे (शत्रु के विरुद्ध) राजा की चढ़ाई (यान) बतलाई जाती है ॥ ३७ ॥

[1]कर्तरीमुख—

त्रिपताके यदा हस्ते भवेत् पृष्ठावलोकिनी ।
तर्जनी मध्यमायाश्च तदासौ कर्तरीमुखः ॥ ३८ ॥

---

१. कर्तरीमुख (उत्पत्ति कथा) इस हस्त के सृष्टा शिव हैं। जब भगवान शिव ने अन्धकासुर का उच्छेद करने के लिए इस हस्तमुद्रा में पृथ्वी पर एक चक्कर लगाया तभी से इसका प्रचलन हो गया।

---

१. कार्यौ चोर्ध्वौ चापि—ख० । २. चैव—ख० । ३. च कुस्य—ख० ४. सङ्क्रामे ख० । ५. पततश्च—ख० । ६. तन्मुख—ख० ।

यदि त्रिपताक मुद्रा वाले हाथ में तर्जनी अंगुली मध्यमा के पीछे फैलाकर रखी जाए (या झुकायी जाए) तो 'कर्तरीमुख' मुद्रा कहलाती है ।।३८।।

पथि[1] चरणरचनरञ्जनरङ्गणकरणान्यधोमुखेनैव ।
ऊर्ध्वमुखेन तु कुर्याद् दष्टं शृङ्गञ्च लेख्यञ्च ।। ३९ ।।

योजना—यदि कर्तरीमुख मुद्रावाला हाथ नीचे मुंहवाला रखते हुए रखा जाए तो उसके द्वारा मार्ग में पैर रखना, पैरों को अलंकृत या रंजित करना, रांगोली रचना करना (रंगण-रंगवल्ली का निर्माण अथवा बालकों का रेंगना) बतलाया जाता है । यदि ऊंचे मुंह वाला होकर यही हाथ रहे तो उससे दंशन, शृङ्ग बजाना तथा चित्र लेखन कर्म बतलाया जाता है ।।३९।।

पतनमरणव्यतिक्रमपरिवृत्तवितर्कितं तथा न्यस्तम् ।
भिन्नवलितेन कुर्यात् कर्तर्यास्याङ्गुलिमुखेन[2] ।। ४० ।।

और यदि इसी मुद्रा को नीचे की ओर झुकाया या रखा जाए तथा अंगुलियाँ भिन्न २ दिशाओं में घूमने लगे तथा मध्यमांगुलि पीछे की ओर झुकी रहे तो इसके द्वारा पतन, मरण, अपराध (व्यतिक्रम), पराङ्मुखी भवन, तर्क करना तथा धरोहर को रखना बतलाया जाता है ।। ४० ।।

संयुतकरणो[3] वा स्यादसंयुतो वा प्रयुज्यते तज्ज्ञैः ।
रुरु-चमरमहिषसुरगजवृषगोपुरशैलशिखरेषु ।। ४१ ।।

और यदि दो कर्तरीमुख हस्तों या एक कर्तरीमुख हस्त का प्रयोग किया जाए तो इनके द्वारा रूरूमृग, चमरी गाय, महिष, ऐरावत हाथी, वृषभ, गोपुर तथा शैलशिखर (जैसे पदार्थ) का भाव प्रदर्शित किया जाता है ।।४१।।

[1]अर्धचन्द्रः—

यस्याङ्गुल्यस्तु विनताः सहाङ्गुष्ठेन चापवत्[4] ।
सोऽर्धचन्द्र इति ख्यातः करः कर्मास्य वक्ष्यते ।। ४२ ।।

यदि अंगुलियों को अंगूठे सहित धनुष जैसी झुका कर फैला दी जाए

१. अर्धचन्द्र (उत्पत्ति कथा) नटराज शिव ने अलंकार धारण करने की इच्छा से अर्धचन्द्र को जब मस्तक पर धारण किया तो इसी धारण करने के समय से इस मुद्रा का उद्भव हुआ ।

१. पथिक—ख० । २. स्याङ्गुलीययुग्मेन—ख०, ग० ।
३. एष श्लोकः खपुस्तके नास्ति । ४. चापरम्—ग० ।

तो 'अर्धचन्द्र' मुद्रा कहलाती है। अब मैं इससे होने वाले कार्य बतलाता हूँ॥ ४२॥

एतेन बालतरवः शशिलेखा कम्बुकलशवलयानि।
निर्घाटनमायस्तं मध्यौपम्यञ्च पीनञ्च॥ ४३॥

योजना—इसके द्वारा छोटे वृक्ष, चन्द्रलेखा, शंख, कलश, कंकण (कटक), बाहर ढकेलना (निर्घाटन), परिश्रम (आयस्त), कृशता (जो कि कटिप्रदेश की तुलना में निर्देशित की जाती हो) तथा पीनता (मोटाई) बतलाए जाते हैं॥ ४३॥

रशनाजघनकटीनामाननतलपत्रकुण्डलादीनाम्।
कर्तव्यो नारीणामभिनययोगोऽर्धचन्द्रेण॥ ४४॥

इस अर्धचन्द्र हस्त के द्वारा स्त्रियों की करधनी (रशना), जंघा, कटि, चेहरा (आनन), तलपत्र (अलंकार विशेष जो कि कानों में धारण किया जाता है) तथा कुण्डल का अभिनय प्रस्तुत करना चाहिए॥ ४४॥

अराल[1]—

आद्या धनुर्नता कार्या कुञ्चितोऽङ्गुष्ठकस्तथा।
शेषा भिन्नोर्ध्ववलिता ह्यराले‍ऽङ्गुलयः करे॥ ४५॥

यदि तर्जनी अंगुली झुकी हुई, अंगूठा (उसे मिलाने को) सिकुड़ा हुआ तथा शेष उंगलियां उससे पृथक् तथा ऊपर की ओर खड़ी रखी जाए तो 'अराल' मुद्रा जानों॥ ४५॥

एतेन सत्वशौण्डीर्यवीर्यकान्तिधृतिदिव्यगाम्भीर्यम्।
आशीर्वादाश्च तथा भावा हितसंज्ञकाः कार्याः॥ ४६॥

योजना—इसके द्वारा सत्व, (स्थैर्य) गर्व, पराक्रम (वीर्य), शोभा (कान्ति) धृति, दिव्य-वस्तु, गाम्भीर्य, आशीर्वाद देना तथा इसी प्रकार के अन्य सुखप्रद भावों को बतलाया जाता है॥ ४६॥

---

१. अराल (उत्पत्ति कथा) अगस्त ऋषि ने समुद्रपान के समय इसी मुद्रा का प्रयोग किया था। तभी से इसका प्रचलन हुआ।

---

१ निघटनं—ग०। २. रसना—ग०। ३. धनुर्लता—ख०।
४. कुञ्चिता—ख०। ५. ह्यरालाङ्गुलयः स्मृताः—ग०।
६. भावाभिनयसंज्ञकाः कार्याः—ग०।

एतेन पुनः स्त्रीणां केशानां सङ्ग्रहस्तथोत्कर्षः[1] ।
सर्वाङ्गिकं तथैव च[2] निर्वर्णनमात्मनः कार्यम् ॥ ४७ ॥

कौतुकविवाहयोगः[3] प्रदक्षिणेनैव सम्प्रयोगश्च[4] ।
अङ्गुल्यग्रस्वस्तिकयोगात्परिमण्डलेनैव ॥ ४८ ॥

प्रादक्षिण्यं परिमण्डलश्च कुर्यान्महाजनश्चैव ।
यच्च[5] महीतलनिहितं द्रव्यं तच्चाभिनेयं स्यात् ॥ ४९ ॥

तथा स्त्रियों का केश सम्मार्जन और उनका फैलाना (उत्कर्षः विकीर्ण-तापादनम् अभि० भा०) तथा अपने सम्पूर्ण शरीर को ध्यान पूर्वक देखना दो अराल हस्तों के अंगुलियों के अग्रभागों के स्पर्श द्वारा बतलाया जाए । इसी में एक थोल घुमाव देने पर विवाह के पूर्व होने वाले भंवरों का विधान (कौतुक-विवाह योग) तथा दोनों वर वधू के हाथों का मिलाप बतलाया जाता है और इसी हस्त के द्वारा प्रदक्षिणा, गोल वस्तु (परिमण्डल), जन कोलाहल तथा पृथ्वी में स्थित वस्तु (या पृथ्वी पर सजाई गई वस्तुएं) भी बतलाई जाती है ॥ ४७-४९ ॥

आह्वानञ्च निवारणनिर्माणे[6] चाप्यनेकवचः ।
स्वेदस्य चापनयने गन्धाघ्राणे शुभैः शुभे चैव[7] ॥ ५० ॥

तथा किसी व्यक्ति को बुलाना, रोकना, उदय होना, अनेक बातें बतलाना, (कहना) पसीने का पोंछना मीठी सुगन्ध लेना तथा शुभावह कार्य भी इसी मुद्रा के द्वारा बतलाए जाते हैं ॥ ५० ॥

त्रिपताकहस्तजानि तु पूर्वं यान्यभिहितानि कर्माणि ।
तानि त्वरालयोगात्[8] स्त्रीभिः सम्यक् प्रयोज्यानि ॥ ५१ ॥

त्रिपताक मुद्रा द्वारा (जिन कार्यों का पहिले प्रदर्शन बतलाया गया वे सभी कार्य स्त्रियों के द्वारा अराल मुद्रा से भी प्रदर्शित किये जा सकते हैं ॥ ५१ ॥

१. सङ्ग्रहोत्कर्षौ—ग० । २. निर्वहण—ग० । ३. योगं—ख० ।
४. प्रदक्षिणे नैव सम्प्रयोगश्च—ख०, ग० । ५. यत्र—क० ।
६. आवाहने निवापे निन्दाद्याक्षेपवचने च-ख०; आवाहननिर्वाहणनिर्माणे—क०, ख० । ७. शुभा चैव हि—ग० ।
८. स्वरानुयोगात्—ख० ।

शुकतुण्ड[1]—

अरालस्य यदा वक्रानामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् ।
शुकतुण्डस्तु स करः कर्म चास्य निबोधत ॥ ५२ ॥

यदि अरालमुद्रायुक्त हाथ में अनामिका अंगुली को टेढ़ा कर (झुका) लिया जाए तो 'शुकतुण्ड' मुद्रा बन जाती है ॥ ५२ ॥

एतेन त्वभिनेयं नाहं न त्वं न कृत्यमिति चार्थे ।
आवाहने विसर्गे धिगिति च वचने सावज्ञम् ॥ ५३ ॥

योजना—इसके द्वारा 'मैं इसे नहीं···तुम इसे नहीं तथा यह किये जाने योग्य नहीं' इन अर्थों को और, आवाहन, विदाई (विसर्ग) तथा अवज्ञापूर्वक धिक्कारना (आदि अर्थ) बतलाए जाते हैं ॥ ५३ ॥

मुष्टि[2]—

अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य तलमध्येऽग्रसंस्थिताः[1] ।
तासामुपरि चाङ्गुष्ठः स मुष्टिरिति संज्ञितः ॥ ५४ ॥

यदि सारी अंगुलिय ।हथेली में बाँध दी जाएँ और अंगूठे को ऊपर रख ले तो 'मुष्टि' मुद्रा कहलाती है ॥ ५४ ॥

एष प्रहारे व्यायामे निर्गमे पीडने[2] तथा ।
संवाहनेऽसियष्टीनां दण्डकुन्तग्रहे[3] तथा ॥ ५५ ॥

योजना—इसके द्वारा प्रहार, व्यायाम, निर्गम, पीड़न (किसी पशु के थन से दूध निकालने), मिट्टी तथा डण्डे और भाले को ग्रहण करने (आदि) का अभिनय किया आता है ।

---

१. शुकतुण्ड (उत्पत्ति कथा) इस मुद्रा की प्रसू गौरी हैं। शंकर के साथ प्रणय-कलह के समय इसी हस्त का उनके द्वारा उपयोग किया गया था। तभी से इसका प्रचलन हो गया।

२. मुष्टि (उत्पत्ति कथा) मधुराक्षस के वध के समय भगवान विष्णु ने इसी मुद्रा का प्रयोग किया था। तभी से इसका प्रचलन हो गया।

---

१. तलमाध्यग्रसंस्थिताः—ख० । २. हस्तपीडने—ख० ग० ।
३. कुन्तदण्ड—ग० ।

४ ना० शा० द्वि०

शिखर[1]—

अस्यैव च यदा मुष्टेरूर्ध्वोऽङ्गुष्ठः प्रयुज्यते ।
हस्तः स शिखरो नाम तदा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ॥ ५६ ॥

यदि मुष्टि हस्त में अंगूठे को ऊपर सीधा उठा लिया जाए तो 'शिखर' मुद्रा कहलाती है ॥ ५६ ॥

रश्मिकुशाङ्कुशधनुषां तोमरशक्तिप्रमोक्षणे[1] चैव ।
अधरोष्ठपादरञ्जनमलकस्योत्क्षेपणे[2] चैव ॥ ५७ ॥

योजना—(धनुष की) डोरी, दर्भ, अंकुश, धनुष इत्यादि धारण करने, शक्ति और तोमर अस्त्र को छोड़ने, ओष्ठ (अधरोष्ठ) तथा पैरों को रंगने तथा बालों को झाड़ने (या कंघा करने) का इस मुद्रा द्वारा अर्थ सूचित होता है ॥ ५७ ॥

कपित्थ[2]—

अस्यैव शिखराख्यस्य ह्यङ्गुष्ठकनिपीडिता[3] ।
यदा[4] प्रदेशिनी वक्रा स कपित्थस्तदा स्मृतः ॥ ५८ ॥

यदि शिखर हस्त में तर्जनी अंगुली को झुका कर अंगूठे पर दबा कर रख दी (मिला दी) जाए तो 'कपित्थ' मुद्रा कहलाती है ॥ ५८ ॥

असिचापचक्रतोमरकुन्तगदाशक्तिवज्रबाणानि ।
शस्त्राण्यभिनेयानि तु कार्यं पथ्यञ्च सत्यञ्च ॥ ५९ ॥

योजना—तलवार, धनुष, चक्र, तोमर, कुन्त (भाला), गदा, शक्ति, वज्र तथा बाण को छोड़ने और सत्य तथा हितकर (पथ्य) कार्य करने का अर्थ इस मुद्रा के द्वारा सूचित होता है ॥ ५९ ॥

---

१. शिखर (उत्पत्ति कथा) चन्द्रशेखर शिव द्वारा सुमेरुपर्वत को समुद्रमन्थन के लिए उखाड़ने में इसी हस्त का उपयोग किया था तभी से इसका प्रचलन हो गया ।

२. कपित्थ (उत्पत्ति कथा) समुद्रमन्थन के अवसर पर विष्णु के द्वारा मन्दारवृक्ष को खींचकर निकालने में इसी हस्त का उपयोग किया गया था । तभी से इसका प्रचलन हुआ ।

---

१. प्रमोक्षणञ्चैव—ख० ग० ।

२. अलक्तकोत्पीडने चैव—क० । ३. मुखेऽङ्गुष्ठनिपीडिता—ख० ।

४. प्रदेशिनी च वक्रा स्यादिति हस्तः कपित्थकः—क० ।

कटकामुखः[1]—

उत्क्षिप्तवक्रा तु यदानामिका सकनीयसी।
अस्यैव तु कपित्थस्य तदासौ क (ख) टकामुखः ॥ ६० ॥

यदि कपित्थ हस्त मुद्रा में अनामिका तथा कनिष्ठिका अंगुलियों को (ऊपर) उठाकर मोड़ा जाए तो 'कटकामुख' मुद्रा कहलाती है ॥ ६० ॥

होत्रं हव्यं छत्रं प्रग्रहपरिकर्षणं[1] व्यजनकञ्च।
आदर्शधारणं खण्डनं तथा पेषणञ्चैव ॥ ६१ ॥
आयतदण्डग्रहणं मुक्ताप्रालम्बसङ्ग्रहश्चैव।
स्रग्दाम[2]पुष्पमालावस्त्रान्तालम्बनश्चैव ॥ ६२ ॥
मन्थान[3]शराकर्षणपुष्पावचय[4]प्रतोदकार्याणि।
अङ्कुश-रज्ज्वाकर्षण-स्त्रीदर्शनमेव कार्यञ्च ॥ ६३ ॥

योजना—होत्र (होम) हुतद्रव्य, छत्र, रास का खींचना (प्रग्रह-परिकर्षण), पंखा, दर्पण धारण, तोडना (पंखों का), पीसना, लम्बे दण्ड-काष्ठ का ग्रहण, मौक्तिक माला का (मुक्ताप्रालम्ब) सम्हालना, पुष्पमाला (तथा अन्य मालाओं) का धारण, वस्त्र का कोना थाम लेना (खींचना-वस्त्रान्तालम्बनम्), मथनी एवं बाण खींचना, पुष्प तोड़ना, चाबुक लगाना, अंकुश लगाना, रस्सी खींचना तथा स्त्री-चेष्टाओं का दर्शन इस मुद्रा के द्वारा सूचित किया जाता है ॥ ६१-६३ ॥

[2]सूचीमुखः—

कटकाख्ये[5] यदा हस्ते तर्जनी सम्प्रसारिता।
हस्तस्सूचीमुखो नाम तदा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ॥ ६४ ॥

---

१. कटका मुख (उत्पत्तिकथा) गुह (कार्तिकेय) ने भगवान शिव से शस्त्र विद्या ग्रहण करने के अवसर पर इसी हस्त का प्रयोग किया था। तभी से इसका प्रचलन हो गया।

२. सूचीमुखः (उत्पत्तिकथा) ब्रह्मा ने 'एकोऽहं' को समझाने के लिए इसी हस्त का प्रयोग किया था। तभी से इसका प्रचलन हुआ।

---

१. प्रग्रहपरिकर्षणञ्च व्यञ्जनकम्—ख०।
२. स्रग्दामधारणं खलु वस्त्रा—ख०।
३. मन्थनशरावकर्षण—क, ग।
४. पुष्पापचय—क०।
५. खटका—क० ख०।

यदि कटकामुख-मुद्रावाले हाथ की तर्जनी अंगुली फैला दी जाए तो 'सूचीमुख' मुद्रा कहलाती है ॥ ६४ ॥

अस्यां विविधान् योगान् वक्ष्यामि समासतः प्रदेशिन्याः ।
ऊर्ध्व-नत-लोल-कम्पित-विजृम्भितोद्वाहित-चलायाः ॥६५॥

अब मैं संक्षेप से प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली के ऊर्ध्व, नत, लोल (एक ओर झुकने), कम्पित (हिलने), विजृम्भित (सिकुड़कर फैलने); ऊपर तथा नीचे उठने (उद्वाहित) तथा ऊपर की ओर घूमने (चलने) की दशा के भेद से इस मुद्रा में होने वाले कार्य बतलाता हूँ ॥ ६५ ॥

चक्रं तडित्पताकामञ्जर्यः कर्णचूलिकाश्चैव ।
कुटिलगतयश्च सर्वे निर्देश्यास्साधुवादाश्च ॥ ६६ ॥
बालोरगपल्लवधूपदीपवल्ली-लताशिखण्डाश्च ।
परिपतनवक्रमण्डलमभिनेयान्यूर्ध्वलोलितया ॥ ६७ ॥

इस मुद्रा में यदि तर्जनी को ऊपर की ओर उठाकर घुमाया जाये तो इससे चक्र, बिजली, पताका, पुष्पमंजरी, कर्णपूर (कर्णचूलिका) सभी प्रकार की तिरछी रेखाएं (कुटिलगति), साधुवाद की ध्वनियां, बाल सर्प, लतांकुर, पल्लव, धूप, दीप, वल्ली, लता, शिखण्ड (छोटे बालकों के मस्तक पर रखे जाने वाले काकपक्ष); अधः पतन, तिरछा तथा गोल मण्डल बतलाया जाता है ॥ ६६, ६७ ॥

भूयश्चोर्ध्वविरचिता तारा घोणैकदण्डयष्टिषु च ।
विनता च तथा कार्या दंष्ट्रिषु च तथास्ययोगेन ॥ ६८ ॥
पुनरपि मण्डलगतया सर्वग्रहणं तथैव लोकस्य ।
प्रणतोन्नते च कार्ये ह्वाघे दीर्घे च दिवसे च ॥ ६९ ॥
वदनाभ्याशे कुञ्चितविजृम्भिता वाक्यरूपणे कार्या ।
श्रवणाभ्याशे वक्रा विजृम्भणे वाक्यरूपणावसरे ॥ ७० ॥

यदि (इसी मुद्रा में) तर्जनी को ऊपर की ओर उठाया जाए तो इससे तारे, नासिका, एक की संख्या, दण्ड देना (तर्जन) तथा लकड़ी (धारण) का अर्थ सूचित होता है, (यदि) इसी अंगुली को झुकाया जाए

१. अस्य विविधान् प्रयोगान्—क० । २. भिनेयं चोद्ध्वंलोलितया—ग० ।
३. मण्डलगतयः—ख । ४. श्रवणाभ्यासे—ख०, ग० ।
५. वाक्यरूपणे च मुखे—ख०, ग० ।

तो इससे डाढ़वाले प्राणीजन का, यदि इसी अंगुली को गोल घुमाया जाए तो उससे (किसी व्यक्ति द्वारा) सभी वस्तु का ग्रहण करना, यदि झुका कर फिर इसी अंगुली को ऊपर उठाली जाए तो इससे दीर्घअभ्यास तथा दिवस का तथा यदि यही मुंह के समीप ले जाकर मोड़ी तथा ऊपर नीचे लेजाई जाए तो उससे वाक्यों का अर्थ बोध प्रदर्शित किया जाता है ॥ ६८-७० ॥

मेति[1] वदेति च योज्या प्रसारितोत्कम्पितोत्ताना ।
कार्या प्रकम्पिता रोषदर्शने स्वेद[2]रूपणे चैव ॥ ७१ ॥

इसी प्रकार यदि निषेध एवं सम्भाषण का अर्थ प्रदर्शित करना होतो इस मुद्रा में तर्जनी उंगली को फैलाकर हिलाते हुए ऊपर की ओर उठा लेना चाहिए ॥ ७१ ॥

कुन्तल[3]ककुण्डलाङ्गदगण्डाश्रये[4]संश्रयेऽभिनये ।
गर्वेऽहमिति ललाटे रिपुनिर्देशे तथैव च क्रोधे ॥ ७२ ॥

इसी मुद्रा को यदि कम्पित रखा जाए तो उससे क्रोध, स्वेद, केश (कुन्तल), कुण्डल, अङ्गद तथा गण्डस्थल का सजाना बतलाया जाता है तथा ललाट पर रखने से गर्व क्रोध तथा शत्रु का निर्देश सूचित होता है ॥ ७२ ॥

कोऽसाविति निर्देशे[5] च कर्णकण्डूयने चैव ।
संयुक्ता संयोगे कार्या विश्लेषिता वियोगे च ॥ ७३ ॥
कलहे स्वस्तिकयुक्ता परस्परोत्पीडिता बन्धे ।
द्वाभ्यान्तु वाम[6]पार्श्वे दक्षिणतो दिननिशावसानानि ॥ ७४ ॥
अभिमुखपराङ्मुखीभ्यां विश्लिष्टाभ्यां प्रयुञ्जीत ।

इसी मुद्रा से कौन हैं ? इस प्रश्न को करने तथा कानों के खुजलाने का अर्थ सूचित करना हो तो ललाट प्रदेश के समीप तर्जनी को रखना चाहिए। दोनों हाथों को सूचीमुख मुद्रा में मिलाने से संयोग तथा हटा लेने पर वियोग सूचित होता है। यदि दोनों हाथों को 'स्वस्तिक' कर ले तो उससे पारस्परिक कलह तथा दोनों सूचीमुख हाथ एक दूसरे के सम्मुख रखकर फिर बायीं ओर (अलग) ले जाए तो उससे रात्रि की समाप्ति (शयन से उठना) सूचित होती है ॥ ७३-७४ ॥

---

१. सेति वादति—ख० ग० । २. स्वेदमार्जने—ख० ।
३. कुन्तलकुण्डल—ग० । ४. गण्डाश्रयमण्डनाभिनये—ग० ।
५. निर्देशेऽथ—ख० ग० । ६. वामगमनं—ग० ।

द्वाभ्यां प्रदर्शये[1]न्नित्यं सम्पूर्णं चन्द्रमण्डलम् ।
श्लिष्टा ललाटे शक्रस्य कार्या ह्युत्तानसंश्रया ॥ ७५ ॥

यदि दो सूचीमुख हस्त हो तो उससे सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल का तथा यदि ललाट के समीप खडी स्थित हो तो उससे इन्द्र का उत्कर्ष बतलाया जाता है ॥ ७५ ॥

पुनरपि च भ्रमिताग्रा रूपशिलावर्तयन्त्रशैलेषु ।
परिवेषणे तथैव हि कार्या चाधो[2]मुखी नित्यम् ॥ ७६ ॥

यदि सूचीमुख हस्त को गोल घुमाव दे दिया जाए तो इससे स्वरूप, शिला, भँवर (आवर्त्त), यन्त्र तथा शैल (शिखर) बतलाए जाते हैं, यदि इसी मुद्रा में हाथों को नीचे मुँह किये रखा जाए तो उससे भोजन परोसना प्रदर्शित होता है ॥ ७७ ॥

श्लिष्टा ललाटपट्टेष्वधोमुखी शम्भु[3]रूपणे कार्या ।
शक्रस्या[4]प्युत्ताना तज्ज्ञैस्तिर्यक्स्थिता कार्या ॥ ७७ ॥

यदि ललाट के पास नीचा मुँह रखते हुए इसी मुद्रावाले हाथ को रखा जाए तो उससे 'शिव' का (त्रिनेत्र-) स्वरूप तथा यदि ऊपर की ओर मुँह रखकर तिरछा कर लिया जाए तो 'इन्द्र' का (सहस्र नेत्रोंवाला) स्वरूप प्रदर्शित हो जाता है ॥ ७७ ॥

[1]पद्मकोषः—

यस्याङ्गुल्यस्तु विरलाः सहाङ्गुष्ठेन कुञ्चिताः ।
ऊर्ध्वा ह्यसङ्गताग्राश्च स भवेत् पद्मकोषकः ॥ ७८ ॥

यदि अंगूठे सहित सभी उंगलियां ऊपर की ओर मुँह वाली अलग-अलग तथा सिकुड़ी हुई रखी जाए तो 'पद्मकोष' हस्त हो जाता है ॥७८॥

बिल्वकपित्थफलानां ग्रहणं कुचदर्शनञ्च नारीणाम् ।
ग्रहणे ह्यामिषलाभे भवन्ति ताः कुञ्चिताग्रास्तु ॥७९॥
[बहुजातिबीजपूरकमामिषखण्डञ्च निर्देश्यम् ।]

---

१. पद्मकोषः (उत्पत्ति कथा) भगवान विष्णु[1]ने सुदर्शन चक्र की प्राप्ति के लिए भगवान शिव की स्तुति तथा पद्म पुष्पों के अर्पण हेतु इसी हस्त का उपयोग किया । तभी से इसका प्रचलन हुआ ।

---

१. द्वाभ्यां सन्दर्शये—ख० ग० । २. चाधोमुखी नित्या—ख० ग० ।
३. शम्भुरूपेण—ग० । ४. शक्रस्याम्युत्थानात्—ख० ग० ।

योजना—इसके द्वारा बिल्व तथा कैथा (कपित्थ) फल तथा स्त्रियों के उरोजों का अर्थ सूचित होता है। यदि इन अंगुलियों के अग्रभाग सिकुड़े हुए रखे जाए तो (इससे) (किसी वस्तु के) ग्रहण तथा मांस की प्राप्ति तथा अनेकविध फल, (बिल्व तथा कपित्थ के अतिरिक्त) बीजपूर (बिजौरा) तथा मांसखण्ड की सूचना दी जाती है ॥ ७९ ॥

देवार्चनबलिहरणे समुद्[1]गके साग्रपिण्डदाने च ।
कार्यः पुष्पप्रकरश्च पद्मकोशेन हस्तेन ॥ ८० ॥

इस पद्मकोश मुद्रा के द्वारा देवार्चन, बलिप्रदान, डलिया (समुद्गक), प्रथम पिण्ड प्रदान तथा पुष्पों का विकीर्ण करना प्रदर्शित किया जाता है ॥ ८० ॥

मणिबं[2]धनविश्लिष्टप्रविरलचलिताङ्गुलिकराभ्याम् ।
कार्यौ[3] विवर्त्तिताभ्यां विकसितकमलोत्पलाभिनयः ॥८१॥

यदि पद्मकोष मुद्रावाले दोनों हाथों को कलाई से मिलाते हुए पीछे की ओर ले जाए तथा अंगुलियों को हिलती हुई रखे तो उससे विकसितकमल तथा कुमुदिनी का अर्थ प्रदर्शित होता है ॥ ८१ ॥

[1]*सर्पशीर्ष*—

अङ्गुल्यस्संह[4]तास्सर्वाः सहाङ्गुष्ठेन यस्य तु ।
तथा निम्नतलश्चैव स तु सर्पशि[5]राः करः ॥ ८२ ॥

यदि सभी अंगुलियां अंगूठे सहित एक दूसरे से मिली हुई हों और हथेली झुकी (या गहरी) रखी जाए तो (सर्प के फन के समान हो जाने के कारण) सर्पशीर्ष हस्त बन जाता है ॥ ८२ ॥

एष सलिलप्रदाने भुजगगतौ तोयसेचने चैव ।
आस्फोटने च योज्यः करिकुम्भास्फालनाद्येषु ॥ ८३ ॥

योजना—पितरों को जलांजलि देने, सर्पगति, जल सिंचन, मल्लयुद्ध

---

१. सर्पशीर्ष (उत्पत्तिकथा) भगवान विष्णु ने वामन अवतार में बलि को बन्धन तथा देवगण की रक्षार्थ वचन देते हुए उन कार्यों का इसी हस्त द्वारा संकेत किया था। तभी से इस मुद्रा का प्रचलन हुआ।

---

१. सङ्गूहे चात्र—ग० ।
२. मणिबन्धनश्लिष्टाभ्याम विरलचलिताङ्गुलीयुतकराभ्याम्—ख० ग० ।
३. कार्योपवर्तिताभ्यां—ख-ग० । ४. सहिताः—ग० ।
५. सर्वशिराः—ख० ग० ।

में जंघा तथा भुजाओं के ठोकने और हाथी के कुम्भस्थल को थपथपाने का इस मुद्रा से प्रदर्शन किया जाता है ॥ ८३ ॥

[1]मृगशीर्ष—

अधोमुखीनां सर्वासामङ्गुलीनां समागमः ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकावूर्ध्वौ स भवेन्मृगशीर्षकः ॥ ८४ ॥

यदि कनिष्ठिका अंगुली तथा अंगूठे को सीधा और शेष अंगुलियाँ झुके हुए मुंह वाली रखी जाएँ तो 'मृगशीर्ष' हस्त होता है ॥ ८४ ॥

इह साम्प्रतमस्त्यद्य च शक्त्[1]योल्लासनेऽक्षपाते च ।
स्वेदापमार्जनेषु च कुट्टमिते प्रचलित[2]स्तु भवेत् ॥८५॥

योजना—इसके द्वारा यहां, अभी, यह है, आज जैसे अर्थ का सूचन, शक्ति के उठाने तथा पासों के फेंकने को प्रदर्शित करते हैं । यदि इसी मुद्रा में हाथ धूजता हुए रखा जाए तो उससे पसीने का पोंछना तथा स्त्रियों की कुट्टमित चेष्टा को बतलाया जाता है ॥ ८५ ॥

[2]कंगुल—

त्रेताग्निसंस्थिता मध्यातर्जन्यङ्गुष्ठका यदा ।
कां[3]ङ्गुलेऽनामिका वक्रा तथा चोर्ध्वा कनीयसी ॥ ८६ ॥

यदि मध्या, तर्जनी तथा अंगूठे पृथक्-पृथक् रहें, अनामिका उंगली टेढ़ी तथा कनिष्ठिका खड़ी रहे तो 'कंगुल' हस्त मुद्रा होती है ॥ ८६ ॥

एतेन तरुणफलरूपणानि नानाविधानि च लघू[4]नि ।
कार्याणि रोषजा[5]नि स्त्रीवचनान्यङ्गुलिक्षेपैः ॥८७॥

---

१. मृगशीर्ष (उत्पत्तिकथा) भगवान शिव की प्राप्ति के लिए पार्वती ने तपस्या करते हुए अपने ललाट पर तीन चन्दन-रेखाओं का त्रिपुण्ड्र इसी हस्त द्वारा धारण किया । तभी से इसका प्रचलन हुआ ।

२. कंगुल (उत्पत्तिकथा) भगवान शिव ने क्षीरसागरमन्थन के अवसर पर उसमें से निकले हुए कालकूट विष की गुटिका बनाकर पीने के लिए इसी हस्त का उपयोग किया था । तभी से इसका प्रचलन हुआ ।

---

१. शक्यश्चेल्लालने—ख० ग० । २. प्रचलिते तु—ख० ग० ।
३. अङ्गुले—ख० ग० । ४. लघूनि कार्याणि—ग० ।
५. रोषजातिस्त्री—ग० ।

योजना—इसके द्वारा अनेकविध छोटे-छोटे (सुपारी, वेर इत्यादि) फलों तथा स्त्रियों के रोषपूर्णवचनों को अंगुली के आक्षेप (घुमाने) के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है ॥ ८७ ॥

[मरकतवैडूर्यादेः[1] प्रदर्शनं सुमनसाञ्च कर्तव्यम् ।
ग्राह्यं विडालपदमिति तज्ज्ञैरेवं प्रयोगेषु ॥]

(प्रक्षिप्त—मरकत वैडूर्य आदि मणि, पुष्पों का ग्रहण तथा बिल्ली का बैठने आदि का स्थान भी इसी के द्वारा प्रदर्शित किया जाए ।)

[1]अलपल्लव (अलपद्मक)

आवर्तिताः[2] करतले यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
पार्श्वागत-विकीर्णाश्च स भवेदलपल्लवः[3] ॥ ८८ ॥

यदि सारी अंगुलियां हथेली में गोल आकार में सिकुड़ी हुई तथा बिखरी हुई रखी जाए तो 'अलपल्लव' मुद्रा कहलाती है ॥ ८८ ॥

प्रतिषेधकृते योज्यः कस्य त्वं नास्ति शून्यवचनेषु ।
पुनरात्मोपन्यासः स्त्रीणामेतेन कर्त्तव्यः ॥८९॥

योजना—इसके द्वारा प्रतिषेध, 'तुम कौन हो' जैसे प्रश्नवाक्य, नहीं हैं, शून्यवचन (मिथ्याधिक्षेप-जैसे मूर्ख, इत्यादिवचन) तथा स्त्रियों के अहम् का आपादन (स्थापना) या विस्मय का प्रदर्शन किया जाए ॥ ८९ ॥

[2]चतुर—

तिस्रः प्रसारिता यत्र तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
तासां मध्ये[4] स्थितोऽङ्गुष्ठः स करश्चतुरः स्मृतः ॥ ९० ॥

जिसमें तीनों उंगुलियों को सामने फैलाकर तथा कनिष्ठिका को सीधा

---

१. अलपल्लव (उत्पत्तिकथा) भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा माखन-चोरी करते समय इसी हस्त का उपयोग करने पर इसका प्रचलन हो गया ।

२. चतुर (उत्पत्तिकथा) काश्यप ऋषि ने इस हस्त का उपयोग अमृत लाने के लिए जाने वाले गरुड़ को मार्ग-दर्शन करने के अवसर पर किया था । तभी से इसका प्रचलन हुआ ।

---

१. मरकतवैडूर्यादीनां निदर्शनं कार्यम्—ख० ग० ।
२. आवर्तिन्यः—ख० ग० । ३. दलपद्मकः—ग० ।
४. मध्यस्तथाङ्गुष्ठः—ग० ।

उठाया जाय और उनके मूल में अंगूठे को रखे तो 'चतुर' हस्त हो जाता है ॥ ९० ॥

नयविनयनियमसुनिपुणबालातुरसत्त्वकैतवार्थेषु[1] ।
वाक्ये युक्ते पथ्ये सत्ये प्रशमे[2] च विनियोज्यः ॥९१॥

योजनाः—नीति, विनय, नियम-चातुर्य (सुनिपुण), बाला (कन्या), रोगी, बल (सत्त्व) कैतवयुक्त प्रयोजन या बात एवं पथ्यवचन, सत्य तथा प्रशम का अर्थ इस हस्तमुद्रा के द्वारा बतलाया जाता है ॥ ९१ ॥

एकेन द्वाभ्यां वा किञ्चिन्मण्डलकृतेन हस्तेन[3] ।
विवृत[4]विचारितचरितं वितर्कितं[5] लज्जितञ्चैव ॥९२॥

एक या दो 'चतुर' मुद्रा वाले हस्तों के थोड़े घुमाव द्वारा—प्रकट करना (विवृत), विचारकरना, आचरणकरना (चलना-हिलना) आशंका करना तथा लज्जाकरना बतलाया जाता है ।

नयनौपम्यं पद्मदलरूपणं हरिणकर्ण[6]निर्देशः ।
संयुत[7]करणेनैव तु चतुरेणैतानि कुर्वीत ॥ ९३ ॥

दो संयुक्त चतुर-हस्तों द्वारा कमल दलों की नयनों से उपमा देना तथा हरिणों के कानों को बतलाया जाता है ॥ ९३ ॥

लीलां-रती[8] रुचिश्च स्मृतिबुद्धिविभावनाः क्षमा पुष्टिम् ।
संज्ञामात्रां[9] प्रणयं विचारणं सङ्गतं शौचम् ॥९४॥
चातुर्यं माधुर्यं दाक्षिण्यं मार्दवं सुखं शीलम् ।
प्रश्नं[10] वार्तायुक्ति वेषं मृदुशाद्वलं[11] स्तोकम् ॥ ९६ ॥
विभवाविभवौ सुरतं गुणागुणौ यौवनं गृहं[12] दारान् ।
नानावर्णांश्च तथा चतुरेणैवं प्रयुञ्जीत ॥ ९७ ॥

इसके अतिरिक्त चतुर-हस्त के द्वारा क्रीडा (लीला), अनुराग

१. नयननिपुणसमसुनिपुणवालातुरशठ्यकैतवार्थेषु—ग० ।
२. प्रथमे—ख० ।
३. हस्तदण्डेन—ग० ।
४. विवृतविचारितरचितं ख, विधृतविचरितचरितं—ग० ।
५. विवर्जितं—ग० ।
६. कर्णनिर्देशम्—ख० ।
७. संयुक्तकरेणैव च—ख० ग० ।
८. लीलां रतिं—ख० ग० ।
९. संज्ञामाशां—ख० ग० ।
१०. प्रशमं वार्तायुक्ति—ग० ।
११. शाड्वलं—ख० ग० ।
१२. गृहान् दारान्—ग० ।

(रति), प्रभा (रुचि), स्मृति, बुद्धि, तर्क (ऊहापोहात्मक-कार्य-निभावन) क्षमा, पुष्टि, संकेत (संज्ञामात्र), प्रणय, विचार, मिलन, पवित्रता, चातुर्य, माधुर्य, दाक्षिण्य, मार्दव, सुख, चरित्र (शील), प्रश्न, वार्ता (कथा या अर्थशास्त्र), युक्ति, वेशस्थान या वेशरचना, कोमलघास, अल्पपरिमाण, समृद्धिशालिता तथा समृद्धिहीनता, सुरतकर्म, गुण तथा अवगुण, यौवन, गृह पत्नी तथा अनेकविध रंगों को भी बतलाया जाता है ॥ ९४-९७ ॥

सितमूर्ध्वेन तु कुर्याद्रक्तं पीतञ्च मण्डलकृतेन[1] ।
परिमृदितेन तु नीलं वर्णांश्चतुरेण हस्तेन ॥ ९८ ॥

इस चतुरहस्त द्वारा रंगों को बतलाने में—ऊपर की ओर हाथ को उठाकर श्वेत वर्ण, गोल घुमाव द्वारा रक्त और पीत वर्ण तथा एक हाथ से दूसरे हाथ को दबाकर (परिमृदित) नीलवर्ण बतलाया जाए ॥ ९८ ॥

भ्रमरः[1]—

मध्यमाङ्गुष्ठसन्दष्टो वक्रा[2] चैव प्रदेशिनी ।
ऊर्ध्वमन्ये प्रकीर्णे च द्व्यङ्गुल्यौ[3] भ्रमरे करे ॥ ९९ ॥

यदि मध्यमा उंगली और अंगूठे को एक दूसरे से मिलाकर उंगली को टेढ़ी कर ले तथा शेष दो उंगलियां ऊपर की ओर फैला दी जाएँ तो 'भ्रमर' हस्त कहलाता है ॥ ९९ ॥

पद्मोत्पलकुमुदानामन्येषाञ्चैव दीर्घवृन्तानाम् ।
पुष्पाणां ग्रहणविधिः कर्त्तव्यः कर्णपूरश्च ॥१००॥

योजना—इसके द्वारा कमल, कुमुदिनी तथा अन्य लम्बे डण्ठल या टहनी वाले पुष्पों का चयन और कर्णकुण्डल को बतलाया जाता है ॥१००॥

विच्युतश्च[4] सशब्दश्च कार्यो निर्भर्त्सनादिषु ।
बलालापे च शीघ्रे च ताले विश्वासने तथा ॥ १०१ ॥

इस हस्त-मुद्रा वाले हाथ को कुछ शब्द करते हुए नीचे झुकाया जाए तो डांटना (निर्भर्त्सन) बलशीलता का गर्व (बलालाप) बतलाना, शीघ्रता, ताल देना तथा विश्वास करने का अर्थ प्रकट होता है ॥ १०१ ॥

---

१. भ्रमरः (उत्पत्तिकथा) देवों की माता अदिति के कर्णकुण्डल बनाने के लिए काश्यपऋषि ने इस मुद्रा का प्रयोग किया था । तभी से इसका प्रचलन हुआ ।

---

१. मण्डलकरेण—ग० । २. वक्रे—ग० ।
३. द्वाङ्गुलौ—ग० । ४. विद्युतश्च सहजश्च—ग० ।

[1]हंसास्य—

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठास्त्रेताग्निस्था निरन्तराः ।
भवेयुर्हंसवक्त्रस्य शेषे द्वे सम्प्रसारिते ॥ १०२ ॥

यदि तर्जनी तथा मध्यमा उंगली अंगूठे के अग्रभाग पर हो तथा अन्य (दो) उंगलियाँ फैली हुई रहें तो 'हंसास्य' हस्त होता है ॥ १०२ ॥

श्लक्ष्णाल्पशिथिललाघवनिस्सारार्थे मृदुत्वयोगे च ।
कार्योऽभिनयविशेषः किञ्चित् प्रस्पन्दिताग्रेण[1] ॥१०३॥

योजना—इस (मुद्रा-युक्त) हस्त के अग्रभाग को कुछ घुजाते हुए रखने पर इसके द्वारा स्निग्ध, अल्प, शिथिल, लाघव, निस्सारवस्तु (या निष्क्रमण) तथा मृदुत्व का अर्थ प्रकट होता है ॥ १०३ ॥

[2]हंसपक्ष—

समाः प्रसारितास्तिस्रस्तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
अङ्गुष्ठः कुञ्चितश्चैव हंसपक्ष इति स्मृतः ॥ १०४ ॥

यदि तीन उंगलिया फैली हुई (तथा) कनीयसी उंगली सीधी तथा ऊपर उठी हुई और अंगूठा सिकुड़ा हुआ हो तो 'हंसपक्ष' हस्त हो जाता है ॥ १०४ ॥

एषं[2] च सलिलनिवापे दातव्ये गण्डसंश्रये[3] चैव ।
कार्यः प्रतिग्रहाचमनभोजनार्थेषु[4] विप्राणाम् ॥ १०५ ॥
आलिङ्गने महास्तम्भदर्शने[5] रोमहर्षणे चैव ।
स्पर्शेऽनुलेपनार्थे योज्यः संवाहने चैव ॥ १०६ ॥
पुनरेष च नारीणां स्तनान्तरस्थेन विभ्रमविशेषाः ।
कार्या यथारसं[6] स्युर्दुःखे हनुधारणे चैव ॥ १०७ ॥

---

१. हंसास्य (उत्पत्तिकथा) दक्षिणमूर्ति शिव ने ऋषिगण को तत्त्वविद्या को उपदेश करने के अवसर पर न्यग्रोधवृक्ष के नीचे बैठते हुए इसी हस्त का उपयोग किया । तभी से इस मुद्रा का प्रचलन हुआ ।

२. हंसपक्षः (उत्पत्तिकथा) ताण्डवनृत्य के प्रदर्शन के समय तण्डु द्वारा इसी मुद्रा का उपयोग हुआ । तभी से इसका प्रचलन हुआ ।

---

१. प्रस्यन्दिताग्रेण—ग० ।	२. एष विधिर्निवापसलिले—ग० ।
३. गन्धसंश्रये—ग० ।	४. प्रतिग्रहावमान—ग० ।
५. महास्तम्भनिदर्शने—ग० । ६. यथा रसा स्युः—ख, यथारसं स्यात्—ग० ।

योजना—इस के द्वारा पितरों को जल-प्रदान (तर्पण) तथा कपोल के समीप ले जाने पर किसी दान का ग्रहण करना प्रकट होता है, तथा (भोजन के समय किया जाने वाला) ब्राह्मणों का आचमन तथा भोजन, आलिंगन, बड़े स्तम्भ के दर्शन, रोमांच, स्पर्श, चन्दन-लेपन, संवाहन (पैर या शरीर दबाने) का अर्थ प्रकट होता है। इस मुद्रा का रसों के अनुसार तथा स्त्रियों के रागात्मक अभिनय में उनके दुःख, (ठुड्डी के स्पर्श) तथा उरोज प्रदेश के विशेष विभ्रमों के अर्थ प्रकाशनार्थ प्रयोग करना चाहिए ॥ १०५-१०७ ॥

[1]सन्दंश—

तर्जन्यङ्गुष्ठसन्दष्टस्त्वरालस्य यदा भवेत्।
आभुग्नतलमध्यस्थः[2] स सन्दंश इति स्मृतः ॥ १०८ ॥

यदि अरालहस्त में तर्जनी तथा अंगूठे का अग्रभाग मिला कर हथेली को थोड़ी नमा दी जाए तो 'सन्दंश' हस्त हो जाता है ॥ १०८ ॥

सन्दंशस्त्रिविधो ज्ञेयस्त्वग्रजो[3] मुखजस्तथा।
तथा पार्श्वगतश्चैव रसभावोपबृंहितः ॥ १०९ ॥

रस तथा भावों से विस्तार प्राप्तकरनेवाला सन्दंश-हस्त तीन प्रकार का होता है—(१) अग्रज, (सामने की ओर रहने वाला) (२) मुखज (मुंह के समीप रहने वाला) तथा (३) पार्श्वगत (एक ओर रहने (या होने) वाला ॥ १०९ ॥

पुष्पापचयग्रथने ग्रहणे तृणपर्णकेशसूत्राणाम्।
शल्यावयवग्रहणे[4] प्रकर्षणे चाग्रसन्दंशः ॥ ११० ॥

योजना—अग्रज-सन्दंश के द्वारा पुष्पों का एकत्र करना तथा माला का गूँथना, तृण, पर्ण, केश तथा सूत्र का ग्रहण, कण्टक की नोक के ग्रहण करने (शल्यावयवग्रहणे) तथा बाण के खींचने का अर्थ प्रकट होता है। ॥ ११० ॥

---

१. सन्दंश (उत्पत्तिकथा) इस मुद्रा का प्रयोग भगवती वीणापाणी सरस्वती द्वारा किया गया था। यह हस्त ज्ञानमुद्रा के रूप में अनेक प्राचीनमूर्तिशिल्पों में दृष्टिगत होता है।

---

१. सन्दंशो ह्यरालस्य—ख ग०। २. तलमध्यश्च—ख० ग०।
३. ज्ञेयो अग्रजो—ग०। ४. शल्याकर्षग्रहणापकर्षणे—ख० ग०।

वृन्तात् पुष्पोद्धरणं वर्तिशलाकादिपूरणञ्चैव।
धिगिति च वचनं रोषे मुखसन्दंशस्य कर्माणि ॥ १११ ॥

मुखसन्दंश से टहनी से पुष्पों को तोड़ने, दीपक में बाती को रखने या उसे शलाका से ठीक करने, किसी वस्तु की पूर्ति करने, धिक्कार के शब्द तथा क्रोध करने अर्थ प्रकाशित होता है ॥ १११ ॥

यज्ञोपवीतधारण-वेधन-गुणसूक्ष्मबाणलक्ष्येषु[1]।
योगे[2] ध्याने स्तोके संयुतकरणस्तु[3] कर्त्तव्यः ॥ ११२ ॥

दो मुखसन्दंश हस्तों को मिलाने से यज्ञोपवीत धारण, (रत्न आदि का) वेधन, प्रत्यंचा, बारीकी, बाण, लक्ष्य, योग, ध्यान तथा छोटी वस्तु को बतलाया जाता है ॥ ११२ ॥

पेलव[4]कुत्सासूया-सदोषवचने च वामहस्तेन।
किञ्चिद्विवर्त्तिताग्रः[5] प्रयुज्यते पार्श्वसन्दंशः ॥११३॥

पार्श्वसन्दंश—यदि बाँयी ओर सन्दंशहस्त के अग्रभाग को थोड़ा (धीरे-धीरे) मोड़ते हुए रखा जाए तो इसपार्श्वसन्दंश से कोमलता (पेलत्व), असूया तथा दोषपूर्ण शब्दों की अभिव्यक्ति होती है ॥ ११३ ॥

आलेख्यनेत्ररञ्जन-वितर्कवृन्तप्रवालरचनञ्च[6]।
निष्पीडनं तथालक्तकस्य कार्यञ्च नारीभिः ॥ ११४ ॥

इस मुद्रा का स्त्रियों के द्वारा प्रयोग करने पर उससे चित्रलेखन, नेत्रों में अंजन धारण, वितर्क (शंका), टहनी तथा पत्तों की चित्रकारी (प्रवाल-रचना) करना (जो कि शरीर पर की जाती है) तथा महावर का लगाना बतलाया जाता है ॥ ११४ ॥

मुकुल[1]—

समागताग्रा[7]स्सहिता यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि।
ऊर्ध्वा हंसमुखस्यैव स भवेन्मुकुलः करः ॥ ११५ ॥

यदि हंसास्यहस्त में ऊपर की ओर मुंह किये हुए सभी उंगलियाँ

---

१. मुकुलः (उत्पत्तिकथा) वायुपुत्र हनुमान द्वारा सूर्य को झड़पने के लिए इसी हस्त का उपयोग किया गया था तभी से इसका प्रचलन हो गया।

---

१. यज्ञोपवीतनिधन—ग०।
२. योगेऽध्ययने—ग०।
३. संयुक्तकरस्तु—ख० ग०।
४. पेशल—ग०।
५. किञ्चिद्विवर्त्तितकराग्रः—ग०।
६. रचनेषु—ग०।
७. समा नताग्राः सहिताः—ख ग०।

एक दूसरे से मिली हुई तथा सिकुड़ी रहें तो यह 'मुकुल' हस्त कहलाता है ॥ ११५ ॥

देवार्चनबलिकरणे पद्मोत्पलमुकुलरूपणे चैव ।
विटचुम्बने च कार्यो विकुत्सिते विप्रकीर्णश्च ॥ ११६ ॥
भोजनहिरण्यगणनामुखसङ्कोचप्रदानशीघ्रेषु ।
मुकुलितकुसुमेषु तथा तज्ज्ञैरेष प्रयोक्तव्यः ॥ ११७ ॥

योजना—इसके द्वारा देवपूजन, बलिप्रदान, कमल तथा कुमुदिनी की कलियां, विटचुम्बन, तिरस्कार (विकुत्सित), विविधवस्तु (विप्रकीर्ण) भोजनग्रहण, सुवर्णमुद्राओं की गणना, मुखसंकोच, (वस्तु) प्रदान, शीघ्रता तथा पुष्पों की कलियां बतलाई जाती हैं ॥ ११६, ११७ ॥

[1]ऊर्णनाभ—

पद्मकोशस्य हस्तस्य ह्यङ्गुल्यः[1] कुञ्चिता यदा ।
ऊर्णनाभः स विज्ञेयः केशचौर्यग्रहादिषु ॥ ११८ ॥

यदि 'पद्मकोश' हस्त में सारी उंगलियों को सिकुड़ लिया जाए तो 'ऊर्णनाभ' हस्त हो जाता है ॥ ११८ ॥

शिरःकण्डूयने चैव कुष्ठव्याधिनिरूपणे ।
सिंहव्याघ्रेष्वभिनयः[2] प्रस्तरग्रहणे तथा ॥ ११९ ॥

योजना—केशों तथा चोरी गई वस्तु का ग्रहण, सिर खुजलाना, कुष्ठव्याधि, सिंह, व्याघ्र तथा इसी प्रकार के अन्य हिंसक प्राणीगण, चोरी गई वस्तु तथा पत्थर के उठाने का इस मुद्रा के द्वारा अर्थ प्रदर्शन किया जाता है ॥ ११९ ॥

[2]ताम्रचूड—

मध्यमाङ्गुष्ठसन्दंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी ।
शेषे तलस्थे कर्त्तव्ये ताम्रचूलकरेऽङ्गुली[3] ॥ १२० ॥

---

१ ऊर्णनाभः (उत्पत्तिकथा) हिरण्यकशिपु के वध के अवसर पर नृसिंह भगवान ने इसी हस्त का उपयोग किया था तभी से इसका प्रचलन हो गया ।

२. ताम्रचूड (उत्पत्तिकथा) जब तीनों वेद पूर्ण हो गए तो वे ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित होकर उनसे प्रार्थना करने लगे । इस अवसर पर इसी हस्त का उपयोग किया गया । तभी से इसका प्रचलन हो गया ।

---

१. अङ्गुल्यः—ग० । २. व्याघ्राद्यभिनयः—ग० ।
३ ताम्रचूडे कराङ्गुली—ख० ।

यदि मध्यमा उंगली तथा अंगूठा मिला हुआ हो, उंगली सिकुड़ी हुई तथा शेष (दो) उंगलियां हथेली पर हों तो 'ताम्रचूड़'हस्त हो जाता है ॥ १२० ॥

विच्युतश्च[4] सशब्दश्च कार्यो निर्भर्त्सनादिषु ।
ताले[5] विश्वासने चैव शीघ्रार्थे संज्ञितेषु च ॥ १२१ ॥

योजना—झिड़कने के साथ शब्दकर नीचे झुकाते हुए डाँटने (विच्युति), ताल का अन्त, विश्वास-दान, शीघ्रता तथा इशारा देने में इस मुद्रा का प्रयोग किया जाए ॥ १२१ ॥

तथा कलासु काष्ठासु निमेषे तु क्षणे तथा ।
एष एव करः कार्यो बालालापनिमन्त्रणे ॥ १२२ ॥

तथा इसी मुद्रा की कालगणना के भागों-जैसे कला, काष्ठा, निमेष तथा क्षण के बतलाने, युवती बाला से सम्भाषण तथा उसे आमन्त्रण देने में भी योजना करनी चाहिए ॥ १२२ ॥

ताम्रचूडमुद्रा का अन्यलक्षणः—

अथवा—

अङ्गुल्यस्संयुता[1] वक्रा उपर्यङ्गुष्ठपीडिताः ।
प्रसारित[2]कनिष्ठा च ताम्रचूडकरः[3] स्मृतः ॥ १२३ ॥

यदि हाथ की उंगलियां एक दूसरे से मिली हुई हों तथा टेढ़ी रहें, ये ऊपर अंगूठे से दबाई जाएं तथा कनिष्ठिकाउंगली फैली हो तो भी 'ताम्रचूड' हस्त कहलाता है ॥ १२३ ॥

शतं सहस्रं लक्षञ्च क[4]नकञ्चापि दर्शयेत् ।
क्षिप्रमुक्ताङ्गुलीभिस्तु स्फुलिङ्गान् विप्रुषस्तथा ॥ १२४ ॥

इसके द्वारा सौ, हजार तथा लाख की संख्याएं तथा स्वर्णमुद्राएं बतलाई जाती हैं । यदि इसी मुद्रा में उंगलियों को शीघ्रतापूर्वक कम्पित किया जाए तो उससे चिनगारियां तथा बूंदें बतलाई जाती हैं ॥ १२४ ॥

असंयुता करा ह्येते मया प्रोक्ता द्विजोत्तमाः ।
अतश्च[5] संयुतान् हस्तान् गदतो मे निबोधत ॥ १२५ ॥

---

४. व्युत्पन्नश्च—ग० ।
५. तालेष्विष्वसिते चैव—ख० ।
१. अङ्गुल्यः सहिता—ग ।
२. प्रसारिता कनिष्ठा च—ग० ।
३. ताम्रचूडः करः—ग० ।
४. करेणैकेन योजयेत्—ग० ।
५. अधुना—ख० पुनश्च—ग० ।

हे मुनियो इस प्रकार मैंने इन असंयुतहस्तों को बतलाया, अब मैं संयुत हस्तों को बतलाता हूँ जिन्हें आप समझ लीजिए ॥ १२५ ॥

[1]संयुतहस्तमुद्राएं (लक्षण तथा योजना)

अंजलि—

पताकाभ्यान्तु हस्ताभ्यां संश्लेषादञ्जलिः स्मृतः ।
देवतानां गुरूणाञ्च मित्राणाञ्चाभिवादने ॥ १२६ ॥

दो पताक हस्तों को मिलाने से 'अंजलि' हस्तमुद्रा होजाती है । इसे देवता, गुरुजन तथा मित्रों के अभिवादन में प्रयुक्त किया जाता है ॥१२६॥

स्थानान्यस्य पुनस्त्रीणि वक्षो वक्त्रं शिरस्तथा ।
देवतानां शिरस्थस्तु गुरूणामास्य संस्थितः ॥ १२७ ॥
वक्षःस्थश्चैव मित्राणां[1] शेषे[2] त्वनियमो भवेत् । ॥ १२८ ॥

अभिवादन के तीन स्थान हैं—वक्षःस्थल, मुख तथा मस्तक (शिर) । इनमें देवताओं को शिरस्थ नमस्कार, गुरुजन को मुख के सम्मुख तथा मित्रों को वक्षःस्थल के बराबर हाथ रखते हुए नमस्कार करना चाहिए । शेष व्यक्तियों के अभिवादन के लिए कोई नियत प्रदेश नहीं होते हैं । स्त्रियों (का बिना नियम के नमस्कार होता है पाठा० से अर्थ) ॥ १२७, १२८ ॥

कपोत—

उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामन्योन्यं पार्श्वसङ्ग्रहात् ।
हस्तः कपोतको नाम कर्म चास्य निबोधत ॥ १२९ ॥

दो (सर्पशीर्ष) हस्तों को परस्पर दोनों कोनों से मिलाने पर 'कपोत' मुद्रा होती है । अब इनकी योजना सुनिये ॥ १२९ ॥

एष[3] विनयाभ्युपगमे प्रणामकरणे गुरोश्च सम्भाषे ।
शीते भये च कार्यो वक्षस्थः कम्पितैः[4] स्त्रीभिः ॥ १३० ॥

---

१. असंयुत तथा संयुतहस्तमुद्राएं—ये हस्तमुद्राएं सामानन्यतः हाथ से पृथक्-पृथक् उपयोग में आती हैं परन्तु कभी कभी दोनों हाथों द्वारा एक साथ भी असंयुत हस्तों का प्रदर्शन होता है । (परन्तु ये कहलाएंगे असंयुत-हस्त ही) जब दोनों हाथों को मिला कर लक्षणानुसार प्रदर्शित किया जाए तभी संयुत हस्त होगें । इनकी उपयोगिता के विषय में अधिक विवेचन के लिए भूमिका तथा परिशिष्ट भी देखिये ।

---

१. विप्राणां—क० । २. स्त्रीणामानियतो भवेत्—क० ।
३ द्विषद्धियाभ्युपगमे—ग० । ४. कल्पितः—ग० ।
५ ना० शा० द्वि०

योजनाः—इसे विनम्रता आदि सौजन्यपूर्ण भाव के प्रदर्शन पूज्यजन को प्रणाम करने तथा उनसे संभाषण में प्रयुक्त किया जाता है। शीत तथा भय के अर्थ को प्रदर्शन करने में स्त्रियों के द्वारा इस मुद्रा को वक्षस्थल पर स्थित रखना चाहिए ॥ १३० ॥

अयमेवाङ्गुलिपरिघृष्यमाणमुक्तस्तु खिन्नवाक्येषु ।
एतावदिति च कार्यो [1]नेदानीं कृत्यमिति चार्थे ॥ १३१ ॥

तथा यही दोनों हाथों की उंगलियों को परस्पर मिलाकर हटा लेने पर खिन्न वचनों, 'इतना करना' तथा 'यह अभी नहीं करना' के अर्थों को बतलाता है ॥ १३१ ॥

कर्कट—

अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य ह्यन्योन्यान्तरनिस्सृताः ।
स कर्कट इति ज्ञेयः करः कर्म च वक्ष्यते ॥ १३२ ॥

यदि दोनों हाथों की उंगलियां मिलकर एक दूसरे के बीच से निकली हुई रहें तो 'कर्कट' मुद्रा होती है। अब इसकी योजना सुनिये ॥ १३२ ॥

एष मदनाङ्गमर्दे [2]सुप्तोत्थितजृम्भणे वृहद्देहे ।
[3]हनुधारणे च योज्यः शङ्खग्रहणेऽर्थ[4]तत्त्वज्ञैः ॥ १३३ ॥

इसके द्वारा काम के मद में अंग मरोड़ना (मदनांगमर्दे[1]), सोकर उठते समय जंभाई लेना, विशाल शरीर, ठुड्डी को हाथ से सहारा देने (हनुधारणे) तथा शंख का ग्रहण करना बतलाया जाता है ॥ १३३ ॥

स्वस्तिक—

मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ स्त्री[5]प्रयोजितौ ।
उत्तानौ वामपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तित ॥ १३४ ॥

दो अराल हस्तों को कलाई पर सामने की ओर से ऊपर मुँह रखते हुए बायीं बाजू की ओर रख देने पर 'स्वस्तिक' मुद्रा जानों। इसे स्त्रियाँ प्रयुक्त करें ॥ १३४ ॥

---

१. मदनांगमर्दे का यहाँ श्री मन० मो० घोष ने (शहद के छत्ते या मोम को दिखलाना, bees wax) अर्थ किया है जो असंगत है।

---

१. भेदाङ्गीकृत्यमिति चार्थे—ख० ।
२. सुप्तोत्थविजृम्भणे—ग० । ३. अनुधारणे—ख० ।
४. च तत्त्वज्ञैः—ग० । ५. वर्धमानकौ—ग० ।

स्वस्तिक विच्युतिकरणाद् दिशो घनाः खं वनं समुद्राश्च ।
ऋतवो मही तथौघं[1] विस्तीर्णं वाभिनेयं स्यात् ॥१३५॥

'स्वस्तिक' का प्रदर्शन कर दोनों हाथों को हटा लेने पर उससे दिशाएं, आकाश, वन, समुद्र, ऋतुएँ, पृथ्वी, वेग एवं अन्य विस्तीर्ण पदार्थ प्रदर्शित होते हैं ॥ १३५ ॥

कटका-(खटका-) वर्धमानक—

कटकः कटकैर्न्यस्तः कटकावर्धमानकः[3] ।
शृङ्गारार्थेषु योक्तव्यः प्रणामकरणे तथा ॥ १३६ ॥
[कुमुदोत्पलवृन्तेषु कर्तव्यश्छत्रधारणे[4] ।]

यदि दो कटकामुख हस्तों को स्वस्तिक दशा में (एक दूसरे की कलाई के ऊपर) रखा जाए तो क (ख) टकावर्धमानक मुद्रा हो जाती है । इसे शृङ्गार के भावों तथा प्रणाम करने में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ १३६ ॥

[कुमुद, उत्पल एवं कुन्द पुष्पों के तथा शंख के धारण में इसी की योजना करनी चाहिए ।—]

उत्संग—

अरालौ तु विपर्यस्तावुत्तानौ वर्धमानकौ[5] ।
उत्सङ्ग इति विज्ञेयः स्पर्शस्य[6] ग्रहणे करः ॥ १३७ ॥

यदि दो अराल हस्त ऊपर की ओर मुंह वाले एवं स्वस्तिकदशा में दोनों कन्धों पर रखें जाँए तो 'उत्संग' मुद्रा होजाती है ॥ १३७ ॥

सनिष्पेषकृते[7] चैव रोषामर्षकृतेऽपि[8] च ।
निष्पीडितः पुनश्चैव स्त्रीणामीर्ष्याकृते भवेत् ॥ १३८ ॥

इसके द्वारा अतिशयप्रयत्न से निष्पन्न होनेवाले कार्य, रोष तथा ईर्ष्या (अमर्ष), किसी पदार्थ को दबाना (निष्पीडित) तथा स्त्रियों की ईर्ष्या का अर्थ बतलाया जाता है ॥ १३८ ॥

---

१ तथान्यत्—ख—ग० । २. चाभिनेयं—ग० ।
३. कटको वर्धमानकः—ख०, ग० । ४. अयं श्लोकः क—पुस्तकेऽधिकः ।
५. वृत्तानावूर्धमानतौ—ग० । ६. कार्यः सिंहावलोकिते—ख० ।
७. सनिष्पेषकरश्चैव—य० । ८. रोषेऽमर्षेऽपि च स्मृतः—ग० ।

निषध—

[[1]मुकुलन्तु यदा हस्तं कपित्थः परिवेष्टयेत् ।
स मन्तव्यस्तदा हस्तो निषधो नाम नामतः ॥

निषध—यदि मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त से वेष्टित कर दिया जाए तो 'निषध' मुद्रा जानें ।

संग्रहपरिग्रहौ धारणञ्च समयश्च सत्यवचनञ्च ।
सङ्क्षेपः सङ्क्षिप्तं निपीडितेनाभिनेतव्यम् ॥]

इसकी योजना, संग्रह, दान, ग्रहण, प्रतिज्ञा, (समय) सत्यवचन । संक्षेप तथा समेटने का भाव इसे दबाकर बतलाया जाता है ।]

गृहीत्वा वामहस्तेन कूर्पराभ्यन्तरे भुजम् ।
दक्षिणञ्चापि वामस्य कूर्पराभ्यन्तरे न्यसेत् ॥ १३९ ॥
स चापि दक्षिणो हस्तः सम्यङ्मुष्टिकृतो भवेत् ।
इत्येष निषधो हस्तः कर्म चास्य निबोधत ॥ १४० ॥

यदि बायांहाथ दाहिनीभुजा पर रखा जाए तथा दाहिना हाथ बायीं भुजा पर, तथा यह दाहिनाहाथ 'मुष्टि' हस्त के लक्षण विधिवत् रखता हो तो उसे 'निषध' हस्त जानें ॥ १३९, १४० ॥

एतेन धैर्य[2]मदगर्वसौष्ठवोत्सुक्यविक्रमाटोपाः ।
अभिमानावष्टम्भ-स्तम्भस्थैर्यादयः कार्याः ॥ १४१ ॥

अब इसकी योजना बतलाता हूँ ।

इस हस्तमुद्रा को धैर्य, मद, गर्व, सौष्ठव, औत्सुक्य, पराक्रम, शौर्य, उद्दण्डता (आरोप), स्वाभिमान, हठ (अवष्टम्भ), स्तम्भ तथा स्थैर्य आदि भावोंवाले अर्थों में संयोजित किया जाए ॥ १४१ ॥

[अथवा—

ज्ञेयो वै निषधो नाम हंसपक्षौ पराङ्मुखौ ।
जालवातायनादीनां प्रयोक्तव्योऽभिघट्टने ॥]

[निषध (लक्षणान्तर)—यदि दो विभिन्न दिशाओं में दो हंसपक्ष हस्तों को रखा जाए तो 'निषध' होता है । इसे झरोखा, खिड़की आदि से टक्कर लगने में संयोजित किया जाए ।]

---

१. श्लोकद्वयं ग—पुस्तके नास्ति । २. मदगर्वसौष्ठवो—ख०, ग० ।

[1]दोला—

अंसौ प्रशिथिलौ मुक्तौ पताकौ तु[1] प्रलम्बितौ।
यदा भवेतां करणे स दोल इति संज्ञितः॥ १४२॥

यदि दोनों कन्धों को ढीले रखते हुए दोनों पताक हस्तों को हिलाते हुए रखे तो करण में प्रयुक्त होने वाली यह हस्तमुद्रा 'दोला' जानें॥१४२॥

सम्भ्रमविषादमूर्च्छितमदाभिघाते तथैव चावेगे।
व्याधिप्लुते च शस्त्रे[2]क्षते च कार्योऽभिनययोगः॥१४३॥

इससे सम्भ्रम, विषाद, मूर्च्छा, नशे के झटके (मदाभिघात), आवेग, व्याधियुक्तता तथा शस्त्रों से आहतदशा का अर्थ सूचित होता है॥१४३॥

पुष्पपुट—

यस्तु सर्पशिराः प्रोक्तस्तस्याङ्गुलिनिरन्तरः।
द्वितीयः पार्श्वसंश्लि[3]ष्टः स तु पुष्पपुटः स्मृतः॥ १४४॥

दो सर्पशीर्ष हस्तों की अंगुलियों को सटाकर दोनों हाथों को एक दूसरे से सटा देने पर 'पुष्पपुट' मुद्रा हो जाती है॥ १४४॥

[4]धान्यफलपुष्पसदृशान्यनेन नानाविधानि युक्तानि।
ग्राह्याण्युपनेयानि च तोयानयनापनयने च॥१४५॥

इससे धान्य, फल तथा पुष्प तथा अन्य इसी के सदृश वस्तुओं का ग्रहण तथा अर्पण और जल का लाना तथा हटाना सूचित होता है॥ १४५॥

मकर—

पताकौ तु यदा हस्तौ[5]वूर्ध्वाङ्गुष्ठावधोमुखौ।
उपर्युपरि विन्यस्तौ तदा[6]सौ मकरः स्मृतः॥ १४६॥

यदि दो पताक हस्तों को (अंगूठा उठाते हुए) फैला कर एक दूसरे पर रख दिया जाए तो 'मकर' नामक हस्तमुद्रा हो जाती है॥ १४६॥

सिंहव्याल-द्वीपि[7]प्रदर्शनं नक्रमकरमत्स्यानाम्।
ये चान्ये क्रव्यादा [8]अभिनेयास्तेऽर्थयोगेन॥ १४७॥

---

१. प्रविलम्बितौ—ग०। २. शत्रुक्षते—ग। ३. सुश्लिष्टः—ग०।
४. धान्यजलपुष्पभक्ष्याण्यनेक नानाविधानि युक्तेन—ग०।
५. हस्तौ मूर्धाङ्गुष्ठा—ग०। ६. तदा स—ग०।
७. सिंहव्यालद्विपददर्श—ग०। ८. ह्यभिनेयास्तेन हस्तेन—ग०।

इस मुद्रा से सिंह, हाथी, गेंडा, घडियाल, मगर, मत्स्य तथा अन्य हिंसक जन्तुओं का अर्थ प्रदर्शित किया जाता है ॥ १४७ ॥

गजदन्त—

कूर्परांसोर्चितौ[1] हस्तौ यदास्तां सर्पशीर्षकौ ।
गजदन्तः स तु करः कर्म चास्य निबोधत ॥ १४८ ॥

यदि दो सर्पशीर्ष हस्त स्वस्तिक दशा में एक दूसरे स्कन्धों पर रखे जाएँ तो 'गजदन्त' हस्तमुद्रा हो जाती है ॥ १४८ ॥

एष च वधूवराणामुद्वाहे चातिभारयोगे[2] च ।
स्तम्भग्रहणे[3] च तथा शैलशिलोत्पाटने चैव ॥ १४९ ॥

इससे वर वधू का पाणिग्रहण, अतिभारवहन, स्तम्भग्रहण तथा शैल एवं पाषाण का उखाड़ना प्रदर्शित किया जाता है ॥ १४९ ॥

अवहित्थ—

शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्यभिमुखाञ्चितौ ।
शनैरधोमुखाविद्धौ सोऽवहित्थ इति स्मृतः ॥ १५० ॥

यदि दो शुकतुण्डहस्तों को छाती पर नीचे मुंहवाले और लटकते हुए रखे तो 'अवहित्थ' हस्तमुद्रा हो जाती है ॥ १५० ॥

दौर्बल्ये निःश्वसिते गात्राणां दर्शने तनुत्वे च ।
उत्कण्ठिते च तज्ज्ञैरभिनययोगस्तु कर्त्तव्यः ॥ १५१ ॥

इससे दुर्बलता, निश्वास, शरीर का सौन्दर्य प्रदर्शन, शरीर का पतलापन तथा उत्कण्ठा का भाव प्रदर्शित किया जाए ॥ १५१ ॥

वर्धमान—

मुकुलस्तु यदा हस्तः कपित्थपरिवेष्टितः ।
वर्धमानः स विज्ञेयः कर्म चास्य निबोधत ।
जालवातायनादीनां प्रयोक्तव्यो विघाटने ॥ १५२ ॥

यदि मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त से लपेटा जाए तो 'वर्धमान' हस्त मुद्रा होती है । झरोखा तथा खिड़की के खोलने में इसको विनियोजित करे ।

अथवा—

ज्ञेयो वै वर्धमानस्तु हंसपक्षौ पराङ्मुखौ ।

---

१. कूर्परासञ्चितौ—ख० ग०   २. भारयोगेन—ख० ।
३. स्तम्भे ग्रहणे च—ग० ।

सङ्ग्रहपरिग्रहोद्धारणञ्च समयश्च सत्यवचनञ्च ।
[1]सङ्क्षेपः सङ्क्षिप्तं निपीडितेनाभिनेतव्यम् ॥ १५३ ॥

अथवा—दो नीचे की ओर हंसपक्ष हस्त रखे जांए तो 'वर्धमान' होजाता है। इस मुद्रा में एक हाथ को दूसरे हाथ से दबाया जाए तो उससे संग्रह, वस्तु का आदान, उद्धार, प्रतिज्ञा, सत्यवचन तथा संक्षेपकरण अर्थ बतलाया जाता है ॥ १५३ ॥

उक्ता ह्[2]येते द्विविधास्त्वसंयुताः संयुताश्च सङ्क्षेपात् ।
[3]अभिनयकरास्तु ये त्विह तेऽन्यत्राप्यर्थतः साध्याः ॥१५४॥

इस प्रकार संक्षेप से असंयुत तथा संयुत ये दोनों हस्त मुद्राएं बतलाई गई। इनमें जो अभिनय बतलाए गए वे अन्यत्र भी अर्थों के अनुसार प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

हस्तमुद्राओं की सामान्य विधि—

आकृत्या चेष्टया चिह्नैर्जात्या विज्ञाय तत्पु[4]नः ।
स्वयं वितर्क्यं कर्त्तव्यं हस्ताभिनयनं बुधैः ॥ १५५ ॥

अभिनेता के द्वारा हस्तमुद्राओं को उनकी आकृति, गतिविधि, चिन्ह तथा जाति को स्वयं के अनुभव से देखकर फिर प्रयुक्त करना चाहिए ॥१५५॥

[5]नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाट्ये[6]ऽर्थोऽभिनयं प्रति ।
यस्य य[7]द् दृश्यते रूपं बहुशस्तन्मयोदितम् ॥ १५६ ॥

संसार में ऐसा कोई हाथों का कार्य ही नहीं जो किसी अर्थ को न बतलाता हो किन्तु जिस हस्त का जो स्वरूप (या कार्य) अनेक बार देखा गया है उसे ही मैंने यहाँ बतलाया है ॥ १५६ ॥

अन्ये चाप्यर्थसंयुक्ता लौकिका ये करास्त्विह ।
छन्दतस्ते [8]प्रयोक्तव्या रसभावविचेष्टितैः ॥ १५७ ॥

इसके अतिरिक्त जो अन्य अर्थों से सम्बद्ध लोक-सामान्य हस्त हों

---

१. सङ्क्षेपतस्तु संक्षिप्तनिपीडिते—ग० । २. ह्येते—ख० ।
३. अभिनयकरा ये त्विह ते ह्यत्राप्यर्थतः साध्याः—ग० ।
४. वस्तुतः—क० ख० ।
५. नास्ति कश्चित्तथा हस्तो नाट्यार्थाभिनयं प्रति—ग० ।
६. नाट्याभिनयनं—ख० । ७. संदृश्यते—ख० ।
८. नियोक्तव्या—ग० ।

उन्हें भी रस तथा भावों की सूचक चेष्टाओं के साथ स्वेच्छानुसार प्रयुक्त करना चाहिए।

देशं कालं प्रयोगञ्चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य च।
हस्ता ह्येते प्रयोक्तव्या नृणां स्त्रीणां विशेषतः॥ १५८॥

ये हस्तमुद्राएं पुरुषों तथा विशेषतः स्त्रियों के द्वारा देश, काल, प्रयोग तथा योग्यता (अर्थयुक्ति) को देखकर प्रयुक्त की जाएं॥ १५८॥

हस्तमुद्राओं की विविध क्रियाएं—

सर्वेषामेव हस्तानां यानि कर्माणि सन्ति वै।
तान्यहं सम्प्रवक्ष्यामि रसभावकृतानि तु॥ १५९॥
उत्कर्षणं विकर्षणं तथा व्याकर्षणं पुनः।
परिग्रहो निग्रहश्चाह्वानं तोदनमेव च॥ १६०॥
संश्लेषश्च वियोगश्च रक्षणं मोक्षणन्तथा।
विक्षेपधूनने चैव विसर्गस्तर्जनन्तथा॥ १६१॥
छेदनं भेदनञ्चैव स्फोटनं मोटनन्तथा।
ताडनञ्चेति विज्ञेयं तज्ज्ञैः कर्म करान् प्रति॥ १६२॥

अब मैं (इन) सभी हस्तों की उन क्रियाओं को जो रस तथा भाव से युक्त होती हैं—वर्णन करूंगा। ये क्रियाएं हैं—उत्कर्षण, (ऊपर की ओर उछलना), विकर्षण (खींचना), व्याकर्षण (बाहर छिटकना), परिग्रह (ग्रहण करना), निग्रह (विनाश करना). आह्वान (बुलाना, संकेत करना), तोदन (ताड़न करना), संश्लेष (मिलना, मिलाना), वियोग (हटाना, हटना), रक्षण (रक्षा करना), मोक्षण (फेंकना), विक्षेप (फेंकना, त्याग करना), धूनन (हिलाना कंपाना); विसर्ग (ससम्मान अर्पण या त्याग करना), छेदन (तोड़ना), भेदन (काटना), स्फोटन (विकसित करना), मोटन (संकोच करना) तथा ताडन (पीटना)॥ १५९–१६३)

उत्तानः पार्श्वगश्चैव तथाधोमुख एव च।
हस्तप्रचारस्त्रिविधो नाट्यतत्त्वसमाश्रयः॥ १६३॥

---

१. अर्थयुक्तिम्—ग०। २. सन्ति हि—ग०।
३. चैवापकर्षणम्—ग०। ४. परिग्रहश्चाप्याह्वानं ताडनं तर्जनं तथा–ख०
५. नोदनं तथा—ग०। ६. विसर्गस्तदनन्तरम्—ग०।
७. मोहनं तथा—ग०।

नाट्यतत्त्वों के (सिद्धान्त के) अनुसार हस्तप्रचार तीन प्रकार से किया जाता है। यथा—(१) उत्तान (ऊपर की ओर मुंह करके), (२) पार्श्वग (दायीं या बांयीं ओर मुंह करके) तथा (३) अधोमुख (नीचे की ओर मुंह करके......)॥ १६३॥

सर्वे हस्तप्रचाराश्च प्रयोगेषु यथाविधि।
नेत्रभ्रूमुखरागै[1]श्चैः कर्त्तव्या व्यञ्जिता बुधैः॥ १६४॥

इन हस्तप्रचारों को प्रयोग के समय शास्त्र निदर्शित विधि के साथ नेत्र, भौंहे, मुखराग आदि के द्वारा बुद्धिमान प्रयोक्ताजन व्यक्त करें॥ १६४॥

हस्तमुद्राओं का कार्य—

करणं कर्म स्थानं प्रचारयुक्ति क्रियाश्च [2]समवेक्ष्य।
हस्ताभिनयः का[3]र्यस्तज्ज्ञैर्लोकोपचारेण॥ १६५॥

बुद्धिमान (प्रयोक्ता) जन इन हस्तों (हस्ताभिनयों) का लोक व्यवहार के अनुसार प्रयोग करें तथा उसी समय इनके करण, (अध्याय ४ में वर्णित) कर्म, (पताक आदि) स्थान, (ललाट आदि प्रदेश) प्रचार, (अल्प, मध्य आदि) युक्ति (मुख्य या गौण बनाने का कारण) तथा क्रिया को देख कर प्रयोग निश्चित कर लें॥ १६५॥

उत्तमानां कराः कार्या ललाटक्षेत्रचारिणः।
वक्षस्थाश्चैव मध्यामामधमानामधोगताः॥ १६६॥

उत्तम पात्रों के हस्तों को ललाट प्रदेश के समीप, मध्यम पात्रों के वक्षःस्थल के समीप तथा अधमपात्रों के इससे नीचे शरीर के भाग के समीप क्रियाशील रखना चाहिए॥ १६६॥

हस्तमुद्राओं का प्रचार—

ज्येष्ठे स्वल्पप्रचाराः स्युर्मध्ये[4] कुर्वीत मध्यमैः।
अधमेषु प्रकीर्णाश्च[5] हस्ताः कार्याः प्रयोक्तृभिः॥ १६७॥

ज्येष्ठ अभिनय में इन हस्तमुद्राओं का प्रचार अल्प रहना चाहिए मध्य में मध्यमप्रचार तथा अधम अभिनय में हस्त मुद्राओं का विपुलता से प्रचार रहना चाहिए॥ १६७॥

लक्षणव्यञ्जिता हस्ताः कार्यास्तूत्तममध्यमैः।
लोकक्रियास्वभावेन नीचैरप्यर्थसंश्रयाः॥ १६८॥

---

१. रागैश्च—ग०। २. सम्प्रेक्ष्य—ग०। ३. तज्ज्ञैः कार्यो—ग०।
४. मध्ये मध्यविचारिणः—ख-ग०। ५. प्रकीर्णास्तु—ग०।

उत्तम तथा मध्यम पात्रों के द्वारा इन हस्तमुद्राओं का प्रयोग शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार अर्थाभिव्यक्ति करे परन्तु अधमपात्रों के द्वारा लोकक्रियाओं का हस्ताभिनय में अनुसरण किया जाय ॥ १६८ ॥

अथवान्यादृशं प्राप्य प्रयोगं कालमेव च ।
विपरीताश्रया हस्ताः प्रयोक्तव्या बुधैर्न[1] वा ॥ १६९ ॥

परन्तु जब कोई असम्मान्यप्रयोग या समय हो तो बुद्धिमान इन हस्तमुद्राओं के प्रयोग को वर्णित लक्षण से भिन्न स्वरूप में संयोजित करे या न भी करे ॥ १६९ ॥

विषण्णे मूर्च्छिते ह्रीते[2] जुगुप्सा-शोकपीडिते ।
ग्लाने स्वप्ने[3] विहस्ते च निश्चेष्टे तन्द्रिते जडे ॥ १७० ॥
व्याधिग्रस्ते जरार्त्ते च भयार्त्ते शीतविप्लुते ।
मत्ते प्रमत्ते चोन्मत्ते चिन्तायां तपसि स्थिते ॥ १७१ ॥
हिमवर्षहते[4] बद्धे[5] वारिणि प्लवसंश्रिते ।
स्वप्नायिते च सम्भ्रान्ते नर्तसंस्फोटने[6] तथा ॥ १७२ ॥
न हस्ताभिनयः कार्यः कार्यः सत्वसमाश्रयः ।
तथा काकुविशेषश्च[7] नानार्थरसभावकः[8] ॥ १७३ ॥

जब कोई पात्र, खिन्न, मूर्च्छित, लज्जित, घृणा तथा शोक से प्रपीडित, मलिन (ग्लान) सोया हुआ, लूला (विहस्त) बेहोश, तन्द्रिल, जड़, बीमार, बुढ़ापे से त्रस्त, भय पीड़ित, ठंड से ठिठुरता हुआ या त्रस्त, मदमत्त, पागल, चिन्तित, तप करते हुए, बर्फ या वर्षा के कारण त्रस्त (आहत), कैद, जल या डोंगें में संचारशील, स्वप्न में बकते हुए, भ्रान्तियुक्त, तथा नखों से कुरेदने या पटकनेवाला रहे तो ऐसी दशा में हस्त की योजना न की जाए किन्तु अनेक अर्थ रस तथा भावों को अभिव्यक्त करने वाला तथा विभिन्न स्वरों से अभिव्यक्त होने वाला रसाभिनय प्रारम्भ करना चाहिए (या उसका ग्रहण करना चाहिए) ॥ १७०-१७३ ॥

---

१. बुधैर्नरैः—ग । २. भीते—ख०, ग० । ३. सुप्ते—ख०, ग० ।
४. हिमवषंगते—ख०, ग० । ५. बन्धे हरिणप्लवसंश्रिते—ख०, ग० ।
६. नखसंस्फो—ख०, ग० । ७ तथाकारविशेषश्च—ख०, ग० ।
८. नानाभावरसान्वितः—ख०, ग० ।

यत्र व्यग्रावुभौ हस्तौ तत्तद्दृष्टिविलोकनैः ।
वाचिकाभिनयं कुर्याद् विरामैरर्थदर्शकैः ॥ १७४ ॥

वाचिकाभिनय के समय विभिन्न (तथा वर्णित उन सभी) दृष्टियों तथा अवलोकन क्रियाओं को हस्त क्रियाओं के अनुसार इस प्रकार दक्षतापूर्वक निदर्शित करना चाहिए जिससे कि उनके द्वारा प्रदर्शित वाचिक अभिनय के विराम आदि नियमानुसार प्रस्तुत करने पर अर्थों की (स्पष्टतः) अभिव्यक्ति हो ॥ १७४ ॥

उत्तानः पार्श्वगश्चैव तथाऽधोमुख एव च ।
प्रचारस्त्रिविधोऽङ्गानां नाट्यनृत्तसमाश्रयः ॥ १७५ ॥

नाट्य तथा नृत्त में प्रयोग (के समय प्रदर्शित) किया जाने वाला हस्त प्रचार त्रिविध है—यथा (१) उत्तान, (२) पार्श्वग तथा (३) अधोमुख ॥ १७५ ॥

उत्तानो वर्त्तुलस्त्र्यश्रः स्थितोऽधोमुख एव च ।
पञ्च प्रचारा हस्तस्य नाट्यनृत्तसमाश्रयाः ॥ १७६ ॥

अभिनय तथा नृत्य में हस्त प्रचार की पांच विधायें हैं । यथा (१) उत्तान (ऊपर की ओर हथेली का रहना), (२) वर्तुल (गोल घुमाव लेना), (३) त्र्यस्त्र (तिरछे या मोड़ कर घुमाना), (४) स्थित (स्थिर रहना) तथा (५) अधोमुख (हथेली को उल्टी करना) ॥ १७६ ॥

एवं ज्ञेयाः करा ह्येते नानाभिनयसंश्रयाः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि करान् नृत्तसमाश्रयान् ॥ १७७ ॥

इस प्रकार अनेक रसों तथा भावों से सम्बद्ध अनेक हस्त मुद्राओं को मैंने बतलाया अब मैं नृत्त हस्तों को बतलाता हूँ ॥ १७७ ॥

नृत्तहस्त[1]—

वक्षसोऽष्टाङ्गुलस्थौ तु प्राङ्मुखौ कटकामुखौ ।
समानकूर्परांसौ च चतुरस्रौ प्रकीर्तितौ ॥ १७८ ॥

---

१. नृत्तहस्त—नृत्त के अन्तर्गत होनेवाले विभिन्न प्रचार (चाल) शारीरिक मुद्राओं तथा स्थितियों में शोभा, सौन्दर्य तथा आकर्षण उत्पन्न करने के लिए ही

---

१. तत्र दृष्टि—ख; यत्र दृष्टि—ग० ।
२. उत्तालोऽधस्तलस्तिर्यगूर्ध्वाऽधोमुख एव च । हस्तप्रचारा विज्ञेया नाट्ये नृत्ते च पञ्चधा—ग० ।
३. पद्यमेतत् ग—पुस्तके नास्ति । ४. संश्रिताः—ग० ।
५ वक्षःस्थोऽष्टाङ्गुल—ग० । ६. खटका—क—ख० ।

चतुरस्र—छाती से आठ अंगुल के अन्तर पर सामने की ओर दोनों हाथों को कटकामुखमुद्रा में तथा दोनों कन्धों तथा कोहनी को समान ऊंचाई पर रखना 'चतुरस्र' कहलाता है ॥ १७८ ॥

हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तौ तालवृन्तवत् ।
उद्वृत्ताविति विज्ञेयावथवा तालवृन्तकौ ॥ १७९ ॥

उद्वृत्तः—दो हंसपक्ष हस्तों को पंखे के समान हिलाना । इसका अन्य नाम 'तालवृन्तक' भी है ॥ १७९ ॥

चतुरस्रस्थितौ हस्तौ हंसपक्षकृतौ तथा ।
तिर्यक्स्थितौ चाभिमुखौ ज्ञेयौ तलमुखाविति ॥ १८० ॥

तलमुख—चतुरस्र दशा में हंसपक्ष हस्तों को तिरछे तथा एक दूसरे के सम्मुख रखना ॥ १८० ॥

तावेव मणिबन्धान्ते स्वस्तिकाकृतिसंस्थितौ ।
स्वस्तिकाविति विख्यातौ विच्युतौ विप्रकीर्णकौ ॥ १८१ ॥

स्वस्तिक—यदि तलमुख नृत्त-हस्त कलाई पर से स्वस्तिक किये जाएं ।
विप्रकीर्ण—(तथा) स्वस्तिक नृत्तहस्त के प्रदर्शन के पश्चात् उन्हें हटा लेना ॥ १८१ ॥

नृत्त-हस्तों की सर्जना की गई । वस्तुतः ये नृत्तहस्त हाथ की विभिन्न अवस्थाएं ही हैं क्योंकि इनसे किसी अर्थविशेष की प्रतीति नहीं होती; फिर भी अंग-भंगों से जो लावण्य निखरता है उसमें नृतहस्तों का बड़ा हाथरहता है । ये समतोलपन (Balance) के सिद्धान्त पर निर्मित किये गये (प्रतीत होते) हैं, क्योंकि समतलपन (चतुरस्रता) भी शरीर के सौन्दर्य में समाविष्ट माना जाता है । नृत्तहस्त हाथ, पैर तथा शरीर के सामंजस्य द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं और नृत्यप्रदर्शन को शोभा शाली बनाते हैं । इसीलिए ये नृत्य के अलंकार माने गये । नृत्तहस्तों की उत्पत्ति संयुत तथा असंयुत हस्तमुद्राओं से हुई है परन्तु कुछ नृत्तहस्तों में मिश्रमुद्राओं (के भिन्न मुद्राओं में संयोजन) की भी योजना रहती है । नृत्तहस्त हाथ के चालन से निर्मित होने के कारण उनका रेखांकन संभव नहीं; यही कारण है कि संयुत तथा असंयुतहस्तों के सभी रेखाचित्र दिये गए पर नृत्तहस्तों के नहीं दिये जा सके ।

अलपल्लव-संस्थानावूर्ध्वास्यौ पद्मकोशकौ ।
अरालकटकाख्यौ[1] चाप्यरालकटकामुखौ[2] ॥ १८२ ॥

अराल कटकामुख—दोनों अलपल्लव हस्तों को ऊपर हथेली रखते हुए पद्मकोश हस्तों में परिवर्तित कर देना। इसका अन्य नाम 'अरालखटका' भी है ॥ १८२ ॥

[तथैव[3] मणिबन्धान्ते ह्यरालौ[4] विच्युतावुभौ ।
ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिर्नित्यम् अरालखटकाविति ॥]

(प्रक्षिप्तः—यदि दो अराल हस्तों को कलाई को नोक से स्वस्तिक के बाद विच्युत कर दिया जाए तो उसे प्रयोक्तागण अरालकटकामुख जानें ।)

भुजांसकूर्पराग्रैस्तु कुटिलावर्तितौ करौ ।
पराङ्मुखतलाविद्धौ ज्ञेयावाविद्धवक्रकौ ॥ १८३ ॥

आविद्धवक्र—विपरीत बाहु, कंधा तथा कोहनी के कोनों को कुटिल (तिरछी) गति से दोनों हाथों से स्पर्श करते हुए दोनों अराल मुद्रा की हथेलियों को ऊपर तथा नीचे की ओर कंपित करते हुए बदलना ।

हस्तौ तु सर्पशिरसौ मध्यमाङ्गुष्ठकौ यदा ।
तिर्यक्प्रसारितास्यौ च तदा सूचीमुखौ स्मृतौ ॥ १८४ ॥

सूचीमुख—दो सर्पशीर्ष हस्तों को अपने अंगूठों के साथ तिरछे फैलाकर हथेली के मध्य का (मध्यमागुंली का) स्पर्श करते हुए रखना ॥ १८४ ॥

[सर्पशीर्षौ यदा हस्तौ भवेतां स्वस्तिकस्थितौ ।
मध्यप्रसारिताङ्गुष्ठौ ज्ञेयौ सूचीमुखौ तदा]

अथवा स्वस्तिक के पश्चात् (यदि) दो सर्पशीर्ष हस्तों को मध्यमांगुली के पास हथेली में अंगूठों का स्पर्श करते हुए रखना सूचीमुख है ।

रेचितौ चापि विज्ञेयौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ।
प्रसारितोत्तानतलौ रेचिताविति संज्ञितौ ॥ १८५ ॥

रेचित—दो हंसपक्ष हस्तों को तेजी से घुमाकर हथेली को उपर की ओर मुंह कराते हुए फैला देना ॥ १८५ ॥

---

१. खटका—क-ख० । २. वाप्य-ख; वा—ग० ।
३. पद्यमेतत्—ग-पुस्तके नास्ति । ४. ह्यरालविच्युता—ख० ।
५ मुखतया—ख० । ६. मध्यस्था—ख० ।
७ पद्यमेतत् ग—पुस्तके नास्ति । ८. हंसपक्षोद्धृतभ्रमौ—ख० ।
९. संस्थितौ—ख० ।

चतुरस्रो भवेद्वामः सव्यहस्तश्च रेचितः ।
विज्ञेयौ नृत्ततत्त्वज्ञैरर्धरेचितसंज्ञितौ ॥ १८६ ॥

अर्धरेचित—बाएं हाथ को चतुरस्र तथा दाहिने हाथ को रेचित करना नृत्त के विद्वानों के मत में 'अर्धरेचित' है ॥ १८६ ॥

अञ्चितौ कूर्परांसौ तु त्रिपताकौ करौ कृतौ।[1]
किञ्चित्तिर्यग्गतावेतौ स्मृतावुत्तावञ्चितौ ॥ १८७ ॥

उत्तानवंचित—दो त्रिपताक हस्तों को कुछ तिरछे और कुछ नमाते हुए रखना तथा कन्धों और केहुनियों को हिलाना ॥ १८७ ॥

मणिबन्धनमुक्तौ तु पताकौ पल्लवौ स्मृतौ ।
बाहुशीर्षाद्विनिष्क्रान्तौ नितम्बाविति कीर्तितौ ॥ १८८ ॥

पल्लव—कलाई से दो पताक हस्तों को मिलाना (तथा हाथों को कन्धे के बराबर रखना)

नितम्ब—(पल्लव हस्त को या) दो पताक हस्तों को कन्धे से ऊपर निकाल कर ले जाना ॥ १८८ ॥

केशदेशाद्विनिष्क्रान्तौ परिपार्श्वोत्थितौ[2] तथा ।
विज्ञेयौ केशबन्धौ[3] तु करावाचार्यसम्मतौ ॥ १८९ ॥

केशबन्ध—केश प्रदेश या शिखा पर से ऊपर घुमाकर दोनों (पताक-) हस्तों को दोनों बाजुओं में (सीधा) रखना ॥ १८९ ॥

तिर्यक् प्रसारितौ चैव पार्श्वसंस्थौ तथैव च ।
लताख्यौ च करौ ज्ञेयौ नृत्ताभिनयनं प्रति ॥ १९० ॥

लता—(बन्ध)—दोनों हाथों को तिरछे फैलाकर बाद में दोनों बाजुओं में फैलाकर रखना ॥ १९० ॥

समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात् पार्श्वं विलोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः[4] प्रकीर्तितः ॥ १९१ ॥

करिहस्त—लता हस्त करने के बाद उसे ऊंचा करते हुए एक बाजू से दूसरी बाजू की ओर झुलाना (विलोलित) तथा बाद में एक हाथ का त्रिपताक मुद्रा में कर्ण के समीप रखना ॥ १९१ ॥

---

१. त्रिपताकाकृतौ करौ—ख-ग० । २. परिपार्श्वस्थितौ—ख० ।
३. केशबन्धाख्यौ—ख-ग० । ४. करिहस्तौ प्रकीर्तितौ—ग० ।

कटिशीर्षनिविष्टौ[1] द्वौ त्रिपताकौ यदा करौ ।
पक्षवञ्चितकौ हस्तौ तदा ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिः ॥ १९२ ॥

पक्षवंचितक—एक त्रिपताक हस्त कटि प्रदेश पर तथा दूसरा शीर्ष स्थान (के बराबर–) पर रखना ॥ १९२ ॥

तावेव तु परावृत्तौ पक्षप्रद्योतकौ स्मृतौ ।
अधोमुखतलाविद्धौ ज्ञेयौ गरुडपक्षकौ ॥ १९३ ॥

पक्षप्रद्योतक—पक्षवंचितक हस्तों को उलटे कर देना ।

गरुडपक्ष—पक्षवंचित हस्त को औंधी हथेली करते हुए रखना ॥१९३॥

हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
तथा[2] प्रसारितभुजौ दण्डपक्षाविति स्मृतौ ॥ १९४ ॥

दण्डपक्ष :—दोनों हंसपक्ष हस्तों को क्रमशः उलटे सीधे घुमाकर (तथा) बाद में कोहनी से कंधे तक बाहुओं को सीधे फैलाकर रखना ॥१९४॥

ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तौ ऊर्ध्वदेशविवर्तनात् ।
तावेव पार्श्वविन्यस्तौ पार्श्वमण्डलिनौ स्मृतौ ॥ १९५ ॥

ऊर्ध्वमण्डली—दण्डपक्ष हस्त को ऊपर की ओर गोल (चक्कर) घुमाना ।

पार्श्वमण्डली—एक बाजू में ऊर्ध्वमण्डली हस्तों को रखना ॥ १९५ ॥

उद्वेष्टितो भवेदेको द्वितीयश्चापवेष्टितः[3] ।
भ्रमितावुरसः[4] स्थाने ह्युरोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥ १९६ ॥

उरोमण्डली—एक उद्वेष्टित (ऊपर की ओर उठाए हुए) तथा दूसरे अपवेष्टित (नीचे की ओर झुके हुए) हस्त को वक्षःस्थल के समीप घुमाते हुए रखना ॥ १९६ ॥

अलपल्लवकारालावुरोऽर्धभ्रमणक्रमात्[5] ।
पार्श्वावर्तश्च विज्ञेयावुरःपार्श्वार्धमण्डलौ ॥ १९७ ॥

उरःपार्श्वमण्डल—अलपल्लव तथा अराल हस्तों को आधा घुमाव देकर एक को बाजू में व दूसरे को ऊपर (वक्षःस्थल के समीप) रखना ॥१९७॥

---

१. शीर्षनिविष्टाग्रौ—ग० । २. यथा—ग० ।
३. द्वितीयश्च विवेष्टितः—ग० । ४. भ्रामिता—ख ।
५. अरालपल्लवकरावुरो—ख० ।

हस्तौ तु मणिबन्धान्ते कुञ्चितावञ्चितौ यदा ।
खटकाख्यौ[1] कृतौ स्यातां मुष्टिकस्वस्तिकौ तदा ॥ १९८ ॥

मुष्टिकस्वस्तिक—दो खटकामुख हस्तों की कलाई के कोनो पर झुकाते हुए तथा गोल घुमाव देते हुए उद्वेष्टित करण में रखना ॥ १९८ ॥

पद्मकोशौ यदा हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ[2] ।
नलिनीपद्मकोशौ तु तदा ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिः ॥ १९९ ॥

नलिनीपद्मकोश—पद्मकोष हस्तों को औंधे सीधे (घुमाव देना या) पलटना ॥ १९९ ॥

करावुद्वेष्टिताग्रौ च प्रविधायालपल्लवौ ।
ऊर्ध्वप्रसारिताविद्धौ कर्त्तव्यावुल्बणाविति[3] ॥ २०० ॥

अलपल्लव—दोनों हाथों को ऊपर की ओर घुमाव देते हुए उद्वेष्टित करण में रखना ।

उल्बण—अलपल्लव हस्तों को ऊपर की ओर फैलाकर (कन्धे के बराबर) घुमाया जाना ॥ २०० ॥

पल्लवौ[4] च शिरोदेशे[5] सम्प्राप्तौ ललितौ स्मृतौ ।
कूर्परस्वस्तिकगतौ लताख्यौ वलिताविति[6] ॥ २०१ ॥

ललित—दो पल्लव हस्तों को सिर पर (घुमाव देना) ले जाना ।

वलित—दो लता हस्तों को कलाई पर स्वस्तिक कर देना ॥ २०१ ॥

करणे तु प्रयोक्तव्या नृत्तहस्ता विशेषतः ।
तथार्थाभिनये चैव पताकाद्याः प्रयोक्तृभिः ॥ २०२ ॥

नृत्तहस्तों का विशेष रूप से प्रयोग करणों के निर्माणार्थ करना चाहिए तथा अर्थाभिनय के प्रदर्शन में भी करना चाहिए जैसा कि पताक आदि हस्तमुद्राओं का अर्थ प्रदर्शन हेतु प्रयोग किया जाता है ॥ २०२ ॥

सङ्करोऽपि भवेत्तेषां प्रयोगोऽर्थवशात् पुनः ।
प्राधान्येन पुनस्संज्ञा नाट्ये नृत्ते करेष्विह ॥ २०३ ॥

---

१. कटकाख्यौ तु तौ—ग० । २. व्यावर्त्तं—ग०

३. विज्ञेयावुल्बणावपि—ख; विज्ञेयौ उल्बणाविति—ग० ।

४. एतत् पद्यत्रयं ख-पुस्तके नास्ति । ५. शिरोदेशे—ग० ।

६. ललिताविति—ग० ।

वियुतास्संयुताश्चैव नृत्तहस्ताः प्रकीर्तिताः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि करान्[1] करणसंश्रयान् ॥ २०४ ॥

किन्तु आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग मिश्रित (या आन्तरिक परिवर्तन के साथ) भी हो सकता है पर नाट्य तथा नृत्य में इन हस्तों का इनके कथित नामों (संज्ञाओं) के अनुसार ही प्रयोग होता है। नृत्तहस्त संयुक्त तथा असंयुत दोनों प्रकार के होते हैं। अब मैं करणों[1] से सम्बद्ध 'हस्तों' (की क्रियाओं) को बतलाता हूँ ॥ २०३-२०४ ॥

हस्तकरणों के चार प्रकार :—

सर्वेषामेव हस्तानां नाट्यहस्तनिदेशिभिः[2] ।
विज्ञातव्यं[3] प्रयत्नेन करणन्तु चतुर्विधम् ॥ २०५ ॥
अथावेष्टितमेकं स्यादुद्वेष्टितमथापरम् ।
व्यावर्तितं तृतीयन्तु चतुर्थं परिवर्तितम् ॥ २०६ ॥

नाट्य तथा हस्ताभिनय के विशेषज्ञों ने हाथों के चार विभाग किये हैं। इनको ध्यान से जान लेना उचित है। ये चार करण के विभाग (इस प्रकार) हैं :—(१) आवेष्टित, (२) उद्वेष्टित, (३) व्यावर्तित तथा (४) परिवर्तित ॥ २०५-२०६ ॥

आवेष्ट्यन्ते यदाङ्गुल्यस्तर्जन्याद्या यथाक्रमम् ।
अभ्यन्तरेण करणं तदावेष्टितमुच्यते ॥ २०७ ॥

आवेष्टित—तर्जनी अंगुली से प्रारम्भ होकर सभी अंगुलियाँ वेष्टित होती हो और हाथ गोल घुमाव से रहा हो तो इस करण को 'आवेष्टित' जानो ॥ २०७ ॥

उद्वेष्ट्यन्ते यदाङ्गुल्यस्तर्जन्याद्या[4] बहिर्मुखम् ।
क्रमशः करणं विप्रास्तदुद्वेष्टितमुच्यते ॥ २०८ ॥

उद्वेष्टित—जब तर्जनी से प्रारंभ होकर सभी उंगलियों द्वारा क्रमशः हस्त को बाहरी भाग से आवेष्टित किया जाए और फिर हाथ गोल घुमाव ले तो उसे 'व्यावर्तित' करण जानो ॥ २०८ ॥

---

१. ये 'करण' चतुर्थाध्याय के ताण्डव में प्रयुक्त करणों से भिन्न है।

---

१. करणं हस्तसंश्रयम्—ग० । २. नाट्यहस्ते निदेशिभिः—ख० ।
३. विज्ञातव्या—ख० । ४. तर्जन्या बहिर्मुखाः—ग० ।

आवर्त्यन्ते[1] कनिष्ठाद्या अङ्गुल्योऽभ्यन्तरेण तु ।
यथाक्रमेण[2] करणं तद् व्यावर्त्तितमुच्यते ।। २०९ ।।

व्यावर्तित—यदि कनिष्ठिका उंगली से प्रारंभ हो कर सभी उंगलियों को क्रमशः भीतरी भाग से आवेष्टित किया जाए और हाथ गोल घुमाव ले तो उसे 'व्यावर्तित' करण जानो ।। २०६ ।।

उद्वर्त्यन्ते[3] कनिष्ठाद्या बाह्यतः क्रमशो यदा ।
अङ्गुल्यः करणं विप्रास्तदुक्तं परिवर्तितम् ।। २१० ।।

परिवर्तित—जब कनिष्ठिका उंगली से प्रारम्भ होकर सभी उंगलियां क्रमशः हस्त को बाहरी भाग से आवेष्टित करें और हस्त गोल घुमाव ले तो यह 'परिवर्तित' कहलाता है ।। २१० ।।

नृत्तेऽभिनययोगे च पाणिभिर्वर्तनाश्रयैः ।
मुख-भ्रू-नेत्रयुक्तानि करणानि प्रयोजयेत् ।। २११ ।।

जब नृत्त तथा नाट्य अभिनय की दशा में इन हस्तों को उनकी विभिन्न क्रियाओं में प्रदर्शित किया जाए तो उन्हें मुख, भौंहें तथा नेत्र के अनुसार करणों के द्वारा अनुसृत करते हुए रखा जाए ।। २११ ।।

तिर्यक्[4] तथोर्ध्वसंस्थो ह्यधोमुखश्चाञ्चितोऽपविद्धस्तु ।
मण्डलगतिस्तथा स्वस्तिकश्च पृष्ठानुसारी च ।। २१२ ।।
उद्वेष्टितःप्रसारित इत्येते वै स्मृताः प्रकारास्तु ।
बाह्वोरिति करणगता विज्ञेया[5] नर्तकैर्नित्यम् ।। २१३ ।।

नर्तकों को करणों में स्थित बाहुओं के इन (दस) प्रकारों का सदैव ज्ञान रखना चाहिए । ये हैं (१) तिर्यक् , (२) ऊर्ध्वसंस्थ, (३) अधोमुख, (४) अञ्चित, (५) अपविद्ध, (६) मंडलगति, (७) स्वस्तिक, (८) पृष्ठानुसारी, (९) उद्वेष्टित तथा (१०) प्रसारित ।। २१२–२१३ ।।

---

१. आवर्तन्ते—ग० । २. यत्तु क्रमेण—ग० । ३. उद्वर्तन्ते—ग० ।
४. ग—पुस्तकेतु तिर्यगूर्ध्वगतश्चैव तथाधोमुख एव च ।
आविद्धश्चापविद्धश्च मण्डलस्वस्तिकस्तथा ।।
अञ्चितः कुञ्चितश्चैव पृष्ठगश्चेतिचोदिदः ।
बाहुप्रकारो दशधा नाट्यनृत्तप्रयोक्तृभिः ।। इत्यधिकम् ।
५. विज्ञेया निवर्तकैः—ख० ।

हस्तानां करणविधिर्मया समासेन निगदितो विप्राः
अत ऊर्ध्वं व्याख्यास्ये हृदयोदरपार्श्वकर्माणि ॥ २१४ ॥

हे मुनिजन, इस प्रकार संक्षेप में मैंने करणों की हस्ताभिनय द्वारा होने वाली विधि बतलाई। अब मैं हृदय, (वक्षस्थल) उदर तथा बाजुओं के अभिनय कार्यों को बतलाता हूँ ॥ २१४ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे हस्ताभिनयो नाम नवमोऽध्यायः[1] ॥



॥ भरतनाट्यशास्त्र का 'हस्ताभिनय' नामक नवम अध्याय समाप्त ॥



१. क० ख—पुस्तकयोर्नात्राध्यायसमाप्तिः।

दशमोऽध्यायः

वक्षःस्थल—भेद, लक्षण तथा योजना

आभुग्नमथ निर्भुग्नं तथा चैव प्रकम्पितम् ।
उद्वाहितं समश्चैव ह्युरः[1] पञ्चविधं स्मृतम् ॥ १ ॥

वक्षःस्थल के पांच प्रकार हैं। यथा—(१) आभुग्न, (२) निर्भुग्न, (३) प्रकम्पित, (४) उद्वाहित तथा (५) सम ॥ १ ॥

निम्नमुन्नतपृष्ठञ्च व्याभुग्नांसं[2] श्लथं क्वचिद् ।
आभुग्नं तदुरो ज्ञेयं कर्म चास्य निबोधत ॥ २ ॥
सम्भ्रमविषादमूर्च्छाशोकभयव्याधिहृदयशल्येषु[3] ।
कार्यं शीतस्पर्शे वर्षे लज्जान्विते[4]ऽर्थवशात् ॥ ३ ॥

आभुग्न—यदि स्कन्ध झुके हुए, पीठ उठी हुई तथा वक्षःस्थल और दोनों कन्धे नीचे झुके हों तो 'आभुग्न' वक्षस्थल कहलाता है। इसकी योजना सम्भ्रम, विषाद, मूर्च्छा, शोक, भय, व्याधि, हृदयशल्य, शीतस्पर्श, वर्षा तथा लज्जा में (आवश्यकतानुसार) की जाती है ॥ २-३ ॥

स्तब्धञ्च निम्नपृष्ठञ्च निर्भुग्नांसं[5]समुन्नतम् ।
उरो निर्भुग्नमेतद्धि कर्म चास्य निबोधत ॥ ४ ॥
स्तम्भे मानग्रहणे विस्मयदृष्टे च सत्यवचने च ।
अहमिति च दर्पवचने गर्वोत्से[6]के च कर्त्तव्यम् ॥ ५ ॥

निर्भुग्नः—यदि वक्षःस्थल दृढ़, पीठ झुकी हुई तथा कन्धे (न झुक कर) उठे हुए हों तो उसे 'निर्भुग्न' वक्षःस्थल जानो।

इसकी योजना स्तम्भ, मान, विस्मयपूर्वक अवलोकन, सत्यवचन, 'अहम्' (गर्वयुक्त) वचन तथा गर्वातिशय (उत्सेक) में करनी चाहिए ॥४-५॥

[दीर्घनिःश्वसिते चैव जृम्भणे मोटने तथा ।
बिब्वोके च पुनः स्त्रीणां तद्विज्ञेयं प्रयोक्तृभिः]

---

१. उरः—ग० २ व्याभुग्नं संश्लथं—ख-ग ।
३. शिल्पेषु—ख० । ४. लज्जायिते—ग० ।
५. निर्भुग्नांसं समुन्नतम्—ग० । ६. गर्वोत्साहे तु—ग० ।

(प्रक्षिप्त—दीर्घनिश्वास, जृम्भा, अंगों के मरोड़ने तथा स्त्रियों के विब्वोक की दशा में भी प्रयोक्ताजन इसकी योजना करें ।)

ऊर्ध्वंक्षेपैरुरो यत्र[1] निरन्तरकृतैः कृतम् ।
प्रकम्पितञ्च तज्ज्ञेयमुरो नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ ६ ॥

प्रकम्पित—यदि वक्षःस्थल निरन्तर फुलाया तथा सिकुड़ाया जाए तो 'प्रकम्पित' वक्षःस्थल कहलाता है ॥ ६ ॥

हसितरुदितेषु[2] कार्यं श्रमे भये श्वासकासयोश्चैव ।
हिक्के दुःखे च तथा नाट्यज्ञैरर्थयोगेन ॥ ७ ॥

इसकी योजना हास्य, रुदन, श्रम, भय, श्वास, कास, हिक्का तथा दुःख की दशा में स्थिति के अनुसार करनी चाहिये ॥ ७ ॥

उद्वाहितं तूर्ध्वकृतमुरो[3] ज्ञेयं प्रयो[4]क्तृभिः ।
[5]दीर्घोच्छ्वासोन्नतालोके जृम्भणादिषु चेष्यते ॥ ८ ॥

उद्वाहित—यदि वक्षःस्थल को उठा हुआ रखे तो 'उद्वहित' वक्षःस्थल होता है । इसे दीर्घ उच्छ्वास, ऊँची वस्तु का अवलोकन तथा जंभाई लेने की अवस्था में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ८ ॥

सर्वैरेवाङ्ग[6]विन्यासैश्चतुरश्रकृतैः कृतम् ।
उरः समन्तु विज्ञेयं स्वस्थं सौष्ठवसंयुतम् ॥ ९ ॥

सम—सभी अवयव चतुरस्र हों (समान रहे) तथा सौष्ठव युक्त हों तो (वह) वक्षःस्थल 'सम' (स्वाभाविक) कहलाता है । इसे स्वाभाविक दशा के अभिनय में प्रयुक्त करें ॥ ९ ॥

पार्श्व—भेद लक्षण तथा योजना—

एतदुक्तं मया सम्यगुरसस्तु विकल्पनम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि पार्श्वयोरिह लक्षणम् ॥ १० ॥

इस प्रकार मैंने वक्षःस्थल के विभेद बतलाए । अब मैं 'पार्श्व' (कोख) के लक्षण बतलाता हूँ ।

---

१. यत्तु—ग० ।

२. हसितरुदितादिसम्भ्रमश्रमव्याधिपीडितार्थेषु । नानाभावोपगतं कार्यमुरो नाट्ययोगेषु ॥—ग० ।

३. मूर्ध्वगत—ग० । ४. प्रयोगतः—ग० ।

५. दीर्घोच्छ्वसनता—ग । ६. सर्वैः ससौष्ठवैरङ्गैः—ग० ।

नतं समुन्नतञ्चैव प्रसारितविवर्तिते ।
तथा[1]पसृतमेवन्तु पार्श्वयोः कर्म पञ्चधा ॥ ११ ॥

पार्श्व के पांच प्रकार हैं । यथा—(१) नत, (२) समुन्नत, (३) प्रसारित, (४) विवर्तित तथा (५) अपसृत ॥ ११ ॥

कटी[2] भवेत्तु व्याभुग्ना पार्श्वमाभुग्नमेव च ।
तथैवापसृतांसञ्च किञ्चित्पार्श्वं नतं स्मृतम् ॥ १२ ॥

नत—यदि कटी तथा उसी ओर की पार्श्व (बाजू) थोड़ी झुकी हुई और कन्धा नमता हुआ रखा जाए तो 'नत' पार्श्व जानो ॥ १२ ॥

नतस्यै[3]वापरं पार्श्वं विपरीतन्तु युक्तितः ।
कटिपार्श्वभुजांसैश्चा[4]भ्युन्नतैरुन्नतं भवेत् ॥ १३ ॥

समुन्नत—यदि, दूसरी बाजू (जो कि नत पार्श्व की हो) उठी हुई रहे तथा कटि, पार्श्व, भुजा और कन्धा भी (जिसके कारण) उठा हुआ हो तो 'समुन्नत' पार्श्व जानो ॥ १३ ॥

आयामनादुभयतः पार्श्वयोः स्यात् प्रसारितम् ।
प[5]रिवर्तात् त्रिकस्यापि विवर्तितमिहेष्यते ॥ १४ ॥

प्रसारित—यदि कोख की दोनों बाजुओं को उनकी अपनी दिशा में फैलाया जाए तो 'प्रसारित' पार्श्व होता है ।

विवर्तित—यदि त्रिक (पीठ) को एक घुमाव दिया जाए तो 'विवर्तित' पार्श्व होता है ॥ १४ ॥

वि[6]वर्तनापनयनाद् भवेदपसृतं पुनः ।
पार्श्वलक्षणमित्युक्तं विनियोगं निबोधत ॥ १५ ॥

अपसृत—यदि विवर्तित (पार्श्व) की स्थिति से पार्श्व-भाग पुनः अपनी मूल-स्थिति में आ जाए तो उसे 'अपसृत' पार्श्व जानो । (इस प्रकार) मैंने पार्श्वलक्षण बतलाए अब इनकी योजना सुनिये ॥ १५ ॥

उपसर्पे नतं कार्यमुन्नतं चापसर्पणे ।
प्रसारितं प्रहर्षादौ परि[7]वृत्ते विवर्तितम् ॥ १६ ॥

---

१. तथा प्रसृतमेतत्तु—ग० ।   २. कटिर्भवेत्तु—ग० ।
३. तस्यैव चापरं—ख०, ग० ।   ४. श्चाप्युन्नतैः—ख० ।
५. परिवर्तित्रिकस्यापि—ख–ग० ।
६. विवर्तितोपनयनात्—ख०, विवर्तितापनयनात्—ग० ।
७. परिवर्तौ—ग० ।

विनिवृत्ते त्वपसृतं पार्श्वमर्थवशाद् भवेत् ।
एतानि पार्श्वकर्माणि जठरस्य निबोधत ॥ १७ ॥

किसी व्यक्ति के पास आने में 'नत' की, पीछे खिसकने में 'समुन्नत' की, अतिहर्ष में 'प्रसारित' की, पीछे घूमने में 'विवर्तित' की तथा लौटने (विनिवृत्त-सीधे घूमने) में 'अपसृत' की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार पार्श्व (कोख) के ये भेद तथा कार्य बतलाए हैं। अब मैं उदर के लक्षण बतलाता हूँ ॥ १६-१७ ॥

उदर—(*भेद, लक्षण तथा योजना*)

क्षामं खल्वञ्च पूर्णञ्च सम्प्रोक्तमुदरं त्रिधा ।
तनु क्षामं नतं खल्वं पूर्णमाध्मातमुच्यते ॥ १८ ॥

उदर के तीन प्रकार हैं। (१) क्षाम, (२) खल्व तथा (३) पूर्ण। इनमें दुबला या खिंचा हुआ उदर 'क्षाम', झुका हुआ 'खल्व' तथा भरा हुआ 'पूर्ण' कहलाता है ॥ १८ ॥

क्षामं हास्ये[1]ऽथ रुदिते निःश्वासे जृम्भणे भवेत् ।
व्याधिते त[2]पसि श्रान्ते क्षुधार्ते खल्वमिष्यते ॥ १९ ॥
[3]पूर्णमुच्छ्वसिते स्थूले व्याधितात्यशनादिषु ।

योजना—हास्य, रुदन, निश्वास तथा जंभाई लेने में 'क्षाम' की, बीमारी, तपस्या, थकावट तथा भूख में 'खल्व' की तथा उच्छ्वास, स्थूलता, व्याधि तथा अतिशय भोजन करने में 'पूर्ण' उदर की योजना करना चाहिए।

[क्षा[4]मं खल्वं समं पूर्णमुदरं स्याच्चतुर्विधम् ।]

(*प्रक्षिप्त—क्षाम, खल्व, सम तथा पूर्ण भेद से उदर के चार प्रकार हैं*)

इत्येतदु[5]दरस्योक्तं कर्म[6]कट्या निबोधत ॥ २० ॥

इस प्रकार मैंने उदर के कार्य बतलाए। अब मैं कटि के कार्य बतलाता हूँ ॥ १९-२० ॥

---

१. हासे च—ग० । २. तपसा—क० ।
३. पूर्णमुच्चलितं स्थूले व्याधितन्द्राशनादिषु—ख-ग० ।
४. एतत्पद्यार्धं ग—पुस्तके नास्ति । ५. इत्येतदुदरं प्रोक्तं—ग० ।
६. कट्याः कर्म—ग० ।

कटि—(भेद, लक्षण तथा योजना)

छिन्ना चैव निवृत्ता च रेचिता कम्पिता तथा।
उद्वाहिता चेति कटी नाट्ये[1] नृत्ते च पञ्चधा ॥ २१ ॥

नाट्य तथा नृत्त में उपयोगी 'कटि' के पांच प्रकार हैं :—(१) छिन्ना, (२) निवृत्ता, (३) रेचिता, (४) कम्पिता तथा (५) उद्वाहिता।

कटी मध्यस्य वलनाच्छिन्ना सम्परिकीर्तिता।
पराङ्मुखस्याभिमुखी निवृत्ता स्यान्निवर्तिता ॥ २२ ॥
सर्वतो भ्रमणाच्चापि विज्ञेया रेचिता कटी।
तिर्यग्गतागता[2] क्षिप्रं कटी ज्ञेया प्रकम्पिता ॥ २३ ॥
नितम्बपार्श्वोद्वहनाच्छनैरुद्वाहिता[3] कटी।

बीच से (मध्य-भाग में) लचकती हुई रहनेवाली कटि 'छिन्ना' कहलाती है, सामने की ओर घुमाव देकर फिर सामने की ओर उठाकर रखने या लौटाने पर 'निवृत्ता', चारों ओर घुमाव देने पर 'रेचिता', द्रुतगति से आड़ी तिरछी आने जाने वाली 'कम्पिता' तथा बगल और नितम्ब भाग से ऊपर की ओर धीरे-धीरे उठाने पर 'उद्वाहिता' कटि कहलाती है ॥ २२–२४ ॥

कटिकर्म[4] मया प्रोक्तं विनियोगं निबोधत ॥ २४ ॥
छिन्ना व्यायामसम्भ्रान्तव्यावृत्त प्रेक्षणादिषु।
निवृत्ता वर्तने चैव रेचिता भ्रमणादिषु[5] ॥ २५ ॥
कुब्ज-वामन-नीचानां गतौ कार्या प्रकम्पिता।
स्थूलेष्वुद्वाहिता योज्या स्त्रीणां लीलागतेषु च ॥ २६ ॥

इस प्रकार मैंने कटि (कर्म) के लक्षण बतलाए अब मैं इनकी योजना बतलाता हूँ।

'छिन्ना' की व्यायाम, भ्रान्ति तथा पीछे घूम कर देखने में, गोल, घूमने में 'निवृत्ता' की, भ्रमण आदि सामान्य क्रियाओं में 'रेचिता' की, कूबड़े (कुब्ज), बौने तथा नीच प्रकृति के पुरुषों की चाल में 'प्रकम्पिता' की तथा स्थूल पुरुष और स्त्रियों की लीला-पूर्ण (ललित) गति में 'उद्वाहिता' कटि की योजना करनी चाहिए ॥ २४-२६ ॥

---

१. नाट्यनृत्ते—ग०। २. तिर्यग्गता गताक्षिप्ता—ख–ग०।
३. नितम्बोद्वहनाच्चैव क्रमेणोद्वाहिता स्मृता—क०।
४. पुनश्चासां प्रवक्ष्यामि विनियोग-प्रयोजनम्—क–ख०।
५. भ्रमणेषु च—ग०।

उरू—(भेद एवं लक्षण)

कम्पनं वलनञ्चैव स्तम्भनोद्वर्तने तथा ।
विवर्तनञ्च पञ्चैतान्यूरु-कर्माणि योजयेत् ॥ २७ ॥

उरू (पिंडलियां) की पांच अवस्थाएं होती हैं । (१) कम्पन, (२) वलन, (३) स्तम्भन, (४) उद्वर्तन तथा, (५) विवर्तन ॥ २७ ॥

नमनोन्नमनात् पार्ष्णेर्मुहुः स्यादूरुकम्पनम् ।
गच्छेदभ्यन्तरं जानु यत्तु तद्वलितं स्मृतम् ।
स्तम्भनञ्चात्र विज्ञेयमपविद्धक्रियात्मकम् ॥ २८ ॥
वलिता विद्धकरणादुद्वर्तनमितीरितम् ।
पार्ष्णिरभ्यन्तरं गच्छेद्यत्र तत्तु निवर्तनम् ॥ २९ ॥

बार-बार पैर की एड़ी के अग्रभाग (पार्ष्णि) को ऊपर तथा नीचे घुजाना (या लेजाना) 'कम्पन' कहलाता है । पैर घुटने के अन्दर के भाग में रहें और पिंडलियां गति शील हो तो 'वलित'; स्थिर गति रखना 'स्तम्भन', घुटनों को सिकुड़ाना तथा हिलाना 'उद्वर्तन' तथा पैर की एड़ी को अन्दर की ओर सिकुड़ाना 'विवर्तन' कहलाता है ॥ २८-२९ ॥

गतिष्वधमपात्राणां भये चापि हि कम्पनम् ।
वलनञ्चैव कर्त्तव्यं स्त्रीणां स्वैरपरिक्रमे ॥ ३० ॥
साध्वसे च विषादे च स्तम्भनं सम्प्रयोजयेत् ।
व्यायामे ताण्डवे चैव कार्यमुद्वर्तनं बुधैः ॥ ३१ ॥
निवर्तनञ्च कर्तव्यं सम्भ्रमादि परिक्रमे ।

योजना—अधमपात्रों की चाल (गति) तथा भय की दशा में 'कम्पन' की, स्त्री की यथेच्छ गति में 'वलन' की, भय और विषाद की अवस्था में 'स्तम्भन' की, व्यायाम तथा ताण्डवनृत्य में 'उद्वर्तन' की तथा भ्रान्त और घूमने की दशा में 'निवर्तन' की योजना करनी चाहिए ॥ ३०-३२ ॥

---

१. निवर्तनञ्च—ग० । २. कारयेत्—ख०—ग० ।
३. दभ्यन्तराज्जानु यत्र—ग० ।
४. स्तम्भनं चापि विज्ञेयमपवृत्तक्रियात्मकम्—ख०, ग० ।
५. दूर्वोरुद्वर्त्तनं स्मृतम्—ख–ग० । ६. तत्र—ख–ग० ।
७ स्तम्भनन्तु प्रयोजयेत्—ग० । ८. परिभ्रमे – ख–ग० ।

यथा दर्शनमन्यच्च लोकाद् ग्राह्यं प्रयोक्तृभिः ॥ ३२ ॥
इत्यूर्वोर्लक्षणं प्रोक्तं जङ्घ[1]योस्तु निबोधत ।

इसके अतिरिक्त उरू की अन्य क्रिया तथा अवस्थाएं प्रयोक्ता जन कार्य के अनुसार लौकिक स्थिति से ग्रहण करें । इस प्रकार 'उरू' का वर्णन किया गया । अब 'जंघाओं' का कार्य कहता हूँ, उन्हें भी जानिये ॥३२-३३॥

जंघा—(भेद एवं लक्षण)

आवर्तितं नतं क्षिप्तमुद्वाहितमथापि वा ॥ ३३ ॥
परिवृत्तं तथा चैव जङ्घा कर्माणि पञ्चधा ।
वामो दक्षिणपार्श्वेन दक्षिणाच्चापि वामतः ॥ ३४ ॥
पादो यत्र व्रजेद्विप्रास्तदावर्तितमुच्यते[2] ।
जा[3]नुनः कुञ्चनाच्चैव नतं ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ॥ ३५ ॥
विक्षेपाच्चापि जङ्घायाः क्षिप्तमित्यभिधीयते[4] ।
उद्वाहितञ्च विज्ञेयमूर्ध्वमुद्वाहनादिह ॥ ३६ ॥
प्रतीपनयनं यत्तु[5] परिवृत्तं तदुच्यते ।

जंघा के पांच भेद होते हैं :—(१) आवर्तित, (२) नत, (३) क्षिप्त, (४) उद्वाहित तथा, (५) परिवृत्त ।

यदि बायां पैर सीधी ओर तथा सीधा पैर बायीं ओर घूमे तो 'आवर्तित', जंघा को सिकुड़ाने (कुंचनात्—झुकाने) पर 'नत', जंघा को झटके से आगे फेंकने पर 'क्षिप्त', जंघा को ऊपर (की ओर) उठाने को 'उद्वाहित' तथा पीछे की ओर मोड़ने (या 'उद्वाहित' के विपरीत बढ़ाने) को 'परिवृत्त' जानो ॥ ३३-३७ ॥

आवर्तितं प्रयोक्तव्यं वि[6]दूषकपरिक्रमे ॥ ३७ ॥
नतञ्चापि हि कर्तव्यं स्थानासनगतादिषु ।
क्षिप्तं व्यायामयोगेषु ताण्डवे च प्रयुज्यते ॥ ३८ ॥

---

१. जंघायास्तु—ग० ।

२. जंघास्वस्तिकयोगेन क्रमादावर्तितं भवेत्—इति क-पुस्तके प्रक्षिप्तमधिकञ्च ।

३. जानुनः कुञ्चनं वापि—ग० ।

४. नतं स्याज्जानुनमनाद् क्षिप्तं विक्षेपणाद्बहिः—क–ख० ।

५. यत्तत्—ग० ।　　६. सम्भ्रमातिपरिक्रमे—ख–ग० ।

तथा चोद्वाहितं कार्यमाविद्धगमनादिषु ।
ताण्डवादौ प्रयोक्तव्यं परिवृत्तं प्रयोक्तृभिः ॥ ३९ ॥

योजना—विदूषक की गति में आवर्तित की, स्थिति (खड़े होने) तथा आसन ग्रहण करने में 'नत' की, व्यायाम तथा ताण्डवनृत्य में 'क्षिप्त' की आविद्ध (वक्र) गति आदि में 'उद्वाहित' की तथा ताण्डव आदि के प्रस्तुतीकरण में 'परिवृत्त' जंघा की योजना करनी चाहिए ॥ ३७-३९ ॥

पादकर्म—(लक्षण तथा योजना)

[2]इत्येवं जङ्घयोः कर्म पादयोस्तु निबोधत ।
उ[3]द्घट्टितः समश्चैव तथाग्रतलसञ्चरः ॥ ४० ॥
अञ्चितः कुञ्चितश्चैव[4] पादः पञ्चविधः स्मृतः ।

मैंने ये जंघा के कार्य बतलाए । अब आप पैरों के कार्य सुनिये ।

पादकर्म के पांच भेद हैं । (१) उद्घट्टित, (२) सम, (३) अग्रतलसंचर, (४) अंचित तथा (५) कुंचित ।

स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते ॥ ४१ ॥
यस्य पादस्य करणे भवेदुद्धट्टितस्तु सः ।
अयमुद्धट्टितकरणेष्वनुकरणार्थं प्रयोगमासाद्य ॥ ४२ ॥
द्रु[6]तमध्यमप्रचारः सकृदसकृद्वा प्रयोक्तव्यः ।

पैरों से पंजे के बल खड़े होकर एड़ी से भूमि का स्पर्श करने पर 'उद्घट्टित पाद' होता है । इसको अनुसरण करने तथा एक या अनेक बार होने वाली द्रुत और मध्यम गति में संयोजित किया जाता है ॥४१-४३॥

स्वभावर[7]ँचितो भूमौसमस्थार्नश्च यो भवेत् ॥ ४३ ॥
स[9]मपादः स विज्ञेयः स्वभावाभिनयाश्रयः ।
स्थिरः स्वभावाभिनये नानाकरणसंश्रये ॥ ४४ ॥
च[10]लितश्च पुनः कार्यो विधि[11]ज्ञैः पादरेचिते ।
स[12]मस्यैव यदा पार्ष्णिः पादस्याभ्यन्तरे भवेत् ॥ ४५ ॥

---

१. कुर्यादाविद्ध—ग० । २. इत्येतज्जङ्घयोः—ग० ।
३. उद्धट्टितं समञ्चैव—ख–ग० ।
४. कुञ्चितः सूचीपादः षोढा प्रकीर्तितः——ख० । ५. अयमुद्वेष्टित—क० ।
६. द्रुतमध्यम—ख–ग० । ७. स्वभावरचिते—ग० । ८. समस्थाने—ग० ।
९. समः पादः—ख-ग० । १०. चलिताश्च—ग० ।
११. विक्षेपः—ख० ग० । १२. एतत् श्लोकद्वयं—ख-ग-पुस्तके नास्ति ।

बहिः पार्श्वस्थितोऽङ्गुष्ठस्त्र्यश्रपादस्तु स स्मृतः ।
कृत्वा समपदं स्थानम् अश्वक्रान्तं तथैव च ॥ ४६ ॥
स्याद्विक्लवादिष्वर्थेषु त्र्यश्रः पादो यथाविधि ।

स्वाभाविक रूप से समतल भूमि पर स्थापित पैर को 'समपाद' कहते हैं। इसका स्वभाविक अभिनय में उपयोग होता है।

विभिन्न करणों से युक्त स्वाभाविक स्थिति को प्रदर्शित करने में स्थिर 'समपाद' रखना चाहिए तथा 'रेचक' अवस्था के प्रदर्शित करने में (इसे) चलित दशा में रखते हैं।

समपाद में ही पैर का पंजा (पार्ष्णि) दूसरे पैर के अन्दर चला जाए और अंगूठा एक बाजू बाहर टिका रहे तो 'त्र्यश्रपाद' जानो।

समपादस्थान तथा अश्वक्रान्तस्थान के प्रदर्शन करने के उपरान्त विक्लवादि भावों की अभिव्यक्ति के लिये 'त्र्यश्रपाद' का विधिवत् प्रयोग किया जाता है ॥ ४३-४७ ॥

[अस्यैव[1] समपादस्य पार्ष्णिरभ्यन्तरे भवेत् ।
त्र्यश्रपादः स विज्ञेयः स्थानकादिषु संश्रयः ॥]

(प्रक्षिप्त—यदि इसी 'समपाद' में पंजा अन्दर रख ले तो त्र्यश्रपाद होता है। इसका स्थानग्रहण करने आदि में प्रयोग किया जाए।)

उत्क्षिप्ता तु भवेत् पार्ष्णिः प्रसृतो[2]ऽङ्गुष्ठकस्तथा ॥ ४८ ॥
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः पादे[3]ऽग्रतलसञ्चरे ॥ ४९ ॥

यदि एड़ी उठी हुई, अंगूठा आगे की ओर फैला हुआ और उंगलियां झुकी हुई हो तो 'अग्रतल-संचर' नामक पाद होता है ॥ ४८-४९)

तोदन[4]निकुट्टने स्थितनिशुम्भने भूमिताडने भ्रमणे ।
विक्षेप विविधरेचकपार्ष्णिक्षता[5]गमनमेतेन ॥ ५० ॥

प्रेरणा, कूटना (तोड़ना), स्थित होना (स्थानक दशा में) (ठोकर से) पीटना, पृथ्वी की ताड़ना करना, भ्रमण, (किसी वस्तु का) फेंकना, विभिन्न रेचक गतियों की दशा में तथा एड़ी के बल आने में 'अग्रतलसंचर' पाद की योजना की जाएं।

१. अयं श्लोकः क-पुस्तके प्रक्षिप्तः। २. पार्ष्णिरञ्चितो—ग०।
३. पादोऽग्रतलसञ्चरः—ख-ग०।
४. नोदन-निकुट्टिते स्थितनिसुंभिते भूमिताडनभ्रमणे—ग०।
५ पार्ष्णिक्षताग्रगमन—ख-ग०।

पार्ष्णिर्यस्य स्थिता भूमौ[1] पादमग्रतलन्तथा ।
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः स पादोऽञ्चित[2] उच्यते ॥ ५१ ॥

एड़ी भूमि पर टिकी हो, पंजा ऊपर उठा हुवा तथा उंगलियां सिकुड़ी हुई (झुकी हुई) रहे तो 'अंचित' पाद कहलाता है ।

पादाग्रस्थितसञ्चारे वर्तितोद्वर्तिते तथा ।
[3]एष पादाहते कार्यो नाना भ्रमरकेषु च ॥ ५२ ॥

पंजों के बल खड़े होकर चलने, किसी ओर घूमने और लौटने (वर्तितोद्वर्तिते), पैर से पीटने तथा भ्रमरी-चारी के प्रदर्शन में इस अञ्चित पाद की योजना करनी चाहिए ॥ ५२ ॥

उत्क्षिप्ता यस्य पार्ष्णिः स्यादङ्गुल्यः कुञ्चितास्तथा ।
तथाकुञ्चितमध्यश्च स पादः कुञ्चितः स्मृतः ॥ ५३ ॥

जिसमें एड़ी ऊपर उठाई हुई, उंगलियां सिकुड़ी हुई तथा पैर का आधा भाग (मध्यभाग) नमा हुआ रहे तो 'कुंचित' पाद कहलाता है ॥ ५३ ॥

उदात्तगमने चैव वर्तितोद्वर्तिते तथा ।
अतिक्रान्तक्रमे चैव पादमेतं प्रयोजयेत् ॥ ५४ ॥

शिष्टजन की चाल (उदात्तगमन), सीधी ओर घूमने, लौटने और अतिक्रान्ताचारी के प्रदर्शन में इस कुञ्चित पाद की योजना करनी चाहिए ॥ ५४ ॥

[[5]उत्क्षिप्ता तु भवेत् पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः[6] ।
वामश्चैव स्वभावस्थः सूचीपादः प्रकीर्तितः ॥
[7]नृत्ते नूपूरकरणेच प्रयोगस्तस्य कीर्[8]तितः ।]

[प्रक्षिप्त—यदि (दाहिने पैर की) एड़ी उठी हुई, पंजा अंगूठे के बल पर टिका हुआ तथा बायां पैर स्वाभाविक दशा में खड़ा रखा जाए तो 'सूची' पाद कहलाता है ।

इस पाद की नृत्त तथा नूपुर धारण में योजना करनी चाहिए ।]

---

१. भूमावूर्ध्वमग्रतलं तथा—ख० । २. स पादस्त्वञ्चितः स्मृतः—ग० ।
३. अतिकान्तक्रमे चैव पादमेतं प्रयोजयेत्—ख० ।
४. पद्यार्धमेतत्—ख०—पुस्तके नास्ति ।
५. उत्क्षिप्तं तु—ग० । ६. संस्थिता—ग० ।
७ नृत्तेऽन्तःपुरकरणे—ख० । ८. कीर्त्यते—ग० ।

पादजङ्घोरुकरणं समं कार्यं प्रयोक्तृभिः ।
पादस्य करणं[1] सर्वं जङ्घोरुकृतमिष्यते ॥ ५५ ॥

नाट्यप्रयोक्ता पाद, जंघा तथा उरू की गतियों को एक साथ ही प्रयुक्त करें क्योंकि पैरों की गति के प्रदर्शन करने में जंघा तथा उरू की गतियां भी सम्मिलित रहती ही हैं ॥ ५५ ॥

यथा पादः प्रवर्तेत तथैवोरुः प्रवर्तते ।
तयोः[2] समानकरणात् पादचारीं प्रयोजयेत् ॥ ५६ ॥

क्योंकि पैर जिधर घूमता है पिंडली भी उसी ओर जाएगी, (तथा जंघा भी) इसी कारण इन (दोनों) की (समान) गति से 'पादचारी' बनती है ॥

इत्येतदङ्गजं प्रोक्तं लक्षणं कर्म चैव हि ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि चारीव्यायामलक्षणम् ॥ ५७ ॥

यह मैंने विभिन्न अंगों का अभिनय बतलाया । अब मैं (विभिन्न) चारियों के भेद एवं लक्षण (अगले अध्याय में) बतलाऊंगा ॥ ५७ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे शारीराभिनयो[3] नाम दशमोऽध्यायः ।



॥ भरतनाट्य शास्त्र का शारीराभिनय नामक दसवां अध्याय समाप्त ॥



१. करणं ग०—। २. अनयोः—ग० ।
३. अङ्गिकाभिनयो नाम नवमोऽध्यायः—क०: ख० ।

एकादशोऽध्यायः

चारी विधान

[1]चारी—

एवं पादस्य जङ्घाया ऊरोः[1] कट्यास्तथैव च ।
समान[2]करणे चेष्टा चारीति परिकीर्तिता ॥ १ ॥

(हाथ) पैर, जंघा, ऊरू तथा कटि (आदि) अङ्गों की एक साथ (निर्दिष्ट पद्धति से) चलनात्मक चेष्टा 'चारी' कहलाती है ॥ १ ॥

[3]विधानोपगताश्चार्यो व्यायच्छन्ते[4] परस्परम् ।
यस्मादङ्गसमायुक्तास्तस्माद् व्यायाम उच्यते ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'चारी' शब्द का आशय वर्तमान 'चाल' शब्द से है तथा उसे ही 'चारी' शब्द से यहां निर्दिष्ट किया गया है यही सामान्यतः कहा जा सकता है । कथकलि में 'सारी' तथा मणिपुरी नृत्य में होने वाली 'चाली' इसी शब्द का अपभ्रंश या वर्तमान प्रचलित नाम है जिसे अंग्रेजी में Step कहते हैं । इसे 'चारी' शब्द द्वारा प्रकट कर सकते हैं ।

नाट्यशास्त्र में भौमीचारी तथा आकाशिकी-चारी के ३२ प्रकार बतलाए गए हैं । संगीतरत्नाकर में देशीचारी के अतिरिक्त प्रकार भी बतलाये हैं जो नाट्यशास्त्र के परवर्ती आचार्यों-(कोहल तथा अन्य परवर्ती आचार्यों) द्वारा निरूपित की गई । इनमें ३५ भौमी तथा २९ आकाशिकी चारी है ।

संगीत-रत्नाकर के व्याख्याकार चतुर कल्लिनाथ ने (अपनी व्याख्या में) कोहल का मत उद्धृत करते हुए २५ मधुपाचारी को बतलाया जो अपने 'कुट्टन' विधान के द्वारा चारी-समूह में स्वतंत्र महत्त्व रखती है । आचार्य कोहल ने नृत्याचार्यों की आवश्यकतानुसार चारी में संवर्द्धन या संशोधन को भी मान्यता दी है । इस प्रकार चारी के भेदों के विषय मे प्राचीन एवं मध्यवर्ती नाट्याचार्यों में पर्याप्त मतभेद परिलक्षित होता है । चारी के विषय में संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है । विशेषजिज्ञासुजन-संगीतरत्नाकर ७।९२०-१०२६, भरतार्णव अध्याय ८।४९३-५।४३, के अतिरिक्त अभिनयदर्पण तथा संगीतराज का चारी-वर्णन भी देखें ।

---

१. ऊर्वोः—ख-ग० । २. समानकरणाच्चेष्टा—ख-ग० ।
३. विधानोभयतश्चार्यो—ख-ग० । ४. व्यायच्छन्ति—ख-ग० ।

क्योंकि यह विधान से युक्त (होकर) अङ्गों (अवयवों; हस्त, पैर इत्यादि) को परस्पर सम्बद्ध करती हैं, इसीलिये 'चारी' व्यायाम (भी) कहलाती है ॥ २ ॥

एकपादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता ।
द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्भवेत् ॥ ३ ॥
करणानां समायोगः खण्ड इत्यभिधीयते ।
खण्डैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा संयुक्तैर्मण्डलं भवेत् ॥ ४ ॥

एक पैर के द्वारा भरा जाने वाला डग 'चारी' [१](संचारी) तथा दोनों पैरों से होने वाली गति 'करण' कहलाती है । (तीन) करणों का योग 'खण्ड' तथा तीन या चार खंडों के मिलने पर एक 'मण्डल' बनता है ॥

चारी—उपयोगिता

चारीभिः प्रसृतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा ।
चारीभिः शस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च कीर्तिताः ॥ ५ ॥

चारी से नृत्त व्याप्त है, चारी से ही हलचल (गति आदि) की जाती है तथा शस्त्रों का फेंकना और युद्ध करना भी चारी के द्वारा ही प्रस्तुत होता है ॥ ५ ॥

यदेतत् प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेव संस्थितम् ।
न हि चार्या विना किञ्चिन्नाट्येऽङ्गं सम्प्रवर्तते ॥ ६ ॥

'नाट्य' के रूप में जो भी (वर्णित) है वह सब चारी में ही समाविष्ट जानो; क्योंकि कोई भी नाट्य का विभाग चारी के बिना नहीं होता । (रहता) ॥ ६ ॥

तस्माच्चारीविधानस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
या यस्मिंस्तु यथा योज्या नृत्ते युद्धे गतौ तथा ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ चारी–चारी के संचारी करण, खण्ड तथा मण्डल का आज कहीं प्रयोग नहीं होता, इस विषय में अन्य नृत्य-नाट्य ग्रन्थों में भी केवल उल्लेखात्मक विवरण ही उपलब्ध है ।

---

१. समायोगात्—ग० । २. खण्डमि—ग० ।
३. प्रस्तुतं—ख,–ग० । ४. संज्ञितम्—ग० ।
५. नाट्ये ह्यङ्गं प्रवर्तते—ग० । ६. प्रयोक्तव्या—ख–ग ।

अतएव अब मैं उन (सभी) के लक्षण, विधान (आदि) को बतलाऊँगा जिनकी नृत्य, गति तथा युद्ध में योजना की जाती है ॥ ७ ॥

भौमी चारी तथा आकाशिकी चारी—

समपादा स्थितावर्ता[1] शकटास्या तथैव च ।
अध्यर्धिका चाषगतिर्विच्यवा च तथापरा ॥ ८ ॥
एलकाक्रीडिता बद्धा उरूद्वृत्ता तथाड्डिता ।
उत्स्पन्दिता[2]थ जनिता स्पन्दिता चापस्पन्दिता ॥ ९ ॥
समोत्सारित-मत्तल्ली मत्तल्लीचेति[3] षोडश ।
एता भौम्यस्मृताश्चार्यः,

ये सोलह भौमी चारी हैं—यथा :—(१) समपादा, (२) स्थितावर्ता, (३) शकटास्या, (४) अध्यर्धिका, (५) चाषगति, (६) विच्यवा, (विच्युता), (७) एलकाक्रीडिता, (८) बद्धा, (९) ऊरूद्वृता, (१०) अड्डिता (अंगिता), (११) उत्स्पन्दिता (उत्स्यन्दिता), (१२) जनिता, (१३) स्पन्दिता, (१४) अपस्पन्दिता, (१५) समोत्सारित–मत्तल्ली तथा (१६) मत्तल्ली ॥ ८–१० ॥

शृणुताकाशिकीः पुनः ॥ १० ॥
अतिक्रान्ता ह्यपक्रान्ता पार्श्वक्रान्ता तथैव च ।
ऊर्ध्वजानुश्च सूची च तथा नूपुरपादिका ॥ ११ ॥
डोलापादा तथाक्षिप्ता आविद्धोद्वृत्तसंज्ञिते[4] ।
विद्युद्भ्रान्ता ह्यलाता च भुजङ्गत्रासिता तथा ॥ १२ ॥
मृगप्लुता च दण्डा च भ्रमरी चेति षोडश ।
आकाशिक्यः स्मृता ह्येता लक्षणञ्च निबोधत ॥ १३ ॥

आकाशिकी चारी (मी) सोलह हैं। यथा :—(१) अतिक्रान्ता, (२) अपक्रान्ता, (३) पार्श्वक्रान्ता, (४) ऊर्ध्वजानु, (५) सूची, (६) नूपुरपादिका, (७) दोलपादा (डोलापादा), (८) आक्षिप्ता, (९) आविद्धा, (१०) उद्वृता, (११) विद्युद्भ्रान्ता (विद्युत्क्रान्ता), (१२) अलाता, (१३) भुजंगत्रासिता, (१४) हरिणीप्लुता (मृग-प्लुता) (१५) दण्डा (दण्डपादा), तथा (१६) भ्रमरी। अब मैं इनके क्रमशः लक्षण बतलाता हूँ ॥ ११–१३ ॥

---

१. स्थिता वार्त्ता—ख-ग० । २. उत्स्यन्दिता—ख-ग० ।
३. चापि—ग० । ४. व्याविद्धोद्वृत संं—ख-ग० ।

भौमीचारी—लक्षण

पदैर्निरन्तरकृतैस्तथा समनखैरपि ।
समपादा तु[1] सा चारी विज्ञेया स्थानसंश्रया ॥ १४ ॥

समपादा—दोनों पैरों को पास रखते हुए तथा नखों को बराबर मिलाते हुए अपने स्थान पर स्थित रहने (या खड़े रहने) को 'समपादा' चारी कहते हैं ॥ १४ ॥

भूमिघृष्टेन पादेन कृत्वाभ्यन्तरमण्डलम् ।
पुनरुत्सारयेदन्यं स्थितावर्ता[2] तु सा स्मृता ॥ १५ ॥

स्थितावर्त्ता—यदि भूमि पर रगड़ते हुए एक (अग्रतलसंचर) पाद को ऊपर उठाकर स्वस्तिक दशा बनाते हुए दूसरे पैर को अपने पास खींचे तथा दोनों के पृथक् होने के पश्चात् यही गति पुनः आवृत्त की जाए तो 'स्थितावर्त्ता' चारी होती है ॥ १५ ॥

निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम् ।
उद्वाहितमुरः कृत्वा शकटास्यां[3] प्रयोजयेत् ॥ १६ ॥

शकटास्या—शरीर को सीधा रखते हुए एक चरण को 'अग्रतलसंचर' दशा में सामने (की) ओर रखे तथा छाती को 'उद्वाहित' स्थिति में रखे तो 'शकटास्या' चारी होती है ॥ १६ ॥

सव्यस्य पृष्ठतो वामश्चरणस्तु यदा भवेत् ।
तस्यापसर्पणञ्चैव ज्ञेया साध्यर्धिका बुधैः ॥ १७ ॥

अध्यर्धिका—यदि बाएं पैर की एड़ी (के पिछले भाग) पर दाहिना पैर रखकर फिर उसे पीछे हटाया जाए (तथा यह डेढताल के कालप्रमाण पर हो) तो 'अध्यर्धिका' चारी जानो ॥ १७ ॥

पादः प्रसारितः सव्यः पुनश्चैवोपसर्पितः ।
वामः सव्यापसर्पी च चाषगत्यां विधीयते ॥ १८ ॥

चाषगति—यदि दाहिने पैर को (आगे) फैलाकर फिर पीछें की ओर रख दिया जाए और बायां पैर उसी समय पीछे की ओर रखकर पुनः आगे बढ़ाकर रख दे तो 'चाषगति' चारी जानों ॥ १८ ॥

---

१. स्मृता—ख-ग० । २. स्थिता वार्ता—ख-ग० ।
३. शकटास्यं—ग० ।

विच्यवात् समपादाया विच्यवां सम्प्रयोजयेत् ।
निकुट्टयंस्तलाग्रेण पादस्य धरणीतलम् ॥ १९ ॥

विच्यवा—यदि समपादा चारी के दोनों पैरों को अलग हटा कर (उनके) पञ्जों को पृथ्वी पर (ताल देते हुए) पटकें तो 'विच्यवा' चारी जानों ॥१९॥

तलसञ्चरपादाभ्यामुत्प्लुत्य पतनन्तु यत् ।
पर्यायशश्च क्रियते एडकाक्रीडिता तु सा ॥ २० ॥

एलकाक्रीडिता—यदि तलसंचर पादों से उछाल लेकर पृथ्वी पर क्रमशः गिरता रहे तो 'एलकाक्रीडिता' चारी जानो ॥ २० ॥

अन्योन्य जङ्घासंवेधात् कृत्वा तु स्वस्तिकं ततः ।
ऊरूभ्यां वलनं यस्मात् सा बद्धा चार्युदाहृता ॥ २१ ॥

बद्धा—दोनों जंघाओं को 'स्वस्तिक' बनाकर पिंडलियों को धीरे-धीरे हिलाने पर 'बद्धा' चारी हो जाती है ॥ २१ ॥

तलसञ्चरपादस्य पार्ष्णिर्बाह्योन्मुखी यदा ।
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ऊरूद्वृत्तेति सा स्मृता ॥ २२ ॥

उरूद्वृता—यदि 'तलसंचरपाद' में पञ्जा आगे रख दिया जाए और एक पिंडली थोड़ी नमाकर जंघा को ऊपर उठाले तो 'उरूद्वृत्ता' चारी होती है ॥ २२ ॥

अग्रतः पृष्ठतो वापि पादोऽग्रतलसञ्चरः ।
द्वितीयपादनिर्घृष्टो यस्यां स्यादड्डिता तु सा ॥ २३ ॥

अड्डिता—यदि एक 'अग्रतलसंचर' पैर को आगे या (और) पीछे की ओर पृथ्वी को रगड़ता हुआ रखा जाए तो 'अड्डिता' चारी जानो ॥२३॥

शनैः पादो निवर्तेत बाह्येनाभ्यन्तरेण च ।
यद् रेचकानुसारेण सा चार्युत्स्पन्दितास्मृता ॥ २४ ॥

उत्स्पन्दिता—यदि 'रेचक' के अनुसार दोनों पैरों को क्रमशः एक दूसरे के पीछे घुमाया जाएं (जिससे कि वह आगे आए और पीछे चला जाए) तो 'उत्स्पन्दिता' चारी होती है ॥ २४ ॥

मुष्टिहस्तश्च वक्षस्थः करोऽन्यश्च प्रवर्तितः ।
तलसञ्चरपादश्च जनिता चार्युदाहृता ॥ २५ ॥

---

१. वीच्यवाक् समपादायां—ख-ग० । २. स्तथाग्रेण—ख-ग० ।
३. पर्यायतश्च—ख-ग० । ४. पृष्ठतश्चापि—ख० ।
५. पादस्तु तलसञ्चरः—ख-ग० । ६. चार्युत्सन्दिता—ग० ।

जनिता—यदि एक 'मुष्टि' हस्त छाती पर तथा दूसरा हाथ गोल चक्कर लगाते हुए रखे और पैर 'अग्रतलसंचर' दशा में हो तो 'जनिता' चारी हो जाती है ॥ २५ ॥

पञ्चतालान्तरं पादं प्रसार्य स्यन्दितां न्यसेत् ।
द्वितीयेन तु पादेन तथापस्यन्दितामपि ॥ २६ ॥

स्यन्दिता—यदि एक पैर को दूसरे पैर से पांच ताल के अन्तर से सामने रखी जाए तो 'स्यन्दिता' चारी होती है ।

अप(अव)स्यन्दिता—स्यन्दिता-चारी के ठीक विपरीत (यदि दूसरे पैर को पहले पैर के सामने पांच ताल के अन्तर से) रखा जाए तो 'अवस्यन्दिता' चारी जानों ॥ २६ ॥

तलसञ्चर[1]पादाभ्यां [2]घूर्णमानोपसर्पणैः ।
समोत्सारितमत्तल्ली व्यायामे समुदा[3]हृता ॥ २७ ॥

समोत्सारित मत्तल्ली—यदि तलसंचर पादों से पीछे की ओर गोल चक्कर लगाते हुए जाया जाए तो 'समोत्सारित-मतल्ली' चारी होती है ॥ २७ ॥

उभाभ्यामपि पादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्युदाहृता ॥ २८ ॥

मत्तल्ली—यदि एक गोल चक्कर लगाकर पीछे जाया जाए तथा हस्त उद्वेष्टित तथा पुनः अपविद्ध (गतिहीन) स्थिति में रखे तो 'मत्तल्ली' चारी होती है ॥ २८ ॥

एता भौम्यः[4] स्मृताश्चार्यो नियुद्ध[5]करणाश्रयाः ।
आकाशि[6]कीनां चारीणां सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २९ ॥

ये सभी भौमीचारी कहलाती हैं । इनका प्रयोग बाहुयुद्ध तथा करणों के प्रदर्शन में किया जाता है । अब मैं आकाशिकी-चारी के लक्षण बतलाता हूँ ॥ २९ ॥

आकाशिकी चारी लक्षण :—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
उत्क्षिप्य पातयेच्चैनमतिक्रान्ता तु सा स्मृता ॥ ३० ॥

---

१. सञ्चार—ग० । २. घूर्णमानापसर्पणैः—ख० ।
३. समुदाहृताः—ग० । ४. भौम्यः—ख-ग० ।
५. नियुक्तकरणं—ख-ग० । ६. आकाशकीनां—ग० ।

अतिक्रान्ता—एक 'कुञ्चित' पैर को ऊपर उठाकर सामने फैलाए तथा ऊपर उठाकर (फिर) नीचे पटके तो 'अतिक्रान्ता' चारी जानो ॥ ३० ॥

ऊरूभ्यां वलनं कृत्वा कुञ्चितं पादमुद्धरेत् ।
पार्श्वे विनिक्षिपेच्चैनमपक्रान्ता तु सा स्मृता ॥ ३१ ॥

अपक्रान्ता—यदि दोनों उरूओं (पिंडलियों) के द्वारा 'वलन' (घुमाव) क्रिया को प्रदर्शित कर फिर एक कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर एक बाजू में पटके तो 'अपक्रान्ता' चारी होती है ॥ ३१ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
उद्धट्टितेन पादेन पार्श्वक्रान्ता विधीयते ॥ ३२ ॥

पार्श्वक्रान्ता—यदि पैर को 'कुञ्चित' दशा में ऊपर उठाकर जंघा से ऊपर ले जाए तथा फिर उसी ऊपर उठे हुए पैर को एक बाजू की ओर ले जाए तो 'पार्श्वक्रान्ता' चारी होती है ॥ ३२ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानु स्तनसमं न्यसेत् ।
द्वितीयश्च क्रमस्तब्धमूर्ध्वजानुः प्रकीर्तिता ॥ ३३ ॥

ऊर्ध्वजानु—यदि 'कुंचित' पैर को ऊपर उठाकर और (इसी पैर की) जंघा को छाती के बराबर ऊँचा उठाकर रखा जाए, दूसरी जानु स्तब्ध रखे तथा फिर इसी क्रम से दूसरे पैर को कुञ्चित दशा में ऊपर उठाए और पहले को स्थिर रखे तो 'ऊर्ध्वजानु' चारी होती है ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥ ३४ ॥

सूची—यदि 'कुञ्चित' पैर को जंघा के ऊपर तक ले जाकर फैला दे और फिर इसके पंजे के आगे वाले भाग को जमीन पर पटके तो 'सूची' चारी जानो ॥ ३४ ॥

पृष्ठतो ह्यञ्चितं कृत्वा पादमग्रतलेन तु ।
द्रुतं निपातयेद् भूमौ चारी नूपुरपादिका ॥ ३५ ॥

---

१. च्चैव—ग० ।
२. जानु स्तनसमं न्यसेत्—क०, पार्श्वोत्थानगतिं न्यसेत्-ख०, पार्श्वोत्थानोद्गतिं न्यसेत्—ग० ।
३. क्रमात् स्तब्ध—ख-ग० ।   ४. जानुरूर्ध्वं—ख० ।

नूपुरपादिका—एक 'अंचित' पैर को ऊपर उठाकर दूसरे पैर के पीछे रखे तथा अग्रतलसंचर स्थितिवाले पैर को जल्दी से पृथ्वी पर पटके तो 'नुपूरपादिका' चारी कहलाती है ॥ ३५ ॥

कुंचितं पादमुत्क्षिप्य पा¹र्श्वात् पार्श्वन्तु दोलयेत् ।
पातयेदञ्चितञ्चैव दोलपादा प्र²कीर्तिता ॥ ३६ ॥

दोलपादा—यदि 'कुंचित' पाद को ऊपर उठाकर एक ओर से दूसरी बाजू तक हिलाए तथा 'अंचित' दशा में रख कर पृथ्वी पर पटक दे तो 'दोलपादा' चारी कहलाती है ॥ ३६ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य आक्षि³प्य त्वञ्चि⁴तं न्यसेत् ।
जङ्घा स्वस्तिकसंयुक्ता चाक्षि⁵प्ता नाम सा स्मृता ॥ ३७ ॥

आक्षिप्ता—यदि 'कुञ्चित' पैर को उठाकर जल्दी से 'अंचित' दशा में पृथ्वी पर रख दे तथा जंघाओं को स्वस्तिक करे तो 'आक्षिप्ता' चारी कहलाती है ॥ ३७ ॥

स्वस्तिकस्याग्रतः पादः कुञ्चि⁶तश्च प्रसारितः ।
निपतेदञ्चिताविद्धमाविद्धा नाम सा स्मृता ॥ ३८ ॥

आविद्धा—यदि जंघाओं के स्वस्तिक में एक पैर आगे की ओर फैलाने समय 'कुञ्चित' रखे तथा उसे 'अंचित' पाद बना कर पृथ्वी पर जल्दी से पटके तो 'आविद्धा' चारी जानो ॥ ३८ ॥

पादमाविद्धमावेष्ट्य ⁷समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
परिवृत्य द्वितीयश्च सोद्वृत्ता चार्युदाहृता ॥ ३९ ॥

उद्वृत्ता—यदि 'आविद्ध' चारी की दशा में कुञ्चित पैर को (दूसरी जंघा से) लपेट ले तथा फिर दूसरे को इसी प्रकार बदल कर रखे और ऊपर उठाकर पृथ्वी पर पटके तो 'उद्वृत्ता' चारी होती है ॥ ३९ ॥

पृष्ठतो वलितं पादं शिरोघृष्टं प्रसारयेत् ।
सर्वतो मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्ता तु सा स्मृता ॥ ४० ॥

विद्युद्भ्रान्ता—यदि पीछे की ओर घुमाकर (एक) पैर को मस्तक से

---

१. पार्श्वं पार्श्वं तु—ख-ग० । २. तु सा स्मृता—ग० ।
३. व्याक्षिप्य—ख० । ४. चाञ्चितं—ग० ।
५. उत्क्षिप्ता—ग० । ६. कुञ्चितस्तु—ग० ।
७. समुत्क्षिप्य—ख-ग० ।

रगड़ खाता हुआ फैलाए और चारों ओर एक गोल चक्कर ले ले तो 'विद्युद्भ्रान्ता' चारी होती है ॥ ४० ॥

पृष्ठे प्रसारितः पादो वलितोऽभ्यन्तरीकृतः[1]।
पार्ष्णिप्रपतितश्चैव[2] ह्यलाता सम्प्रकीर्तिता ॥ ४१ ॥

अलाता—यदि एक पैर को पीछे की ओर फैला दे तथा घुमाकर इसे अन्दर रखते हुए दूसरे पैर के पंजे के पास पटके तो 'अलाता' चारी जानों ॥

कुंचितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यश्रमूरुं विवर्तयेत्[3]।
कटीजानु-विवर्त्ताच्च[4] भुजङ्गत्रासिता भवेत् ॥ ४२ ॥

भुजंगत्रासिता—यदि कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर पिंडली को गोल चक्करदार घुमाव दे साथ में कटि तथा जंघा को भी एक गोल घुमाव दे तो 'भुजंगत्रासिता' चारी जानो ॥ ४२ ॥

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा चोत्प्लुत्य[5] विनिपातयेत् ।
जङ्घाञ्चिता[6] परिक्षिप्ता सा ज्ञेया हरिणप्लुता[7] ॥ ४३ ॥

हरिणप्लुता—यदि अतिक्रान्ताचारी में एक उछाल (उत्प्लुत्य) मार कर पृथ्वी पर पैर टिका दे तथा जंघा को अंचित पाद युक्त करते हुए आक्षिप्त दशा में पैर को नीचे पटके तो 'हरिणप्लुता' चारी होती है ॥४३॥

नुपुरं चरणङ्कृत्वा पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
क्षिप्र्तमा[8]विद्धकरणं दण्डपादा तु सा स्मृता ॥ ४४ ॥

दण्डपादा—यदि नपुर (पादिका) चारी को प्रदर्शित कर एक पैर को फैला कर (उसे शीघ्र) पीछे लौटाया जाए तो 'दण्डपादा' चारी कहलाती है ॥

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा त्रिकन्तु परिवर्तयेत् ।
द्वितीयपादभ्रमणात्तलेन[9] भ्रमरी स्मृता ॥ ४५ ॥

भ्रमरी—यदि अतिक्रान्ता चारी को प्रदर्शित करते हुए एक पैर को ऊपर उठाया जाए तथा पीठ को घुमाव दे दे (सारे शरीर को एक गोल चक्कर देकर) और फिर दूसरे पैर को उसके नीचे भाग में घुमाव दे दे तो 'भ्रमरी' चारी कहलाती है ॥ ४५ ॥

---

१. पृष्ठतः सर्वतः पादो वलिताभ्यन्तरीकृतः—ख० ।
२. प्रपादितश्चैव—ग । ३. प्रवर्तयेत्—ग० ।
४. विवर्तेन—ग० । ५. समुत्प्लुत्य विपातयेत्—ग० ।
६. जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता—ख–ग० । ७. हरिणी—ख० ।
८. क्षिप्र—ग० । ९. चचलने—ख० ।

आकाशिक्यः स्मृता ह्येता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः ।
धनुर्वज्रासि[1]शस्त्राणां प्रयोक्तव्या विमोक्षणे ॥ ४६ ॥

ये अङ्गों के ललित संचालन द्वारा होने वाली आकाशिकी चारी हैं । इनकी धनुष, वज्र, असि तथा अन्य शस्त्रों के चलाने में योजना करनी चाहिए ॥ ४६ ॥

अग्रगौ पृष्ठगौ[2] वापि ह्यनुगौ[3] वापि योगतः ।
पादयोस्तु द्विजा हस्तौ कर्तव्यौ नाट्ययोक्तृभिः ॥ ४७ ॥

हे मुनियो, इन सभी प्रदर्शनों के अवसर पर पैरों की गति के अनुसार हस्तों को आगे जानेवाले, पीछे जानेवाले तथा साथ साथ (रहने वाले) रखना चाहिए ॥ ४७ ॥

यतः पादस्ततो हस्तो यतो हस्तस्ततः त्रिकम् ।
पादस्य निर्गमं[4] कृत्वा[5] तथोपाङ्गानि योजयेत् ॥ ४८ ॥

क्योंकि जिधर पैर जाए वहीं हाथ भी (उसका अनुसरण करते हुए) बढ़े तथा जिधर हाथ जाए वहीं शेष शरीर भी घूमे । पाद की एक डग भरने के उपरान्त उपांगों की योजना अभिनय में करनी चाहिए ॥ ४८ ॥

पादचार्यां[6] यथा पादो धरणीमेव गच्छति ।
एवं हस्तं[7] चरित्वा तु कटीदेशं समाश्रयेत् ॥ ४९ ॥

किसी भी 'चारी' के प्रदर्शन (करने) के पश्चात् जैसे पैर भूमि पर रखा जाता है वैसे ही हस्त को अपने इष्ट प्रदर्शन के बाद गोल घुमाव लेकर कटि पर रखना चाहिए ॥ ४९ ॥

एताश्चार्यो मया प्रोक्ता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः ।
स्थानान्यासां[8] प्रवक्ष्यामि सर्वशस्त्रविमोक्षणे ॥ ५० ॥

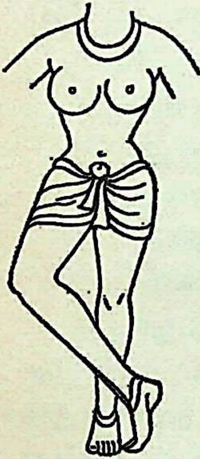
इस प्रकार मैंने ललित आंगिक क्रियाओं से होनेवाली ये चारी बतलायी । अब मैं शस्त्रों को चलाने में योजित किये जाने वाले इनके स्थानों को बतलाता हूँ ॥ ५० ॥

---

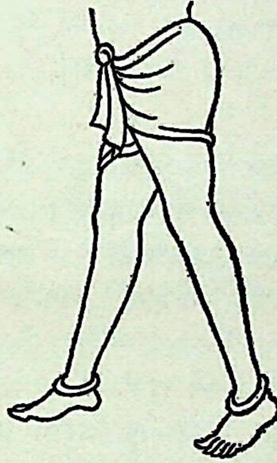
१. वज्रादि—ख-ग० ।
२ समगौ—ग० ।
३. अनुगौ—ग० ।
४. निर्गतिं—ख ।
५. ज्ञात्वा—ग० ।
६. पादचार्या—ख-ग० ।
७. हस्तश्चरित्वा—क० ।
८. स्थानानि सम्प्रवक्ष्यामि—ग ।

स्थान-विवरण (२)

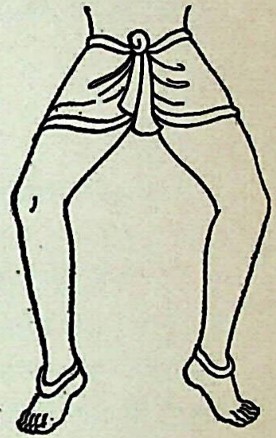
(ना० शा० पृष्ठ १०४-१०८)



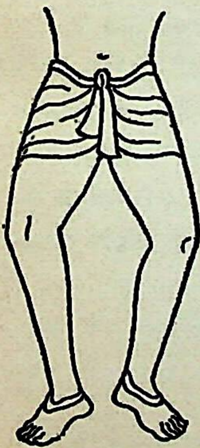
(१) वैष्णव स्थान



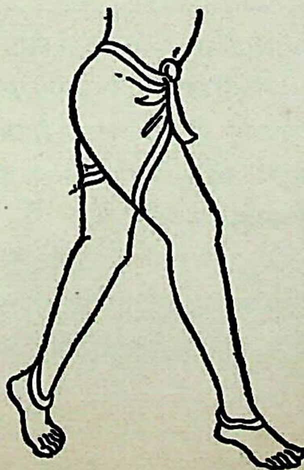
(२) आलीढ़ स्थान



(३) मण्डल स्थान



(४) समापाद स्थान



(५) प्रत्यालीढ़ स्थान



(६) वैशाख स्थान

[1]स्थान— (भेद तथा लक्षण)—

वैष्णवं समपादञ्च वैशाखं मण्डलन्तथा ।
प्रत्यालीढं तथालीढं स्थानान्येतानि षण्णृणाम् ॥ ५१ ॥

मनुष्यों के खड़े होने में अवस्था विशेष के निदर्शक ये स्थान छः (होते) हैं । यथा :—(१) वैष्णव, (२) समपाद, (३) वैशाख, (४) मंडल, (५) आलीढ़ तथा (६) प्रत्यालीढ़ ॥ ५१ ॥

वैष्णव-स्थान—

द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ।
तयोस्समुत्थितस्त्वेकस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ॥ ५२ ॥
किञ्चिदञ्चितजंघञ्च सौष्ठवाङ्गपुरस्सरम् ।
वैष्णवं स्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम् ॥ ५३ ॥

यदि दोनों पैर अढ़ाई ताल[2] के अन्तर से रखे जाएँ । इन (पैरों) में एक पैर खड़ा (समुत्थित) और दूसरा पैर टेढ़ा और बाजू में स्थित रखे जंघा थोड़ी झुकी हुई (या सिकुड़ी हुई–अंचित) हो (और एडी भी तिरछी हो) शरीर के सभी अवयव 'सौष्ठव' युक्त हों तो 'वैष्णवस्थान' कहलाता है । विष्णु इस स्थान के अधिकारी देवता हैं ॥ ५२-५३ ॥

स्थानेनानेन कर्तव्यः संलापस्तु स्वभावजः ।
नानाकार्यान्तरोपेतैर्नृभिरुत्तममध्यमैः ॥ ५४ ॥

---

१. स्थान—नाट्य-शास्त्र में स्थानों के जो लक्षण दिये गए हैं वे अस्पष्ट हैं । इनकी सही स्थिति दक्षिण भारत के कलाकारों द्वारा भी अज्ञात होने के कारण आजकल प्रयोग में नहीं आती । कथकलि में मुद्राओं के प्रदर्शन के अवसर पर जिन स्थानों का उपयोग होता है वे भी ये ही स्थान होंगे ऐसा श्री कुंजुनायर का अनुमान है । वे यह भी कहते हैं कि नाट्यशास्त्र से स्थानों का प्रयोग तथा स्वरूप स्पष्टतः विदित नहीं होता ।

२. ताल = बारह अङ्गुल की दूरी । इस प्रकार २½ ताल का अर्थ है तीस अङ्गुल के अन्तर से । आगे भी ताल शब्द का दूरी के अर्थ में जहां भी प्रयोग हो इसी प्रकार समझना चाहिए ।

---

१. त्र्यस्रपादस्थितो—ख० । २. जङ्घोऽसौ—ग० ।
३. समन्वितः—ग । ४. रेवाधि—ख । ५. न्तरापेतो—ग० ।

योजना—इस स्थान के द्वारा उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पात्रों का उनके विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध सामान्य-(स्वाभाविक-)वार्तालाप प्रदर्शित किया जाता है ॥ ५४ ॥

चक्रस्य मोक्षणे[1] चैव धारणे धनुषस्तथा ।
धैर्योदात्ताङ्गलीलासु[2] तथा क्रोधे प्रयोजयेत् ॥ ५५ ॥

इसकी चक्र फेंकने, धनुष धारण करने, धैर्य दान, लीलायुक्त शारीरिक गति (अंगलीला) तथा क्रोध में योजना करनी चाहिए ॥ ५५ ॥

इदमेव विपर्यस्तं प्रणयक्रोध इष्यते ।
उपालम्भकृते चैव प्रणयोद्वेगयोस्तथा[3] ॥ ५६ ॥
शङ्कासूयोग्रताचिन्तामतिस्मृतिषु चैव हि ।
दैन्ये चपलतायाञ्च[4] गर्वाभीष्टेषु[5] शक्तिषु ॥ ५७ ॥
शृङ्गाराद्भुतबीभत्स-वीरप्राधान्ययोर्जितम्[6] ।

इस स्थान के पलट कर (विपरीत दिशाओं में) प्रदर्शन के द्वारा प्रणय-क्रोध, प्रणयोपालम्भ, प्रणयोद्वेग तथा इसी प्रकार शंका, असूया, उग्रता, चिन्ता, मति, स्मृति, दैन्य, चपलता तथा गर्व जैसे संचारीभाव, अभीष्ट बल प्रदर्शन के भाव तथा शृङ्गार, अद्भुत और वीर रस की प्रधानता बतलायी जाती है ॥ ५६-५८ ॥

समपादे समौ पादौ तालमात्रान्तरस्थितौ ॥ ५८ ॥
स्वभावसौष्ठवोपेतौ ब्रह्मा चात्राधिदैवतम् ।

समपादस्थान—यदि दोनों पैर एक ताल के अन्तर से अपनी स्वाभाविक मुद्रा में समान स्थित हों तथा स्वाभाविक सौष्ठव लिए हुए हों तो 'समपाद स्थान' होता है । इसके अधिकारी देव ब्रह्माजी हैं ॥ ५८-५९ ॥

अनेन कार्यं स्थानेन विप्रमङ्गलधारणम्[7] ॥ ५९ ॥
रूपणं पक्षिणाञ्चैव वरं कौतुकमेव च ।
खस्थानां स्यन्दनस्थानां विमानस्थायिनामपि ॥ ६० ॥
लिङ्गस्थानां व्रतस्थानां स्थानमेतत्तु कारयेत् ।

योजना—इस स्थान से ब्राह्मणों के मंगल आशीष ग्रहण, (दिव्य) पुरुष,

---

१. मोक्षणं—ग० । २. धैर्यदानाङ्गलीलासु—ग० ।
३. प्रकर्षाधिबलस्तथा—ख-ग० । ४. चपलतायोगे—ग० ।
५. मन्त्राधिक्येषु—ख० । ६. योषितम्—ग० । ७. कारणम्—ग० ।

तथा विमान में स्थित पुरुष, शैवसंन्यासी (लिंगस्थ) तथा व्रतस्थ पुरुष को बतलाया जाता है ॥ ५९-६१ ॥

तालास्त्रयोऽर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ॥ ६१ ॥
तालास्त्रींनर्धतालांश्च निषण्णोरुं प्रकल्पयेत् ।
त्र्यश्रौ पक्षस्थितौ[1] चैव तत्र पादौ प्रयोजयेत् ॥ ६२ ॥
वैशाखस्थानमेतद्धि स्कन्दश्चात्राधिदैवतम् ।

वैशाख स्थान—यदि दोनों पैर साढ़े तीन ताल के अन्तर से गतिहीन (स्तब्ध) रखें और पैर तिरछे तथा एक दूसरे के सम्मुख बाजू को बतलाते हुए रखे जाए तो 'वैशाखस्थान' होता है । इसके अधिदेवता कार्तिकेय हैं ॥

स्थानेनानेन कर्तव्यमश्वानां वाहनं बुधैः ॥ ६३ ॥
व्यायामो निर्गमश्चैव स्थूल[2]पक्षिनिरूपणम् ।
शरा[3]सनसमुत्कर्षे व्यायामकृतमेव च ॥ ६४ ॥
रेचकेषु च कर्तव्यमिदमेव प्रयोक्तृभिः ।

योजना—इस स्थान से अश्वारोहण, व्यायाम, (एक स्थान विशेषसे) बहिर्गमन (निर्गम), बड़े आकार वाले पक्षियों का निरूपण, धनुष का खींचना या अभ्यास तथा पाद रेचकों का प्रदर्शन किया जाता है ॥६३-६५॥

मण्डलस्थान—

ऐ[4]न्द्रे तु मण्डले पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ ॥ ६५ ॥
त्र्यश्रौ पक्ष[5]स्थितौ चैव कटिजानू समौ तथा ।
धनुर्वज्रा[6]णि शस्त्राणि मण्डलेन प्रयोजयेत् ॥ ६६ ॥
वाहनं कुञ्जराणान्तु स्थूलपक्षिनिरूपणम् ।

मण्डलस्थान के अधिदेवता 'इन्द्र' देव हैं । इस स्थान में पैर चार ताल के अन्तर से होते हैं; (वे) तिरछे तथा एक दूसरे के सम्मुख समान अवस्था में रखे जाते हैं, कटि तथा घुटने अपने स्वाभाविक स्वरूप में रहते हैं ॥ ६५–६६ ॥

योजनाः—इस स्थान का प्रयोग धनुष तथा वज्र आदि शस्त्रों के चलाने, हाथी पर सवार होने और स्थूल पक्षियों के बतलाने में किया जाता है ॥

१. वक्षः स्थितौ—ख-ग० । २. स्थलपक्ष—ख०-स्थूलपक्षि—ग० ।
३. शराणाञ्च समुत्क्षेपं—ग० । ४. ऐन्द्रन्तु मण्डलं—ग० ।
५. वक्षःस्थितौ—ख-ग० । ६. वज्रादिशस्त्राणां—ग० ।

आलीढ़-स्थान :—

अस्यैव दक्षिणं पादं पञ्चतालान् प्रसार्य तु ॥ ६७ ॥

आलीढं[1] स्थानकं कुर्याद् रुद्रश्चा[2]स्याधिदैवतम् ॥

यदि मण्डल स्थान में दाहिने पैर को (दूसरे पैर से) ऊपर फैलाया जाए तो 'आलीढ़ स्थान' होजाता है। इसके अधिदेवता रुद्र देवहैं ॥ ६७-६८ ॥

अनेन कार्यं स्थानेन वीररौद्रकृतन्तु यत् ॥ ६८ ॥

उत्तरोत्तरसञ्जल्पो रोषामर्षकृतश्च यः ।

मल्लानाञ्चैव सम्फेटः शत्रूणाञ्च निरूपणम् ॥ ६९ ॥

तथाभिद्रवणञ्चैव शस्त्राणाञ्चैव मोक्षणम् ।

योजना—इस स्थान द्वारा वीर तथा रौद्र रस के अभिव्यञ्जक (सभी) कार्य, क्रोध में अनुष्ठित प्रश्न तथा प्रत्युत्तर की (क्रमशः) वृद्धि, मल्लों के रोषपूर्ण भाषण (संफेट), शत्रुओं का प्रदर्शन करना, शत्रुओं पर हमला तथा शस्त्रों का प्रहार या फेंकना आदि प्रदर्शित किया जाता है ॥ ६८-७० ॥

प्रत्यालीढ़ स्थान :—

कुञ्चितं दक्षिणङ्कृत्वा वामपादं प्रसार्य च ॥ ७० ॥

आलीढ़परिवर्तस्तु प्रत्यालीढमिति स्मृतम् ।

आलीढ़ स्थान से विपरीत अर्थात् दाहिने पैर को सिकुड़ाकर उस (दाहिने) पैर से बाएं पैर का पांच ताल के अन्तर से ऊपर फैलाना 'प्रत्यालीढ़ स्थान' कहलाता है। (इसके भी अधिदेवता रुद्र हैं) ॥७०-७१॥

आलीढ़संहितं[3] शस्त्रं प्रत्यालीढेन मोक्षयेत् ॥ ७१ ॥

नानाशस्त्रविमोक्षो हि कार्योऽनेन प्रयोक्तृभिः ।

योजना—आलीढ़ स्थान से जिन शस्त्रों का सन्धान किया गया हो उन्हें प्रत्यालीढ़ स्थान से चलाना चाहिए। अनेक शस्त्रों का चलाना भी इसी स्थान के द्वारा अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है ॥ ७१-७२ ॥

न्याय—(लक्षण तथा योजना)—

न्यायाश्चैवा[4]त्र विज्ञेयाश्चत्वारः शस्त्रमोक्षणे ॥ ७२ ॥

भारतः सात्वतश्चैव वार्षगण्योऽथ कैशिकः ।

---

१. आलीढ़स्थानकं—ग० । २. श्चात्राधि—ख-ग० ।

३. सहितं—ग० । ४. श्चैव प्रयोक्तव्या—ख० ।

शस्त्रों के प्रयोग में चार न्याय का प्रयोग करना चाहिये। ये न्याय हैं :—(१) भारत, (२) सात्वत, (३) वार्षगण्य तथा (४) कैशिक ॥७२-७३॥

भारते तु कटिंच्छेद्यं पादच्छेद्यन्तु सात्वते ॥ ७३ ॥
वक्षस्तो वार्षगण्ये तु शिरश्छेद्यन्तु कैशिके ।

भारतन्याय में शस्त्रों को कटिप्रदेश से, सात्वत में पैरों के बराबर से, वार्षगण्य में वक्षस्थल से तथा कैशिक में मस्तक पर से चलाना चाहिए ॥

एभिः प्रयोक्तृभिर्न्यायैर्नानाचारीसमुत्थितैः ॥ ७४ ॥
प्रविचाराः प्रयोक्तव्या नानाशस्त्र-विमोक्षणे ।

इस प्रकार विभिन्न चारी द्वारा निर्मित इन न्यायों से अनेक शस्त्रों को चलाने के अवसर पर अभिनेताओं द्वारा रंगमंच पर विशिष्ट गतियों में चलना चाहिए।

न्यायाश्रितैरङ्गहारैर्न्यायाच्चैव समुत्थितैः ॥ ७५ ॥
यस्माद्युद्धानि वर्तन्ते तस्मान्न्यायाः प्रवर्तिताः ।

ये न्याय इसलिये कहलाते हैं क्योंकि ये रंगमंच पर युद्ध को उन अंगहारों सहित नियमित करते हैं—जो इन्हीं (न्याय) से उत्पन्न होते हों ॥

भारत :—

वामहस्ते विनिक्षिप्य खेटकं दक्षिणेन च ॥ ७६ ॥
शस्त्रमादाय हस्तेन प्रविचारमथाचरेत् ।
प्रसार्य च करौ सम्यक् पुनराक्षिप्य चैव हि ॥ ७७ ॥
खेटकं भ्रामयेत् पश्चात् पार्श्वात् पार्श्वमथापि च ।
शिरः परिगमश्चापि कार्यः शस्त्रेण योक्तृभिः ॥ ७८ ॥
कपोलस्यान्तरे वापि शस्त्रस्योद्घट्टनं तथा ।
पुनश्च खड्गहस्तेन ललितोद्वेष्टितेन च ॥ ७९ ॥
खेटकेन च कर्तव्यः-शिरः-परिगमो बुधैः ।
एवं विचारः कर्तव्यो भारते शस्त्रमोक्षणे ॥ ८० ॥

---

१. कटीच्छेद्यं—ग० । २. पादच्छेद्यं—ख-ग ।
३. प्रविचार्यं प्रयोक्तव्यो—ग० । ४. न्यायं श्रितै—ग० ।
५. नीयन्ते—ख-ग० । ६. प्रकीर्तिताः—ग० ।
७. हस्तेन निक्षिप्य—ख-ग० । ८. पुनरावर्त्य—ख० ।
९. कपोलांसान्तरे—ख० । १०. शस्त्रस्योद्वेष्टनं तथा—ग० ।
११. ललितोद्वर्त्तितेन च—ख० ।

बायें हाथ में ढाल को सामने रखते हुए तथा दाहिने हाथ में तलवार (शस्त्र) लेकर अभिनेता रंगमंच पर चले। फिर वह सामने की ओर हाथ को पूरा फैला दे और पीछे की ओर खींच ले और तब ढाल को पीछे आगे तथा दाये-बायें घुमाए, (और) फिर अपने मस्तक के चारों ओर तलवार या शस्त्र को घुमावे (फिर) उसे कपोल प्रदेश के समीप गोल घुमावे और फिर हाथ में तलवार तथा ढाल लेकर ललित क्रम से घुमाते हुए मस्तक के चारों ओर एक चक्कर लगाले। (इस प्रकार) शस्त्रों के चलाने में 'भारत' न्याय के प्रदर्शन के समय इसी विधि से मंच पर चलना (विचार) चाहिए ॥

सात्वत—

सात्वते तु प्रवक्ष्यामि प्रविचारं यथाविधि।
स एवं[1] प्रविचारस्तु शस्त्रखेटकयोः स्मृतः ॥ ८१ ॥
केवलं पृष्ठतः शस्त्रं[2] कर्त्तव्यं खलु सात्वते।

अब मैं सात्वतन्याय में होने वाली चाल को बतलाता हूँ। भारतन्याय के समान सात्वत न्याय में भी शस्त्र और ढाल की चाल वही होगी केवल इसमें शस्त्रों का घुमाना पीछे से होता है ॥ ८१-८२ ॥

वार्षगण्य—

गतिश्च वार्षगण्येऽपि सात्वतेन क्रमेण तु ॥ २८ ॥
शस्त्र[3]खेटकयोश्चापि भ्रमणं संविधीयते।
[4]शिरःपरिगमस्तद्वच्छस्त्रस्येह भवेत्तथा ॥ ८३ ॥
उरस्युद्वेष्टनं कार्यं शस्त्रस्यांसे[5]ऽथवा पुनः।

वार्षगण्य न्याय में भी सात्वत न्याय के क्रमानुसार ही गति (चाल) रहती है। इसमें शस्त्र (तलवार) तथा ढाल को साथ साथ घुमाया जाता है और इन शस्त्रों को मस्तक का एक चक्कर लगाते हुए घुमाते हैं और इसके बाद शस्त्र छाती या कन्धे के सामने वाले स्थान पर घुमाये जाते हैं ॥८२-८४॥

कैशिक—

भारते प्रविचारो[6] यः कर्त्तव्यस्स तु कैशिके ॥ ८४ ॥
विभ्रमय्य[7] तथा शस्त्रं केवलं मूर्ध्नि पातयेत्।

---

१. एवं—ख—ग०। २. शस्त्रं—ग०। ३. खड्ग—ख०।
४. शिरः परिगमादस्मिस्तस्य शस्त्रस्य केवलम्—ख० ग०।
५. शस्त्रस्याङ्गेन वा पुनः—ग०।
६. प्रविचारोऽयं—ग०। ७. विभ्रमश्च—ख०।

तलवार (शस्त्र) का छाती या कन्धों के पास घुमाना भारत न्याय जैसा कैशिक न्याय में भी ठीक उसी तरह से रखना चाहिए। इसमें केवल अन्त में शस्त्र को घुमाकर मस्तक के ऊपर ले जाया जाए ॥ ८४-८५ ॥

प्रविचारा[1]ः प्रयोक्तव्या ह्येवमेतेऽङ्गलीलया ॥ ८५ ॥
धनुर्व[2]ज्रासिशस्त्राणां प्रयोक्तव्या विमोक्षणे।

शरीर की लीला युक्त हलचलों के साथ इन न्यायों के द्वारा धनुष, वज्र, तलवार आदि शस्त्रों को घुमाना (या चलाना) चाहिए ॥ ८५-८६ ॥

न भेद्यं नापि च च्छेद्यं न चापि रुधिरस्रुतिः ॥ ८६ ॥
रङ्गे[3] प्रहरणे कार्यो न चापि व्यक्तघातनम्।
[4]संज्ञामात्रेण कर्तव्यं शस्त्राणां मोक्षणं बुधैः ॥ ८७ ॥
अथवाभिनयोपेतं कुर्याच्छेद्यं विधानतः।

रंगमंच पर प्रदर्शित होनेवाले (इन) युद्धों में भेदन, छेदन और रक्त का बहना या यथार्थ प्रहार नहीं बतलाना चाहिए। यहाँ शस्त्रों को केवल नाट्य-संकेतों से छोड़ना चाहिए या फिर लक्षणों (या अभिनय से सम्बद्ध विधान) के अनुसार एक दूसरे को शस्त्रों के प्रहार से क्षतविक्षत किया जाए ॥ ८६-८८ ॥

सौष्ठव—

अङ्गै[5]ः सौष्ठवसम्पन्नैरङ्गहारैर्विभूषितम् ॥ ८८ ॥
व्यायामं कारयेत् सम्यग्लयतालसमन्वि[6]तम्।
[7]सौष्ठवे हि प्रयत्नस्तु कार्यो व्यायामवेदि[8]भिः ॥ ८९ ॥
नहि सौष्ठवहीनाङ्गाः शोभते नाट्यनृत्तयोः।

यह व्यायाम (स्वरूप चारी का प्रदर्शन) अङ्गों के सौष्ठव तथा अंगहारों से पूर्ण होना चाहिए। इसके साथ ताल तथा लय से युक्त संगीत की भी योजना रहे। व्यायाम प्रदर्शन में सदा 'सौष्ठव' का ध्यान रहना चाहिए। क्योंकि सौष्ठव से विहीन अङ्ग नाट्य तथा नृत्य में सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते ॥ ८८-९० ॥

---

१. प्रविचाराश्च कर्त्तव्या—ग०। २. वज्रादि—ग०।
३. रङ्गप्रहरण—ग०। ४. राज्ञा (?)—ख०।
५. अङ्गैः सौष्ठव—ग०। ६. समन्वितः—ख–ग०।
७. सौष्ठवेन तु यत्नस्तु—ग०। ८. सेविभिः—ग०।

अचञ्चलमकुब्जञ्च सन्नगात्रन्तथैवं च ॥ ९० ॥
नात्युच्चं चलपादञ्च सौष्ठवाङ्गं प्रयोजयेत् ।

शरीर को सीधे, न झुके हुए, यथेच्छ, न ऊँचे तने और न अधिक झुके हुए रखकर अङ्गों का सौष्ठव प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ९१ ॥

[कटी कर्णसमा यत्र कूर्परांसशिरस्तथा ।
समुन्नतमुरश्चैव सौष्ठवं नाम तद्भवेत् ।]

[प्रक्षिप्त—जिसमें कटि प्रदेश तथा कान एक समान या सीधे हो, इसी प्रकार कलाई, कन्धे तथा मस्तक भी रहे, छाती थोड़ी ऊँची तनी रहे तो 'सौष्ठव' समझना चाहिए ।]

अत्र नित्यं प्रयत्नो हि विधेयो मध्यमोत्तमैः ॥ ९१ ॥
नाट्यं नृत्तञ्च सर्वं हि सौष्ठवे सम्प्रतिष्ठितम् ।

मध्यम तथा उत्तम पात्रों द्वारा सौष्ठव को (प्रयत्नपूर्वक) ठीक प्रदर्शित करने का उद्योग करना चाहिए क्योंकि नाट्य, नृत्त तथा नृत्य 'सौष्ठव' पर ही आधारित हैं ।

चतुरस्र—

कटीनाभिर्चरौ हस्तौ वक्षश्चैव समुन्नतम् ॥ ९२ ॥
वैष्णवं स्थानमित्यङ्गं चतुरश्रमुदाहृतम् ॥

(यदि) दोनों हाथ, कटि तथा नाभि घूमने वाले हों, छाती तनी हो और वैष्णवस्थान हो तो 'अङ्गों' का यह सारा एक साथ होने वाला प्रदर्शन 'चतुरस्र' कहलाता है ॥ ९२-९३ ॥

करण—(के कार्य)

परिमार्जनमादानं सन्धानं मोक्षणन्तथा ॥ ९३ ॥
धनुषस्तु प्रयोक्तव्यं करणन्तु चतुर्विधम् ।

१. चासन्नगात्रं—ग० । २. मथापि च । ३. चलपातं —ग० ।
४. कूर्परोंऽसस्थितः—ग० ।
५. सौष्ठवं लक्षणं प्रोक्तवर्त्मनाक्रमयोजितम्—ग० ।
६. पद्यमिदं ग–पुस्तके नास्ति । ७. प्रपन्नो हि विधये–ख० ।
८. खरौ—ग० । ९. त्यङ्गचतुरस्र–ख० ।
१०. संमार्जनं—ख० । ११. ग्रहणं क्रिया—ख ग० ।

धनुष के चार कार्य (करण) प्रयुक्त होते हैं। यथा—(१) परिमार्जन (धनुष चलाने की तैयारी करना), (२) आदान (बाणों का हाथ में लेना), (३) सन्धान (बाण को धनुष पर चढ़ाना) तथा (४) मोक्षण (छोड़ देना) ।९३-९४।

प्रमार्जनं परामर्शं आदानं ग्रहणक्रिया ॥ ९४ ॥
सन्धानं शरविन्यासो विक्षेपो मोक्षणं भवेत् ।

धनुष का (बाण छोड़ने के लिए) झुकाना 'परिमार्जन', बाण को छोड़ने के लिए ले लेना 'आदान', धनुष पर बाण को चढ़ाना 'सन्धान' तथा छोड़ देना 'मोक्षण' जानो ॥ ९४–९५ ॥

व्यायाम विधि—

तैलाभ्यक्तेन गात्रेण यवागूमृदितेन च ॥ ९५ ॥[1]
व्यायामं कारयेद् श्रीमान् भित्तावाकाशिके तथा ।

(अङ्गहार तथा चारी के अभ्यासार्थ) पृथ्वी पर या ऊँचे दुमंजिले भवन (आकाशिके) में व्यायाम करना चाहिए। इस समय अभिनेता शरीर पर तिल के तेल या जौं की पीठी से मालिश करे ॥ ९५–९६ ॥

योग्यां[2] या मातृकाभित्तिस्तस्माद् भित्तिं समाश्रयेत् ॥ ९६ ॥
[3]भित्तौ प्रसारिताङ्गन्तु व्यायामं कारयेन्नरम् ।

व्यायाम के लिए 'भूमि' अधिक उपयुक्त होती है। इसलिए व्यायाम भूमि पर ही किया जाए। पृथ्वी पर शरीर को फैला कर व्यायाम करना चाहिए ॥ ९६–९७ ॥

बलार्थञ्च निषेवेत नस्यं[4] बस्तिविधिं तथा ॥ ९७ ॥
स्निग्धान्यन्नानि[5] च तथा रसकं पानकन्तथा[6] ।
आहाराधिष्ठिता प्राणाः प्राणे योग्या प्रतिष्ठिताः ॥ ९८ ॥
तस्माद् योग्यप्रतिष्ठार्थमाहारे[7] यत्नवान् भवेत् ।

शरीर को शक्तिसम्पन्न रखने के लिए नस्य तथा बस्तिविधि (जैसे आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार कथित प्रयोगों) का उपयोग करे तथा पुष्ट अन्न, मांस तथा (द्राक्षा आदि) फलों के रसों का भी सेवन करे।

क्योंकि 'प्राण' (शक्ति-सम्पन्नता) आहार पर निर्भर है और व्यायाम

---

१. युवा स्वासोदितेन च—ग०।
२. योग्यायां—ख०-ग०।
३. भित्तौ प्रसारितायां तु—ख०।
४. नस्यं च त्रिविधं—ग०।
५. स्निग्धान्यशनिताथा—ख०।
६. पानकानि च—ख०।
७. प्रसिद्ध्यर्थं—ख०-ग०।

शक्तिसम्पन्नता पर। अतएव शक्तिसम्पन्न रहने के लिए उपयुक्त आहार का (प्रयत्नपूर्वक) सेवन करना चाहिए।

अशुद्धकायं प्रक्लान्तमतीव क्षुत्पिपासितम् ॥ ९९ ॥
अतिपीतं तथा भुक्तं व्यायामं नैव कारयेत्।

जब शरीर स्वच्छ न हो, (शरीर) थका हुआ हो, भूख (या) प्यास लग रही हो, पानी (काफी) पी लिया हो (या) डटकर भोजन कर लिया हो तो उस समय चारी व्यायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

अचलैर्मधुरैर्गात्रैश्चतुरश्रेण वक्षसा ॥ १०० ॥
व्यायामं कारयेद्धीमान्नरमङ्गक्रियार्थिनम्।

योग्य शिक्षक अपने ऐसे शिक्षार्थियों को—जिनका शरीर सुन्दर, स्थिर हो वक्षस्थल चौखट जैसा विशाल हो—अधिक अलकांरों को धारण न किये हो—व्यायाम की शिक्षा दें ॥ १००–१०१ ॥

एवं व्यायामसंयोगे कार्यश्चारीकृतो विधिः ॥ १०१ ॥
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मण्डलानां विकल्पनम् ॥ १०२ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे चारीविधानो नामैकादशोऽध्यायः।



शरीर के व्यायाम के साथ होनेवाली प्रदर्शन के इन चारी के ये (ही) नियम हैं। तदनुसार चारी का प्रदर्शन करना चाहिए। अब मैं विभिन्न मण्डलों का (अगले अध्याय में) वर्णन करूँगा ॥ १०१–१०२ ॥

भरत नाट्यशास्त्र का चारीविधान नामक एकादशोऽध्याय ससाप्त।



१. क्रियात्मकम्—ख० ग०। २. चारीविधानो नाम दशमोऽध्यायः—क०।

द्वादशोऽध्यायः

मण्डलप्रचार

एताश्चार्यो मया प्रोक्ता यथावच्छस्त्रमोक्षणे ।
चारीसंयोगजानीह मण्डलानि निबोधत ॥ १ ॥

हे मुनियों, मैंने पूर्व अध्याय में शस्त्रों के प्रयोग के साथ चारी विधान बतलाया । अब मैं (इन) चारियों के समूह (मेल) से बनने वाले मण्डलों को बतलाता हूँ । (आप इन्हें समझिए) ॥ १ ॥

अतिक्रान्तं विचित्रञ्च तथा ललितसञ्चरम् ।
सूचीविद्धं दण्डपादं[1] विहृतालातके तथा ॥ २ ॥
वामविद्धं[2] सललितं क्रान्तञ्चाकाशगानिह[3] ।

आकाशिक मण्डल दस हैं । यथाः—(१) अतिक्रान्त, (२) विचित्र, (३) ललितसंचर, (४) सूचीविद्ध, (५) दण्डपाद, (६) विहृत, (७) अलातक, (८) वामविद्ध, (९) ललित तथा (१०) क्रान्त ॥ २–३ ॥

भ्रमरास्कन्दिते स्यातामावर्तञ्च ततः[4] परम् ।
समोत्सारितमप्याहुरेलकाक्रीडितं[5] तथा ॥ ४ ॥
अड्डितं शकटास्यञ्च तथाध्यर्धकमेव च ।
पिष्टकुट्टञ्च विज्ञेयं तथा चाषगतं पुनः ॥ ५ ॥
[6]एतान्यपि दशोक्तानि भूमिगानिह नामतः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि लक्षणानि यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

भौमिक मण्डल भी दस हैं । यथा :—(१) भ्रमर, (२) आस्कन्दित, (३) आवर्त, (४) समोत्सारित, (५) एलकाक्रीडित, (६) अड्डिता, शकटास्या, (८) अध्यर्धक, (९) पिष्टकुट्ट तथा (१०) चाषगत । (क्रमशः) अब मैं इनके लक्षण बतलाता हूँ ॥ ४–६ ॥

---

१. दण्डपादविहृता—ख०–ग० । २. वामबन्धं—ख०–ग० !
३. काशगामि च–ख०ग० । ४. तथा परम्—ग० ।
५. समाक्रन्दित—ख०–ग० । ६. रेडका—ख०–ग० ।
७. भूमिकामण्डला ह्येते लक्षणञ्च निबोधत—ग० ।

आकाशिक मण्डल—लक्षण

[1]आद्यं पादञ्च जनितं कृत्वोद्वाहितमाचरेत् ।
अलातं वामकञ्चैव पार्श्वक्रान्तञ्च दक्षिणम् ॥ ७ ॥
[2]सूचीं वामं पुनश्चैव त्रिकञ्च परिवर्तयेत् ।
तथा दक्षिणमुद्वृ[3]त्तमलातञ्चैव वामकम् ॥ ८ ॥
परिच्छिन्नन्तु कर्तव्यं बाह्यभ्रमरकेण तु ।
अतिक्रान्तं पुनर्वामं दण्डपादञ्च दक्षिणम् ॥ ९ ॥
[4]विज्ञेयमेतदू व्यायामे त्वतिक्रान्तन्तु मण्डलम् ।

अतिक्रान्त—यदि (आरंभ में) दाहिने पैर से 'जनिता' चारी प्रदर्शित करें फिर शकटास्या चारी का जिसमें वक्षःस्थल उद्वाहित हो । फिर बाएँ पैर से 'अलात' तथा दाहिने पैर से 'पार्श्वक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन करे । फिर बाएँ पैर से 'सूची' और भ्रमरी चारी को कमर का घुमाव लेते हुए प्रदर्शित करें । पुनः दाहिने पैर से उद्वाहित चारी तथा बाएँ पैर से अलात चारी को प्रदर्शित कर उसे भ्रमरी चारी में परिवर्तित कर दें । फिर इसी बाएँ पैर से अलातचारी और दाहिने पैर द्वारा दण्डपाद चारी का प्रदर्शन करने पर यह (नृत्य) व्यायाम में होनेवाला अतिक्रान्तमण्डल होजाता है ॥७–१०॥

आद्यन्तु जनितं कृत्वा तेनैव च निकुट्टनम् ॥ १० ॥
आस्पन्दितन्तु वामेन पार्श्वक्रान्तञ्च दक्षिणम् ।
वामं सूचीपदं दद्यादपक्रान्तञ्च दक्षिणम् ॥ ११ ॥
भुजङ्गत्रासितं वाममतिक्रान्तञ्च दक्षिणम् ।
[5]उद्वृत्तं दक्षिणञ्चैव ह्यलातञ्चैव वामकम् ॥ १२ ॥
पार्श्वक्रान्तं पुनः सव्यं सूची वामक्रमं तथा ।
विक्षेपो दक्षिणस्य स्यादपक्रा[6]न्तश्च वामकः ॥ १३ ॥
[बाह्यभ्रमरकञ्चैव विक्षेपञ्चैव योजयेत्]
विज्ञेयमेतद् व्यायामे विचित्रं नाम मण्डलम् ।

विचित्र—यदि दाहिने पैर को कंपाते हुए 'जनिता' चारी का प्रदर्शन करे तथा उसे ही तलसंचर (निकुट्टक) पाद बनाए । फिर बाएँ पैर से

---

१. आद्यपादं तु तं कृत्वा उद्वाहितमथाचरेत्—ग० ।
२. सूचीपादं—ख०–ग० ।
३. मुद्धृत्य अलातं—ख०–ग० ।
४. पद्यार्धमेतत् क–ख–पुस्तकयोः नास्ति ।
५. उद्वृतं—ख०–ग० ।
६. दपक्रान्तञ्च वामकम्—ख०–ग० ।

स्पन्दिता चारी (आस्पन्दिता) तथा दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता का (फिर) बाएँ पैर द्वारा 'सूचीचारी' तथा दाहिने पैर से अपक्रान्ता चारी का, फिर बाएँ पैर से भुजंगत्रासिता चारी तथा दाहिने पैर से 'अतिक्रान्ता' का फिर दाहिने पैर से उद्वृत्ता चारी का तथा बाएँ पैर से 'अलाताचारी' का, फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी तथा बाएँ से सूची का, फिर दाहिने पैर से 'विक्षिप्ता (व आक्षिप्ता) चारी का तथा बाएँ से अपक्रान्ता चारी का (फिर बाहरी ओर से भ्रमरी तथा आक्षिप्ता चारी का) प्रदर्शन करे तो 'विचित्र' नामक मण्डल कहलाता है ॥ 11–14 ॥

कृत्वोर्ध्वजा[1]नु चरणमाद्यं सूचीं प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥
अपक्रान्तः पुनर्वाम आद्यः पार्श्वगतो भवेत् ।
वामं[2] सूचीं पुनर्दद्यात् त्रिकञ्च परिवर्तयेत् ॥ १५ ॥
[पार्श्वक्रान्तं पुनश्चाद्यमतिक्रान्तञ्च वामकम् ।
सूचीमा[3]द्यक्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तञ्च वामकम् ॥]
पार्श्वक्रान्तं पुनश्चा[4]द्यमतिक्रान्तञ्च वामकम् ॥ १६ ॥
परिच्छिन्नञ्च कर्तव्यं बाह्यभ्रमरकेण चँ[5] ।
एष चारीप्रयोगस्तु कार्यो ललितसञ्चँरे[6] ॥ १७ ॥

ललितसंचर—यदि दाहिना पैर अपनी जंघा को ऊपर उठाकर 'सूची' का (प्रदर्शन करे) और बांया पैर 'अपक्रान्ता' का तथा दाहिना पैर 'पार्श्वक्रान्ता' का, (फिर) बांया पैर 'सूची' चारी का प्रदर्शन कर भ्रमरी चारी का प्रदर्शन करे (भ्रमरी चारी के समय पीठ को एक घुमाव देना चाहिए) (प्रक्षिप्त—फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता तथा बाएं से अतिक्रान्ता का फिर दाहिने पैर से 'सूची' तथा बाएं पैर से अपक्रान्ता का) फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता तथा बाएं पैर से अपक्रान्ता चारी को प्रदर्शित कर उसे भ्रमरी चारी में परिवर्तित (परिच्छिन्न) करे तो 'ललितसंचर' मण्डल बन जाता है ॥ 16–17 ॥

---

१. कृत्वोर्ध्ववामचरण—ख०ग० । २. वामसूचीं—ख०ग० ।
३. सूचीवामक्रमं—ख–ग० ।
४. पुनश्चान्यो वामोऽतिक्रान्त एव च—ख०–ग० ।
५. हि—ख०–ग० । ६. सञ्चरैः—ख०–ग० ।

सूचीं वामपदं दद्यात् त्रिकञ्च परिवर्तयेत् ।
पार्श्वक्रान्तः पुनश्चाद्यो[1] वामोऽतिक्रान्त एव च ॥ १८ ॥
[2]सूचीमाद्यं पुनर्दद्यादपक्रान्तश्च वामकम् ।
पार्श्वक्रान्तं पुनश्चाद्यं सूचीविद्धे तु मण्डले ॥ १९ ॥

सूचीविद्ध—यदि बाएं पैर से 'सूची' को प्रदर्शित कर भ्रमरी चारी को प्रदर्शित करे (अर्थात् शरीर को घुमाव दे दे) फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी का, बाएं पैर से अतिक्रान्ता चारी का, फिर दाहिने पैर से 'सूची' चारी का और बाएं पैर से अपक्रान्ता चारी का तथा दाहिने पैर से भी अपक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे तो 'सूचीविद्ध' मण्डल जानो ॥ १८–१९ ॥

आद्यस्तु जनितो[3] भूत्वा स च दण्डक्रमो भवेत् ।
वामं सूचीं पुनर्दद्यात् त्रिकञ्च परिवर्तयेत् ॥ २० ॥
उद्वृत्तो[4] दक्षिणश्च स्यादलातश्चैव वामकः ।
पार्श्वक्रान्तः पुनश्चाद्यो[5] भुजङ्गत्रासितस्तथा ॥ २१ ॥
अतिक्रान्तः पुनर्वामो दण्डपादस्तु दक्षिणः ।
वामः सूची त्रिकावर्तो दण्डपादे तु मण्डले ॥ २२ ॥

दण्डपाद—यदि दाहिना पैर जनिताचारी प्रदर्शित कर दण्डपादा चारी को प्रदर्शित करे फिर बाये पैर से 'सूची' को प्रदर्शित कर भ्रमरी चारी को प्रदर्शित किया जाए। फिर दाहिने पैर से उद्वृत्ता चारी का, बाएं पैर से अलाता चारी का, दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी को, दाहिने पैर से ही दण्डपादा चारी को तथा बाएं पैर से सूची को प्रदर्शित कर त्रिक को घुमाव दे कर भ्रमरी चारी को प्रदर्शित करे तो 'दण्डपाद' मण्डल हो जाता है ॥ २०–२२ ॥

आद्यन्तु जनितं कृत्वा तेनैव च निकुट्टकम्[6] ।
आस्पन्दितश्च[7] वामेन ह्युद्वृत्तं[8] दक्षिणेन च ॥ २३ ॥
अलातं वामकं पादं सूचीं दद्यात्तु दक्षिणम् ।
पार्श्वक्रान्तः[9] पुनर्वाम आक्षिप्तो दक्षिणस्तथा ॥ २४ ॥

---

१. श्चान्यो—ख० ग० ।
२. एतत् पद्यार्धं ख–पुस्तके नास्ति ।
३. तद्गतो—ख० ।
४. तद्वृत्तो—ख०, उद्वर्त्तो–ग० ।
५. श्चान्यः—ग० ।
६. निकुट्टनम्—ख०–ग० ।
७. आस्कन्दितञ्च—ख०–ग० ।
८. ह्युत्तम्मं—ख०; उद्वत्तं–ग० ।
९. क्रान्तं—ख०–ग० ।

समा[1]वर्त्य त्रिकञ्चैव दण्डपादं प्रसारयेत् ।
सू[2]चीं वामपदं दद्यात् त्रिकञ्च परिवर्तयेत् ॥ २५ ॥
भुजङ्गत्रासितश्चाद्यो वामोऽतिक्रान्त एव च ।
एष चारी प्रयोगस्तु विहृ[3]ते मण्डले भवेत् ॥ २६ ॥

विहृत—यदि दाहिने पैर द्वारा जनिता चारी का तथा इसी पैर द्वारा तलसंचर पाद (निकुट्टन) का, फिर बाएं पैर से स्पन्दिता (आस्कन्दिता) तथा दाहिने पैर से उद्वृत्ता चारी का, फिर बाएं पैर से अलात चारी का और दाहिने पैर से सूची का, फिर बाएं पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी का तथा दाहिने पैर से आक्षिप्ता का प्रदर्शन कर भ्रमरी चारी प्रदर्शित करे फिर एक घुमाव लेकर—या त्रिक को परिवर्तित कर दण्डपादा चारी, फिर बाएं पैर से सूची और भ्रमरी चारी का (त्रिक को घुमाकर) प्रदर्शन करे फिर दाहिने पैर से भुजंगत्रासिता चारी तथा बाएं पैर से अतिक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करने पर 'विहृत' मण्डल हो जाता है। ॥ २३–२६ ॥

सूची[4]माद्यक्रमं दद्या[5]दपक्रान्तञ्च वामकम् ।
पार्श्वक्रान्तः[6] पुनश्चाद्यो ह्यलातश्चैव वामकः ॥ २७ ॥
[7]भ्रान्त्वा चारीभिरेताभिः पर्यायेणाथ मण्डलम् ।
षट्संख्यं[8] सप्तसंख्यं वा ललितैः पादविक्रमैः ॥ २८ ॥
[[9]आद्यं कुर्यादपक्रान्तमतिक्रान्तञ्च वामकम् ।]
[10]अपक्रान्तः पुनश्चाद्यो वामोऽतिक्रान्त एव च ।
पादभ्रमरकश्च स्यादलाते खलु मण्डले ॥ २९ ॥

अलात—दाहिने पैर से 'सूची' चारी का तथा बाएं पैर से अपक्रान्ता चारी का, फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी और बाएं पैर से अलाता का फिर इन्हीं चारियों से क्रमशः ललितपाद विन्यासों द्वारा छः या सात बार घुमाव लेना चाहिए। (प्रक्षिप्त-दाहिने पैर से अपक्रान्ता तथा बाएं

---

१. परिवृत्य—ग० । २. सूचीवामपदं—ग० । ३. विवृत्ते—ख० ।
४. सूचीमाद्यं क्रमं—ख० । ५. कृत्वा चापक्रान्तं—ग० ।
६. पार्श्वक्रान्तस्ततश्चान्योऽप्यलात—ग० ।
७. इतः प्रभृति सार्धं पद्यत्रयं ग०–पुस्तके नास्ति ।
८. तत् संख्यं—ख० ९. एतत् पद्यार्धं ख०–पुस्तके नास्ति ।
१०. अतिक्रान्तः—ख० ।

से अतिक्रान्ता चारी को और) फिर दाहिने पैर से 'अपक्रान्ता चारी' तथा बाएं पैर से अतिक्रान्ता चारी को प्रदर्शित कर 'भ्रमरी को (त्रिक परिवर्तन द्वारा) प्रदर्शन किया जाए तो अलात मण्डल कहलाता है ॥ २७-२६ ॥

सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तश्च वामकम् ।
आद्यो दण्डक्रमश्चैव सूची[1] कार्यस्तु वामकः ॥ ३० ॥
कार्यस्त्रिकविवर्तश्च पार्श्वक्रान्तश्च दक्षिणः ।
आक्षिप्तं वामकं कुर्याद् दण्डपादश्च[2] दक्षिणः ॥ ३१ ॥
ऊरूद्वृत्तश्च तेनैव कर्तव्यं दक्षिणेन तु ।
सूची वामक्रमं[3] कृत्वा त्रिकश्च परिवर्तयेत् ॥ ३२ ॥
अलातश्च भवेद्वामः पार्श्वक्रान्तश्च दक्षिणः ।
अतिक्रान्तः पुनर्वामो[4] वामबन्धे तु मण्डले ॥ ३३ ॥

वाम-विद्ध (वामबन्ध)—दाहिने पैर से 'सूची' चारी का तथा बाएं पैर से अपक्रान्ता चारी का; फिर दाहिने पैर से दण्डपादा चारी का तथा बाएं पैर से 'सूची' चारी का; फिर दाहिने पैर से भ्रमरी चारी को (त्रिक का घुमाव देकर) प्रदर्शित कर पार्श्वक्रान्ता चारी का तथा दाहिने पैर से दण्डपादा चारी का, फिर दाहिने पैर से उरूद्वृत्ता चारी तथा बाएं पैर से सूची को प्रदर्शित कर (त्रिक परिवर्तन द्वारा) भ्रमरी चारी को प्रदर्शित करे । फिर बाएं पैर से 'अलाता' चारी का तथा दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी का तथा बाएं पैर अतिक्रान्ता चारी का प्रदर्शन किया जाए तो 'वामविद्ध' मण्डल कहलाता है ॥ २९-३३ ॥

सूचीमाद्यक्रमं दद्यादपक्रान्तश्च वामकम् ।
पार्श्वक्रान्तः पुनश्चाद्यो[5] भुजङ्गत्रासितः स[6] च ॥ ३४ ॥
अतिक्रान्तः पुनर्वाम आक्षिप्तो दक्षिणस्तथा[7] ।
अतिक्रान्तः पुनर्वाम ऊरूद्वृत्तस्तथैव च[8] ॥ ३५ ॥

---

१. सूचीपादस्तु—ख० । २. दण्डपार्श्वञ्च—ग० ।
३. करच्चैव—ग० । ४. कार्यो ललितसञ्चरः—ख० ।
५. कृत्वा अपक्रान्तं—ग० । ६. श्चान्यो—ख०; ग० ।
७. त्राक्षितं तथा—ख०; ग० । ८. ऊरूद्वृत्तं तथैव च—ग० ।

अलातश्च पुनर्वामः पार्श्वक्रान्तश्च दक्षिणः।
[1]सूचीवामं पुनर्दद्यादपक्रान्तश्च दक्षिणः॥ ३६॥
अतिक्रान्तः पुनर्वामः कार्यो ललितसञ्चरः[2]।
एष पादप्रचारस्तु[3] ललिते मण्डले भवेत्॥ ३७॥

ललित—यदि दाहिने पैर से सूची चारी का तथा बाएं पैर से अपक्रान्ता चारी का, फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता तथा भुजंगत्रासिता चारी का, फिर बाएं से अतिक्रान्ता तथा दाहिने पैर से आक्षिप्ता का) फिर बाएं से अतिक्रान्ता तथा उरूद्वृत्ता चारी को प्रदर्शित कर फिर बाएं से अलात तथा दाहिने पैर से अपक्रान्ता चारी का और फिर बाएं से अतिक्रान्ता चारी का ललितगति से प्रदर्शन करने से 'ललित' मण्डल कहलाता है॥

सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तश्च वामकम्।
पार्श्वक्रान्तं पुनश्चाद्यं वामं[4] पार्श्वक्रमं तथा॥ ३८॥
भ्रान्त्वा चारीभिरेताभिः पर्यायेणाथ मण्डलम्।
वामं सूचीं ततो दद्यादपक्रान्तश्च दक्षिणम्॥ ३९॥
स्वभावगमने ह्येतन्मण्डलं संविधीयते।
क्रान्तमेतत्तु विज्ञेयं नामतो नामयोक्तृभिः॥ ४०॥

क्रान्त—यदि दाहिने पैर से सूची तथा बाएँ पैर से अपक्रान्ता चारी का, फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी का तथा बाएं पैर से ही पार्श्वक्रान्ता चारी को प्रस्तुत कर फिर इन्हीं चारियों के द्वारा क्रमशः सभी दिशाओं में घुमाव लिया जाए। तब फिर बाएं पैर से 'सूची' का तथा दाहिने पैर से अपक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे तो इस मण्डल को 'क्रान्त' मण्डल जानो। इसकी स्वाभाविक गति में योजना की जाए क्योंकि इसकी यौगिक अर्थ के द्वारा यही प्रतीति होती है॥ ३८–४०॥

एतान्याकाशगानीह[5] ज्ञेयान्येवं दशैव तु।
अतः परं प्रवक्ष्यामि भौमानामपि लक्षणम्॥ ४१॥

ये दस आकाशिक मण्डल कहे गए हैं। अब आगे मैं भौमिक मण्डलों के लक्षण बतलाता हूं॥ ४१॥

---

१. पद्यार्धमेतत् ख०–ग०–पुस्तकयोः नास्ति।
२. ललितसंज्ञकः—ख०।
३. प्रसारस्तु—ख० ग०।
४. श्चान्यं वामपार्श्वं–ग०।
५. गामीनि—ख०।

भ्रमर मण्डल—लक्षण—

आद्यस्तु जनितः कार्यो वामश्चास्पन्दितो भवेत् ।
शकटास्यः पुनश्चाद्यो वामश्चापि प्रसारितः ॥ ४२ ॥
आद्यो भ्रमरकः कार्यस्त्रिकश्च परिवर्तयेत् ।
आस्पन्दितः पुनर्वाम शकटास्यश्च दक्षिणः ॥ ४३ ॥
वामः पृष्ठापसर्पी च दद्याद् भ्रमरकं तथा ।
स एवास्पन्दितः कार्यस्त्वेतद् भ्रमरमण्डलम् ॥ ४४ ॥

भ्रमर—यदि दाहिने पैर से 'जनिता' चारी तथा बाएं पैर से 'आस्कन्दिता' का, फिर दाहिने पैर से शकटास्या चारी को प्रदर्शित कर बाएं पैर को फैला ले। फिर दाहिने पैर से भ्रमरी चारी का शरीर को घुमाव देकर प्रदर्शन करे। फिर बाएं पैर से 'आस्कन्दिता' चारी का तथा दाहिने पैर से 'शकटास्या चारी' का, फिर बाएं पैर से अपक्रान्ता चारी अपसर्पो का और त्रिक को घुमाव देते हुए भ्रमरी चारी का प्रदर्शन करे तो भ्रमर नामक मण्डल हो जाता है ॥ ४२-४४ ॥

आद्यो भ्रमरकः कार्यो वामश्चैवाड्डितो भवेत् ।
[4]कार्यस्त्रिकविवर्तश्च शकटास्यश्च दक्षिणः ॥ ४५ ॥
ऊरूद्वृत्तः स एव स्याद्वामश्चैवापसर्पितः ।
कार्यस्त्रिकविवर्तश्च दक्षिणः स्पन्दितो भवेत् ॥ ४६ ॥
शकटास्यो भवेद्वामस्तदेवास्फोटनं भवेत् ।
एतदास्पन्दितं नाम व्यायामे युद्धमण्डलम् ॥ ४७ ॥

आस्पन्दित (आस्यन्दित)—यदि दाहिने पैर से 'भ्रमरी' चारी का तथा बाएं पैर से 'अड्डिता' तथा पीठ को एक घुमाव देकर भ्रमरी चारी का, फिर दाहिने पैर से 'शकटास्या' चारी का तथा पुनः 'उरूद्वृत्ता' चारी का, फिर बाएं पैर से अतिक्रान्ता चारी (अपसर्पी) को प्रदर्शित करे और फिर भ्रमरी को (पीठ को पूरा गोल घुमाव देकर) प्रदर्शित करे, फिर दाहिने

---

१. श्चास्कन्दितो—ख०-ग० । २. आस्कन्दितः—ख०-ग० ।
३. एवास्कन्दितः—ख०-ग० ।
४. 'कार्यस्त्रिक' इत्यादि पद्यद्वयी ग०-पुस्तके नास्ति
५. स्कन्दितो—ख० । ६. तथैवा—ख० ।
७. दास्कन्दितं—ख०-ग० ।

पैर से स्पन्दिता चारी का और पुनः बाएं पैर से 'शकटास्या' चारी का प्रदर्शन कर उसे भूमि पर जोर का झटका देकर पटके तो 'आस्पन्दित' नामक युद्ध में प्रयुक्त होने वाला मण्डल हो जाता है ॥ ४५–४७ ॥

आद्यन्तु जनितं कृत्वा वामेनं तु निकुट्टकम्[1]।
शकटास्यः पुनश्चाद्य[3] ऊरुद्वृत्त स एव तु ॥ ४८ ॥
पृष्ठापसर्पी वामश्च स च चाषगतिर्भवेत्।
आस्पन्दितः[4] पुनः सव्यः[5] शकटास्यश्च वामकः ॥ ४९ ॥
आद्यो भ्रमरकश्चैव त्रिकन्तु परिवर्तयेत्।
पृष्ठाप[6]सर्पी वामश्चेत्यावर्तं मण्डले भवेत् ॥ ५० ॥

आवर्त्त—यदि दाहिने पैर से जनिता चारी तथा बाएं पैर से तलसंचर (निकुट्टन) का, फिर दाहिने पैर से शकटास्या तथा उसी से उरूद्वृत्ता का, फिर पीठ को घुमाते हुए बाएं पैर से अतिक्रान्ता चारी (अपसर्पी) का तथा 'चाषगति' चारी का, फिर दाहिने पैर से 'स्कन्दिता' चारी का तथा बाएं पैर से शकटास्या चारी का, फिर दाहिने पैर से पीठ को चक्कर या घुमाव देते हुए भ्रमरी चारी तथा बाएं पैर से अपक्रान्ता (अपसर्पी) चारी को प्रदर्शित करे तो 'आवर्त्त' नामक मण्डल होता है ॥ ४८–५० ॥

[7]कृत्वादौ समपादन्तु स्थानं हस्तौ प्रसारयेत्।
निरन्तरावूर्ध्वतलावावेष्ट्योद्वेष्ट्य चैव हि ॥ ५१ ॥
कटीतटे विनिक्षिप्य चाद्यमावर्तयेत् क्रमात्[8]।
यथाक्रमं पुनर्वाममावर्तन प्रसारयेत् ॥ ५२ ॥
[9]चार्यानया च भ्रान्त्वा तु पर्यायेणाथ मण्डलम्।
समोत्सारितमेतच्च[10] ज्ञेयं व्यायाममण्डलम् ॥ ५३ ॥

समोत्सारित—सर्वप्रथम समपाद स्थान का प्रदर्शन कर दोनों हाथों को फैलाकर उनकी हथेली ऊपर की ओर मुंह वाली रखे पुनः हाथों को

१. वामञ्चैव—ग०। २. निकुट्टनम्—ख०।
३. श्चान्यः—ग०। ४. आस्कन्दितः—ख०–ग०।
५. सद्यः—ख०, सौख्यं—ग०। ६. पृष्ठावसर्पी—ख०।
७. समपादं बुधः कृत्वा स्थानं—ख०–ग०।
८. क्रमम्—ख०–ग०। ९. चारया चानया—ग०।
१०. मेतत्तु कार्यं—ग०।

आवेष्टन (हाथों का पारस्परिक लपेटना) तथा उद्वेष्ठन गति युक्त कर ले, फिर बाएं हाथ को कटि प्रदेश पर रखे और दाहिने हाथ को 'आवर्तित' गति में रखे, फिर दाहिने हाथ को कटि पर रखे और बाएं हाथ क्रमशः (पर्याय में) गोल घुमाव लेते हुए रखने तथा आवर्तित चारी में स्थित रहने पर 'समोत्सारित' मण्डल हो जाता है ॥ ५१–५३ ॥

पादैस्तु भूमिसंयुक्तैः सूचीविद्धैस्तथैव च ।
एलकाक्रीडितैश्चैव तूर्णैस्त्रिकविवर्तनैः[1][2] ॥ ५४ ॥
सूचीविद्धापविद्धैश्च[3] क्रमेणावृत्य मण्डलम् ।
एलकाक्रीडितं विद्यात् खण्डमण्डलसंज्ञितम् ॥ ५५ ॥

एलकाक्रीडित—यदि दोनों सम पैरों को पृथ्वी पर टिकाकर फिर 'सूची' तथा एलकाक्रीडिल चारी को प्रदर्शित करे फिर शीघ्र भ्रमरी चारी का प्रदर्शन कर त्रिक को घुमाव दे, फिर 'सूची' तथा आविद्धा (अपविद्धा) चारी को क्रमशः गोल घुमाव देकर प्रदर्शन करे तो 'खण्डमण्डल' नाम वाला 'एलकाक्रीडित' मण्डल हो जाता है ॥ ५४–५५ ॥

सव्यमुद्धट्टितं कृत्वा तेनैवावर्तमाचरेत्[4] ।
तेनैवास्कन्दितः कार्यः शकटास्यश्च वामकः ॥ ५६ ॥
आद्यः[5] पृष्ठापसर्पी च स च चाषगतिर्भवेत्[6] ।
अड्डितश्च[6] पुनर्वाम आद्यश्चैवापसर्पितः ॥ ५७ ॥
वामो भ्रमरकः कार्य आद्य[7] आस्कन्दितो भवेत् ।
तेनैवास्फोटनं कुर्यादेतदड्डितमण्डलम्[8] ॥ ५८ ॥

अड्डित—यदि दाहिने पैर को 'उद्घाट्टित' लक्षण के अनुसार घुमावे फिर (इसी के अनुसार) एक सामान्य गोल घुमाव ले और फिर उसी पैर को 'आस्यन्दिता' चारी के अनुसार घुमावे तथा बाएं पैर से शकटास्या चारी का, फिर दाहिने पैर को पीछे की ओर क्रमशः अपक्रान्ता (अपसर्पी) चारी के अनुसार तथा चाषगति चारी के अनुसार ले जाए, फिर बायां पैर अड्डिता चारी में तथा दाहिना पैर 'अपक्रान्ता' चारी में रखे, फिर

१. तूर्णैस्त्रिक—ग० । २. विवर्तनम्—ख० । ३. पविद्धश्च—ग० ।
४. वावृत्त—ख० । ५. आद्यपृष्ठा—ख० ।
६. इतः प्रभृति सार्धश्लोकद्वयं ग०–पुस्तके नास्ति ।
७. आद्यश्चास्कन्दितो—ख० । ८. दड्डित—ख० ।

बाएं पैर से 'भ्रमरी' और दाहिने पैर से स्यन्दिता चारी का प्रदर्शन कर पृथ्वी पर पैरों को जोर से पटके तो 'अड्डित' मण्डल होजाता है ॥ ५६–५८ ॥

आद्यन्तु जनितं कृत्वा तेनैव च निकुट्टकम् ।
स एव शकटास्यश्च वामश्चास्कन्दितो भवेत् ॥ ५९ ॥
पादैश्च शकटास्यस्थैः पर्यायेणाथ मण्डलम् ।
विज्ञेयं शकटास्यन्तु व्यायामे युद्धमण्डलम् ॥ ६० ॥

शकटास्य—यदि दाहिने पैर द्वारा 'जनिता' चारी को और फिर इसे तलसंचरपाद (निकुट्टक) लक्षण में गतिशील रखे, फिर इसी पैर से 'शकटास्य' चारी तथा बाएं पैर से स्यन्दिता (आस्यन्दिता) चारी का प्रदर्शन करे। फिर शकटास्या चारी में दोनों पैरों के द्वारा क्रमशः गोल घुमाव ले तो 'शकटास्य' मण्डल होता है। युद्धप्रदर्शन में इसी मण्डल की योजना की जाती है ॥ ५९–६० ॥

आद्यस्तु जनितो भूत्वा स एवास्कन्दितो भवेत् ।
अपसर्पी पुनर्वामः शकटास्यश्च दक्षिणः ॥ ६१ ॥
भ्रान्त्वा चारीभिरेताभिः पर्यायेणाथ मण्डलम् ।
अध्यर्धमेतद्विज्ञेयं नियुद्धे चापि[1] मण्डलम् ॥ ६२ ॥

अध्यर्ध—यदि दाहिने पैर द्वारा 'जनिता' चारी तथा पुनः उसी से आस्कन्दिता चारी का प्रदर्शन करे, फिर बायां पैर अपक्रान्ता (अपसर्पित) चारी का तथा दाहिना पैर शकटास्या चारी का रखे। इस प्रकार इन चारियों में क्रमशः घुमते हुए मण्डल बनाया जाए तो उसे 'अध्यर्ध' मण्डल जानो। इसकी बाहुयुद्ध में योजना की जाती है ॥ ६१–६२ ॥

सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तश्च वामकम् ।
भुजङ्गत्रासितं[2]श्चाद्य एवं[3]मेव च वामकः ॥ ६३ ॥
भुजङ्गत्रासितैर्भ्रान्त्वा पादै[4]रपि च मण्डलम् ।
पिष्टकुट्टश्च विज्ञेयं चारीभिर्मण्डलं[5] बुधैः ॥ ६४ ॥

पिष्टकुट्ट—यदि दाहिने पैर द्वारा 'सूची' चारी का तथा बाएं पैर से अपक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे, फिर दाहिने पैर से भुजंत्रासिता चारी

१. चारिमण्डलम्—ग० ।
२. त्रासितश्चान्य—ग० ।
३. एष एव तु—ग० ।
४. चारैरपि—० ।
५. नियुद्धे चारिमण्डलम्—ग० ।

का तथा बाएं पैर से भी इसी चारी का प्रदर्शन कर फिर दोनों भुजंगत्रासिता चारी वाले पैर वर्तुलाकार गति में घूमते हुए रखे तो इस चारी मण्डल को 'पिष्टकुट्ट' जानों। इसे भी युद्ध प्रदर्शन में प्रयुक्त किया जाए ॥ ६३–६४ ॥

सर्वैश्चाषगतैः पादैः परिक्रम्य[1] च मण्डलम्।
एतच्चाषगतं विद्यान्नियुद्धे चापि[2] मण्डलम् ॥ ६५ ॥

चाषगत—यदि 'चाषगत' चारी के पादों से गोल घुमाव लेकर मण्डल बनाए तो इसे चाषगत नामक मण्डल जानों। इसकी बाहुयुद्ध में योजना की जाए ॥ ६५ ॥

नानाचारीसमुत्थानि मण्डलानि समासतः।
उक्तान्यतः परञ्चैव समचारीं[3] नियोजयेत् ॥ ६६ ॥
समचारी-प्रयोगो यस्तत् समं नाम मण्डलम्।
आचार्यबुद्ध्या तानीह कर्तव्यानि प्रयोक्तृभिः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार अनेक चारियों के द्वारा निर्मित इन 'मण्डलों' को मैंने संक्षेप में बतलाया। अब 'समचारी' मण्डल के बारे में सुनिये।

जिसमें सम चारियों का निरन्तर प्रयोग हो उसे 'सम (चारी) मण्डल' जानों। नाट्याचार्य द्वारा निर्देशित विधाओं के अनुसार इनका प्रयोग किया जाए।

एतानि खण्डानि समण्डलानि युद्धे नियुद्धे च परिक्रमे च।
लीलाङ्गमाधुर्यपुरस्कृतानि कार्याणि वाद्यानुगतानि तज्ज्ञैः ॥ ६८ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे मण्डलविकल्पनं नाम द्वादशोऽध्यायः[4]



इस प्रकार इन मण्डलों को युद्ध, बाहुयुद्ध तथा घूमने में लीलापर्ण, तथा सुमधर अंगों का प्रदर्शन करते हुए प्रदर्शित किया जाए तथा वाद्यों की संगत के साथ इनका प्रदर्शन रखे ॥ ६८ ॥

भरतनाट्यशास्त्र का मण्डल विधान नामक द्वादश अध्याय समाप्त



१. परिभ्राम्य—ग०। २. चारिमण्डलम्—ग०।
३. समचारीणि योजयेत्—ग०। ४. एकादशोऽध्यायः—क०।

त्रयोदशोऽध्यायः

गतिप्रचार

एवं व्यायामसंयोगे[1] कार्यं मण्डलकल्पनम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि गतीस्तु[3] प्रकृतिस्थिताः ॥ १ ॥

चारियों के समुदाय से बनने वाले मण्डलों की विधि पिछले अध्याय में हम बतला आए हैं। अब यहां अभिनय के समय किये जाने वाली पात्रों की गतियों का[1] वर्णन किया जा रहा है ॥ १ ॥

पात्रों का रंगमंच पर प्रवेश—

तत्रोपवहनं[4] कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम् ।
यथामार्गरसोपेतं[5] प्रकृतीनां प्रवेशने[6] ॥ २ ॥
ध्रुवायां सम्प्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते[7] ।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससम्भवः ॥ ३ ॥

जब विविध वाद्यवादन के साथ मार्ग, कला एवं रसानुकूल-विचार को ध्यान में रखते हुए उपोहन-क्रिया[2] सम्पन्न हो चुकी हो, ध्रुवागान आरम्भ

---

१. आचार्य अभि० का मत है कि पात्रों की यह गतियाँ उनके स्वरूप, अवस्था रस, देश एवं काल को ध्यान में रखते हुए निर्देशित करना चाहिए। (द्रष्ट—गतिश्च प्रकृतिं रसमवस्थां देशं कालञ्चापेक्ष्य वक्तव्या (अभि० भा० Vol II पृ० १२९).

२. उपवहन शब्द उपोहन शब्द का समानार्थक है। उपोहन क्रिया का वर्णन नाट्यशास्त्र खण्ड १ के पृष्ठ २०२ (अध्याय ५।१८४ की टिप्पणी) पर दिया जा चुका है। आचार्य अभिनव ने उपोहन की व्याख्या करते हुए कहा है—'उपोह्यन्ते समासव्यासतः पदकालतालमभिहिताः स्वरा यस्मिन्नङ्गे तत्तथोक्तम् ।' (Vol I पृ० १८४) अर्थात् ध्रुवागान में रागप्रकाशनार्थ स्थायी स्वर पर आश्रित शुष्काक्षरों का परिग्रह और लघु आदि मात्रिक काल को व्यक्त करने के लिए

---

१. सञ्जातं—क० । २. ऊर्ध्वं—क० ।
३. गतिं तु प्रकृतिस्थिताम्—क० । ४. तत्रोपवाहनं—ख० ।
५. यथामार्गकलोपेतं—क० । ६. प्रवेशनम्—ग० ।
७. अवघर्षिते, अपघट्टिते—क०, अपकर्षिता—ख०, अवकर्षिते, अवघट्टिते—ग० ।

हो चुका हो एवं जवनिका को हटाया जा चुका हो तो ऐसे अवसर पर अनेक अर्थ एवं रसों को उत्पन्न करने वाला पात्र-प्रवेश रंगमंच पर किया जाता है ॥ २-३ ॥

(रंगमंच पर प्रवेश के समय) उत्तम तथा मध्यमपात्रों की शारीरभङ्गिमा—

स्थानन्तु वैष्णवं कृत्वा ह्युत्तमे मध्यमे पुनः।[1]
समुन्नतं समञ्चैव चतुरस्तमुरस्तथा ॥ ४ ॥
बाहुशीर्षे प्रसन्ने च नात्युत्क्षिप्ते[2] च कारयेत्।
ग्रीवाप्रदेशः[3] कर्तव्यो मयूराञ्चित[4]-मस्तकः ॥ ५ ॥
कर्णादष्टाङ्गुलस्थे[5] च बाहुशीर्षे प्रयोजयेत्[6]।
उरसश्चापि[7] चिबुकं चतुरङ्गुलसंस्थितम्[8] ॥ ६ ॥
हस्तौ तथैव कर्तव्यौ कटिनाभितटस्थितौ[9]।
दक्षिणो नाभिसंस्थस्तु वामः[10] कटितटे स्थितः ॥ ७ ॥

रंगमंच पर प्रवेश के समय उत्तम तथा मध्यमपात्र वैष्णवस्थान (अ० ११।५२, ५३) मे स्थित रहते हैं। इस समय उनकी छाती सम,

---

ताल का परिग्रह ही उपोहन है जिससे गीत आरम्भ होता हो। इसकी व्युत्पत्ति है—उपोह्यन्ते प्रयोगसूचनाभिनयद्वारेण सूच्यते यत्र तदुपोहनम्। (अभि० भा० Vol IV पृ० २१६) अर्थात् जिसमें प्रयोग या अभिनय के मध्य होने वाली वस्तु या कलिका के मध्य स्वर तथा कला के नियमनार्थ किया जाने वाला जो आलाप हो वही उपोहन है। (उपोहन के विषय में ना० शा० ३१।१३ तथा वहाँ का विवेचन द्रष्टव्य। इसके अतिरिक्त सङ्गीतरत्नाकर तालाध्याय में ५।५९ पर चतुर कल्लिनाथ का व्याख्यान भी द्रष्टव्य है (द्र० संगी० र० अड्यार सं० पृष्ठ ३१-३२)

---

१. कार्यमुत्तमे—क०। २. नात्युक्षिप्ते—ख०।
३. ग्रीवाप्रवेशः—ख०। ४. मयूराङ्कितमस्तकः—ख०।
५. कर्णाभ्यां बाहुशिरसी स्यातामष्टाङ्गुलस्थिते—क०, कर्णादष्टाङ्गुलिस्थे च—ग०। ६. च कारयेत्—क०।
७. उरसश्चापि देशाच्च चिबुकं चतुरङ्गुलम्-क०, ऊरुदेशश्च चिबुकं—ग०।
८. सम्मितम्—क०।
९. कटिं नाभिं तु संस्थितौ—क, कटीनाभि—ग०।
१०. कटितस्थितः—क०, कटितकेस्थितः—ख०।

ऊँची उठी हुई तथा चतुरस्र रहती है, बाहु तथा मस्तक उन्नत, गला मोर के समान सुन्दर तथा प्रसन्न; बाहु, कान तथा मस्तक से आठ अंगुल दूर, वक्षःस्थल से ठुड्डी चार अंगुल ऊँची और दाहिना तथा बायाँ हाथ क्रमशः नाभि तथा क़टि पर स्थित होना चाहिए ॥ ४-७ ॥

पादों की ताल, कला और लय विधान—

पादयोरन्तरं कार्यं द्वौ तालावर्धमेव च ।
पादोत्क्षेप[1]स्तु कर्तव्यः स्वप्रमाणविनिर्मितः ॥ ८ ॥
चतुस्तालो द्वि[2]तालश्चाप्येक[3]तालस्तथैव च ।

(उपर वर्णित स्थिति में) पात्र अपने पैर ढाई ताल के अन्तर से उठाए तथा अपने डगों को हाथों के माप के अनुसार, दो तथा एक ताल के अन्तर से पृथ्वी पर रखें ॥ ८-९ ॥

चतुस्तालस्तु देवानां पार्थि न व च ॥ ९ ॥
द्वितालश्चैव मध्यानां तालः स्त्रीनीचलिङ्गिनाम्[4] ।

देवता तथा राजा आदि उत्तम पात्रों को चार ताल के, मध्यम पात्रों को दो ताल के तथा स्त्री तथा नीचपात्रों को एक ताल के अन्तर से डग (पृथ्वी पर) रखना चाहिए ॥ ९-१० ॥

[5]चतुष्कलोऽथ द्विकलस्तथा ह्येककलः पुनः ॥ १० ॥
चतुष्कलो ह्युत्तमानां मध्यानां द्विकलो भवेत् ।
तथा चैककलः[6] पातो[7] नीचानां सम्प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

कला—इन डगों का पात्रानुसार चार कला, दो कला तथा एक कला का प्रमाण रखा जाता है। उत्तम पात्रों का चार कला, मध्यम पात्रों का दो कला तथा अधम पात्रों का एक कला का समय समझना चाहिए ॥ १०-११ ॥

स्थितं[8] मध्यं द्रुतश्चैव समवेक्ष्य[9] लयं बुधः ।
यथाप्रकृति नाट्यज्ञो [10]गतिमेवं प्रयोजयेत् ॥ १२ ॥

१. पादक्षेपस्तु—ख०, पादोत्क्षेपश्च—ग० ।
२. द्वितीयश्च—क० । ३. तथा स्यादेकतालकः—क० ।
४. स्त्रीणाञ्च लिङ्गिनाम्—क०, स्त्रीनीचसङ्गिनाम्—ख०–ग० ।
५. पद्यार्धमिदं ख०–पुस्तके प्रक्षिप्तम् । ६. चैष कलः पातो—ख० ।
७. पादो—ग० । ८. स्थिरं मध्यं समं—क० ।
९. समवेक्ष्य लयत्रयम्—ग० । १०. गतिमेव—क० ।

पात्रों की गति (उनकी स्थिति के अनुसार) स्थित, मध्य तथा द्रुत लय में रखनी चाहिए। इन विविध लयों की नाट्याचार्य स्वयं औचित्यानुसार (पात्रों में) योजना करे ॥ १२ ॥

स्थैर्योपपन्ना[1] गतिरुत्तमानां
मध्या गतिर्मध्यमसम्मतानाम्[2] ।
द्रुता गतिश्च प्रकृताधमानां[3]
लयत्रयं सत्त्ववशेन योज्यम् ॥ १३ ॥

उत्तम पात्रों की गति (चार कला या) स्थित लय में, मध्यम पात्रों की (दो कला या) मध्यलय तथा अधम पात्रों की (एक कला या) द्रुत लय में उनके सामर्थ्यानुसार संयोजित करना चाहिए। ॥ १३ ॥

एष एवं[4] तु विज्ञेयः कलातालल‌ये विधिः ।
पुनर्गतिप्रचारस्य[5] प्रयोगं शृणुतानघाः ॥ १४ ॥

इस प्रकार पात्रों के गति में होनेवाले ताल, लय तथा कला के नियम मैंने बतलाए। अब मैं (विभिन्न पात्रों के उपयुक्त) गतियों के विशिष्टलक्षण, योजना आदि को बतलाता हूँ ॥ १४ ॥

स्वाभाविक गति—

स्वभावे[6] तूत्तमगतौ कार्यं[7] जानु कटीसमम् ।
युद्धचारीप्रयोगेषु पुनस्तनसमं[8] न्यसेत् ॥ १५ ॥

उत्तम पात्र की स्वाभाविक गति में घुटने को कमर के बराबर रखा जाए तथा युद्ध में प्रयुक्त चारी (के समय) घुटने को छाती के सामने तक (उठा कर) ले जाया जाए ॥ १५ ॥

पार्श्वक्रान्तैः[9] सललितैः पादैर्वाद्यान्वितैरथ ।
रङ्गकोणोन्मुखं[10] गच्छेत् सम्यक्पञ्चपदानि तु ॥ १६ ॥

---

१. धैर्योपपन्ना—क०; ग०। २. संस्थितानाम्—क०।
३. प्रचुराधमानाम्—क०, ख०। ४. एव भुविज्ञेयः—ख०।
५. पुनर्गति प्रचारस्य—ग०। ६. स्वभावै—क०, ग०।
७. कार्या—क०।
८. पुनः स्तनसमं भवेत्—ख०, जानुस्तनसमं भवेत्—ग०।
९ पार्श्वाक्रान्तैः—क०। १०. कोणोन्मुखो—क०, ग०।

वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपं दक्षिणेन च।
परिवृत्य द्वितीयन्तु गच्छेत् कोणं ततः परम् ॥ १७ ॥
तत्रापि वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणेन च।
ततो भाण्डोन्मुखो गच्छेत्तान्येवं तु पदानि च ॥ १८ ॥
एवं गतागतैर्गत्वा पदानामेकविंशतिम्।
वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपं दक्षिणस्य च ॥ १९ ॥

वह पार्श्वक्रान्ता चारी में वाद्यवादन के साथ सुन्दरतापूर्वक पैरों को रखते हुए रङ्गमञ्च के कोने की ओर पाँच डग भरे। फिर वह 'सूची' चारी को बाएँ पैर को आगे रखते हुए प्रदर्शित करे तथा दाहिने पैर को पीछे रख कर 'विक्षेप' को प्रस्तुत करे; फिर (गोल) घूमकर दूसरे कोने की ओर पाँच डग भरे और बाएँ पैर को आगे रखते सूचीचारी को तथा दाहिने पैर को उसके पीछे रखकर 'विक्षेप' को प्रदर्शित करे; फिर गोल घुमाव लेकर वाद्यों की ओर बढ़ते हुए इसी प्रकार पाँच डग भरे। इस प्रकार आने-जाने में होने वाली डगों की इक्कीस संख्या को पूरी कर वह बाँए पैर से 'सूची' चारी को तथा उसके पीछे दाहिने पैर को रखकर पुनः विक्षेप का प्रदर्शन करे ॥ १६–१९ ॥

रङ्गे विकृष्टे भरतेन कार्यो गतागतः पादगतिप्रचारः।
त्र्यश्रस्त्रिकोणे चतुरस्ररङ्गे गतिप्रचारश्चतुरस्र एव ॥ २० ॥

'विकृष्ट' नाट्यगृह में अभिनेता अपने पैरों की डग आने-जाने वाली तथा विस्तीर्ण रखे, त्र्यस्रनाट्यगृह में वही चारी (त्रिकोणाभिमुखी या) तिरछी और चतुरस्र नाट्यगृह में पैरों की डग चतुरश्र प्रकार वाली रखनी चाहिए ॥

यः समैः सहितो गच्छेत्तत्र कार्यो लयाश्रयः।
चतुष्कलोऽथ द्विकलस्तथैवैककलः पुनः ॥ २१ ॥

जब अभिनेता समगति में अपने समानस्थितिवाले पात्रों के साथ चल रहा हो तो उसकी गति की लय (उसकी प्रकृति तथा विधि के अनुसार) चार, दो या एक कला के अनुसार रखी जाए ॥ २१ ॥

---

१. दक्षिणस्य च—क०। २. तान्येव विपदानि च—ख०; ग०।
३. गतागतैः कृत्वा—ख०; ग०। ४. विंशतिः—क०।
५. दक्षिणेन च—ख०। ६. त्र्यस्त्रे त्रिकोणे—ग०।
७. द्विकलो भवेदेककलः—ग०।

अथ मध्यमनीचैस्तु गच्छेद्यः परिवारितः ।
चतुष्कलमथार्द्धश्च[1] तथा चैककलं पुनः ॥ २२ ॥

किन्तु जब कोई (अभिनेता) मध्य तथा नीच प्रकृति के पात्रों के साथ चले तो (इस वर्ग की गति के समय) लय को चार, दो तथा एक कला वाली (स्थिति या योग्यतानुसार) रखी जाय ॥ २२ ॥

देव[2]-दानव-यक्षाणां नृपपन्नगरक्षसाम् ।
चतुस्तालप्रमाणेन कर्त्तव्याथ गतिर्बुधैः ॥ २३ ॥

देव, दानव, नाग, राक्षस, यक्ष तथा राजा (जैसे उत्तम पात्रों) की गति चारताल के प्रमाणवाले डग भरते हुए रहना चाहिए ॥ २३ ॥

दिवौकसान्तु सर्वेषां[3] मध्यमा गतिरिष्यते ।
तत्रापि चोर्द्धता[4] ये तु तेषां देवैः समा गतिः ॥ २४ ॥

स्वर्ग के (सभी प्रकृति के) देवताओं की मध्यमा गति होती है। पर उनमें भी जो उद्धत प्रकृति के पात्र हों उनकी गति देवताओं के समान प्रमाणवाली रखी जाए ॥ २४ ॥

पात्रानुसारी गति—

ऋषयः ऊचुः—

यदा मनुष्या राजानस्तेषां देवगतिः[6] कथम् ।
अत्रोच्यते[5] कथं नैषा गती[7] राज्ञां भविष्यति ॥ २५ ॥
अथ[8] दिव्या प्रकृतयो दिव्यमानुष्य[9] एव च ।
मानुष्य[10] इति विज्ञेया नाट्यवृत्तिक्रियां[11] प्रति ॥ २६ ॥
देवानां[12] प्रकृतिर्दिव्या राज्ञां[13] वै दिव्यमानुषी ।
यात्वन्या लोकविदिता मानुषी सा प्रकीर्तिता ॥ २७ ॥

१. अथोद्धवंञ्च—ख०, ग० । २. दैत्य—ख० ।
३. शेषाणां—क० । ४. चोद्धवंगा—ख०, ग० ।
५. अत्राह—ग० । ६. तथा दैवगतिः—क० । ७. गते—क० ।
८. इह प्रकृतयो दिव्या—ख० ग० ।
९. तथा च दिव्यमानुषी—ख०, ग० । १०. मानुषी चेति—ख०, ग० ।
११. नाट्यस्य प्रक्रियां—क०, नाट्यनृत्तक्रियां—ख० ।
१२. देवा हि—ख० । १३. राजानो—ख० ।

देवांशजास्तु[1] राजानो वेदाध्यात्मसु[2] कीर्तिताः ।
एवं देवानुकरणे[3] दोषो ह्यत्र[4] न विद्यते ॥ २८ ॥

ऋषियों ने भरतमुनि से पूछा कि राजा के मनुष्य पात्र के रूप में रहने पर उसकी दिव्य—पात्रों जैसी गति क्यों रखी जाती है ? उत्तर—राजाओं की देवगण के समान गति रखने में क्या अड़चन है ? क्योंकि रूपकों में, दिव्यमानुष तथा मानुष-पात्र होते हैं । इनमें देवताओं की दिव्य, राजाओं की दिव्यमानुष तथा शेष लोक सुलभ (प्रसिद्ध) पात्रों की मानुषी-प्रकृति मानी गई है । वेद तथा वेदान्त-(अध्यात्म) शास्त्र में राजा को देवों के अंश से उत्पन्न माना गया है; इसलिए 'राजा' की दिव्यपात्र जैसी गति रखने में कोई हानि नहीं समझना चाहिए ॥ २५–२८ ॥

अयं विधिस्तु कर्त्तव्यः स्वच्छन्दगमनं प्रति ।
सम्भ्रमोत्पातरोषेषु प्रमाणं न विधीयते[5] ॥ २९ ॥

यह विधान साधारण (सामान्य) गति के लिए हैं । आवेग, उत्पात तथा क्रोध की दशा में (पात्रों की) गति के कोई नियम नहीं रहते हैं ॥२९॥

विशेष अवस्थाओं में पात्रों की गति—

सर्वासां प्रकृतीनान्तु अवस्थान्तरसंज्ञया ।
उत्तमाधममध्यानां[6] गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ ३० ॥

(किन्तु) नाट्य विधायक जन सभी पात्रों की—जो कि उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के हों उनकी अवस्थाओं को देखकर तदनुसार 'गति' को रखें ॥ ३० ॥

चतुँरर्द्धकलं[7] चा स्यात्तदर्धकलमेव च ।
अवस्थान्तरमासाद्य[8] कुर्याद्गतिविचेष्टितम् ॥ ३१ ॥

विशेष अवस्था में इन उत्तमादि पात्रों की गति का समय चार कलाओं का, उसका आधा (दो कला) तथा उसके अर्धभाग का आधा (एक कला) रखना चाहिए ॥ ३१ ॥

---

१. देवान्वजास्तु—ख०, ग० । २. वेदाध्यात्मप्रकीर्तिताः—ग० ।
३. देवानुसरणे—क० । ४. देवो—ख० ।
५. विधेयः—क० । ६. मध्योत्तमाधमानाञ्च—ग० ।
७. चतुर्थ्येककलं चा–क०, चतुरर्धकलञ्च–ख० । ८. अथवान्तर—क० ।

ज्येष्ठे चतुष्कलं यत्र मध्यमे द्विकलं भवेत्।
द्विकला[1] चोत्तमे यत्र मध्ये त्वेककला भवेत् ॥ ३२ ॥

(विभिन्न पात्रों से सम्बद्ध उनके समय तथा गतियों की विशिष्ट अवस्थाओं में) उत्तम पात्र की गति चार कला के प्रमाणवाली, मध्यम पात्र की दो कला की गति तथा अधम पात्र की गति एक कला की होती है परन्तु जब उत्तमपात्र की दो कला की हो तो मध्यमपात्र की एक कला के प्रमाण की गति रखना चाहिए ॥ ३२ ॥

क[3]लिकं मध्यमे यत्र नीचेष्वर्द्धकलं[2] भवेत्।
एवमर्[4]द्धार्द्धहीनन्तु कलानां सम्प्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥

तथा जब मध्यम पात्र की एक कला की गति हो तो अधम पात्र की आधी कला की रहती है। इस प्रकार विशेष अवस्थाओं में कला का परिमाण आधा-आधा कर दिया जाता है ॥ ३३ ॥

उ[5]त्तमानां गतिर्या तु न तां मध्येषु योजयेत्।
मध्यमानां गतिर्या तु न तां नीचेषु योजयेत् ॥ ३४ ॥

उत्तम पात्रों की गति की मध्यम पात्र तथा मध्यम पात्र की गति की अधम पात्र में योजना नहीं करना चाहिए ॥ ३४ ॥

(विशेष दशा में) गतियों का लय-विधान—

त्वरार्त्ते च क्षुधार्त्ते च तपः श्रान्ते भयान्विते।
विस्म[6]ये चावहित्थे च तथौत्सुक्यसमन्विते ॥ ३५ ॥
शृङ्गारे चैव शोके च स्वच्छन्दगमने तथा।
ग[7]तिः स्थितलया कार्याधिकलान्तरपातिता ॥ ३६ ॥
पु[8]नश्चिन्तान्विते चैव गतिः कार्या चतुष्कला।

१. विकला—क०, विकलं चोत्तमा यत्र—ख०, ग०।
२. नीचेष्वर्धकलं भवेत्—ख०, ग०।
३. श्लोकार्धमेतत् ख०, म० पुस्तकयोर्नास्ति।
४. मर्द्धार्द्धहानिं तु—ख०, ग०। ५. पद्यमेतत—क० पुस्तकेऽत्र नास्ति।
६. विक्षते—क०।
७. गतिः स्थितलया कार्या विफलान्तरपातिना—ख० ग०।
८. श्लोकार्धमेतत्—ख० पु० नास्ति।

ज्वर-ग्रस्त, क्षुधार्त, श्रान्त, भयभीत व्यक्ति की तथा विस्मय, अवहित्था, औत्सुक्य, शृंङ्गार रस (विप्रलम्भ इष्ट है) तथा शोक की अवस्थाओं में स्थित (विलम्बित) लय में गति रखते हैं—जिसमें चारकला से अधिक समय लगता हो (या कम से कम चार कला का समय लगे) किन्तु सचिन्तायुक्त-दशा में गति चार कला प्रमाणवाली ही रहना चाहिए ॥

अस्वस्थकामिते[1] चैव भये[2] वित्रासिते तथा ॥ ३७ ॥
आवेगे चैव हर्षे च कार्ये यच्च[3] त्वरान्वितम् ।
अनिष्टश्रवणे चैव क्षेपे[4] चाद्भुतदर्शने ॥ ३८ ॥
अपि चात्ययिके कार्ये दुःखिते शत्रुमार्गणे[5] ।
अपराद्धानुसरणे[6] श्वापदानुगतौ[7] तथा ॥ ३९ ॥
एतेष्वेवं[8] गतिं प्राज्ञो द्विकलां[9] सम्प्रयोजयेत् ।

प्रच्छन्न-कामिता, (अस्वस्थकामिता) भय, व्यग्रता (वित्रास), आवेग, हर्ष, शीघ्रता के कार्य, अनिष्ट-श्रवण, निन्दा, अद्भुत-दर्शन, आवश्यक कार्य, दुःख, शत्रु के ढूँढ़ने, अपराधी का पीछा करने तथा शिकार के पीछे पड़ने की दशा में ऐसे पात्रों की दो कला की गति बुद्धिमान् निर्देशक द्वारा संयोजित की जाए ॥ ३७–४० ॥

गतिः शृङ्गारिणी कार्या स्वस्थकामितसम्भवा[10] ॥ ४० ॥

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने यहाँ अधिकलान्तरपातिता पद की व्याख्या में बतलाया कि यहाँ अधिकलान्तरपातिता में अधि शब्द का अर्थ आधिक्यपरक होता है। यह आधिक्य उत्कर्ष है जो चार कला के प्रमाण की गति से बिलम्बित लय में पैरों का रखना है। यह प्लुत जैसे स्वर या विराम के आधिक्य में ताल के बोध का सूचक है। इसका आशय यह कि पाद-पात में छ; या आठ कलाओं के अन्तर से रखी जाने वाली गति या डग का भी अधिक्यपरक स्थिति में ग्रहण हो सकता है परन्तु ऐसी गतियाँ स्त्री पात्रों में संयोजित नहीं करना चाहिए।

---

१. अस्वस्थे कामिते—ख०, ग०।
२. भयाद्वित्रा—क०, भयवित्रा—क०। ३. यच्चतुरान्विते—क०।
४. कोपेर्ष्याद्भुतदर्शने—ग०। ५. तथा चैवारिमार्गणे—ख०।
६. अवरुद्धानुकरणे, अपराद्धानुकरणे—क०, अपराध्वानुसरणे—ग०।
७. नुगते—ख०, ग०। ८. एतेष्वेव—क०।
९. विकलां—क०। १०. स्वच्छकामित—ख०, ग०।

शृङ्गार रस में गति :—

[1]दूतीदर्शितमार्गस्तु प्रविशेद्रङ्गमण्डलम् ।
सूचया[2] चाप्यभिनयं कुर्यादर्थसमाश्रयम् ॥ ४१ ॥
[3]हृद्यैर्वस्त्रैस्तथा गन्धैर्धूपैश्चूर्णैश्च भूषितः ।
नानापुष्पसुगन्धाभिर्मालाभिः समलङ्कृतः ॥ ४२ ॥
गच्छेत् सललितैः पादैरतिक्रान्त[4]स्थितैस्तथा ।
तथा सौष्ठवसंयुक्तैर्लयतालवशानुगैः[5] ॥ ४३ ॥
पादयोरनुगौ[6] चापि हस्तौ कार्यौ प्रयोक्तृभिः ।
[7]उत्क्षिप्य हस्तं पातेन पादयोश्च विपर्ययात् ॥ ४४ ॥

शृङ्गार रस की दशा में प्रकट रूपवाले या अप्रच्छन्न कामासक्त पात्र (स्वस्थकामित) की गति ललित रखना चाहिए। शृंगारी पात्र दूती के द्वारा बतलाए मार्ग से रंग-मंच पर प्रवेश करे। वह सूचाभिनय[1] के द्वारा अपने आन्तरिक भावों को प्रकट करें। यह सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुसज्जित सुगन्धित गन्ध, धूप तथा चूर्ण से भूषित तथा विभिन्न एवं मधुर गन्धवाली पुष्प मालाएं धारण किये हो, यह ललित गति से 'अतिक्रान्ता' चारी में चले, (शरीर के) सभी अवयव 'सौष्ठव' युक्त हो तथा इसकी चाल लय-ताल के अनुसार हो। पैरों की गति का हाथों द्वारा अनुसरण होना चाहिए व

---

१. सूच्चाभिनय के लक्षण के लिये देखिये : ना० शा० सामान्याभिनयाध्याय का निम्न श्लोक।

'वाक्यार्थावाक्यं वा, सत्वाङ्गैः सूच्यते यदा पूर्वम् ।
पश्चाद् वाक्याभिनयः, सूचेत्यभिसंज्ञिता सा तु ॥' (अ० २४।४४)

अर्थात् जब किसी वाक्य के भाव की किसी वाक्य के आरम्भ में चेष्टाओं के द्वारा अभिव्यक्ति हो तथा बाद में उसे वाचिक अभिनय या कथोपकथन के द्वारा प्रस्तुत किया जाए तो ऐसी नाटचविधा 'सूचा' कहलाती है।

---

१. दर्शनमार्गस्तु—क०, दर्शनमार्गेण—ग०।
२. सूचया चाभिगमनं—क०, सूचयन्वाभिनयं—ख०, सूचयन्चाप्यभिनयं—ग०।
३. हृद्यैर्गन्धैस्तथा वस्त्रैरलङ्कारैश्च भूषितः—ग०।
४. रतिक्रान्तोत्थितैस्तथा—ग०। ५. तालसमन्वितैः—ग०।
६. पादयो रनुगौ हस्तौ नित्यौ कार्यौ प्रयोक्तृभिः—ग०।
७. उत्क्षिप्तः सहपादेन पतनेन विपर्ययः—ग०।

पैर को हाथ के गिराने के साथ उठावे और हाथ के उठाने पर पैर को नीचे टिका दे ॥ ४०–४४ ॥

प्रच्छन्नकामिते चैव गतिं भूयो निबोधत ।
विसर्जितजनः[1] स्रस्तस्तथा दूतीसहायवान्[2] ॥ ४५ ॥
निर्वाणदीपो नात्यर्थं भूषणैश्च विभूषितः ।
वेलासदृशवस्त्रैश्च[3] सह दूत्या शनैस्तथा ॥ ४६ ॥
व्रजेत् प्रच्छन्नकामस्तु पादैर्निश्शब्दमन्दगैः ।
शब्दशंक्युत्सुकश्च[4] स्यादवलोकनतत्परः ॥ ४७ ॥
वेपमानशरीरश्च शङ्कितः प्रस्खलन्मुहुः ।

अब प्रच्छन्नकामी पात्र की गति बतलाता हूँ। अपने सेवक तथा सहायकों को लौटा कर यह (रात्रि में) दूती के साथ चले। शून्य मार्ग दीपक या प्रकाश रहित हो ऐसा समय बतलाना चाहिए। वह शरीर को अधिक वस्त्रों तथा अलंकारों से न सजाये। यह समयानुसारी वस्त्रों को धारण करे और दूती के साथ बिना आहट किये धीमें पैरों से (बिना आवाज किये) चले। (किसी शब्द के या खड़खड़ाहट के होने पर) शंका तथा कौतूहल से देखते हुए कम्पित शरीर तथा अन्धेरे में ठोकर लगने से लड़खड़ाते कदमों से चलने का प्रदर्शन करे ॥ ४५–४८ ॥

रौद्ररस में (पात्रों की) गति—

रसे रौद्रे तु वक्ष्यामि दैत्यरक्षोगणान् प्रति ॥ ४८ ॥
एक एव रसस्तेषां स्थायी रौद्रो द्विजोत्तमाः ।
नेपथ्यरौद्रो विज्ञेयस्त्वङ्गरौद्रस्तथैव च ॥ ४९ ॥
तथा स्वभावजश्चैव[5] त्रिधा रौद्रः प्रकल्पितः[6] ।
रुधिरक्लिन्नदेहो यो रुधिरार्द्रमुखस्तथा ॥ ५० ॥
तथा पिशितहस्तश्च रौद्रो[7] नेपथ्यजस्तु सः ।
बहुबाहुर्बहुमुखो नानाप्रहरणाकुलः ॥ ५१ ॥
स्थूलकायस्तथा प्रांशुरङ्गरौद्रः प्रकीर्तितः ।
रक्ताक्षः पिङ्गकेशश्च असितो विकृतस्वरः ॥ ५२ ॥

---

१ विसर्जितगतिस्तत्र—क०, विसर्जितजनस्तत्र—ग० । २. दूत—क० ।
३. वस्त्रश्च—ग० । ४. शब्दशक्त्युत्सुकश्च—ग० ।
५. स्वभावतः, स्वभावजश्चेति—क० । ६. प्रकीर्तितः—ग० ।
७. रौद्रनेपथ्य—क० ।

रूक्षो[1] निर्भर्त्सनपरो रौद्रे[2] सोऽथ स्वभावजः ।
चतुस्तालान्तरोत्क्षिप्तैः पादैस्त्वन्तरपातितैः[3] ॥ ५३ ॥
गतिरेवं प्रकर्तव्या तेषां ये चापि तद्विधाः ॥ ५४ ॥

अब मैं रौद्ररस में दैत्य तथा राक्षस पात्रों से सम्बन्धित गति को बतलाता हूँ क्योंकि रौद्ररस इन पात्रों में स्थायी स्वरूप लिए (रहता) है। रौद्र रस के तीन प्रकार हैं—(१) नेपथ्य रौद्र, (२) अंग रौद्र तथा (३) स्वभावज रौद्र। नेपथ्य रौद्र का स्वरूप है—रक्त से सना हुआ शरीर (तथा रक्त से) लाल मुँह रहना और हाथ में मांस के टुकड़ों को लिये रहना। अंग रौद्र का स्वरूप है—शरीर बड़ा लम्बा होना। स्वभावज रौद्र का स्वरूप है—शरीर बड़ा लम्बा और ऊँचा, अनेक मुख तथा हाथों वाला, जिनमें अनेक शस्त्र हों। स्वभावज रौद्र (पात्र-विशेष का) का स्वरूप है—लाल आँखें, पीले बाल; काला रंग, कठोर स्वर, रूखा स्वभाव तथा दूसरों को डाटते रहने की प्रवृत्ति रखना। रौद्ररस में 'चंडगति' रहती है। इसमें पैरों को चार चाल के अन्तर से उठाकर मध्य में ही पृथ्वी पर टिका दिया जाता है। इस प्रकार मैंने यह रौद्र पात्रों की गति बतलाई। इसीके समान प्रकृतिवाले अन्य पात्रों की भी ऐसी ही गति रखी जाती है ॥ ४८–५४ ॥

बीभत्सरसगति—

अहृद्यां[4] तु मही यत्र श्मशानरणकश्मला ।
गतिं तत्र प्रयुञ्जीत बीभत्साभिनयं[5] प्रति ॥ ५५ ॥
क्वचिदासन्नपतितैर्विकृष्टपतितैः क्वचित् ।
एलकाक्रीडितैः[6] पादैरुपर्युपरि पातितैः ॥ ५६ ॥
तेषामेवानुगैर्हस्तैर्बीभत्से[7] गतिरिष्यते ।

बीभत्सरस की गति के लिए ऐसे स्थान की योजना करनी चाहिए जो स्मशान या रणभूमि होने के कारण भीषण तथा घिनौना हो रहा हो। इस रस में (पात्र की) 'संकुचित गति' रहती है, जिसमें 'एलकाक्रीडिता' चारी में पैरों को कभी पास-पास, कभी दूर तथा कभी एक दूसरे पर (या एक में

---

१. रूक्षे—ग० । २. रौद्रः सोऽयं स्वभावजः—ख० ।
३. पादैस्त्र्यन्तरपातितैः—क०, पदैस्त्र्यन्तरपातितैः—ग० ।
४. आहीर्णा—क० । ५. बीभत्सानुनयं—ग० । ६. एडका—ख०, ग० ।
७. बीभत्सगतिरुच्यते—ख०, बीभत्सा गतिरिष्यते—ग० ।

दूसरे को) रखते हुए गति रहती है तथा हाथों की गति भी पैरों की गति के अनुसार रखी जाती है ॥ ५४–५७ ॥

वीररसगति :—

अथ वीरे च[1] कर्तव्या पाद[2]विक्षेपसंयुता ॥ ५७ ॥
द्रुत[3]प्रचाराधिष्ठाना नानाचारीसमाकुला ।
पार्श्वक्रान्तैर्द्रुतविद्धैः सूचीविद्धैस्तथैव[4] च ॥ ५८ ॥
कला[5]कालगतैः पादैरावेगे योजयेद्गतिम् ।

वीर रस की गति में पैरों को शीघ्रतापूर्वक उठाकर (गन्तव्य स्थान की ओर) बढ़ाया जाए । (वीर रस की गति 'गौरवगति' कहलाती है और यह उत्तम तथा वीर पुरुषों की स्वाभाविक गति मानी जाती है ।) इसमें पात्र की आवेग दशा में पार्श्वक्रान्ता, आविद्धा तथा सूचीचारी में कला तथा ताल के अनुसार पैरों की उचित गति रखना चाहिए ॥५७-५९॥

उत्तमानामयं प्रायः प्रोक्तो गतिपरिक्रमः ॥ ५९ ॥
मध्या[6]नामधमानाञ्च गतिं वक्ष्याम्यहं पुनः ।

यह मैंने उत्तम पात्रों की सामान्य गति बतलाई । अब मध्यम तथा अधम पात्रों की गति बतलाता हूँ ॥ ५९–६० ॥

अद्भुत तथा हास्य रस में गति :—

विस्मये चैव हर्षे च विक्षि[7]प्तपदविक्रमा ॥ ६० ॥
आसाद्य तु रसं हास्यमेतं[8]चान्यञ्च योजयेत् ।

विस्मय तथा हर्ष की दशा में पैरों की गति लड़खड़ाती हुई तथा चारों ओर घूमनेवाली रखना चाहिए। इसी प्रकार हास्य रस में ऐसी ही या इसी प्रकार की अन्य उचित गति की योजना करनी चाहिए। (हास्यरस की विक्षिप्ता गति तथा अद्भुतरस की 'आश्चर्यगति' कहलाती है) ॥६०–६१॥

---

१. प्रकर्त्तव्या—ग० । २. पदविक्षेप—ख०, ग० ।
३. द्रुता प्रहरणाविद्धा—ग० । ४. स्तथाविद्धैः—ग० ।
५. कालाकालागतैः—ख०, ग० । ६. मध्यमानामधमानाञ्च–क०, ख० ।
७. विक्षिप्य पदविक्रमान्—ख०, ग० ।
८. एताञ्चान्याश्च—ख०, ग० ।

करुण–रस गति :—

पुनश्च करुणे कार्या गतिः स्थितपदैरथ[1] ॥ ६१ ॥
बाष्पाम्बुरुद्धनयनः[2] सन्नगात्रस्तथैव च ।
उत्क्षिप्तपातितकरस्तथा सस्वनरोदनः[3] ॥ ६२ ॥
गच्छेत्तथाध्यर्धिकया[4] प्रत्यग्राप्रियसंश्रये ।
एषा स्त्रीणां प्रयोक्तव्या नीचसत्त्वे तथैव च ॥ ६३ ॥

करुण रस में पात्रों के पैरों की गति धीमी[1] रखनी चाहिए (अतएव करुण रस की गति 'शिथिल-गति' कहलाती है)। आँखें आँसुओं से लबालब, शरीर सुन्न, हाथों को उठाकर फिर ढीला छोड़ देना तथा जोर से रोना आदि का अभिनय इसमें किया जाता है। यह गति अत्यन्त अप्रिय घटना (मरण) के समय रखते हैं तथा 'अध्यर्धिका' चारी में स्थित-लय में डेढ़ कला के अन्तर या विलम्ब से तथा इसी प्रकार धीमी गति से पैरों को रखते हुए प्रदर्शित करते हैं। इस गति को स्त्री तथा नीचपात्र में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ६१–६३ ॥

उत्तमानान्तु कर्तव्या सधैर्या[5] बाष्पसङ्गता ।
निःश्वासैरायतोत्सृष्टैस्तथैवोर्द्धनिरीक्षितैः[6] ॥ ६४ ॥
न तत्र सौष्ठवङ्कार्यं न प्रमाणन्तथाविधम् ।

(करुण रस की दशा में) उत्तम पात्रों की गति धैर्ययुक्त, आँसुओं के साथ तथा ऊर्ध्वनिश्वास छोड़ते हुए तथा ऊपर की ओर देखते हुए (ऊर्ध्वनिरीक्षण युक्त) रखनी चाहिए। इस प्रकार की गति में कला तथा कालगत

---

१. :—'स्थितपदैः' पद का अर्थ है विलम्बितगति से चरण रखना। 'आश्रयतोत्सृष्टैः' का अर्थ है दीर्घ या छोड़ी हुई श्वास अर्थात् ऊर्ध्वनिश्वास। यहाँ ऊर्ध्वनिरीक्षण पद में दैवोपालम्भ का संकेत है। 'न प्रमाणं तथा विधम्' का आशय है कि यहाँ किसी भी शास्त्रीयप्रमाण वाली गति को न रखते हुए केवल स्वच्छन्द चरणपात की ही योजना पर्याप्त मानी गयी है। आचार्य कोहल का मत है कि यहाँ जम्भटिका लय का प्रयोग करना चाहिए।

---

१. स्थिरपदैः—ख० ग०। २. बाष्पाम्बुनद्ध—क०।
३. सस्वररोदनः—क०।
४. तथाविद्धकायः प्रत्यग्रगतिसंश्रये—ख०, ग०। ५. सधैर्यं—ग०।
६. रायतोत्कृष्टै—क०, ग०।

किसी भी परिमाण तथा शरीर सौष्ठव के लक्षण (आदि) की योजना नहीं करना चाहिए ॥ ६४–६५ ॥

[मध्यानामपि सत्वज्ञा गतिर्योज्या विधानतः][1]
उरःपातं[2] हतोत्साहः शोकव्यामूढचेतनः[3] ॥ ६५ ॥
नात्युत्क्षिप्तैः पदैर्गच्छेदिष्टबन्धुनिपातने ।
गाढप्रहारे कार्या[4] च शिथिलाङ्गभुजाश्रया[5] ॥ ६६ ॥
विघूर्णितशरीरा च गतिश्चूर्णपदैरथ[6] ।

[मध्यम पात्रों की गति भी इसी विधान के अनुसार सत्त्व या शक्ति को जानकर रखी जाए] प्रियजन तथा सम्बन्धि (इष्ट-बन्धु) आदि के निधन हो जाने की दशा में छाती पीटना, उत्साहहीन हो जाना तथा (अतिशय) शोक के कारण चेतनाहीन हो जाना बतलाया जाता है। इसमें प्रदर्शित गति में पैरों को बहुत ऊँचे नहीं उठाना चाहिए। चोट लगने तथा अतिशय घायल होने की दशा में भुजा तथा कन्धों को ढीले, शरीर को घूमता (चक्कर खाता) हुआ रखे। इस दशा में गति 'चूर्णपद' (थोड़ा उठाकर पृथ्वी पर टिकाना या ठीक से न रखना) की स्थिति में रखी जाए ॥

शीतार्त पात्र की गति—

शीतेन चाभिभूतस्य वर्षेणाभिद्रुतस्य[7] च ॥ ६७ ॥
गतिः प्रयोक्तृभिः कार्या स्त्रीनीचप्रकृतावथ ।
पिण्डीकृत्य तु गात्राणि तेषाञ्चैव प्रकम्पनम् ॥ ६८ ॥
करौ वक्षसि निक्षिप्य कुब्जीभूतस्तथैव[8] च ।
दन्तोष्ठस्फुरणञ्चैव चिबुकस्य प्रकम्पनम्[9] ॥ ६९ ॥
कार्यं शनैश्च[10] कर्तव्यं शीताभिनयने गतौ ।

जाड़े या वर्षा से अभिभूत स्त्री तथा अधम पात्रों की गति में सारे शरीर के अवयवों को सिकुड़ाकर उनका धूजना, हाथों को छाती पर (ढकने के

१. श्लोकार्धमेतत्—ख०, ग० पुस्तकयोर्नास्ति ।
२. नतः पादः हतो—क०, उरः पादगतोत्साहः—ख०, ग० ।
३. शोकव्याकुलचेतसः—क०, शोकव्याकुलचेतनः—ग० ।
४. कार्ये—ग० । ५. शिथिलांस—क० ।
६. स्तूर्णपदैरख—ख० । ७. णाभिहतस्य च—ग० ।
८. कुञ्चीभूतस्तथैव च—क० । ९. तु कम्पनम्—ग० ।
१०. शनैस्तु गन्तव्यं—ख०, ग० ।

लिए) रखना, शरीर को झुका लेना, दाँत और ओठों का फड़काना, ठुड्डी का धुजाना धीरे-धीरे कार्य करना आदि प्रदर्शित करना चाहिये। इस शीताभिनय की दशा में गति अत्यन्त धीमी (स्थित लय में) रखना चाहिए॥

भयानक-रस गति—

तथा भयानके चैव गतिः कार्या विचक्षणैः॥ ७० ॥
स्त्रीणां कापुरुषाणाञ्च ये चान्ये सत्त्ववर्जिताः।
विस्फारिते[1] चले नेत्रे विधुतञ्च शिरस्तथा॥ ७१ ॥
भयसंयुक्तया[2] दृष्ट्या पार्श्वयोश्च विलोकितैः[3]।
द्रुतैश्चूर्णपदैश्चैव[4] वध्वा[5] हस्तं कपोतकम्॥ ७२ ॥
प्रवेपितशरीरश्च[6] शुष्कोष्ठः स्खलितं व्रजेत्।
एषानुसरणे[7] कार्या तर्जने त्रासने[8] तथा॥ ७३ ॥
सत्त्वञ्च विकृतं दृष्ट्वा श्रुत्वा च विकृतं रवम्[9]।
एषा स्त्रीणां प्रयोक्तव्या नृणामाक्षिप्तविक्रमा[10]॥ ७४ ॥
क्वचिदासन्नपतितैर्विकृष्टपतितैः क्वचित्।
एलकाक्रीडितैः पादैरूपर्युपरि पातितैः॥ ७५ ॥
एषामेवानुगैर्हस्तैर्गति[11] भीतेषु योजयेत्।

भयानकरस में स्त्री तथा (उन) अधम पात्रों की—जो डरपोक या कमजोर (सत्वहीन) हों—प्रकृति के अनुसार सहज गति रखनी चाहिए। भयानक रस की दशा में इनके नेत्र खुले तथा घूजते हुए, मस्तक 'विधुत' (ना० शा० ८/२२) मुद्रा में तथा भययुक्त दृष्टि में क्रमशः बगलों को देखना प्रदर्शित करना चाहिए। इसमें गति द्रुत तथा 'चूर्णपद' लक्षण की, हाथों को 'कपोत' मुद्रा में, शरीर को कम्पित तथा ओठों को सूखते हुए रखे यह 'धैर्यविभासित' गति है जो भयानक रस में संयोजित की जाती है।

---

१. विस्फारितचलन्नेत्रो विधून्वन् स्वशिरस्तथा—क०।
२ भयाकुलितचित्तत्वात् पार्श्वानि च विलोकयन्—क०।
३. विलोकनैः—ग०। ४. पूर्णपदैश्चैव—ख०।
५. कृत्वा—क०। ६. प्रलेपितशरीरस्तु शुष्कौष्ठश्च स्खलन् व्रजेत्—क०।
७. एषानुकरणे—ख०, ग०। ८. कलहे—क०।
९. विकृतं स्वरम्—क०, विकृतस्वरम्—ग०।
१०. नृणाञ्च क्षिप्तविक्रमा—क०, नृणाञ्चाक्षिप्त—ख०, ग०।
११. गतिर्भीतेषु—क०।

यही गति शत्रु द्वारा पीछा करने, डराने या दुःख देने की स्थिति में भी प्रदर्शित करना चाहिए। किसी भयंकर प्राणी को देखने या किसी भयानक आवाज को सुनने की स्थिति में भी इसी गति की योजना की जाए। तथा डरपोक पुरुष-स्त्री पात्रों में भी इसी गति की संयोजना की जाए (पर पुरुष पात्र में थोड़ी धैर्य या पराक्रम प्रदर्शन (आक्षप्त विक्रमा) की वृत्ति का संमिश्रण रखते हुए उक्त गति रहे।) भयभीत पुरुष की गति में 'एलकाक्रीडित' चारी (ना० शा० ११।२०) में पैरों को शीघ्रता से ऊपर रखते हुए या कभी वहीं टिकाकर या एक-दूसरे से बहुत दूर रखकर तथा हाथों को पैरों की गति के अनुसार रखते हुए रहना चाहिए ॥ ७०–७६ ॥[1]

(विविध-पात्र-गति)—

वणिक् तथा मन्त्रिगण की गति—

वणिजां सचिवानाञ्च[1] गतिः कार्या स्वभावजा ॥ ७६ ॥
अतिक्रान्तैः[2] पदैर्विप्रा द्वितालान्तरगामिभिः।
कृत्वा नाभितटे हस्तमुत्तानं[3] खटकामुखम् ॥ ७७ ॥
आद्यं चारालमुत्तानं कुर्यात्[4] पार्श्वं तथान्तरे।
न निषण्णं न च स्तब्धं न[5] चापि परिवाहितम् ॥ ७८ ॥
कृत्वा गात्रं तथा[6] गच्छेत्तेन चैव क्रमेण तु।

वणिक् तथा सचिव गण की गति उनकी प्रकृति के अनुकूल रखनी चाहिए (अर्थात् यह मध्यमगति में रहना चाहिए। क्योंकि ये मध्यमपात्र हैं) इन्हें 'अतिक्रान्ताचारी' में दो ताल के प्रमाणवाली डग भरना चाहिए। इनका बायाँ हाथ 'कटकामुख' मुद्रा में हथेली

---

१. ७०–७६ श्लोक के उपरान्त ना० शा० में शान्तरसगति का निरूपण नहीं है। अभिनव गुप्त के अनुसार (तथा अन्य नाटयशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार) शान्तरस में 'अचंचल या स्थिर गति' रहती है। जिसकी योजना स्थित-प्रज्ञ या शांत-प्रकृति के योगी जैसे पात्र में रखनी चाहिए।

---

१. मन्त्रिणाञ्चैव—क०। २. अतिक्रान्तपदैः सा तु—क०।
३. हस्तमुत्थानं—क०, हस्तं मुक्ताङ्गकटका—ख०, ग०।
४. कुर्यात् पार्श्वंस्स्तनान्तरे—क०, कुर्यात् पार्श्वं तदन्तरे—क०, ख०।
५. न ततो—क०; न चैव—ग०। ६. ततो—क०।

को उठी हुई रखकर नाभि पर रहे तथा दाहिना हाथ 'अराल' मुद्रा में एक बाजू (पार्श्व) पर रखा जाए। ये अपने शरीर को स्थित, स्तब्ध या हिलाते हुए न रखें (किन्तु वर्णित गति में ही शरीर को रखें) ॥७६-७८॥

यति, श्रमण (आदि की) गति—

यतीनां[1] श्रमणानाञ्च ये चान्ये तपसि स्थिताः।
तेषां[2] कार्या गतिर्ये तु नैष्ठिकं व्रतमास्थिताः ॥ ७९ ॥
अलोलं[3]चक्षुश्च भवेद्युगमात्रनिरीक्षिणः[4]।
उपस्थितस्मृतिश्चैव गात्रं सर्वं विधार्य[5] च ॥ ८० ॥
अचञ्चलमनाश्चैव यथावल्लिङ्गमाश्रितः[6]।
विनीतवेषश्च भवेत्काषायवसनस्तथा ॥ ८१ ॥
प्रथमं समपादेन स्थित्वा[7] स्थानेन[8] वै बुधः।
हस्तञ्च चतुरङ्कृत्वा[9] तथा चैकम्प्रसा[10]रयेत् ॥ ८२ ॥
प्रसन्नं[11] वदनं कृत्वा प्रयोगस्य वशानुगम्।
अनिर्षण्णेन[12] गात्रेण गतिं गच्छेदुव्यतिक्रमात्[13] ॥ ८३ ॥
उत्तमानां भवेदेषा लिङ्गिनां ये महाव्रताः।
एभिरेव विपर्यस्तैर्गुणैरन्येषु योज[14]येत् ॥ ८४ ॥
तथा [15]व्रतानुगावस्था अन्येषां लिङ्गिनामपि।
विभ्रान्ता चाप्युदात्ता वा [16]विभ्रान्ता निभृतापि वा ॥ ८५ ॥
शकटास्यस्थितैः पादैरतिक्रान्तैस्तथैव च।
कार्या पाशुपतानाञ्च [17]गतिरुद्धतगामिनी ॥ ८६ ॥

---

१. यतिनश्चाश्रमस्था ये—क०, यतीनाञ्चैव सर्वेषां—ख०।
२. ऋषयस्तापसाश्चैव—क०। ३. आलोलचक्षुः स्याच्चैव—क०।
४. निरीक्षणे—क०। ५. नियम्य च—क०।
६. तथा लिङ्गं समाश्रितः—ग०। ७. कृत्वा—ग०।
८. स्थानेन नाट्यवित्—क०। ९. चतुरकं कृत्वा—क०।
१०. प्रयोजनम्—ग०। ११. प्रसन्नवदनं—क० ग०।
१२. सुनिषण्णेन—क०।
१३. गच्छेदतिक्रमात्—क०, दतिक्रमान्—ग०। १४. लिङ्गिषु—क०।
१५. व्रतानुगा च स्यादन्येषां लिङ्गिनां गतिः—ख०, ग०।
१६. विभ्रान्ता विहृता तथा—क०; विभ्रान्तनिभृतापि वा—ख० ग०।
१७. रुद्भ्रान्तगामिनी—क०; ग०।

यति, श्रमण, तपस्वी तथा नैष्ठिकब्रह्मचारी जैसे पात्रों की गति में चतुर अभिनेता नेत्रों को स्थिर (अलोलचक्षु) तथा चार हाथ आगे (सामने) की भूमि को देखते हुए रखे, वह अपना चित्त स्थिर तथा अपने पन्थ का स्वरूप या धर्म-चिह्न धारण करे। इसका वेष विनीत तथा भगवां कपड़े वाला (या अपने सम्प्रदायानुसार पीला, सफ़ेद वस्त्रधारी आदि भी) रहना चाहिए।

यह 'समपादा' चारी तथा समपाद स्थान में स्थित होकर दोनों हाथों को 'चतुर' मुद्रा में रखकर एक को फैला दे। वह अपना मुँह प्रसन्न तथा प्रयोग के अनुसार रखते हुए स्वाभाविक गति में 'अतिक्रान्ता' चारी में चले।

यह गति उत्तम यतियों की तथा महाव्रतचारी या इसी कोटि के साधुओं आदि की होती है शेष साधुजन जो इनसे गुणों से हीन या विपरीत लक्षण वाले हों, जो उन्मत्त, शान्त प्रकृति (उदात्त) या दयालु (निभृत) स्वभाव के हों, या पाशुपतसम्प्रदाय के शैव संन्यासी हों तो उन्हें 'शकटास्या' तथा 'अतिक्रान्ता' चारी में उद्धत डग भरते हुए रखा जाए ॥ ७९–८६ ॥

(अन्धकार में स्थित या) अन्धे पात्र की गति—

अन्धकारेऽथ[1] याने च गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः।
भूमौ विसर्पितैः पादैर्हस्तैर्मार्गप्रदर्शिभिः[2] ॥ ८७ ॥

अन्धेरे में चलने वाले या अन्धे पात्र की गति पैरों को पृथ्वी पर रगड़ते हुए तथा हाथों से रास्ता टटोलते हुए रखना चाहिए ॥ ८७ ॥

रथावरोही पात्र की गति—

रथस्थस्यापि कर्तव्या गतिश्चूर्णपदैरथ[3]।
समपादं तथा स्थानङ्कृत्वा रथगतिं व्रजेत् ॥ ८८ ॥
धनुर्गृहीत्वा[4] चैकेन तथा चैकेन कूबरम्।
सूतश्चास्य भवेदेवं प्रतोदप्रग्रहाकुलः ॥ ८९ ॥
वाहनानि[5] विचित्राणि कर्तव्यानि विभागशः।
द्रुतैश्चूर्णपदैश्चैव गन्तव्यं रङ्गमण्डले[6] ॥ ९० ॥

१. अन्धस्येव गतिं कुर्यादन्धकारेषु योगवत्—क०, अन्धयाने च—ग०।
२. हस्तदर्शितमार्गभिः—क०; हस्तैर्मार्गप्रदर्शितैः—ग०।
३. चूर्णपदक्रमा—क०, तूर्णपदैरथ—ख०।
४. धनुरेकेन हस्तेन गृहीत्वान्येन सायकम्—क०।
५. करणानि विचित्राणि—क०। ६. रङ्गमण्डलम्—क०।

रथ पर आरोहण करने वाले पात्र की गति सामान्य डगों (चूर्णपद) द्वारा प्रदर्शित की जाए। वह समपाद[1]स्थान के द्वारा (दोनों पैरों को समान रूप से पृथ्वी पर टिकाते हुए) रथ की गति को सूचित करे। वह एक हाथ में धनुष तथा दूसरे में रथ का डण्डा (कूबर) सम्हाले रहे। (इसी प्रकार) इसका सारथि भी चाबुक तथा लगाम के सम्हालने में व्यस्त रहे। इसके वाहन भी रथ की स्थिति के अनुसार विभिन्न प्रकार के स्वरूप वाले प्रदर्शित किये जाएँ तथा वह द्रुत गति में सामान्य डगों को भरते हुए रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे ॥ ८८–९० ॥

विमानावरोहण गति—

विमानस्थस्य कर्तव्या ह्येषैव[1] स्यन्दनी गतिः।
आरोढुमुद्वहेद्गात्रं किञ्चित्स्यादुन्[2]मुखस्थितम् ॥ ९१ ॥
अस्यैव वैपरीत्येन कुर्याच्चाप्यवरोहणम्।
अधोऽवलोकनैश्[3]चैव मण्डलावर्तनेन च ॥ ९२ ॥

रथ पर चढ़ने की गति का ही विमान पर अधिरोहण करते समय भी अनुसरण किया जाए जिसमें केवल शरीर ऊपर की ओर रखते हुए स्थित रहे तथा अवतरण (आकाश से नीचे उतरने) की दशा में अधिरोहण के विरुद्ध कार्यों का प्रदर्शन करे (अर्थात् शरीर को झुकाकर नीचा मुँह किये रहे)॥

आकाश गति—

आकाशगमने चैव कर्तव्या[4] नाट्ययोक्तृभिः।
स्थानेन समपादेन तथा चूर्णपदैर[5]पि ॥ ९३ ॥
व्योम्नश्[6]चावतरेद्यस्तु तस्यैतां कारयेद्गतिम्।
ऋज्वायतोन्नतनतैः[7] कुटिलावर्तितैरथ ॥ ९४ ॥

---

१. समपाद-स्थान में दोनों पैर पृथ्वी पर टिकाकर रथ के मार्ग पर या रथ से चलने का अभिनय किया जाता है परन्तु कथकलि में एक पैर को पृथ्वी पर टिका कर ही रथस्थ रथी का अभिनय करने की परम्परा है। (सम्पा०)

---

१. गती रथगतोपमा—क०।
२. स्यादुन्मुखस्तथा—क०, उन्मुखस्थितः—ख०।
३. अधोऽवलोकनेनैव—क०।
४. कर्त्तव्यं गतिचेष्टितम्—क०। ५. पदैरथ—क०।
६. स्त्ववतरेद्यस्तु—क०। ७. रुद्धायतोऽनुतननै—ख०।

आकाश-गमन—आकाशगामी पात्र की गति आकाशिकी चारियों के प्रभूत प्रदर्शन (मण्डलावर्तन) तथा ऊँचा मुँह कर देखने के द्वारा प्रदर्शित करे और (इसके अतिरिक्त) यह समपादस्थान में साधारण डग (चूर्णपद) भरते हुए हो। आकाश से अवतरण करने वाले पात्र की भी इसी प्रकार 'गति' रहना चाहिए। ऐसी गति सीधे या लम्बे, ऊँचे, नीचे या तिरछे (अव्यवस्थित) घूमते हुए डगों को भरते हुए प्रदर्शित करना चाहिए॥

भ्रश्यतश्च[1] तथाकाशादपविद्धभुजा[2] गतिः।
विकीर्णवसना[3] चैव तथा भूगतलोचना॥ ९५॥

आकाशावतरण—आकाश से गिरते हुए पात्र की गति में भुजाओं को झूले के समान डोलते हुए (अपविद्ध भुज) कपड़ों के छोर इधर-उधर बिखराते हुए तथा दृष्टि पृथ्वी की ओर नीची रहनी चाहिएँ[1]॥ ९५॥

उन्नतप्रदेशारोहण गति—

प्रासादद्रुम-शैलेषु[4] नदीनिम्नोन्नतेषु च।
आरोहणावतरणं कार्यमर्थवशात्तथा[5]॥ ९६॥
प्रासादारोहणं कार्यमतिक्रान्तैः पदैरथ।
उद्वाह्य गात्रं पादश्चं[6]न्यसेत्सोपानपङ्क्तिषु॥ ९७॥
तथावतरणञ्चैव[7] गात्रमस्यैव[8] कारयेत्।
अतिक्रान्तेन[9] पादेन द्वितीयेनाञ्चितेन च॥ ९८॥

(नाटक में पात्रों के) प्रासाद, वृक्ष या पर्वत (अथवा किसी ऊँचे स्थान) पर चढ़ने की या उनसे उतरने की तथा नदी, गढ़ तथा टीलों पर से (ऊँचे-नीचे प्रदेशों पर से) चढ़ने-उतरने की आवश्यकता

---

१. दिव्यपात्र का पृथ्वी पर अवतरण होने पर उक्त पात्र की गति आकाशमार्ग से विमान द्वारा या किसी दूसरे विचित्र प्रकार द्वारा भी बतलाना चाहिए। क्योंकि ऐसे पात्रों की सभी खण्डों में स्वेच्छानुसार गति रहती है।

---

१. भ्रममाणस्य—क०। २. दपरुद्धभुजा गतिः—क०।
३. वदना—क०। ४. द्रुमप्रासाद—क०।
५. मर्थवशाद् बुधैः—क०, ख०।
६. सोपानं निक्षिपेद् बुधः—क०, सोपाने निक्षिपेन्नरः—ग०।
७. वतरणे चैव—क०। ८. गात्रमानस्य रेचयेत्—क०; ग०।
९. पद्यार्थमेतत्—ख० पुस्तके प्रक्षिप्तम्।

(कथावस्तु के कारण) रहती है। प्रासाद पर चढ़ने (के अभिनय) में 'अतिक्रान्ता' चारी के पैरों द्वारा शरीर को ऊपर उठाते हुए सीढ़ी पर चढ़े तथा प्रासाद से उतरने (की दशा में) में शरीर को थोड़ा झुकाते हुए एक पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी तथा दूसरे को 'अंचित' गति में रखते हुए चलना चाहिए ॥ ९६–९८ ॥

प्रासादारोहणं[1] यत्तु तदेवाद्रिषु कारयेत्।
केवलं तच्च[2] निक्षेपमङ्घ्रिष्वङ्गं भवेदथ ॥ ९९ ॥
द्रुमे चारोहरणङ्कार्यमतिक्रान्तोत्थितैः[3] पदैः।
सूचीविद्धैरपक्रान्तैः पार्श्वक्रान्तैस्तथैव च ॥ १०० ॥

मैंने प्रासादारोहण में जिस 'गति' का प्रदर्शन बतलाया पर्वतारोहण में भी वही गति रखे, केवल पर्वतारोहण की दशा में पैर के पंजों पर अंग को ऊपर उठाए रखना (पाठान्तर से अर्थ—मस्तक को ऊपर-नीचे उठाकर तथा हाथ का सहारा पैर को देते हुए रखना) चाहिए। वृक्ष पर चढ़ने की दशा में 'अतिक्रान्ता' चारी में पैरों को उठाकर फिर क्रमशः सूची, अपक्रान्ता तथा पार्श्वक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ९९–१०० ॥

अवतरण–गति—

एतद्देवावतरणं[4] सरित्स्वपि नियोजयेत्।
प्रासादे[5] यन्मयाप्रोक्तः प्रतारः केवलं भवेत् ॥ १०१ ॥
जलप्रमाणापेक्षा तु जलमध्ये गतिर्भवेत्।
तोयेऽल्पे वसनोत्कर्षैः[6] प्राज्ये पाणिविकर्षणैः ॥ १०२ ॥
किञ्चिन्नताग्रकाया तु प्रतारे गतिरिष्यते।

इसी गति की ऊपर से नीचे उतरने (वृक्ष आदि से अवतरण) में योजना की जाए तथा (किसी) नदी से पार उतरने में भी यही गति रखी जाए। जो गति प्रासाद से अवतरण करने में (कही गई) थी वही नदी से उतरने में भी प्रदर्शित की जाए (किन्तु) नदी पार करने

१. पद्यद्वयमेतत्—क०, ख० पुस्तकयोर्नास्ति।
२. तूर्ध्वं—क०; मूर्धनि—ख; मूर्धनिक्षेप—ग०।
३. क्रान्तैः स्थितैः पदैः—क०।
४. एवं देवावतरणं प्रयोज्यं सरिदादिषु—क०।
५. प्रासादेषु तथा प्रोक्तं तथैवोत्तरणं भवेत्—क०।
६. वसनोत्कर्षः—क०।

(के अभिनय) में पानी की गहराई के अनुसार तैरने की गति रखना चाहिए। यदि उथला (थोड़ा) जल हो तो कपड़ों को उठाते हुए तथा गहरा होने पर शरीर को झुकाकर हाथों को हिलाते हुए (जिससे पानी काटने का भाव या तैरने की क्रिया की अभिव्यक्ति हो) अभिनय करना चाहिए।

(तैरने का अभिनय करते समय हाथों को 'पताक' या सर्पशीर्ष मुद्रा में रखना चाहिए) ॥ १०१–१०२ ॥

प्रसार्य बाहुमेकैकं मुहुर्वारिविकर्षणैः ॥ १०३ ॥
तिर्यक्प्रसारिता चैव ह्रियमाणा च वारिणा।
अशेषाङ्गाकुलापूर्वदना[1] गतिरिष्यते ॥ १०४ ॥

यदि नदी के बहाव को पार करने का अभिनय करना हो तो हाथों को फैलाकर बार-बार पानी को काटने, थपथपाने तिरछा होकर हाथों को फैलाते हुए सम्पूर्ण शरीर को तैरने में लगे हुए और मुँह को पानी भर जाने के कारण बन्द रखते (या हिलाते हुए—पाठान्तर से अर्थ) हुए बतलाना चाहिए ॥ १०३–१०४ ॥

नौका-यात्रा में गति—

नौस्थस्यापि प्रयोक्तव्या द्रुतैश्चूर्णपदैर्गतिः[2]।
अनेनैव विधानेन कर्तव्यं गतिचेष्टितम् ॥ १०५ ॥
संज्ञामात्रेण कर्त्तव्यान्येतानि विधिपूर्वकम्।
कस्मान्मृत[3] इति प्रोक्ते किं मर्तव्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १०६ ॥
अङ्कुशग्रहणान्नागं खलीनग्रहणाद्धयम्[5]।
प्रग्रहग्रहणाद्यानमेवमेवापरेष्वपि[4] ॥ १०७ ॥

नौका से यात्रा करने वाले पात्र की गति शीघ्रतापूर्वक डग भरते हुए (द्रुतैः चूर्णपदैः) बतलाना चाहिए। इसी प्रकार विभिन्न गति तथा क्रियाओं को प्रदर्शित करना चाहिए। ये सभी कार्य निर्दिष्ट लक्षणानुसार इंगितों से प्रदर्शित करे। (क्योंकि ये कार्य यथार्थ में तो रहते नहीं केवल अनुकरण भर रहता है) जैसे किसी पात्र का मरण प्रदर्शित करने पर अभिनेता नहीं मरता (केवल मरने का अभिनय करता है।) यह

१. कुलाधूतवदना—क०।
२. द्रुतैस्तूर्णैः पदै—क०, गतिश्चूर्णपदैर्गतैः—ग०।
३. तस्मान्मृत—क०, ग०। ४. प्रग्रहग्रहणाद् रथम्—क०।
५. खलीनग्रहणादश्वम्—क०।

उसी प्रकार सूचित हो जाता है जैसे अंकुश के हाथ में लेने पर हाथी की; पावड़ी लगाने पर घोड़े की तथा रास लेने पर रथ की अभिव्यक्ति होती है। (अतएव नौका गमन अनुकरणात्मक क्रियाओं के द्वारा अभिनीत किया[1] जाए) ॥ १०५-१०७ ॥

अश्वाधिरोहण—गति—

अश्वयाने गतिः कार्या वैशाखस्थानकेन तु।
तथा चूर्णपदैश्चित्रैरुपर्युपरि-पातितैः ॥ १०८ ॥

घुड़सवारी या घोड़े पर चढ़ते हुए पात्र की गति वैशाखस्थान तथा शीघ्रता से उठाई जाने वाली डगों (चूर्णपदैः) द्वारा प्रदर्शित की जाए ॥ १०८ ॥

सर्पगति—

पन्नगानां गतिः कार्या पादैः स्वस्तिकसंयुतैः[2]।
पार्श्वक्रान्तं[3] पदं कृत्वा स्वस्तिकं रेचयेदिह ॥ १०९ ॥

सर्पों की गति 'स्वस्तिक' पदों के द्वारा की जाए जिसमें पहिले पार्श्वक्रान्ता चारी को प्रदर्शित कर फिर स्वस्तिक पदों के रेचक द्वारा अभिनय प्रस्तुत नाट्यधर्मिता के द्वारा करना चाहिए ॥ १०९ ॥

---

१ नौकाभिनय के इस भाग से यह स्पष्ट हो जाता है कि सादे रंगमंच पर कई कार्य तथा दृश्य शारीरिक अनुकरण पर ही प्रदर्शित किये जाते थे। तदनुसारी दृश्यों से चित्रित पर्दों आदि से सुसज्जित मंच पर नहीं। आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य ने चित्रपट (दृश्याङ्कित पर्दों) के बिना भी उक्त अभिनय के प्रदर्शन करने की सहमति प्रदर्शित की है तथा चित्रपट द्वारा बतलाने का उल्लेख भी किया है।

'तेन चित्रपटादिवियोगेऽपि रथगमनाद्यभिनयं नायुक्तम्। सौकर्यात् तु तत्करणमपि भवत्विति भावः' ॥

(अभि० Vol. II, पृ० १५४)

---

१. इचैव—क०, तथा तूर्णपदैश्चित्तै—ख०।
२. संस्थितैः—क०; संज्ञितैः—ख०।
३. पार्श्वक्रान्तक्रमं कृत्वा स्वस्तिकं योजयेत्तथा—क०।
४ कुर्यात्—क०।

विटगति—

विटस्यापि च कर्तव्या [1]गतिर्ललितविभ्रमा[2]।
पादै[3]राकुञ्चि[4]तैः किञ्चित्तालाभ्यन्तरपातितैः ॥ ११० ॥
स्व[5]सौष्ठवसमायुक्तौ तथा हस्तौ पदा[6]नुगौ।
खटकावर्धमानौ तु कृत्वा विट[7]गतिं व्रजेत् ॥ १११ ॥

विट[1] पात्र की गति 'ललित विलासित' होती है। विट की गति को अभिनेता 'कुंचित' पाद को एक ताल के अन्दर से रखते हुए 'खटकावर्धमानक' हाथों तथा सौष्ठवयुक्त अंगों द्वारा पैरों की गति के अनुसार हाथों को गतिशील हुए अभिनीत करे ॥ ११०–१११ ॥

कञ्चुकी-गति—

क[8]ञ्चुकीयस्य कर्तव्या वयोऽवस्था विशेषतः।
अवृ[9]द्धस्य प्रयोगज्ञो गतिमेवं प्रयोजयेत् ॥ ११२ ॥
अर्द्धतालोत्थितैः पादैर्विष्कम्भैर्ऋजुभिस्त[10]था।
समुद्व[11]हन्निवाङ्गानि पङ्कलग्न इव [12]व्रजेत् ॥ ११३ ॥

'कञ्चुकी'[2] (अन्तःपुर रक्षक) की गति उसकी अवस्था तथा स्थिति

---

१. विट—कलाविद् तथा वेशोपचार कुशल व्यक्ति जो राजा या राजपरिवार का प्रच्छन्न सेवक (और कभी यह खलनायक का सेवक) भी होता है।

२. कञ्चुकी—कञ्चुकी का कार्य अन्तःपुर-रक्षण, कवच आदि लाना ले जाना तथा वेत्रधारण करना होता है। कंचुकी का लक्षण भावप्रकाशन में उसके उपर्युक्त स्वरूपानुसार प्राप्त होता है—

अकामा ब्राह्मणाश्चैव कंचुकोष्णीषवेत्रिणः।
ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्ना कञ्चुकीया स्मृता बुधैः ॥

(भा० प्र० बड़ौदा सं० पृ० २९२)

---

१. गतीर्ललितविक्रमाः—क०। २. विक्रमा—ख०।
३. किञ्चिदाकुञ्चितैः पादैः—क०। ४. राकुञ्चिता—क०।
५. रङ्गसौष्ठवसंयुक्तं तथा—क०। ६. कटिस्थितौ—क०।
७. कार्या विटे गतिः—क०। ८. गतिः काञ्चुकिनी प्रोक्ता—क०।
९ वृद्धे वा मध्यमे वापि तथा चैव कनीयसि—क०।
१०. तदा—क०।
११. उद्वहन्निव गात्राणि—क; समुद्वहंस्तथाङ्गानि—ख०।
१२. व्रजन्—क०।

के अनुकूल रखना चाहिए। यदि कंचुकी युवक हो तो उसकी गति अर्ध ताल पर उठने वाले सीधे पैरों से साधारण गति रखनी चाहिए। वह अपने शरीरावयवों को कीचड़ से सने व्यक्ति की तरह बतलाते हुए अपनी गति प्रदर्शित करे ॥ ११२-११३ ॥

अथ वृद्धस्य कर्त्तव्या गतिः कम्पितदेहिका।
विष्कंम्भनकृतप्राणा[1] मन्दोत्क्षिप्तपदक्रमा ॥ ११४ ॥

यदि वह वृद्ध हो तो शरीर को घुमाते हुए तथा धीरे-धीरे पैरों को उठाते हुए लकड़ी पर शरीर को टिकाकर (प्रत्येक) कदम रखे ॥ ११४ ॥

कृश, व्याधिग्रस्त तथा श्रान्त गति—

कृशस्यापि[2] हि कर्तव्या गतिर्मन्दपरिक्रमा[3]।
व्याधिग्रस्ते[4] ज्वरार्ते च तपःश्रान्ते क्षुधान्विते ॥ ११५ ॥
विष्कंम्भनकृतप्राणः[5] कृशः क्षामोदरस्तथा।
क्षामस्वरकपोलश्च दीनंनेत्रस्तथैव[6] च ॥ ११६ ॥
शनैरुत्क्षेपणश्चैव[7] कर्तव्यं हस्तपादयोः।
कम्पनश्चैव गात्राणां क्लेशनश्च[8] तथैव हि ॥ ११७ ॥

कञ्चुकी का वृद्ध होना आवश्यक नहीं क्योंकि नाट्यरचनाओं में उसके दोनों स्वरूप प्राप्त हैं। अवृद्ध कञ्चुकी का प्रतिमा, स्वप्न, वासवदत्त आदि अविमारक, आदि में तथा वृद्ध कंचुकी का शाकुन्तलं, वेणीसंहार आदि नाटकों में उल्लेख मिलता है। अतः वृद्धावस्था में कंचुकी—पद दिये जाने का कोई नियम नहीं है तथा सभी नाट्यरचनाओं में सम्प्राप्त उक्तियों के आधार पर इसकी नियुक्ति अवृद्धावस्था या वृद्धावस्था में होने की पुष्टि भी होती है।

---

१. विष्कम्भितगतिप्राणा—क; विष्कम्भेन कृतप्राणा—ख०; ग०।

२. कृशाङ्गानां तु—क०; कृशस्याप्यभिनेया वै—ख०, ग०।

३. मन्दपदक्रमा—ग०।

४. व्याधिग्रस्तो ज्वरार्त्तश्च तपःश्रान्तः क्षुधान्वितः—क०; व्याधिग्रस्तस्य च तथा तपः शान्तस्य चैव हि—ग०।

५. विष्टम्भनगतप्राणस्तथा क्षामोदरस्तथा—क०।

६. सन्नगात्रस्तथैव च—क०।

७. हस्तपादसमुत्क्षेपं शनैस्तत्र प्रयोजयेत्—क०।

८. श्लथनञ्चैव योजयेत्—क०।

कृशपात्र की गति धीरे-धीरे पैर उठाकर चलते हुए प्रदर्शित की जाए। रुग्ण (व्याधिग्रस्त) ज्वरार्त, तपः क्लेशित तथा क्षुधाग्रस्त पात्र की गति में उसे किसी लकड़ी के सहारे चलने वाला, कृशकाय, खाली पेट (या सिकुड़े हुए पेट) वाला क्षीणस्वर, पिचके गाल तथा डबडबायी आँखोंवाला बतलाना चाहिए। यह अपने हाथ और पैरों को धीरे-धीरे उठाता हुआ चले। इसका शरीर घूमता हुआ तथा डग भरते समय प्रत्येक कदम पर साँस लेता हुआ प्रदर्शित किया जाए ॥ ११५–११७ ॥

पथिक—(लम्बी यात्रा करने वाले पात्र की) गति—

दूराध्वानं[1] गतस्यापि गतिर्मन्द[2]परिक्रमा।
विकूणनञ्च[3] गात्रस्य जानुनोश्च विमर्दनम् ॥ ११८ ॥

यात्रा पर निकले हुए या बहुत दूर चल कर आए हुए व्यक्ति की गति धीरे-धीरे डग भरते, शरीर को झुकाते तथा जंघाओं को दबाते हुए प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ ११८ ॥

स्थूल-गति—

स्थूलस्यापि हि कर्त्तव्या गतिर्देहानुकर्षिणी।
स[4]मुद्वहनभूयिष्ठा मन्दोत्क्षिप्तपदक्रमा ॥ ११९ ॥
विष्कम्भ[5]गामी च भवेन्निश्वासबहुलस्तथा।
श्रम[6]स्वेदाभिभूतश्च व्रजेच्चू[7]र्णपदैस्तथा ॥ १२० ॥

स्थूल या मोटे पुरुष की गति धीरे-धीरे पैर रखकर बहुत भारी वजन ढोने की चेष्टा करते हुए पुरुष के समान प्रदर्शित की जाए। यह चलते समय जोरों से साँस लेता हुआ, थोड़ा सा श्रम करने पर पसीने से लथपथ तथा सादी चाल (चूर्णपद) वाला प्रदर्शित किया जाए ॥ ११९–१२० ॥

---

१. प्रकर्तव्याध्वगस्यापि—क०, दूराध्वगस्यापि गतिः—क०; ।
२. मन्दपदक्रमा—क०, ग० ।
३. विकूणनेन वक्त्रस्य जानुनोश्च विमर्शनात्—क० ।
४. समुद्वहितगात्रा च विलम्बितपदक्रमा—क० ।
५. विष्कम्भगामिनी चैव निश्वासबहुला तथा—क० ।
६. अतिक्रान्ता च कर्त्तव्या—क० ।
७. तथा चूर्णपदैः सदा—क; व्रजेत् तूर्णपदैस्तथा—ख० ।

मत्त-गति—

मत्तानान्तु गतिः कार्या मंदे¹ तरुणमध्यमे।
वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानाऽपसर्पणैः² ॥ १२१ ॥

मद्यपान में तरुण तथा मध्यम मद की अवस्था वाले पात्र की गति बायें तथा दाहिने पैर को घुमाते या लड़खड़ाकर आगे-पीछे ले जाते हुए चलने वाली प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ १२१ ॥

अवकृष्टे³ मदे चैव ह्यनवस्थितपादिका।
विघूर्णितशरीरा च करैः प्रस्खलितैस्तथा⁴ ॥ १२२ ॥

मद्यपान में अधम मद की अवस्था वाले पात्र की गति पैरों को पृथ्वी अनियमित तौर से रखते, शरीर को (चारों ओर) डोलाते तथा हाथों को घुमाते हुए प्रदर्शित करना चाहिए ॥ १२२ ॥

उन्मत्त-गति—

उन्मत्तस्यापि कर्तव्या गतिस्त्वनियतक्रमा⁵।
बहुचारीसमायुक्ता लोकानुकरणाश्रया ॥ १२३ ॥
रूक्षस्फुटितकेशश्च रजोध्वस्त⁶तनुस्तथा।
अनिमित्तप्रकथनो बहुभाषी विकारवान्⁷ ॥ १२४ ॥
गायत्यकस्माद्धसति सङ्गे चापि न सज्जते⁸।
नृत्यत्यपि च संहृष्टो वादयत्यपि वा पुनः ॥ १२५ ॥
कदाचिद्धावति जवात् कदाचिदवतिष्ठते।
कदाचिदुपविष्टस्तु शयानः⁹ स्यात् कदाचन ॥ १२६ ॥

---

१. तरुणे मध्यमे मदे; क० (भ०) मन्दे, पदे—क०।

२. घूर्णमानोऽपसर्पणैः, घूर्णमानापसर्पणात्—क०।

३. अवकृष्टमदे, अपकृष्टे मदे—क; आकाश स्खलितैः प्रायः पादैश्चाप्यनवस्थितैः—क०; अवकृष्टे पदे—ख०।

४. प्रचलितैः—क; पदैः प्रस्खलितैरथ—ख०; ग०।

५. गतिस्तु नियत—क०, ग०; गतिस्त्वभिनयक्रमात्—ख०।

६. रेणुध्वस्त—क०। ७. विकारवाक्—क०।

८. प्रगीतहसितश्चापि नानाविकृतभूषणः।
नृत्ये गीते च वाद्ये च भाषणे च सदा रतः ॥—क० (भ०)।

९. शयानश्च कदाचन—क०; शयितः स्यात् कदाचन—ग०।

नानाचीरधरश्चैव रथ्यास्वनियतालयः।
उन्मत्तो भवति ह्येवं तस्यैतां[1]ङ्कारयेद्[2] गतिम् ॥ १२७ ॥
स्थित्वा नूपुरपादेन दण्डपादं प्रसारयेत्।
बद्धांश्चारीन्तथा चैवङ्कृत्वा स्वस्तिकमेव च[3] ॥ १२८ ॥
अनेन चारीयोगेन परिभ्राम्य[4] तु मण्डलम्।
बाह्यंभ्रमरकश्चैव[5] रङ्गकोणे प्रसारयेत् ॥ १२९ ॥
त्रिकं सुवलितङ्कृत्वा[6] लताख्यं हस्तमेव च।
विपर्ययगतैर्हस्तैः पद्भ्यां[7] सह गतिर्भवेत् ॥ १३० ॥

उन्मत्त (पागल) पात्र की गति में पैरों को अनियन्त्रित दशा में (रखते हुए) लोक क्रियाओं के अनुकरण पर अनेक चारी को प्रदर्शित करते हुए रखना चाहिए। इस पात्र के बाल रूखे तथा बढ़े हुए, तथा शरीर धूल से सना हुआ होता है। अकारण ही यह बोलने तथा अप्राकृतिक प्रकार से चिल्लानेवाला होता है। यह कभी गाता और कभी हँसता है। इसे किसी का साथ नहीं सुहाता। (तथा बार-बार रोता है—पाठान्तर से अर्थ)। यह कभी प्रसन्न होकर नाचता है, कभी कुछ बजाने लगता है। कभी जोर से दौड़ता, कभी ठहर जाता है। कभी बैठा रहता तथा कभी लेट जाता है। यह अनेक वस्त्र पहिने हुए रहता है। उन्मत्त पात्र का यही स्वरूप होता है। इसकी गति निम्न विधि के अनुसार रहे—जिसमें सर्वप्रम यह 'नूपुरपाद' पैर में स्थित होकर फिर उसे 'दण्डपादा' दशा में फैला दे फिर 'बद्धा' चारी को प्रदर्शित कर पैरों को 'स्वस्तिक' दशा में रखे। इसी प्रकार चारों दिशाओं में घूमकर 'मण्डल' बनाकर अभिनय करे (अर्थात् एक चक्करदार घुमाव ले ले) और फिर पीठ को चारों ओर घुमाते हुए लता हस्तों का अव्यवस्थित रूप में पैरों की गति के साथ हाथों को हिलाते हुए प्रदर्शन करे ॥ १२३–१३० ॥

१. उन्मत्ताभिनयस्त्वेवं तस्येमां कारयेद् गतिम्—क०।
२. तस्य तां कारयेद्—क०।
३. कृत्वा चारीं तथोद्बद्धामथ स्वस्तिकमेव च—क०।
४. परिक्रम्य चतुर्दिशम्—ग०।
५. वक्रन्तु भ्रमणञ्चैव रङ्गकोणेषु योजयेत्—क०।
६. सललितं—क; सुललितं—ग०। ७. पादैर्हंसगतिं व्रजेत्—क०।

खंज (लँगड़ा), पंगु (लूला) तथा वामन (बौने) पात्रों की गति–

त्रिविधा[1] तु गतिः कार्या खञ्जपङ्गुकवामनैः ।
विकला[2]ङ्गप्रयोगेण कुह[3]काभिनयं प्रति ॥ १३१ ॥
एक[4]ः खञ्जगतौ नित्यं[5] स्तब्धो वै चरणो भवेत् ।
तथा द्वितीयः कार्यस्तु पादोऽग्रतलसञ्चरः ॥ १३२ ॥
स्तब्धेनो[6]त्थापनं कार्यमङ्गस्य चरणेन तु ।
गमनेन[7] निर्षण्णः[8] स्यादन्येन[9] चरणेन तु ॥ १३३ ॥
इतरेण निषीदेच्च क्रमेणानेन वै व्रजेत् ।
एषा[10] खञ्जगतिः कार्या तलशल्यक्षतेषु च ॥ १३४ ॥

अवयवों की विकलता (कमी या दोष) के द्वारा हास्य उत्पन्न करने के लिए लँगड़े, लूले तथा बौने पात्र की गति तीन प्रकार (की स्थितियों वाली) रखी जाती है । (प्रथम प्रकार की दशा में) लँगड़े पुरुष की गति में एक पैर स्तब्ध रहता है । (दूसरे प्रकार की स्थिति में) दूसरे पैर को 'अग्रतलसंचर' कर उससे डग भरी जाए तथा स्तब्ध पैर पर शरीर का भार रहे । (तीसरी बार की स्थिति में) शरीर को उसी के सहारे आगे बढ़ाते हुए दूसरे पैर से बैठा या चला जाए । लँगड़े पात्र के चलने-बैठने में यही क्रम रखा जाए । किसी पात्र के पैर तले चोट, कील या काँटा लगने पर भी इसी गति का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ १३१–१३४ ॥

[11]पादेनाग्रतलस्थेन [12]गतिः कार्याऽञ्चितेन तु ।
[13]निषण्णदेहा पङ्गोस्तु नतजङ्घा तथैव च ॥ १३५ ॥

---

१ हासे त्वथगतिः कार्या तथा खञ्जनवामने–क० (भ); विविधानुगतिः–क० ।
२. द्विकलार्धप्रयोगेषु—क० । ३. कुहना—क० ।
४. खञ्जे गतिस्तु कर्त्तव्या स्तब्धैकचरणाश्रया—क० ।
५. नित्यः स्तब्धो—क० । ६. नोन्नमनं—क०; नोद्वाहृत्तं—ख ।
७. गमने च निषण्णः—क० । ८. विषण्णः—ग० ।
९. दन्यो न चरणेन तु—ग० ।
१०. एष खञ्जप्रयोगेषु तलशल्यक्षते तथा—क० ।
११. पादेनाग्रतलेनाथ—क० । १२. अञ्चितेन व्रजेत्तथा—ग० ।
१३. निषण्णदेहा कर्त्तव्या—क० ।

सर्वसङ्कुचिताङ्गा[1] च वामने गतिरिष्यते ।
न तस्य[2] विक्रमः कार्यो विक्षेपश्चरणस्य च ।। १३६ ।।
सोद्वाहिता[3] चूर्णपदे सा कार्या कुहकात्मिका ।

पंगु पात्र की गति 'अग्रतलसंचर' तथा अंचितपाद कर बैठे हुए तथा जंघा को मोड़कर चलते हुए बतलाई जाती है ।

वामन (बौने) पात्र की गति में सारे अंग सिकुड़े हुए रखते हैं, पैर शीघ्रता से बड़ी डग नहीं भर पाते तथा जोर से पृथ्वी पर पटके नहीं जाते । यह साधारण चाल में उचक कर चलते हुए दर्शकों को हँसाता है ॥

विदूषक गति—

विदूषकस्यापि गतिर्हास्यत्रयविभूषिता ।। १३७ ।।
अङ्गकाव्यकृतं हास्यं हास्यं नेपथ्यजं स्मृतम् ।
दन्तुरः[6] खलतिः कुब्जः खञ्जश्च विकृताननः ।। १३८ ।।
यदीदृशः[7] प्रवेशः स्यादङ्गहास्यन्तु तद्भवेत् ।
यदा तु वकवद् गच्छेदुल्लोकितविलोकितैः ।। १३९ ।।
अत्यायतपदत्वाच्च अङ्गहास्यो भवेत्तु[9] सः ।

इसी प्रकार विदूषक की गति भी (हास्य उत्पन्न करने के लिए) साधारण प्रकार की रखना चाहिए, जिसमें तीन प्रकार के हास्य रहते हों । ये हास्य अंगों के विकार से होने वाले, (उच्चारित वाक्यों के) शब्दों द्वारा (काव्यकृतं) होने वाले तथा वेश से (नेपथ्यजं) होने वाले होते हैं ।

इन हास्यों में यदि विदूषक भद्दे और बड़े दाँतवाला (दन्तुर), गंजा, कुबड़ा, लँगड़ा तथा वदसूरत हो तो शरीर के द्वारा उत्पन्न हास्य होने से ऐसा हास्य 'अंगजहास्य' कहलाता है । यदि यही ऊपर-नीचे (तथा दाँएँ-बाँएँ) देखते हुए बगुले के समान चले और लम्बी-लम्बी डग भरे तो उसे भी 'अंगहास्य' कहते हैं ॥ १३७–१४० ॥

---

१. सङ्कोचिताङ्गी च—क० ; २. न तस्यातिक्रमः कार्यो—क० ।
३. उद्वाहिता चूर्णपदैः—क० । ४. समन्विता—ग० ।
५. अङ्गहास्यं कार्यहास्यं हास्यं नेपथ्यजं तथा—क० ; अङ्गवाक्यकृतं हास्यं—ग० ।
६ कुब्जः खञ्जोऽथ खलतिर्दन्तुरो विकृताननः—क० ।
७. यत्तादृशो भवेद् विप्राः अङ्गहास्यन्तु तद्भवेत्—क० ।
८. पदत्वाच्चाप्यङ्गहास्यो—क० । ९. भवेत् स तु—ग० ।

काव्यं[1]हास्यन्तु विज्ञेयमसम्बद्ध[2]प्रभाषणैः ॥ १४० ॥
अनर्थकै[3]र्विकारैश्च तथा चाश्लीलभाषणैः ।

असम्बद्ध प्रलाप, अश्लील भाषा तथा निरर्थक शब्दों के अप्राकृतिक प्रकार से (विकारैः) उच्चारण किये जाने पर 'काव्यहास्य' (या शब्दज-हास्य) होता है ॥ १४०-१४१ ॥

चीरचर्ममषीभस्मगैरिका[4]द्यैस्तु मण्डितः ॥ १४१ ॥
य[5]स्तादृशो भवेद्विप्रा हास्यो नेपथ्यजस्तु सः ।

यदि चिथड़े, चमड़े से मढ़ा तथा स्याही, राख या गेरू से रँगा हुआ पात्र हो तो 'नेपथ्यज हास्य' कहलाता है ॥ १४१-१४२ ॥

तस्मा[6]त्तु प्रकृतिं ज्ञात्वा भावं कार्यञ्च तत्वतः ॥ १४२ ॥
गतिप्रचारं विभजेन्नानावस्थान्तरात्मकम् ।

अतएव प्रसंगानुसार पात्र की प्रकृति का विचार करते हुए तथा भाव और कार्यों को समझते हुए अनेक अवस्थाओं से युक्त इन (भावों वाली) एक या अनेक विदूषक की गतियों को आवश्यकतानुसार प्रदर्शित करना चाहिए ।

विदूषक की गति उसकी विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार प्रकट करनी चाहिए या विभाजित करते हुए रखनी चाहिए ॥ १४२-१४३ ॥

स्वभावजायां विन्यस्य कुटिलं वामके करे ॥ १४३ ॥
तथा[7] दक्षिणहस्ते च कुर्याच्चतुरकं[8] पुनः ।
पार्श्वमेकं शिरश्चै[9]व हस्तोऽथ[10] चरणस्तथा ॥ १४४ ॥
पर्यायशः[11] [12]सन्नमयेल्लयतालवशानुगः ।

१. वाक्यहास्यं—ग० । २. मसम्बद्धप्रभाषणात्—ग० ।
३. अनर्थवाक्यैर्विविधैस्तथा—क० ।
४. गैरिकादिविभूषणैः—क०; गैरिकाद्यैस्तु मण्डितः—ग० ।
५. यत्तादृशो भवेद्विप्राः हास्यं नेपथ्यजं तु तत्—क० ।
६. तस्य तु प्रकृतिं ज्ञात्वा तथा भावं विचक्षणः—क० ।
७. दक्षिणञ्चैव हस्तञ्च कुर्याच्चतुरकं तथा—क० ।
८. चतुरकं ततः—ग० ।
९. शिरश्चापि—क० ।
१०. हस्तं चरणमेव च—क; करः सचरणस्तथा—ग० ।
११. पर्यायतः—क० । १२. सन्नमेत—क० ।

इस पात्र की स्वाभाविक अवस्था में रहने वाली 'गति' में बाएँ हाथ में 'कुटिलक' (दण्डकाष्ठ जो टेढ़ा होता है) का धारण तथा दाहिने हाथ से 'चतुर' मुद्रा का प्रदर्शन होता है। इसके अतिरिक्त वह अपनी एक कोख, मस्तक तथा हाथ-पैरों को लय तथा ताल के अनुसार झुकाता हुआ चलता है ॥ १४३-१४५ ॥

स्वभा[1]वजा तु तस्यैषा गतिरन्या विकारजा ॥ १४५ ॥
अल[2]भ्यलाभाद्भुक्तस्य स्तब्धा तस्य गतिर्भवेत् ।

इस स्वाभाविक गति के अतिरिक्त (इसकी) दूसरी विकारज गति भी होती है। इस गति का अलभ्य भक्ष्य (लड्डू आदि पक्वान्न) के या मूल्यवान् वस्तु के प्राप्त होने पर स्तब्ध होकर प्रदर्शन किया जाता है ॥

दासादि गति—

का[3]र्या चैव हि नीचानां चेटादीनां परिक्रमात् ॥ १४६ ॥
अधमा इति ये ख्याता नानाशीलाश्च[4] ते पुनः ।
पार्श्वमेकं शिरश्चैव करः[5] सचरणस्तथा ॥ १४७ ॥
गतौ[6] नमेत चेटानां दृष्टिश्चार्थविचारिणी ।

नीच तथा चेट आदि अनेकविध स्वभाव के अधम पात्रों की गति का प्रदर्शन करना चाहिए। सेवकों की गति चारों ओर घूमते हुए एक कोख, सिर, हाथ या पैर झुकते हुए और उनकी आँखें विभिन्न वस्तुओं पर टिकने वाली (चंचल) रखना चाहिए ॥ १४६-१४८ ॥

शकारगति—

शकारस्यापि कर्तव्या गतिश्चञ्चलदेहिका ॥ १४८ ॥
वस्त्रा[7]भरणसंस्पर्शैर्मुहुर्मुहुरवेक्षितैः ।
गात्रैर्विकारविक्षिप्तैर्लम्बवस्त्रस्र[8]जा तथा ॥ १४९ ॥
सगर्विता चूर्णपदा[9] शकारस्य गतिर्भवेत् ।

---

१. स्वभावजाता—क० ।
२. लाभे तथा च भुक्तस्य तुष्टे चापि गतिर्भवेत्—क० ।
३. कार्या चैव तु हीनानां चेट्यादीनां द्विजोत्तमाः—क० ।
४. नानाशीलाः कुवृत्तयः—क० । ५. करं चरणमेव च—क० ।
६. नामयेत्तद्गतौ किञ्चित्कुजन्मा चेटसंज्ञितः—क० ।
७. वस्त्राभरणसंस्पर्शे—क० । ८. वस्त्रसृजस्तथा—ग० ।
९. चूर्णपादस्य—क; चूर्णपादा—ग० ।

शकार की गति अहंकार पूर्ण तथा साधारण डगों (चूर्णपाद) वाली होती है। यह चलते समय अपने वस्त्र तथा अलंकारों को छूता या बार-बार कभी-कभी देखता हुआ चलता है। यह अस्वाभाविकता से अपने अंगों को उठा कर तथा लटकने वाली अपनी माला तथा वस्त्रों को फटकारता हुआ चलता है ॥ १४८-१५० ॥

नीचपात्र गति—

जात्या[1] नीचेषु योक्तव्या[2] विलोकनपरा गतिः ॥ १५० ॥
असंस्पर्शाच्च[3] लोकस्य स्वाङ्गानि विनिगूह्य च ।

नीच कुल में उत्पन्न पात्रों की गति चारों ओर आँखों को घुमाते हुए तथा दूसरों से शरीर को सिकुड़ा कर स्पर्श न करते हुए चलने वाली रखना चाहिए ॥ १५०-१५१ ॥

म्लेच्छ गति—

म्लेच्छानां जातयो यास्तु पुलिन्दशबरादयः[4] ॥ १५१ ॥
तेषां देशानुरूपेण[5] कार्यं गतिविचेष्टितम्[6] ।

म्लेच्छों तथा (इसी प्रकार) पुलिन्द्र, शबर आदि जातियों की गति उनके आचार, जाति, स्वभाव तथा देश के अनु ार रखनी चाहिए ॥१५१॥

पशु-पक्षी गति—

पक्षिणां श्वापदानाञ्च पशूनाञ्च द्विजोत्तमाः ॥ १५२ ॥
स्वस्वजातिसमुत्थेन स्वभावेन[7] गतिर्भवेत् ।

पक्षियों, हिंस्र जानवरों तथा चौपायों की गति उनकी अपनी प्रकृति तथा चेष्टाओं के अनुसार प्रदर्शित की जाए ॥ १५२-१५३ ॥

सिंहर्क्षवानराणाञ्च गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ १५३ ॥
या कृता नरसिंहेन विष्णुना प्रभविष्णुना ।

सिंह, रीछ तथा वानर जैसे पात्रों की गति को—जो भगवान् विष्णु द्वारा नरसिंह अवतार में की गई थी—इस प्रकार प्रदर्शित करना चाहिए ॥

आलीढं स्थानकं[8] कृत्वा गात्रन्तस्यैव चानुगम् ॥ १५४ ॥
जानूपरि करं ह्येकमपरं[9] वक्षसि स्थितम् ।

---

१. जातिनीचेषु—क० । २. कर्त्तव्या—क० । ३. अत्यस्पर्शाच्च—ग० ।
४. पुलिन्दाद्याः द्विजोत्तमाः—क० । ५. गतिविचारेण—क०, ग० ।
६. विचेष्टितैः—क० । ७. स्वभावे प्रतियोजयेत्—क० ।
८. आलीढस्थानकं—क०, ग० । ९. चैकमपरं—ग० ।

अवलोक्य दिशः सर्वाश्चिबुकं बाहुमस्तके ॥ १५५ ॥
गन्तव्यं विक्रमैर्विप्राः पञ्चतालान्तरोत्थितैः ।

(इसमें) आलीढ़ स्थान को प्रदर्शित कर शरीर को उसी गति के अनुसार रखे । एक हाथ को घुटने पर तथा दूसरे को वक्षस्थल पर रखकर चारों ओर एक बार ठुड्डी को कन्धे पर रखते हुए तथा क्रूर दृष्टि से देखते हुए एवं पैरों को पाँच ताल के अन्तर से रखते हुए चले ॥ १५४-१५६ ॥

नियुद्धसमये चैव रङ्गावतरणे तथा ॥ १५६ ॥
सिंहादीनां प्रयोक्तव्या गतिरेषा प्रयोक्तृभिः ।

सिंह आदि (पात्रों) की यही गति रंगमंच पर प्रवेश तथा उनके युद्ध के समय भी प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ १५६-१५७ ॥

शेषाणामर्थयोगेन गतिं स्थानञ्च योजयेत् ॥ १५७ ॥
वाहनार्थप्रयोगेषु रङ्गावतरणेषु च ।

शेष प्राणियों की गति तथा स्थानों की योजना उनके मंच पर अवतरित होने, पीठ पर किसी वस्तु के ढोने, चढ़ाने आदि अर्थों के प्रदर्शन में उपयुक्त स्वरूप के अनुसार करनी चाहिए ॥ १५७-१५८ ॥

एवमेताः प्रयोक्तव्या नराणाङ्गतयो बुधैः ॥ १५८ ॥
नोक्ता या या मया ह्यत्र ग्राह्यास्तास्ताश्च लोकतः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि स्त्रीणां गति विचेष्टितम् ॥ १५९ ॥

इस प्रकार विभिन्न प्राणियों की ये गतियाँ चतुर पात्रों द्वारा अभिनीत की जाएँ । जिन प्राणियों की गति मेरे द्वारा इस प्रसंग में न बतलाई जा सकी हो उन्हें स्वयं बुद्धि द्वारा लोक व्यवहार को देखते हुए प्रदर्शित किया जाए । अब मैं स्त्रियों की गति तथा चेष्टाओं का वर्णन करता हूँ ।

१. विलोलितं शिरः कृत्वा—क० ।
२. दिशः कृत्वा चिबुकं—ग० घ० ।
३. विक्रमैश्चैव पञ्चतालान्तरस्थितैः—क० ।
४. नियुद्धे संशये चैव—क० । ५. च योक्तव्या—क० ।
६. स्थानान्यपि च कारयेत्—क० । ७. स्थाने च—ग० ।
८. अतः परं गजवाजिरथादींस्तु चिह्नमात्रेण कारयेदित्यधिकम्—क० पुस्तके ।
९. नृणान्तु गतयो बुधैः—क० ।
१०. अत्र नाभिहिता यास्तु विज्ञेया शास्त्रलोकतः—क०;नोक्ताश्च या मया ह्यत्र ग्राह्यास्ता अपि लोकतः—ग० घ० ।

गति के समय स्त्रियों की शारीरिक स्थिति—

स्त्रीणां स्थानानि कार्याणि गतिष्वाभाषणेषु च।
आयतश्चावहित्थश्च अश्वक्रान्तमथापि च॥ १६०॥

स्त्रियों के भाषण तथा गति के समय होने वाले तीन स्थान होते हैं—(१) आयत, (२) अवहित्थ तथा (३) अश्वक्रान्त॥ १६०॥

दक्षिणस्तु समः पादस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः।
वामः[3] समुन्नतकटिश्चायते स्थानके भवेत्[4]॥ १६१॥

आयत—दाहिना पैर 'सम', बायाँ पैर तिरछा होकर एक ताल के अन्तर से एक बाजू उठा हुआ तथा बायीं ओर कमर उठी हुई होने पर 'आयत' स्थान होता है॥ १६१॥

आवाहने विसर्गे च तथा निर्वर्णनेषु च।
चिन्तायाश्चावहित्थे च स्थानमेतत्प्रयोजयेत्॥ १६२॥
रङ्गावतरणारम्भः पुष्पाञ्जलिविसर्जनम्।
मन्मथेर्ष्योद्भवं कोपं तर्जन्यङ्गुलिमोटनम्॥ १६३॥
निषेधगर्वगाम्भीर्यमौनं मानावलम्बनम्।
स्थानेऽस्मिन् संवि[1]धातव्यं दिगन्तरनिरूपणम्॥ १६४॥

इस स्थान की योजना निमन्त्रण देने, पुकारने, आवाहन, विदाई या त्याग (विसर्ग) करने, ध्यानपूर्वक देखने (निर्वर्णने), चिन्ता करने तथा

---

२. ष्वाभरणेषु च—ग०।

१. तथाश्वक्रान्तमेव च—क०; अश्वक्रान्तमथापि वा—ग०।

३. वामो नतः कटीपार्श्वमायते स्थानके भवेत्—क०।

४. अतः परं क० पुस्तके आयतस्थान लक्षणं मित्थं दृश्यते—

वामः स्वभावतो यत्र पादो विरचितः समः।
तालमात्रान्तरे न्यस्तस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः॥
प्रसन्नमाननमुरः समं यत्र समुन्नतम्।
लतानितम्बगौ हस्तौ स्थानं ज्ञेयं तदायतम्॥

५. निर्वहणेषु च—क०। ६. वतरणारम्भं—क०।

७. र्ष्योद्भवः कोपः—क०। ८. तर्जनाङ्गुलिं—ख०।

९. मौनमायावलम्ब—क०; मौनमानाव—ख०।

१०. सन्निधानीयं—क०।

छल-कपट करने (अवहित्थ) में की जाए। इसी प्रकार रंगमंच पर सर्वप्रथम प्रवेश करने; रंगमंच पर पुष्पाञ्जलि बिखेरने, ईर्ष्यायुक्त प्रणय (दर्शाने) में क्रोध करने तथा तर्जनी के ऐंठने (या मुड़ाव करने) (मोटनम्); निषेध, गर्व, गम्भीरता, मौन तथा मान (प्रणय कोप) धारण करने तथा क्षितिज (दिगन्तर) के अवलोकन में भी इसी स्थान की योजना की जाए ॥ १६२-१६५ ॥

स[1]मो यत्र स्थितो वामस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः।
स[2]मुन्नतकटिर्वामस्त्ववहित्थन्तु तद्भवेत् ॥ १६५ ॥

अवहित्थ (स्थान)—बांयाँ पैर 'सम', दाहिना पैर तिरछा होकर एक बाजू में रखा हुआ तथा कमर बायीं ओर उठी हुई रखने पर 'अवहित्थ' स्थान होता है ॥ १६५ ॥

स्त्रीणा[3]मेतत्स्मृतं स्थानं संल्लापे तु स्वभावजे।
निश्चये परितोषे च वितर्के लज्जिते तथा ॥ १६६ ॥
विलास[4]लीलाविब्बोक शृङ्गारात्म[5]निरूपणे।
स्थानमेतत्प्रयोक्तव्यं भर्तृ[6]मार्गावलोकने ॥ १६७ ॥

इस स्थान की योजना स्त्रियों के स्वाभाविक संताप (पारस्परिक संभाषण), निश्चय, अतिहर्ष, वितर्क (या संयोग), लज्जायुक्त होने, विलास, लीला, विब्बोक, शृङ्गार तथा इसी सदृश अन्य रसों के प्रदर्शित करने तथा प्रियतम की बाट जोहने में की जानी चाहिए ॥ १६६-१६७ ॥

पा[7]दः समुत्थितश्चैक एकश्चाग्रतलाञ्चितः।

---

१. समस्थितो वामपादस्त्र्यस्रतालान्तरोऽपरः—क०।

२. वामोन्नतं त्रिकं यस्मिन्नवहित्थं तु—क०। क० ग०—पुस्तकयोरवहित्थ-स्थानस्यापरं लक्षणमपि दृश्यते—

पुरो विचलितस्त्र्यश्रस्तदन्योऽपसृतः समः।
पादस्तालान्तरन्यस्तस्त्रिकमीषत्समुन्नतम् ॥
पाणिर्लताख्यो यत्रैकस्तदन्यस्तु नितम्बगः।
अवहित्थं समाख्यातं स्थानमागमभूषणैः ॥

३. स्थानमेतत्तु नारीणां—क०।

४. विवाहलीलालावण्ये—ग० विलासलीलालावण्ये—घ०।

५. शृङ्गारादिनिरूपणे—ग०। ६. तथा मार्गाव—ग० घ०।

७. एकः समस्थितः पाद एकस्त्वत्र तलाञ्चितः—क०।

सूचीविद्धमविद्धं वा तदश्वक्रान्तमुच्यते[1] ॥ १६८ ॥

अश्वक्रान्तस्थान—यदि एक पैर उठा हुआ, दूसरा पैर 'अग्रतल' संचर (दूसरा पैर उसके पंजे पर रखे हुए) स्थिति में सूची या आविद्धा चारी में हो अथवा न हो तो (भी) 'अश्वक्रान्त' स्थान होता है ॥ १६८ ॥

शाखावलम्बने कार्यं[2] स्तबकग्रहणे तथा ।
विश्रामेष्वथ[3] नीचानां[4] नारीणाञ्चार्थयोगतः ॥ १६९ ॥

योजना—इस स्थान के द्वारा वृक्ष की टहनी को छूने, गुच्छे को ग्रहण करने, अधम पात्र के विश्राम लेने तथा स्त्रियों के किसी प्रयोजन को उसके अर्थानुसार प्रदर्शन किया जाता है ॥ १६९ ॥

स्थानकन्तावदेव स्याद्यावच्चेष्टा प्रवर्तते ।
भग्नञ्च[5] स्थानकं नृत्ते चारी चेत् समुपस्थिता ॥ १७० ॥
एवं स्थानविधिः कार्यः स्त्रीणां[6] नृणामथापि च ।
पुनश्चासां[7] प्रवक्ष्यामि गतिं प्रकृतिसंस्थिताम्[8] ॥ १७१ ॥

ये 'स्थान' किसी चेष्टा के प्रारंभ करने के पूर्व तक ही (केवल कुछ क्षण तक) किसी अभिनेत्री (नर्तकी) द्वारा प्रदर्शित किये जाएँ परन्तु इसी प्रकार 'नृत्त' में चारी का प्रदर्शन प्रारंभ करने पर 'स्थान' समाप्त कर देना चाहिए । (अर्थात् चारी के पूर्व ही 'स्थान' का प्रदर्शन किया जाए ।) पुरुष तथा स्त्रियों के लिए 'स्थान' के ये ही नियम हैं । अब मैं स्त्रियों की उन गतियों को बतलाता हूँ जो उनके स्वभावानुसार होती हैं ॥ १७०-१७१ ॥

युवती स्त्रीगति—

कृत्वावहित्थं स्थानन्तु वामञ्चाधोमुखं भुजम्[9] ।

---

१. अस्मात् परं क पुस्तकेऽधिकं पद्यद्वयं लभ्यते । तद्यथा—
स्खलितं घूर्णितं चैव गलिताम्बरधारणम् ।
कुसुमस्तवकादानं परिरक्षणमेव च ॥
वित्रासनं सललितं तरुशाखावलम्बनम् ।
स्थानेऽस्मिन् संविधानीयं स्त्रीणामेतत् प्रयोक्तृभिः ॥ इति ।

२. कार्या—क० ।

३. विश्रान्तिषु तथैव स्यात् पादताडन एव च—क० ।

४. देवानां दाराणाञ्चात्र योगतः—ख०; ग । ५. भग्नेऽवस्थानके—क० ।

६. स्त्रीणां सम्यग् द्विजोत्तमाः—क० । ७. पुनरासां—क० ।

८. गतीस्तु प्रकृतिस्थिताः—क० । ९. करम्—ख०; ग० घ० ।

नाभिप्रदेशे विन्यस्य सव्यञ्च कटकामुखम् ॥ १७२ ॥
ततः सललितं पादं तालमात्रसमुत्थितम्[1] ।
दक्षिणं वामपादस्य बाह्यपार्श्वे[2] विनिक्षिपेत् ॥ १७३ ॥
तेनैव समकालञ्च[3] लताख्यं वामकं[4] भुजम् ।
दक्षिणं विनमेत्पार्श्वे[5] न्यसेन्नाभितटे ततः ॥ १७४ ॥
नितम्बे दक्षिणङ्कृत्वा हस्तञ्चोद्वेष्ट्य वामकम् ।
ततो वामपदं दद्याल्लतां[6] हस्तञ्च दक्षिणम् ॥ १७५ ॥
लीलयोद्वाहितेनाथ शिरसा[7]नुगतेन च ।
किञ्चिन्नतेन गात्रेण[8] गच्छेत्पञ्चपदीं ततः ॥ १७६ ॥

(युवती स्त्री की गति में क्रमशः स्थान एवं कार्यों को इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं), सर्व प्रथम 'अवहित्थ' स्थान को प्रदर्शित कर बांयी भुजा (बाएँ हाथ) को नीचे की ओर हाथ वाली रखे और दाहिना हाथ 'कटकामुख' मुद्रा में नाभि पर रखे। फिर दाहिने 'ललित-संचर' पाद को एक ताल के प्रमाण पर उठाए और उसे बायें पैर के बगल में रखे, फिर बाएं हाथ को उसी समय 'लता' मुद्रा में नाभि पर रखकर दाहिनी कोख को झुकावे, फिर दाहिने हाथ को नितम्ब पर तथा बाएँ हाथ को 'उद्वेष्टित' मुद्रा में करे। फिर बाएं पैर को आगे बढ़ाए और दाहिने हाथ को 'लता' मुद्रा में रखे (इस प्रकार स्थान तथा क्रियाओं के प्रदर्शनोपरान्त) फिर शरीर को थोड़ा झुका कर तथा मस्तक को 'उद्वाहित' मुद्रा में रखते हुए पांच कदम चले ॥ १७२–१७६ ॥

यो[9] विधिः पुरुषाणान्तु रङ्गपीठपरिक्रमे ।
स एव प्रमदानां वै कर्तव्यो नाट्ययोक्तृभिः ॥ १७७ ॥

रंच मंच पर पुरुष पात्रों के चलने की जो विधि है वही स्त्रियों के लिए भी समझना चाहिए ॥ १७७ ॥

षट्कलन्तु[10] न कर्तव्यं तथाष्टकलमेव च ।

---

१. तालमात्रं समु—क० । २. बाह्ये पार्श्वे—क० ।
३. समतालाख्यं—क० । ४. वामपादकम—क० ।
५. च नयेत् पार्श्वं—क; विनयेत्—क० (म०) ।
६. लतापादञ्च—क० । ७. शिरसोऽनुगतेन च—ख०; ग० ।
८. चाङ्गेन—क० । ९. सार्धः श्लोकः ख०ग०पुस्तकयोर्नास्ति ।
१०. षट्कलं तत्तु कर्तव्यं—क०; षट्कलं न प्रयोक्तव्यं—क० (भ) ।

पादस्य पातनं तज्ज्ञैः खेदनं[1] तद्भवेत् स्त्रियाः ॥ १७८ ॥

स्त्रियों की डग छः या आठ कला के प्रमाण वाली नहीं रखनी चाहिए क्योंकि ऐसी डग स्त्रियों को थका देती है तथा प्रदर्शन करने में भी बड़ा आयास करना होता है ॥ १७८ ॥

सयौवनानां नारीणामेवं कार्या गतिर्बुधैः ।
स्थानीया या स्त्रियस्तासां सम्प्रवक्ष्याम्यहं गतिम् ॥ १७९ ॥

युवती स्त्रियों की गति इसी प्रकार की रहनी चाहिए । अब मैं मध्या (प्रौढ़ा) स्त्रियों की गति बतलाता हूँ ॥ १७९ ॥

प्रौढ़ास्त्री गति—

कृत्वावहित्थं स्थानन्तु वामं न्यस्य कटीतटे ।
आद्यञ्चारालमुत्तानं कुर्यान्नाभिस्तनान्तरे ॥ १८० ॥
न निषण्णं न च स्तब्धञ्च चापि परिवाहितम् ।
कृत्वा गात्रं ततो गच्छेत्तेनैवेह क्रमेण तु ॥ १८१ ॥

ये 'अवहित्थ' स्थान को बाएं हाथ को कटि पर तथा दाहिने हाथ को 'अराल' मुद्रा में ऊपर की ओर मुंह करते हुए नाभि तथा स्तनों के मध्य रखते हुए प्रदर्शित करने के पश्चात् शरीर को ढीला, स्थिर और न हिलाते डुलाते हुए (उसी प्रकार) चलें ॥ १७९–१८१ ॥

दासी (प्रेष्या) की गति—

प्रेष्याणामपि कर्तव्या गतिरुद्भ्रान्तगामिनी ।
किञ्चिदुन्नमितैर्गात्रैराविद्धभुजविक्रमा ॥ १८२ ॥
स्थानङ्कृत्वावहित्थञ्च वामञ्चाधोमुखं भुजम् ।
नाभिप्रदेशे विन्यस्य सव्यञ्च खटकामुखम् ॥ १८३ ॥

दासियों की 'गति' भ्रान्ति के कारण ऊपर देखते हुए रखी जाए । वे शरीर को थोड़ा तान कर भुजाओं को घुमाती हुई रहें । (अर्थात् भुजाओं को 'आविद्ध' दशा में रखें) । ये 'अवहित्थ स्थान' को बाएँ हाथ को नीचे तथा दाहिने हाथ को 'कटकामुख' मुद्रा में रखते हुए प्रदर्शित करते हुए (उपर्युक्त नियमानुसार) चलें ॥ १८२–१८३ ॥

---

११. खेदने—क० ।

१. स्थवीयसीनामेतासां—ख०; ग० । २. कृत्वापविद्धं—ख०; ग० ।

३. तेनैवाद्य क्रमेण तु—क० । ४. गतिर्विभ्रान्त—क० ।

५. राविद्धपदविक्रमा—क०; माविद्धगतिविक्रमा—ख० घ० ।

नपुंसक गति—

अर्धनारीगतिः कार्या स्त्रीपुंसाभ्यां विमिश्रिता।
उदात्तललितैर्गात्रैः पादै[1]र्लीलासमन्वितैः ॥ १८४ ॥

नपुंसक पात्र की गति में पुरुष तथा स्त्री पात्र की मिश्रित 'गति' रहनी चाहिए। ये शरीर को उदात्त तथा ललित हलचल में रखते हुए लालित्यपूर्ण डग भरें ॥ १८४ ॥

यां[2] पूर्वमेवाभिहिता ह्युत्तमानाङ्गति[3]र्मया।
स्त्रीणां कापुरुषाणाञ्च ततो[4]ऽर्धार्धन्तु योजयेत् ॥ १८५ ॥

पहिले मैंने उत्तम पुरुष तथा स्त्री पात्रों की गति में जो समय बतलाया उसका आधा भाग स्त्रियों (दासी आदि स्त्रियों) तथा उसका भी आधा भाग नपुंसकपात्र की गति के लिए रखा जाए ॥ १८५ ॥

म[5]ध्यमोत्तमनीचानां नृणां यद्गतिचेष्टितम्।
स्त्रीणान्तदेव कर्तव्यं ललितैः पदविक्र[6]मैः ॥ १८६ ॥

उत्तम, मध्यम, तथा अधम पुरुष पात्रों की जो 'गति' बतलाई गई वही गति (उत्तम, मध्यम तथा अधम) स्त्रीपात्र की भी होती है केवल स्त्री पात्र के डग 'ललितसंचरपाद' स्थिति में रखे जाते हैं ॥ १८६ ॥

बालगति—

बालानामपि कर्तव्या स्वच्छन्दप[6]दविक्रमा।
न त[7]स्यां सौष्ठवं कार्यं न प्र[8]माणं प्रयोक्तृभिः ॥ १८७ ॥

बालकों की गति उनके इच्छानुसार रखी जाए। इसमें न सौष्ठव और न समय-प्रमाण (तालानुसारिता आदि) रहता है ॥ १८७ ॥

नपुंसक (अथवा स्त्री-पुरुष-लक्षणधारी पात्र) गति—

तृतीया प्रकृतिः कार्या नाम्ना चैव नपुंस[9]का।
नरस्वभावमुत्सृज्य स्त्रीगतिं तत्र योजयेत् ॥ १८८ ॥

---

१. पदैर्लीला—ख०।
२. या मयाभिहितापूर्वं—क०; या पूर्वमेव विहिता—घ०।
३. गतिर्बुधाः—क० (म०)।
४. तदर्धेन तु—क०।
५. उत्तमाधममध्यानां—क०।
६. गतिविक्रमा—ख; ग०।
७. तस्याः—ख; ग०।
८ न प्रमाणं तथाविधम्—क०।
९. नपुंसके—क०।

जो नपुंसक पात्र हैं उनमें पुरुष पात्र से विलग कर 'स्त्री' पात्र की 'गति' की योजना करनी चाहिए ॥ १८८ ॥

भूमिका परिवर्तन में पात्रों की गति—

[1]विपर्ययः प्रयोक्तव्यः पुरुषस्त्रीनपुंसकैः।
स्वभावमात्मनस्त्यक्त्वा तद्[2]भावगमनादिह ॥ १८९ ॥

पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक पात्रों ने यदि अपना स्वरूप परिवर्तन कर जिस वेष को धारण किया हो उसी के अनुरूप तब उन्हें 'गति' का प्रदर्शन करना चाहिए ॥

[3]व्याजेन क्रीडया वापि तथा भूयश्च वञ्चनात्।
स्त्री पुंसः प्रकृतिं कुर्यात् स्त्रीभावं पुरुषोऽपि च ॥ १९० ॥
धैर्यौदा[4]र्येण सत्वेन बुद्ध्या तद्वच्च कर्मणा।
स्त्री पुमांसं त्वभिनयेद् वेषवाक्यविचेष्टितैः ॥ १९१ ॥

पुरुष स्त्री का तथा स्त्री पुरुष का वेष (परिवर्तन) व्याज, क्रीडा तथा धोखा देने के लिए करें। स्त्री पुरुष का अभिनय करते समय धैर्य, औदार्य, सत्व, बुद्धि और उपयुक्त वेष, वचन तथा कार्यों का प्रदर्शन करें ॥१९०-१९१॥

स्त्रीवेषभाषितैर्यु[5]क्तैः प्रेक्षिता[6]प्रेक्षितैस्तथा[7]।
मृदु[8]र्सन्नगतिश्चैव पुमान् स्त्रीभावमाचरेत् ॥ १९२ ॥

इसी प्रकार पुरुष स्त्री का अभिनय करते समय स्त्री के वेष तथा भाषण, उसी के अनुसार कभी किसी वस्तु के देखने तथा न देखने की क्रियाओं द्वारा कोमल तथा मन्द गति का प्रदर्शन करे ॥ १९२ ॥

नीचजाति की स्त्रियों की गति—

जातिहीनाश्च या नार्यः पुलिन्दशबराङ्गनाः।
याश्चापि तासां कर्तव्या तज्जातिसदृशी गतिः ॥ १९३ ॥

जो नीच कुल में उत्पन्न या पुलिन्द, भील आदि अनार्यजाति की स्त्रियां हो उनकी अपनी जाति के अनुकूल स्वाभाविक 'गति' रखनी चाहिए ॥

---

१. विपर्यस्तप्रयोगस्तु पुरुषस्त्रीनपुंसके—क०।
२. परभावेन योजयेत्—क०।
३. निजां प्रकृतिमुत्सृज्य क्रीडयावञ्चनेन वा—क०।
४. सौष्ठवेनाथ सत्वेन—क०; धैर्योदारेण—क०। ५. युक्तं—क०।
६. प्रेषिताप्रेषितैस्तथा—ख०; ग०। ७. स्मितैः—क०।
८. मृदु मन्दगति—ख०; ग०।

तपस्विनी स्त्री गति—

व्रतस्थानां तपःस्थानां लिङ्गस्थानां तथा पुनः ।
खस्थानाञ्चैव[2] नारीणां समपादम्प्रयोजयेत् ॥ १९४ ॥

जो स्त्रियां व्रत, तप, दीक्षा लिए हुए संन्यासिनी तथा आकाशगामिनी दिव्य हों तो उनकी गति में 'समपाद' चारी की योजना की जाए ॥१९४॥

उद्धता येऽङ्गहाराः स्युर्याश्चार्यो मण्डलानि वा ।
तानि नाट्यप्रयोगज्ञैर्न कर्तव्यानि योषिताम्[3] ॥ १९५ ॥

जो अङ्गहार, चारी और मण्डल उद्धत प्रकार के हों उनकी स्त्री पात्रों में चतुर नाट्यनिर्देशक योजना न करे ॥ १९५ ॥

(स्त्री तथा पुरुष पात्रों का) आसन विधान—

अथासनविधिः[4] कार्यः स्त्रीणां नृणामथापि च ।
नानाभावसमायुक्तस्तथैवं[5] शयनाश्रयः[6] ॥ १९६ ॥

पुरुष तथा स्त्रियों के बैठने की विधि (आसन-विधि) उनके विभिन्न भावों से युक्त एवं प्रसंगानुसार रखना चाहिए और इसी प्रकार इनकी शयन विधि भी होती है ॥ १९६ ॥

स्वस्थ दशा में उपवेशन-विधि—

विष्कम्भिताञ्चितौ[7] पादौ त्रिकं[8] किञ्चित्समुन्नतम् ।
हस्तौ[9] कट्यूरुविन्यस्तौ स्वस्थे[10] स्यादुपवेशने[11] ॥ १९७ ॥

---

१. तथैव च—ख०; ग० घ० । २. स्वस्थानाञ्चैव—ख०; ग० घ० ।

३. योषिता—ख०; ग० । ४. तथासन—ख० ।

५. स्तथा च—क०. ग० ।

६. अनयोर्मध्ये श्लोकद्वयं क (म०)मातृकायाम् पठ्यते । तद्यथा—

स्वस्थं मन्दालसं क्लान्तं त्रस्तालसमथापि च ।
विष्कम्भितमुत्कटिकं मुक्तजानु तथासनम् ॥
जानूगतं विमुक्तञ्च स्थानकान्युपवेशने ।
लक्षणं पुनरेतेषां विनियोगञ्च वक्ष्यते ॥

७. विष्कम्भेना—ख०; ग० घ० । ८. वक्षः—क० ।

९. हस्ताः कट्यूरुविन्यस्ताः—ग० । १०. बाहुशीर्षाश्रितं शिरः—ख० ।

११ अस्मादनन्तरं—

स्वभावाभिनये चैव तथा स्वस्थोपवेशने ।
आविष्कृतेषु सर्वेषु भावेष्वेतत् प्रयोजयेत् ॥ इति अधिकं पद्यम् क० पु० ।

स्वस्थ दशा में (विश्रामावस्था में) (स्वस्थे) बैठने पर दोनों पैरों को वैशाखस्थान में फैलाकर सुन्दरता से रखे, पीठ थोड़ी तनी हुई और दोनों हाथ ऊपर और पिंडली पर (रखे) रहना चाहिए ॥ १९७ ॥

विचारावस्था में उपवेशन-विधि—

[1]पादः प्रसारितः किञ्चिदेकश्चैवासनाश्रयः ।
[2]शिरः पार्श्वानतश्चैव सचिन्त उपवेशने ॥ १९८ ॥

यदि कोई पुरुष गहरे विचार में बैठा हो तो उसे (स्वस्थ दशा के स्वरूप में) अपना एक पैर कुछ फैला कर रखना तथा दूसरा पैर किसी आसन पर टिकाते हुए मस्तक को एक ओर झुका हुआ रखना चाहिए ॥

शोकावस्था में उपवेशन-विधि—

चिबुकोपाश्रितौ[3] हस्तौ बाहुशीर्षानतं शिरः ।
सम्प्रणष्टेन्द्रियमना [4]भवेच्छोकोपवेशने ॥ १९९ ॥

यदि पुरुष गहरे शोक में हो तो (स्वस्थ दशा के स्वरूप में) अपनी ठुड्डी को दोनों हाथों पर रखे या उसका मस्तक दोनों भुजाओं के सहारे टिका रहे तथा मन और इन्द्रियां अपनी दशा को खोये से रहें ॥ १९९ ॥

मूर्च्छा आदि में उपवेशन—

प्रसार्य बाहू शिथिलौ तथा[5] चौपाश्रयाश्रितः ।
[6]मूर्च्छामदश्रमग्लानिविषादेषूपवेशयेत्[7] ॥ २०० ॥

---

१. एकः प्रसारितः किञ्चित्पादोऽन्यस्त्वासनाश्रितः—क० ।

२. शिरः पार्श्वगतञ्चैव स्थानं मन्दालसं तु तत् ।
चिन्तायाञ्च तदौत्सुक्ये निर्वेदे विरहे तथा ।
विवादादिषु चाधेयं स्थानमेतत् प्रयोक्तृभिः ॥
इति सार्धश्लोकमधिकम् क० पुस्तके ।

३. चिबुकोपाश्रयौ हस्तौ बाहुशीर्षाश्रयं शिरः ।
सम्प्रनष्टेन्द्रियमना विज्ञेयं क्लान्तमासनम् ॥
बलेन निगृहीतस्य रिपुणा खण्डितस्य च ।
शोकग्लानस्य चौत्सुक्ये स्थानमेतद्विनिर्दिशेत् ॥ इति क० पुस्तके पाठः ।

४. शोकोत्सुक्योपवेशने—ग० घ० ।

५. चोपाश्रयाश्रितः—ख०, ग० घ० ।

६. श्रमग्लानिविषादेषु मदे चोपविशेद् बुधः—क० ।

७. क० (भ०) पुस्तके एतस्य स्थाने—

यदि पुरुष मूर्च्छा, मद, श्रम, ग्लानि तथा विषाद की दशा में हो तो दोनों भुजाओं को फैलाकर ढीली छोड़ दे और किसी वस्तु के सहारे टिककर बैठे ॥ २०० ॥

लज्जा-रोग-निद्रा आदि में उपवेशन—

सर्वपिण्डीकृताङ्गस्तु संयुक्तः पादजानुभिः।
व्याधिव्रीडितनिद्रासु ध्याने चोपविशेन्नरः ॥ २०२ ॥

यदि कोई (पुरुष) पात्र व्याधि, लज्जा, निद्रा तथा ध्यान में हो तो उसे पैर और घुटनों के बीच अपने शरीर को सिकुड़ा कर रखना चाहिए ॥ २०१ ॥

धार्मिक-विधि सम्पादन में उपवेशन—

तथा[3] चोत्कटिकं स्थानं स्फिक्पार्ष्णीनां समागमः।
पित्र्ये[4] निवापे जप्ये च सन्ध्यास्वाचमनेऽपि च ॥ २०२ ॥

पितरों का तर्पण करने, मन्त्र जपने, सन्ध्या करने तथा आचमन करने में कूवड़ तनी हुई (उत्कटिकं) तथा दोनों पैरों के गट्टों (स्फिक्) और पंजों को मिलाकर बैठना चाहिए ॥ २०२ ॥

स्रस्तौ हस्तौ विमुक्तौ च शरीरमलसं तथा।
खेदालसं तथा चक्षुर्यत्र स्रस्तालसं तु तत् ॥
श्रमग्लानौ मदे चैव मूर्च्छायां व्याधितेषु च।
मोहे प्राणभये चैव विषादे चैव तद्भवेत् ॥ इति वर्तते।

१. सम्पाते—ख०। २. एतस्य स्थाने क (म०) पुस्तके तु—

विष्कम्भादञ्चितौ पादौ उरू विष्कम्भितौ भुजौ।
निमीलितं तथा चक्षुः स्थाने विष्कम्भनामनि ॥
स्ववक्षोगतया दृष्ट्या योगध्याने विधीयते।
स्वभावसंस्थया चैव नटानामुपवेशने ॥

३. तथा चोत्कटकं स्थानं—ख०; तथा चोत्कटिकास्थानस्फिक्पार्ष्णीनां समागमः—ग०। एतस्य स्थाने क (म०) पुस्तके च—

समौ पादौ समाधाय समं यदुपविश्यते।
अस्पष्टभूतलञ्चैव ज्ञेयमुत्कटिकासनम् ॥
पित्र्ये समाधिजप्ये च होमादिकरणेषु च।
एतत्स्थानं विधातव्यं तथाचमनकर्मणि ॥ इति वर्तते।

४. पित्र्ये निवापसलिले—ख०।

प्रियाप्रसादन में उपवेशन—

विष्कम्भितम्पुनश्चैव[1] जानु भूमौ निपातयेत् ।
प्रियाप्रसादने कार्ये होमादिकरणेषु च ।
मही[2]गताभ्यां जानुभ्यामधोमुखमवस्थितम् ।। २०३ ।।

मान ले कर बैठी हुई प्रियतमा को रिझाने तथा होम आदि धार्मिक विधि सम्पन्न करने की दशा में (सामान्य अवस्था में) पुरुष अपने फैले हुए घुटनों को पृथ्वी पर रखे और नीचा मुंह किये हुए बैठे ।। २०३ ।।

देव वंदना आदि दशा में उपवेशन—

देवाभिवन्दने[3] कार्ये रुषितानां[4] प्रसादने ।
शोके चाक्रन्दने तीव्रे[5] मृतानाञ्चैव दर्शने ।। २०४ ।।
त्रासने च[6] कुसत्वानां नीचानाञ्चैव याचने ।
होमम[7]ज्ञक्रियायाञ्च प्रेष्याणाञ्चैव कारयेत् ।। २०५ ।।
मुनीनां नियमेष्वेवं[8] भवेदासनजो विधिः ।

देवगण की वन्दना, क्रुद्ध स्वामी को प्रसन्न करने, तीव्र शोक में क्रन्दन करने, मृत पुरुष को देखने, (छोटे मनुष्यों को) सताने वाले पशुओं को डराने, नीच पुरुष या सेवकों से याचना करने तथा होम या यज्ञ क्रिया में दर्शनार्थ उपस्थित होने की दशा में भी पूर्ववत् नीचा मुंह और दोनों

---

१. एतस्य स्थाने क० (म०) पुस्तके तु—

एकं जानु यदास्यैव महीपृष्ठे निधीयते ।
मुक्तजानुकमेतद्धि विज्ञेयं ह्यासनं बुधैः ।।
एतत्कृतव्यलीकानां प्रियाणां सम्प्रसादने ।
मार्जने कुट्टिमानाञ्च तथा भूम्यनुलेपने ।। इति वर्तते ।

२. एतस्य स्थाने क० (म०) पुस्तके च—महीगताभ्यां जानुभ्यां स्थानं जानुगतं भवेत्—इति पाठः ।

३. देवाभिगमने चैव—क०, ख० । ४. रुष्टानाञ्च—क (म) ।

५. तीव्रं मृतानां—ख०; तीव्रमृतानां—ग० । ६. सन्त्रासने—क० ।

७ एतस्य स्थाने क (म) पुस्तके तु ।

भूमौ यदूर्ध्वपतनं तद्विमुक्तमिति स्मृतम् ।
प्रहारे तत्प्रयोक्तव्यमावेगे क्रन्दिते तथा ।। इति ।

८. नियमेष्वेष—ख०; ग० ।

घुटनों को पृथ्वी पर टिका कर बैठना चाहिए। मुनिजन के दैनिक आचरण तथा नियम आदि में भी बैठने की यही विधि रखें ॥ २०४–२०६ ॥

विभिन्न पात्रों के लिये निर्द्धारित आसन—

तथासनविधिः कार्यो विविधो[1] नाटकाश्रयः ॥ २०६ ॥
स्त्रीणाञ्च पुरुषाणाञ्च बाह्यश्चाभ्यन्तरस्तथा[2]।
आभ्यन्तरस्तु नृपतेर्वाह्यो बाह्यगतस्य च ॥ २०७ ॥

नाटक में स्त्री तथा पुरुष पात्रों के लिए निर्धारित आसन विधान को सुनिये। यह दो प्रकार का होता है—(१) आभ्यन्तर (स्वतन्त्र आसन) तथा (२) बाह्य (सामान्यजन के हेतु) आसन-विधान। इन दोनों आसनों में आभ्यन्तर आसन राजा से तथा बाह्य आसन सामान्यजन से सम्बद्ध होते हैं ॥ २०६–२०७ ॥

पुरुष पात्रों के लिए निर्द्धारित आसन—

देवानां नृपतीनाञ्च दद्यात्[3] सिंहासनं द्विजाः[4]।
पुरोधसाममात्यानां भवेद्वेत्रासनन्तथा ॥ २०८ ॥
मुण्डासनन्तु दातव्यं[5] सेनानीयुवराजयोः।
काष्ठासनं ब्राह्मणानां कुमाराणां कुथासनम् ॥ २०९ ॥
एवं राजसभां प्राप्य कार्यस्त्वासनजो विधिः[6]।

हे मुनियो, नाट्य प्रदर्शन में देवता तथा राजा के लिए सिंहासन, पुरोहित तथा अमात्यों (मन्त्रियों) के लिए वेत्रासन, सेनापति तथा युवराज के लिए मुण्डासन, ब्राह्मणों के लिए काष्ठासन (चौकोर पाटला) तथा राजकुमारों के लिए कुथासन (गलीचे सा आसन) की व्यवस्था रहनी चाहिए। राजसभा में इन्हीं आसनों का यथायोग्य व्यक्तियों को देने का नियम रखना चाहिए ॥ २०८ ॥

---

१. विधिवन्नाटकाश्रयः—क०। २. बाह्योऽथाभ्यन्तरस्तथा—क०।
३. योज्यं—क०। ४. तथा—क०।
५. कर्त्तव्यं—क०। ६. अस्मादनन्तरं क० पुस्तके तु—
प्रकृतीनान्तु सर्वासां तथा ज्ञानसमुत्थितम्।
पुरुषाणां भवेदेष विधिरासनसंश्रयः ॥ इति अधिकम्।

स्त्री पात्र के लिये आसन—

स्त्रीणाञ्चैवासनविधिं सम्प्रवक्ष्याम्य[1]हम्पुनः ॥ २१० ॥
सिंहास[2]नन्तु राज्ञीनां देवीनां मुण्डमासनम् ।
पुरोधोऽमात्यपत्नीनां द[3]द्याद्वेत्रासनन्तथा ॥ २११ ॥
भोगिनीनां तथा चैव वस्त्रं चर्म[4] कुथापि वा ।
ब्राह्म[5]णीतापसीनाञ्च पट्टासनमथापि च ॥ २१२ ॥
वेश्या[6]नामपि कर्तव्यमासनं हि मसूरकम् ।
शेषाणां प्रमदानाञ्च भवेद् भूम्यासनं द्विजाः ॥ २१३ ॥
एवमाभ्य[7]न्तरो ज्ञेयो बाह्यश्चासनजो विधिः ।
तथा स्वगृहवार्तासु छन्देनासनमिष्यते ॥ २१४ ॥

अब मैं स्त्री पात्रों के लिए दिये जाने वाले आसन नियम बतलाता हूँ। पट्टरानी को सिंहासन, रानियों को मुण्डासन, पुरोहित और मन्त्रियों की पत्नियों को वेत्रासन, भोगिनी (राजा द्वारा विवाहित या रक्षित सेनापति आदि की कन्या) के लिए गलीचा, चर्म या वस्त्र निर्मित आसन, ब्राह्मणी तथा तापसी को पट्टासन (पाटला), वैश्य तथा श्रेष्ठिजन की पत्नी को तकिये वाला आसन (जिसके सहारे आराम से बैठा जा सके—मसूरक) दिया जाता है। शेष स्त्री पात्रों के लिए भूमि पर बैठने की विधि होती है। आसन का यही नियम आभ्यन्तर तथा बाह्य के लिए निर्धारित है। तथा अपने घर में रहने पर सामान्य दशा में स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी आसन का स्वेच्छा से ग्रहण किया जा सकता है ॥ २१०–२१४ ॥

मुनि तथा संन्यासी पात्र के लिये आसन—

नियम[8]स्थो मुनीनाञ्च भवेदासनं[9]जो विधिः ।
लिङ्गिनाम[10]ासनविधिः कार्यो व्रतसमाश्रयः ॥ २१५ ॥

---

१. म्यतः परम्—क० । २. सिंहासनं महादेव्या राज्ञीनां—क० ।
३. भवेद्वेत्रा—क० । ४. भगिनीनान्तु कर्तव्यं वस्त्रं चर्म कुथापि वा—क० ।
५. ब्राह्मणीनां तापसीनां—क०, ब्राह्मणीनां यतीनाञ्च—ख०; ग० ।
६. वैश्याना—क०, ख०, । ७. एवमन्तःपुरे ज्ञेयो—क० ।
८. नियमस्थमुनीनाञ्च—ख०; ग० । ९. दासनतो—क० ।
१०. लिङ्गिनां वासनविधिः—ख० ।

मुनिजन के अपने नियमानुकूल आसन रहते हैं तथा विभिन्न मतावलम्बी संन्यासी पात्रों के उनके व्रतानुसार आसन रहते हैं ॥ २१५ ॥

वृसीमुण्डासनप्रायं वेत्रासनमथापि वा।
होमे यज्ञक्रियायाश्च पित्र्यर्थे च प्रयोजयेत् ॥ २१६ ॥

जब होम, यज्ञ, तथा पितृतर्पण करना हो तो उस समय वृसी, मुण्डासन या वेत्रासन पर वैठना चाहिए ॥ २१६ ॥

आसन का सामान्य विधान—

स्थानीया ये च पुरुषाः कुलविद्यासमन्विताः।
तेषामासनसत्कारः कर्तव्य[1] इह पार्थिवैः ॥ २१७ ॥
समे समासनं दद्यान्मध्यमे[2] मध्यमासनम्।
अतिरिक्तेऽतिरिक्तश्च हीने भूम्यासनं भवेत् ॥ २१८ ॥
उपाध्यायस्य नृपतेर्गुरूणाञ्चाग्रतो[3] बुधैः।
भूम्यासनन्तथा[4] कार्यमथवा काष्ठमासनम् ॥ २१९ ॥
नौ-नाग-रथ[5]यानेषु भूमिकाष्ठासनेषु च।
सहासनं न दुष्येत गुरूपाध्यायपार्थिवैः ॥ २२० ॥

जो स्थानीय पुरुष अवस्था में बड़े, कुलीन तथा विद्वान हों उनका राजा उचित आसन देते हुए सत्कार करे।

इनमें भी जो समान स्थिति के हों उन्हें बराबरी का, मध्यम पात्रों को मध्यम, श्रेष्ठ जन को (अपने) से ऊंचा तथा हीन पात्रों का पृथ्वी पर (नीचा) आसन रखना चाहिए।

बुद्धिमान पुरुष अपने उपाध्याय, राजा तथा गुरुजन के सम्मुख पृथ्वी पर या काष्ठासन पर ही बैठे। (परन्तु)

नौका, हाथी, रथ तथा यान में अपने गुरु, उपाध्याय तथा राजा के साथ-साथ बैठने पर भी आसन दोष नहीं रहता ॥ २१६–२२० ॥

शयनावस्था में शरीर की स्थिति—

आकुञ्चितं समञ्चैव प्रसारितविवर्तने।
उद्वाहितं नत[6]ञ्चैव शयने कर्म कीर्त्यते ॥ २२१ ॥

---

१. कर्तव्यो गुरुपार्थिवैः—क०।
२. मध्ये मध्यं तथासनम्—क०। ३. गुरुणामग्रतो बुधैः—ग०।
४. भूम्यासनं सदा कार्यमथवा—ख०। ५ रथभूमीषु—क०।
६. नतं षोढा शय्यास्थानानि निर्दिशेत्—क०।

शयनावस्था में होने वाली छः स्थितियाँ हैं—(१) आकुंचित, (२) सम, (३) प्रसारित, (४) विवर्तित, (५) उद्वाहित तथा (६) नत ॥

आकुंचित—

सर्वैराकुञ्चितैरङ्गैः शय्याविद्धे तु जानुनी ।
स्थानमाकुञ्चितं नाम शीतार्तानां[1] प्रयोजयेत् ॥ २२२ ॥

दोनों घुटनों को बिछोने में रखकर सारे शरीर को झुकाकर सिकुड़ाते हुए सोना 'आकुंचित' दशा कहलाती है। इसकी योजना ठण्ड से ठिठुरते पात्र में की जाती है ॥ २२२ ॥

सम—

उत्तानितमुखश्चैव प्रत्यङ्मुक्तकरन्तथा ।
समं नाम प्रसुप्तस्य[2] स्थानकं संविधीयते ॥ २२३ ॥

मुंह ऊपर की ओर, हाथ खाली ढीले और नीचे की ओर फैले हुए रखकर सोने को 'सम' स्थान जानो। इसकी सोये हुए पुरुष में योजना की जाए ॥ २२३ ॥

प्रसारित—

एकं भुजमुपाधाय सम्प्रसारित-जानुकम् ।
स्थानं प्रसारितं नाम सुखसुप्तस्य[3] कारयेत् ॥ २२४ ॥

एक बाँह को सिरहाना बनाकर जंघाओं को फैलाते हुए सोना 'प्रसारित' स्थान होता है। इसकी आनन्दपूर्वक या निश्चिन्तता से सोने की अवस्था बतलाने में योजना करनी चाहिए ॥ २२४ ॥

विवर्तित—

अधोमुखस्थितश्चैव विवर्तितमिति[4] स्मृतम् ।
शस्त्रक्षतमृतोत्क्षिप्तमत्तोन्मत्तेषु कारयेत् ॥ २२५ ॥

नीचा मुंह कर सोना 'विवर्तित' कहलाता है। शस्त्रों के घाव लग जाने, मरण, ऊपर से या ऊंचे स्थान से गिर जाने, (उत्क्षिप्त), नशे के कारण मस्त हो जाने तथा पागल होने की दशा में इसकी योजना की जाती है ॥ २२५ ॥

---

१. शीतानांन्तु—ख०; ग० । २. तु सुप्तस्य—ख०; ग० ।
३. खलु सुप्तस्य—ख०; ग० ।
४. विवर्तनम्—क०; विकर्तनम्—ख०; ग० ।

उद्वाहित—

अंसोपरि शिरः कृत्वा कूर्परक्षोभमेव च।
उद्वाहितन्तु विज्ञेयं लीलायां वचने प्रभोः ॥ २२६ ॥

यदि सिर को कन्धे पर या कलाई को दवाते हुए शयन किया जाए (कूर्परक्षोभ) तो 'उद्वाहित' स्थान जानो। इसकी क्रीडा तथा (अपने) स्वामी के साथ संभाषण (बैठने, प्रवेश) करने की दशा में योजना की जाए ॥ २२६ ॥

नत—

ईषत्प्रसारिते जङ्घे यत्र स्रस्तौ करावुभौ।
आलस्यश्रमखेदेषु नतं स्थानं विधीयते ॥ २२७ ॥

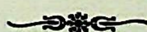
यदि जंघाएं थोड़ी फैली हुई हों (तथा) दोनों हाथ ढीले रखकर सोया जाने पर 'नत' स्थान कहलाता है। इसकी योजना आलस्य, श्रम तथा थकावट क ' दशा प्रदर्शन में की जाए ॥ २२७ ॥

गतिप्रचारस्तु मयोदितोऽयं
नोक्तश्च यः सोऽर्थवशेन साध्यः।
अतः परं रङ्गपरिक्रमस्य
वक्ष्यामि कक्ष्यान्तरसंविधानम् ॥ २२८ ॥

हे मुनियो, इस प्रकार मैंने आपको गतिप्रचार के ये स्वरूप तथा लक्षण बतलाये। इसमें जो बातें बतलाई न जा सकी हों उन्हें आप लोक-व्यवहार में प्रयुक्त अर्थों के आधार पर स्वयं साध लें। अब मैं रंगमंच (पर) की (जाने वाली) कक्ष्याओं की तथा उनमें संचार करने की विधियों को (अगले अध्याय में) कहूँगा ॥ २२८ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे गतिप्रचारो नाम त्रयोदशोऽध्यायः

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र का 'गतिप्रचार' नामक त्रयोदश अध्याय सम्पूर्ण



---

१. हस्तोपरि—क०। २. लीलयाविशने—क०। ३. सृष्टौ—क०।

४. अस्मात् परं क—पुस्तके 'रङ्गे विकृष्टे' इत्यादि (ना० शा० १३।२०) पद्यं 'वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः' (१४।६८) इत्यादि पद्यञ्च समुपलभ्यते।

५. नोक्तस्तु—क०। ६. रङ्गविधिक्रमस्य—ख०; ग०।

७. कक्ष्यां प्रविभागयुक्ताम्—ग०, घ०।

८. द्वादशोऽध्यायः—क, क (भ०), ख०।

१२ ना० शा० द्वि०

चतुर्दशोऽध्याय[1]

(कक्ष्यापरिधि तथा लोकधर्मि-निरूपणाध्याय)

ये तु पूर्वं मया प्रोक्तास्त्रयो वै नाट्यमण्डपाः ।
तेषां विभागं विज्ञाय ततः कक्ष्यां[2] प्रयोजयेत् ॥ १ ॥

नाट्यगृह के तीन प्रकारों को समझते हुए जिनका कि पहिले वर्णन किया जा चुका है अतः उनके विभेदों को जानकर रंग-मंच की कक्षाओं का विभाग नियत किया जाए[1] ॥ १ ॥

वाद्यों की स्थापना

[3]ये नेयथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते[4] ।
तयो[5]र्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥ २ ॥

नेपथ्य गृह के जिन दो द्वारों को पहिले बतलाया जा चुका है उनके मध्यवर्ती प्रदेश में (बीच में) भाण्ड वाद्य वादकों को बिठाया जाए ॥२॥

---

१. पूर्व अध्याय में गति के प्रचारादि में उपयोगी स्थानों का विभागपूर्वक उल्लेख नहीं किया गया । इन स्थानों का रंगमंच पर विभाजित रूप से निर्देश आवश्यक होने के कारण पिछले अध्याय से इस अध्याय की संगति स्थापित होती है ।

यद्यपि उद्देशक्रम में 'कक्ष्या' का स्थान अन्तिम है तथापि विना कक्ष्या के अभिनयादि उपपन्न नहीं हो सकते इसलिये यहां भरतमुनि ने उसे विषयप्रतिपादन की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर ही उचित स्थान दे दिया है । यहाँ क्रम का उल्लंघन भी इसी कारण हो गया है तथा इसके यहाँ प्रतिपादन करने का विशेष कारण यह भी है कि गन्तव्य प्रदेश का आश्रय लेने के कारण गतियों का एवं जल, स्थल आदि अनेक सम या विषम प्रदेशों का आश्रय रखने के कारण देशों का रंगमंच के प्रयोग स्थान पर कक्ष्या के विना प्रदर्शन सम्भव नहीं हो सकता था । अतएव इस कारण भी कक्ष्याओं का निरूपण अब आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था ।

---

१. अथ त्रयोदशोऽध्यायः—क०, ख० । २. कक्षां—ख० ।
३. नेपथ्यरङ्गभूमौ तु यौ विभागौ प्रकीर्तितौ—क० ।
४. प्रकीर्तिताः—क० । ५. तेषां—क० ।

कक्ष्या-गत विभाग—

कक्ष्यांविभागो[1] निर्देश्यो रङ्गपीठपरिक्रमात्।
परिक्रमेण[2] रङ्गस्य ह्यन्या कक्ष्या भवेदिह[3]॥ ३॥

रंगमंच की परिधि के भाग में चलने से उसके विभाग सूचित (या प्रतीत) हो जाते हैं। जब किसी पात्र को अपनी कक्ष्या परिधि परिवर्तित करना हो वह उसे परिक्रमण—या अन्य कक्ष्या में चलने—के द्वारा प्रदर्शित करे[1]॥ ३॥

कक्ष्या विभाग की उपयोगिता—

कक्ष्याविभागे ज्ञेयानि गृहाणि नगराणि च।
उद्यानारामसरितस्त्वाश्रमा[4] अटवी तथा॥ ४॥
पृथिवी[5] सागराश्चैव त्रैलोक्यं सचराचरम्।
वर्षाणि[6] सप्त द्वीपाश्च पर्वता विविधास्तथा॥ ५॥
आलोकश्चैव लोकश्च रसातलमथापि च।
दैत्यनागालयाश्चैव[7] गृहाणि भवनानि[8] च॥ ६॥

इस कक्ष्या विभाग की परिधि में (जो पात्र के किसी विभाग विशेष पर स्थित होने से जानी जाती हो तथा जिस दृश्य का निरूपण करना इष्ट हो) गृह, नगर, उद्यान, आदि से युक्त प्रदेश, ग्राम तथा नगर, नदी, आश्रम, वन, पृथ्वी, समुद्र, जड़, चेतन पदार्थ समन्वित त्रैलोक्य, पृथ्वी के किसी भी वर्ष, द्वीप, विविध पर्वत, लोकालोक पर्वत, पाताल, दैत्य तथा सर्पों के निवासस्थान, आराम गृह तथा नगर आ जाते हैं॥ ४–६॥

१. इस विवरण से प्रतीत होता है कि केवल रंगमंच पर विभिन्न स्थानों के द्वारा ही दृश्य और प्रदेश बतलाये जाते थे और दृश्य-परिवर्तन की अधिक आवश्यकता होने पर अन्य अंक के द्वारा यह भी हो सकता था। दृश्यों के परिवर्तनार्थ पटपरिवर्तन जैसे किसी विधान का कम ही उपयोग होता था।

१. कक्ष्याविभागौ निर्देश्यौ रङ्गपीठपरिक्रमैः—क०।
२. परिक्रमे च—क०। ३. विधीयते—ग०, घ०।
४. उद्यानारामसहितो देशो ग्रामोऽटवीं तथा—ख०, ग०।
५. ससागरा च पृथिवी तथा त्रैलोक्यमेव च—क०।
६. द्वीपा सप्ताथ वर्षाणि—क०।
७. दैत्यानामालयश्चैव—ख०, ग०। ८. च वनानि च—घ०।

नगरे वा वने वापि वर्षे वा पर्वतेऽपि वा[1]।
यत्र वार्ता प्रवर्तेत[2] तत्र कक्ष्यां प्रयोजयेत्[3] ॥ ७ ॥

ये परिधियां नाटक की कथावस्तु के विषयानुसार मंच पर (वहीं) स्थापित की जायँ जहाँ प्रस्तुत किये जाने वाले कथानक के नगर, वन, वर्ष या पर्वत के दृश्य (रखे गये) हों ॥ ७ ॥

रंगमंच पर सम्बन्धित प्रदेश की सूचनाएँ—

वाह्यं[4] वा मध्यमं वापि तथैवाभ्यन्तरं पुनः।
दूरं वा सन्निकृष्टं वा देशन्तु[5] परिकल्पयेत्[6] ॥ ८ ॥

रंगमंच पर ये कक्ष्या विभाग अन्दर, वाहर, मध्य, दूर तथा समीप के प्रदेश से (कथावस्तु के अनुसार परस्पर) सम्बद्ध रहें ॥ ८ ॥

पूर्वं प्रविष्टा ये रङ्गं ज्ञेयास्तेऽभ्यन्तरा[7] बुधैः।
पश्चात्प्रविष्टा विज्ञेया[8] कक्ष्या-भागे तु बाह्यतः ॥ ९ ॥

इन कक्ष्या विभागों की रूढ़ि (प्रथा) के अनुसार जो रंगमंच पर पहिले प्रविष्ट हो चुके हों वे अभ्यन्तर पात्र (गृह या प्रासाद आदि में स्थित) तथा बाद में मंच पर प्रविष्ट होने वाले बाह्य पात्र कहलाते हैं ॥ ९ ॥

तेषान्तु दर्शनेच्छुर्यः[9] प्रविशेद्रङ्गमण्डलम्।
दक्षिणाभिमुखः[10] सोऽथ कुर्यादात्मनिवेदनम् ॥ १० ॥

और जो पात्र इन (पूर्व प्रविष्ट) पात्रों को देखने या मिलने के लिए मंच पर आए वह अपनी बात दाहिनी (दक्षिण दिशा की) ओर मुंह करते हुए कहे ॥ १० ॥

रंगमंच की पूर्व-दिशा—

[11]यतो मुखं भवेद्भाण्डद्वारं नेपथ्यकस्य[12] च।
सा[13] मन्तव्या तु दिक्पूर्वा नाट्ययोगेन[14] नित्यशः ॥ ११ ॥

---

१. तथा सप्तसमुद्राश्च वर्षा वै पर्वतास्तथा—ख०, ग०।
२. वार्ताः प्रवर्त्तने—क०।
३. प्रवर्तयेत्—ख०, ग०।
४. वाह्यञ्च—क०।
५. देशात्तु—ग०।
६. समुपपादयेत्, समुपलक्षयेत्—क०।
७. भ्यन्तरे बुधैः, तेऽभ्यन्तरस्थिताः—क०।
८. ज्ञेयाश्च—क०।
९. दर्शनस्पर्शं—क०; दर्शनेच्छुः सन्—ख०।
१०. मुखः सो वै—क०; मुखं सोऽथ—ग०।
११. पद्यमेतत् ग-पुस्तके नास्ति।
१२. नेपथ्यमेव च—क०।
१३. पूर्वादिदिक्षु विज्ञेयं प्रयोगे नाट्यसंश्रये—क०।
१४. योगेषु—क०।

जिस ओर भाण्ड-वाद्य तथा नेपथ्य-द्वारों का मुँह रहे उसे नाटक प्रदर्शन के नियमानुसार पूर्व-दिशा समझी जाए ॥ ११ ॥

रंगमंच पर प्रवेश-निर्गम-विधान—

निष्क्रामेद्यश्च तस्माद्वै स तेनैव तथा व्रजेत् ।
यतस्तस्य कृतं तेन पुरुषेण निवेशनम् ॥ १२ ॥

जो व्यक्ति जिस स्थान से (जिस भवन आदि से) निष्क्रमण करे या जो अपना कार्य पूर्ण कर चुका हो—तो वह पूर्ववत् उसी मार्ग से चला जाए जिसका प्रवेश के समय उसने आने में उपयोग किया था ॥ १२ ॥

निष्क्रान्तोऽर्थवशाच्चापि प्रविशेद्यदि तद्गृहम् ।
यतः प्राप्तः स पुरुषस्तेन मार्गेण निष्क्रमेत् ॥ १३ ॥

किसी कार्यवश बाहर निकल जाने पर यदि वही पात्र पुनः वहीं (गृह या स्थान पर) आवे तो उसी मार्ग या द्वार से प्रवेश करे जिससे वह निकलकर (बाहर) गया था ।

अर्थवार्थवशाच्चापि तेनैव सह गच्छति ।
तथैवं प्रविशेद्गेहमेकाकी सहितोऽपि वा ॥ १४ ॥
तयोश्चापि प्रविशतोः कक्षामन्यां विनिर्दिशेत् ।
परिक्रमेण रङ्गस्य त्वन्या कक्ष्या विधीयते ॥ १५ ॥

या किसी कार्यवश (जिसे कहा हो) यदि वह उसी पात्र के साथ गृह (आदि) में (पुनः) प्रवेश करे तो उस पात्र के साथ या अकेले—जैसा भी आवश्यक हो—वह उसी तरह प्रवेश करे । इस प्रकार दोनों पात्रों के प्रवेश के समय अन्य कक्ष्या की सूचना दी जाए । रंगमंच पर एक या अनेक बार (जैसा भी आवश्यकतानुसार हो) परिक्रमा करने से दूसरी कक्ष्या सूचित हो जाती है ॥ १४–१५ ॥

---

१. निष्क्रामेच्चापि यस्तत्र नरः कार्येण केनचित् । स निष्क्रमेत्तु तेनैव कृतं येन निवेशनम्—ख०, ग० । २. यतस्तस्य कृते—क० ।
३. वशाद्वापि– क० । ४. न विशेद्यदि—क० ।
५. प्राप्तः सः पुरुषो येन स तेनैव पथा व्रजेत्—क० ।
६. यदप्यर्थवशाच्चैव—क० । ७. तेनैव प्रविशेद्गेहं—क० ।
८. तयोश्चैव—क० । ९. काष्ठामन्यां—ख०, ग० ।

सामूहिक-प्रवेश में पात्रों के वर्ग तथा स्थान-नियम—

समैश्च सहितो गच्छेन्नीचैश्च परिवारितः[1]।
अथ प्रेषणिकाश्चापि[2] निर्देश्या[3] ह्यग्रतो गतौ ॥ १६ ॥

यदि समान स्थिति के पात्र हों तो वे साथ-साथ और अधम पात्रों से युक्त होने पर उनसे घिरे हुए चले। इनमें प्रतिहारी का (सामूहिक रूप में नृप पात्र की प्रवेश दशा में) आगे-आगे चलना बतलाया जाए ॥ १६ ॥

दूर, मध्यम और संनिकृष्ट भूमि की सूचना—

सैव भूमिस्तु बहुभिर्विकृष्टा स्यात् परिक्रमैः।
मध्या वा सन्निकृष्टा वा तेषामेवं विकल्पयेत्[4] ॥ १७ ॥

नाट्य मंच की यही भूमि यदि पात्र अधिक चले तो दूर प्रदेश को तथा कम चलने पर मध्यम व्यवधान वाले या समीपतर प्रदेश को प्रदर्शित करती है[1] ॥ १७ ॥

दिव्य पात्रों की प्रकट तथा प्रच्छन्न दशा में गति—

नगरे वा वने वापि पर्वते सागरेऽपि वा।
दिव्यानां गमनं कार्यं[5] वर्षे द्वीपेऽपि वा पुनः ॥ १८ ॥
आकाशेन विमानेन माययाप्यथवा पुनः।
विविधाभिः क्रियाभिर्वा नानार्थाभिः प्रयोगतः[6] ॥ १९ ॥
नाटके च्छन्नवेषाणां दिव्यानां भूमिसञ्चरः।
मानुषैः कारणादेषां यदा[7] भवति दर्शनम् ॥ २० ॥

कथावस्तु की विभिन्न अपेक्षाओं के अनुसार दिव्य पात्रों का नगर, वन, पर्वत, सागर, वर्ष (भारतवर्ष आदि) तथा द्वीप आदि (सभी) प्रदेशों में आकाश, वायुयान (विमान) या माया के द्वारा या किसी दूसरे अन्य प्रकार से पहुँचना (या जाना) बतलाया जाए। परन्तु किसी दिव्य

---

१. समीप या दूर प्रदेश से यात्रा करने का प्रसंग उत्तररामचरित के द्वितीयांक में देखा जा सकता है।

---

१. परिवाहितः—ख०; ग०। २. प्रेक्षणिकाश्चापि—ख०; ग०।
३. विज्ञेया—ख०; ग०। ४. विकल्पनात्—क०।
५. वर्षाद्वीपेषु वा पुनः—क०; द्वीपे वर्षेषु वा पुनः—ग०।
६. प्रयोक्तृभिः—क०। ७. यथा—ख०; ग०।

पात्र का अपना स्वरूप प्रच्छन्न रखने की दशा में पृथ्वी पर चलना भी बतलाया जा सकता है; क्योंकि यहां वे मनुष्य स्वरूप धारण करने के कारण ही दिखाई देते हैं ॥ १८–२० ॥

[भारतेष्वथ हैमे वा हरिवर्षे इलावृते ।
रम्ये किम्पुरुषे चापि कुरुषूत्तरकेषु वा]
दिव्यानां छन्दगमनं सर्ववर्षेषु कीर्तितम् ।
भारते मानुषाणान्तु गमनं संविधीयते ॥ २१ ॥

दिव्य (तथा दिव्यादिव्य) पात्र जम्बू-द्वीप आदि सभी वर्षों में [या भारतवर्ष, हिमाचल, हरिवर्ष, इलावर्त खण्ड, किम्पुरुष (किन्नर-देश) प्रदेश, उत्तर कुरु आदि प्रदेशों में] अपने इच्छानुसार जा आ सकते हैं परन्तु मानव (पात्र) केवल भारतवर्ष में :ही घूमने वाले रखना चाहिए ॥ २१ ॥

दूर देश की यात्रा में प्रस्थान—

विकृष्टं यस्तु गच्छेद्धि देशं कार्यवशान्नरः ।
अङ्कच्छेदे तमन्यस्मिन्निर्दिशेद्धि प्रवेशके ॥ २२ ॥

यदि किसी पात्रविशेष का कार्यवश दूरदेश में प्रस्थान बतलाया जाए तो अंक की वहीं समाप्ति करते हुए दूसरे अंक के (प्रारंभ में) प्रवेशक के द्वारा वही बात प्रदर्शित की जाए ।

एक अंक में सम्पाद्य (किये जाने वाले) कार्यों का समय निर्द्धारण—

अङ्कः प्रमाणं गत्वा तु कार्यलाभं विनिर्दिशेत् ।
तथालाभे तु कार्येऽस्या अङ्कच्छेदो विधीयते ॥ २३ ॥

यदि किसी कार्य में (एक दिन की) घटना चल रही हो तो उसकी दूरी को प्रदर्शित करना चाहिए परन्तु उस कार्य से (किसी) फल के पूर्ण न होने की दशा में अंक समाप्त कर देना चाहिए ॥ २३ ॥

---

१. अयं श्लोकः कादि पुस्तके प्रक्षिप्तः । २. वर्षेष्वेतेषु कारयेत्—ग० ।
३. एते पञ्चश्लोकाः अत्र वर्तन्ते परम् एषाञ्च संवादिन्यः कारिका दशरूपकाध्याये (ना० शा० अ० २०) अभिनवगुप्तेन व्याख्याताः न चात्र । सम्पा० । गच्छेद्यदि विकृष्टस्तु देशकालवशान्नरः—क० ।
४. अङ्कच्छेदेन चान्यस्मिन्—क० घ०; अङ्कच्छेदं न चान्यस्मिन्—ग० ।
५. निर्दिशेत् प्रविशेशके—ग० ।
६. अङ्कप्रमाणं—क०; अध्वप्रमाणं—ग०, घ० ७. कार्यस्य—ग० ।

क्षणो मुहूर्त्तो यामो वा दिवसो[1] वापि नाटके।
एकाङ्के[2] संविधातव्यो बीजस्यार्थवशानुगः[3] ॥ २४ ॥

किसी नाट्यरचना में रखी जाने वाली घटनाएं बीजार्थ का अनुसरण करते हुए क्षण, मुहूर्त, याम तथा दिन में बाँटते हुए एक अंक में रखी जाएं ॥ २४ ॥

अङ्कच्छेदे[4] तु निर्वृत्तं मासं वा वर्षमेव वा।
नोर्ध्वं वर्षात्[5] प्रकर्त्तव्यं कार्यमङ्कसमाश्रयम्[6] ॥ २५ ॥

(किसी) अंक के समाप्त होने पर बीते हुए मास या वर्ष बतलाए जा सकते हैं किन्तु (एक) अंक में होने वाले कार्य एक वर्ष से अधिक के नहीं होने चाहिए ॥ २५ ॥

एवन्तु भारते वर्षे कक्ष्याः कार्याः प्रयोगतः[7]।
मानुषाणां गतिर्ह्येषा[8] दिव्यानान्तु निबोधत ॥ २६ ॥

इसी प्रकार रंगमंच पर कक्ष्या का विभाग प्रयोग के अनुसार, मनुष्य पात्रों की पहुँच के अनुसार भारतवर्ष में ही प्रदर्शित करना चाहिये। मैं अब देव तथा गन्धर्व पात्रों के चलने तथा स्थित होने का वर्णन करता हूँ। (जिसे आप समझें) ॥ २६ ॥

हिमवत्पृष्ठसंस्थे[9] तु कैलासे पर्वतोत्तमे[10]।
यक्षाश्च गुह्यकाश्चैव धनदानुचराश्च ये ॥ २७ ॥
रक्षोभूत[11]पिशाचाश्च सर्वे हैमवताः स्मृताः।
हेमकूटे च गन्धर्वा विज्ञेयाः[12] साप्सरोगणाः ॥ २८ ॥
सर्वे नागाश्च निषधे शेषवासुकितक्षकाः[13]।
महामेरौ[14] त्रयस्त्रिंशज्ज्ञेया देवगणा[15] बुधैः ॥ २९ ॥

---

१. मध्याह्ना दिवसोऽपि वा—क०। २. अङ्केऽङ्के—क०।
३. त्वर्थबीजवशानुगः—क०।
४. अङ्कच्छेदं पुनर्वृत्तं—क०; ग०। ५. वर्षात्तु—ग०।
६. कार्यं माससमाश्रयम्—ग०। ७. प्रयोक्तृभिः—क०।
८. गतिर्या तु—क०, घ० गतौ येषां—ग०। ९. पृष्ठपार्श्वे तु—क०।
१०. पर्वतोत्तरे—क०। ११ रक्षःपिशाचभूताश्च—ग०।
१२. विज्ञेयाप्सरसां गणाः—क०। १३ शेषप्रभृतयः स्मृताः—क०।
१४. तथा मेरौ—क०। १५. देवगणास्तथा—घ०।

नीले तु वैडूर्यमये सिद्धा[1] ब्रह्मर्षयस्तथा।
दैत्यानां दानवानाञ्च श्वेतपर्वत उच्यते[2] ॥ ३० ॥
पितरश्चापि विज्ञेयाः[3] शृङ्गवन्तं समाश्रिताः।
इत्येते पर्वतश्रेष्ठा[4] दिव्यवासा भवन्ति[5] हि ॥ ३१ ॥
तेषां कक्ष्याविभागश्च[6] जम्बुद्वीपे भवेदयम्।

जो यक्ष, गुह्यक, कुवेर के सेवक, राक्षस, भूत तथा पिशाच जैसे पात्र हों वे हिमालय या कैलास पर्वत पर निवास रहने के कारण-सभी 'हैमवत' कहलाते हैं। (अतएव हिमालय पर्वत पर इनका निवास, गति आदि प्रदर्शित किया जाए)। गन्धर्व तथा अप्सराएं हैमकूट पर्वत पर रहती हैं। शेष, वासुकी तथा तक्षक आदि सभी नाग का 'निषध' में निवास रहता है। तैतीस (करोड़) देवताओं का समूह सुमेरु पर्वत पर तथा सिद्ध और ब्रह्मर्षिगण वैडूर्यमणिमय नीलपर्वत पर रहते हैं। दैत्य और दानवों का निवास श्वेत पर्वत पर तथा पितरों का आवास शृंग पर्वत पर माना जाता है। ये ही वे श्रेष्ठ पर्वत हैं जिन पर देवता तथा यक्ष आदि दिव्यपात्रों का आवास रहता है। अत एव (नाटक की कथावस्तु के प्रसंगानुसार मंच पर इनसे सम्बद्ध कथा प्रदर्शित करने की स्थिति में) कक्ष्याओं का विभाग करते समय इन पर्वतों को जम्बू द्वीप में मानते हुए रखा जाए ॥ २७-३१)

देवगण के कार्य—

तेषां न[7] चेष्टितं कार्यं स्वैः स्वैः कर्मपराक्रमैः ॥ ३२ ॥
परिच्छेदविशेषास्तु[8] तेषां मानुषलोकवत्।
सर्वे भावास्तु देवानां[9] कार्या मानुषसंश्रयाः ॥ ३३ ॥
तेषां[10] त्वनिमिषत्वं यत्तन्न कार्यं प्रयोक्तृभिः।
इह भावा रसाश्चैव दृष्टेर्यामेव[11] प्रतिष्ठिताः ॥ ३४ ॥

---

१. सिद्धा देवर्षयस्तथा—क०; सिद्धब्रह्मर्षयस्तथा—ग०।
२. इष्यते—क०; ग०। ३. शृङ्गवद्गिरिवासिनः—क०।
४. पर्वताः श्रेष्ठाः—क०। ५. प्रकीर्तिताः—ग०।
६. विभागस्तु—क०। ७. एतेषां—क०; तेषां तु—ख०; ग०।
८. विशेषस्तु—क०; ग०। ९. दिव्यानां—ग०।
१०. अनिमेषस्तु यस्तेषां स न कार्यः—क०; तेषामनमिषं यत्तु—ख०।
११. दृष्टावेव—ग०।

दृष्ट्या हि सूचितो भावः पश्चादङ्गैर्विभाव्यते[1][2]।
एवं कक्ष्याविभागस्तु मया प्रोक्तो द्विजोत्तमाः ॥ ३५ ॥
पुनश्चैव प्रवक्ष्यामि प्रवृत्तीनान्तु लक्षणम्।

इन पात्रों के कार्य तथा चेष्टाएँ अपनी शक्ति तथा प्रकृति के अनुसार रखी जाएँ किन्तु इनके आचार एवं स्वरूप को मनुष्यों के समान ही रखा जाए। दिव्य पात्रों की सभी चेष्टाएं और सभी भाव मानवीय होने चाहिए। दिव्यपात्रों की दृष्टि अनिमेष (पलक न मिलने वाली) नहीं रहनी चाहिए (चाहे वह इन पात्रों की प्रकृति ही क्यों न हो) क्योंकि इस नाट्य-प्रदर्शन में सभी भाव दृष्टि पर आधृत होते हैं। तथा भाव सर्वप्रथम दृष्टि द्वारा अभिव्यक्त होकर पुनः अंगावयवों द्वारा अभिनीत किया जाता है। हे मुनियों, इस प्रकार मंच पर होने वाला कक्ष्या विभाग का मैंने निरूपण किया। अब मैं प्रवृत्तियों का स्वरूप बतलाता हूँ ॥ ३२–३५ ॥

प्रवृत्तियां और उनकी चार विधाएं—

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता[3] नाट्यप्रयोक्तृभिः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोढ्रमागधी[4] ॥ ३६ ॥

नाट्य प्रयोक्ता जन की मान्यता के अनुसार प्रवृत्तियों[1] के चार प्रकार

१. कक्ष्या विभाग के निरूपण के उपरान्त यद्यपि धर्मी (नाट्य या लोक-धर्मी) का वर्णन क्रम प्राप्त था किन्तु 'यत्र वार्ता प्रवर्तेत' (ना० शा० १४।७) के अनुसार कक्ष्याविभाग से जब देशभेद अभिहित किया जाता हो तो इसी से देश के विभाग द्वारा प्रवृत्तियों का भी आक्षेप द्वारा अवबोध हो जाएगा; क्योंकि कक्ष्याविभाग के नियमानुसार जब किसी पात्र का उत्तर-द्वार से प्रवेश हो तो निश्चित ही ऐसा पात्र आवन्त्य या दाक्षिणात्य होगा। अतएव ऐसे कार्यों का बिना प्रवृत्तियों के ज्ञान के सम्पादन नहीं किया जा सकता है। इसी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए भरत मुनि ने कक्ष्याविभाग के तुरन्त बाद सर्वप्रथम प्रवृत्तियों का ही औचित्य मानकर विवरण देना आरम्भ किया।

१. पुनरङ्गै—ग०।

२. अतः परं धर्मीलक्षणं कासुचित् मातृकासु लभ्यते तच्च परस्तादेव वर्तते इति नात्रोट्टङ्कितम्।

३. विज्ञेया नाट्यकोविदैः, प्रयोज्या नाट्ययोक्तृभिः—क; प्रोक्ता नाट्य-प्रयोगतः—ग०। ४. चैव मागधी; चान्ध्रमागधी; सोढ्रमागधी—क०।

हैं—(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणात्या, (३) पांचाली तथा (४) मागधी ॥ ३६ ॥

अत्राह—प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते[1]—पृथिव्यां[2] नानादेशवेषभाषाचारा[3] वार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः[4]प्रवृत्तिश्च निवेदने[5]। अत्राह—यथा पृथिव्यां नाना[6]देशाः सन्ति। कथ[7]मासां चतुर्विधत्वमुपपन्नं समानलक्षणश्चासां प्रयोगः? उच्यते—तत्तु[8] सत्यम्, आसां समानलक्षणप्रयोगः, किन्तु नानादेशवेषभाषाचारो लोक इति कृत्वा लोकानुमतेन वृत्तिसंश्रितस्य[9] नाट्यस्य मया चतुर्विधत्वमभिहितम्—भारती[10], आरभटी, सात्वती कैशिकी चेति।

वृत्तिसंश्रितैश्च प्रयोगैरभिहिता[11] देशाः, यतः[12] प्रवृत्तिचतुष्टयमभिनिर्वृत्तं[13] प्रयोगश्चोत्पादितः[14]।

(गद्य भाग)—प्रश्न—इसे प्रवृत्ति क्यों कहा गया? उत्तर—विश्व के विभिन्न प्रदेशों के स्थानीय वेश, आचार, भाषा तथा कार्य व्यवहार को सूचित करने के कारण ये 'प्रवृत्ति' कहलाती हैं। 'वृत्ति' या 'प्रवृत्ति' का अर्थ है प्रदर्शित, सूचित या अवगत करवाना। इस विश्व में अनेक देश (तथा प्रदेश) हैं।

---

१. अत्रोच्यते—क०। २. यथा पृथिव्यां—क०।
३. भाषाचारवार्ताः—ख; ग०। ४. प्रवृत्तिः वृत्तिश्च निवेदने—ग०।
५. निवेदनं—क; निवेदनैः—ख०। ६. बहवो देशाः—ग०।
७. तदा कथ—क०। ८. एवमेतत्—क; सत्यमेतत्—ग०।
९. लोकानुमतेऽनुवृत्तिसंश्रितस्य—ख; ग०।
१०. भारती सात्वती कैशिक्यारभटी—क०।
११. प्रयोगोचिता—क०; प्रयोगेष्वभिरता—ख०; ग०।
१२. यतो वृत्ति—क०। १३. अभिनिवृत्तं—ख; ग०।
१४. अस्मादनन्तरं—

आ नर्मदाया आसिन्धोरापूर्वावर्तिनस्तथा।
आपश्चिमात् समुद्राच्च तथा सौवीरराष्ट्रतः॥
आहिमाद्रेस्तथा देशा विदेशैश्चान्तरेण ये।
सात्वती कैशिकीयुक्ता तेषामावन्तिकी स्मृता॥
इत्यधिकं—क० पुस्तकपाददटिप्पण्याम्।

प्रश्न—(पृथ्वी पर अनेक देश होने पर) इन प्रवृत्तियों के चार भेद रखना कैसे उचित होगा ? जबकि इनके प्रयोग तथा लक्षण नाट्यप्रयोग में समान परिलक्षित होते हों ?

उत्तर—यह ठीक है कि इनके (कुछ) समान लक्षण दिखाई देते हैं परन्तु मैंने मनुष्यों के देश, वेष, भाषा तथा रूढ़िगत व्यवहार विभिन्न होने के कारण एवं विविध देशी प्रजा की रुचि के अनुसार भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी नामक चार वृत्तियों के आधार पर नाट्यप्रयोग के लिए इन प्रवृत्तियों के भी चार प्रकार (ही) मान लिए हैं। क्योंकि विभिन्न प्रदेश वृत्तियों के (प्रयोग तथा) प्रदर्शन से सम्बद्ध होते हैं। अतएव इसी आधार पर प्रवृत्तियों के भी चार भेद उपपन्न हो गए, जिनमें समस्त नाट्य-प्रदर्शन समाहित हो सके।

दाक्षिणात्या प्रवृत्ति—

तत्र दाक्षिणात्यास्तावद्बहुनृत्तगीतवाद्याः कैशिकीप्रायाः चतुर[1]-मधुरललिताङ्गाभिनयाश्च। तद्यथा—

(गद्य भाग)—इनमें दक्षिण प्रदेश की प्रजा अनेक नृत्त (नृत्य) गीत, वाद्य से युक्त तथा कैशिकीवृत्ति सम्पन्न ललित अंगों से विविध प्रदर्शित अभिनय देखने की रुचि रखती है। दाक्षिण्य प्रदेश ये हैं—

महेन्द्रो मलयः सह्यो मेकलः[2] कालमंजरः[3]।
एतेषु[4] संश्रिता देशास्ते ज्ञेया दक्षिणापथाः ॥ ३७ ॥

महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल तथा काल (पाल) मं (पं) जर[1] (कालपंजर) पर्वतों से युक्त (दक्षिण) प्रदेश 'दक्षिणापथ' कहलाता है ॥३७॥

कोसलास्तोसलाश्चैव[5] कलिङ्गा यवनाः[6] खसाः।
द्रमिडान्ध्रमहाराष्ट्रा[7] वेर्ण्णा[8] वै वानवासजाः[9] ॥ ३८ ॥

---

१. कालमंजर या कालपंजर वर्तमान कालंजर के ही नाम हैं।

---

१. चतुरललित—क०। २. मेखलः—क०; मेखकः—ख; ग०।
३ कालपञ्जरः—ख०; ग०। ४. एतेषु ये श्रिता देशाः स ज्ञेयो दक्षिणापथः—ख०; ग०।
५. कोशलास्तोशला—क०। ६. यवनौसलाः—क०; एव मोसलाः—ख०।
७. द्रमिलाश्च—क०। ८ भिल्ला—क०।
९. वानवासिकाः—क०; वानवासिजाः—ख०; ग०।

दक्षिणस्य समुद्रस्य तथा विन्ध्यस्य चान्तरे[1]।
ये देशास्तेषु[2] युञ्जीत दाक्षिणात्या तु[3] नित्यशः ॥ ३९ ॥

(तथा) कोसल, तोसल, कलिंग, यवन, खस और द्रमिड, आन्ध्र,[1] महाराष्ट्र, वेण्ण[2], वानवासिक आदि विन्ध्याचल और दक्षिण समुद्र के बीच वाले जो प्रदेश हैं उनमें भी दाक्षिणात्या प्रवृत्ति की योजना रखी जाए (क्योंकि ये भी उपर्युक्त रुचि ही रखते हैं) ॥ ३८–३९ ॥

आवन्ती-प्रवृत्ति—

आवन्तिका वैदिशिकाः सौराष्ट्रा[4] मालवास्तथा।
सैन्धवास्त्वथ सौवीरा आनर्ताः सार्बुदेयकाः[5] ॥ ४० ॥
दाशार्णास्त्रैपुराश्चैव तथा वै मार्तिकावताः[6]।
कुर्वन्त्यावन्तिकीमेते प्रवृत्तिं नित्यमेव तु ॥ ४१ ॥

अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, मालव, सिन्धु, सौवीर, आर्वुदेय, दाशार्ण, त्रिपुर तथा मृत्तिकावत प्रदेशों में आवन्ती प्रवृत्ति ग्रहण करने की रुचि रहती है ॥ ४०–४१ ॥

सात्वतीं कैशिकीञ्चैव वृत्तिमेषां[7] समाश्रिताः।
भवेत् प्रयोगो नान्यत्र[8] स तु कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥ ४२ ॥

इन प्रदेशों में सात्विकी तथा कैशिकी वृत्ति से संश्लिष्ट नाट्य प्रदर्शन

---

१. आन्ध्र और महाराष्ट्र थोड़े परिवर्तन से विद्यमान इसी नाम के वर्तमान प्रदेश ही हैं। इस विवरण में दिये हुए भौगोलिक-अभिधान पुराणों में भी इसी प्रकार उपलब्ध होते हैं।

२. कृष्णा तथा पिनाकिनी नदी के तीर तथा तटवर्ती प्रदेश के निवासीगण का 'वेण्ण' नाम है।

३. अर्बुदशब्द का अर्थ है वर्तमान आबूपर्वतवाला प्रदेश। मृत्तिकावती प्रदेश-निवासी मार्तिकावत्।

---

१. चोत्तरे—क०।
२. संश्रितास्तेषु—ग०। ३. दाक्षिणात्यास्तु—ग०।
४. आनर्तकाः—क०। ५. सार्वदेशकाः—क०।
६. वै मानिकावताः—क०; वैवर्तिकावताः—ख०; ग०।
७. वृत्तिमेते समाश्रिताः—क० घ०; वृत्तिमेषा समाश्रिता—ख०, ग०।
८. नाट्ये च—क०।

करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं देशों की प्रजा पर इस प्रवृत्ति का नाट्यप्रयोग निर्भर करता है ॥ ४२ ॥

अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च वत्साश्चैवोढ्रमागधाः ।
पौण्ड्रनेपालकाश्चैव[1] अन्तर्गिरिबहिर्गिराः[2] ॥ ४३ ॥
तथा प्लवङ्गमा ज्ञेया मलदा मल्लवर्तकाः[3] ।
ब्रह्मोत्तरप्रभृतयो भार्गवा मार्गवास्तथा ॥ ४४ ॥
प्राग्ज्योतिषाः पुलिन्दाश्च वैदेहास्ताम्रलिप्तकाः[4] ।
प्राच्यप्रभृतयश्चैव[5] युञ्जन्तीह्यौढ्रमागधीम्[6] ॥ ४५ ॥

पूर्वीय प्रदेशों में (जो) अंग, वंग, कलिंग[1], वत्स, उढ् (औढ्) मगध, पुण्ड्र, नेपाल, अन्तर्गिरि, वहिर्गिरि, प्लवंगम, मलदा, मल्लवर्तक, ब्रह्मोत्तर, भार्गव, मार्गव, प्राग्ज्योतिष, पुलिन्द (न्ध्र), विदेह तथा ताम्रलिप्त (आदि) प्रदेश हैं वे औढ्मागधी प्रवृत्ति के प्रयोग को पसन्द करते हैं ॥ ४३–४५ ॥

अन्येऽपि देशाः प्राच्याः[7] ये पुराणे सम्प्रकीर्तिताः ।
तेषु प्रयुज्यते ह्येषा[8] प्रवृत्तिश्चोढ्रमागधी[9] ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार पुराण आदि में जो पूर्वीय प्रदेश कहे गए हैं उनमें भी इसी औढ्मागधी प्रवृत्ति का व्यवहार होता है [और इस प्रवृत्ति में भारती तथा कैशिकी वृत्ति प्रधान रहती है ।] ॥ ४६ ॥

पांचालमध्यमा प्रवृत्ति—

पाञ्चालाः शौरसेनाश्च काश्मीरा हास्तिनापुराः ।
वाह्लीकाः [10]शाकलाश्चैव मद्रकौशीनरास्तथा ॥ ४७ ॥

---

१. कलिंग = वर्तमान उड़ीसा के आसपास का प्रदेश । मलदा = वर्तमान मालदह जिला जो बंगाल में है । मल्लवर्तक = वर्तमान मल्लभूम प्रदेश (बंगाल में बांकुरा) । भार्गव और मार्गव शब्द अस्पष्ट हैं और सम्प्रति इस नाम के कोई प्रदेश प्राप्त नहीं होते ।

---

१. पौण्ड्रा नैपालिकाश्चैव—ख०; ग० । २. बहिर्दुराः—ख०; ग० ।
३. प्लवङ्गमाहेन्द्र मलदामलवर्तकाः—ख; ग० । ४. ताम्रलिप्तकाः—ख०; ग० ।
५. प्रांशुप्रवृत्तयः क०; प्राङ्गाप्रावृत्तयः—ख०; ग० ।
६. युज्यन्ति चौढ़मागधी—ख०; ग० । ७. प्राच्यां—ख०; ग० ।
८. त्वेषा—ख०; ग० । ९. चान्ध्रमागधी—क० ।
१०. शाल्यका—क० शाल्वका—घ० ।

हिमवत्संश्रिता ये तु गङ्गायाश्चोत्तरां दिशम् ।
ये श्रिता वै जनपदास्तेषु पाञ्चालमध्यमा ॥ ४८ ॥

पांचाल, शौरसेन, काश्मीर, हस्तिनापुर, वाल्हीक, शाकल (शल्यक या शाल्व) मद्र, उशीनर प्रदेश तथा गंगा नदी के उत्तर में या हिमाचल पर स्थित प्रदेश हैं, ये सभी पांचालमध्यमा प्रवृत्ति को ग्रहण करते हैं ॥

पाञ्चालमध्यमायान्तु सात्वत्यारभटी स्मृता[3] ।
प्रयोगस्त्वल्पगीतार्थ[4] आविद्धगतिविक्रमः ॥ ४९ ॥

इस (पांचालमध्यमा) प्रवृत्ति में सात्वती तथा आरभटी वृत्ति का प्राधान्य रहता है । इसके व्यवहार में गीत की न्यूनता तथा असामान्य गति और पादचालन का आधिक्य रखा जाता है ॥ ४९ ॥

प्रवृत्ति (के अवेक्षण) में दो क्रियाएं—

द्विधा क्रिया भवत्यासां रङ्गपीठपरिक्रमे ।
प्रदक्षिणप्रवेशा[5] च तथा चैवाप्रदक्षिणा ॥ ५० ॥

रंगमंच पर चलने में उपयोग की जाने वाली क्रियाएं इन प्रवृत्तियों के द्वारा दो प्रकार से प्रदर्शित की जाती हैं—एक दाहिनी ओर से तथा दूसरी बायीं ओर से मंच पर प्रवेश करते हुए ॥ ५० ॥

आवन्ती दाक्षिणात्या च प्रदक्षिणपरिक्रमे ।
अपसव्यप्रवेशा तु पाञ्चाली चोढ्रमागधी ॥ ५१ ॥

आवन्ती तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्ति में दाहिनी ओर से रंगमंच पर प्रवेश कर चलना होता है तथा पांचाली और औढ्मागधी प्रवृत्ति में यह बायीं ओर से रहता है ॥ ५१ ॥

आवन्त्यां दाक्षिणात्यायां पार्श्वद्वारमथोत्तरम्[6] ।
पाञ्चाल्यामोढ्रमागध्यां योज्यं द्वारन्तु दक्षिणम् ॥ ५२ ॥

आवन्ती तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्ति में उत्तर दिशा के बाजू के द्वार से तथा पांचाली और औढ्मागधी में दक्षिण प्रवृत्ति द्वार से प्रवेश करने की योजना करनी चाहिए ॥ ५२ ॥

१. तथा प्राप्य प्रदक्षिणम्—क० । २. ये चाश्रिता—क० ।
३ श्रिता—क० । ४ प्रदेशास्तु—ख०; ग० ।
५. प्रदेशा च—ख०; ग० । ६. योज्यं द्वार—ख०; ग०, घ० ।

एकीभूताः पुनश्चैताः प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ।
पर्षदं[1] देशकालौ चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य च ॥ ५३ ॥

परन्तु किसी विशेष सभा, स्थान, कार्य तथा प्रयोजन (अर्थ) या अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति को देखते हुए इन नियमों को सम्मिलित (एकत्रित या समान) भी कर सकते हैं ॥ ५३ ॥

येषु देशेषु या कार्या[2] प्रवृत्तिः परिकीर्तिता ।
तद्वृत्तिकानि रूपाणि तेषु तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ५४ ॥

चतुर नाट्य प्रयोक्ता इन प्रवृत्तियों में से जिन देशों में जो व्यवहार होते हों वहां नाट्य प्रदर्शन करते समय वैसी ही प्रवृत्तियां बतलाएं ॥५४॥

एकीभूताः पुनस्त्वेताः[3] नाटकादौ[4] भवन्ति हि ।
अवेक्ष्य वृत्तिबाहुल्यं तत्तत् कर्म[5] समाचरेत् ॥ ५५ ॥

ये नियम (नाटिकादि) नाट्य[1] रचना में सम्मिलित रूप में रखने पर संक्षिप्त किये जाएं तथा प्रवृत्तियों की अधिकता को देखते हुए प्रयोक्ताजन इनके आवश्यक या महत्वपूर्ण कुछेक कार्यों का प्रयोग या प्रदर्शन करें ।

सार्थे[6] बाहुल्यमेकस्य शेषाणामथ बुद्धिमान् ।
येषामन्यस्य[7] बाहुल्यं प्रवृत्तिं पूरयेत्तथा ॥ ५६ ॥

जिसमें सभी का सामूहिक (सार्थ) या मिश्र रूप हो वहां किसी एक का तथा जहां वैसा न हो वहां शेष का, इसी प्रकार जहां दूसरे की अधिकता न हो वहां प्रवृत्तियों की बीच में अधिकता से पूर्ति करनी चाहिए ॥ ५६ ॥

---

१. आशय यह है कि जिन प्रदेशों या देशों में जिस वृत्ति का उपयोग होता हो या जिन वृत्तियों में जनसमुदाय रुचि लेता हो वहाँ प्रस्तुत किये जाने वाले नाटकादि में उसी देश के नायक, या अन्य प्रवृत्तियों को प्रधानता देते हुए नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत करना चाहिए । यह कार्य कविगण अपनी रचना में तथा प्रयोक्ता-गण अपने प्रयोग के प्रस्तुतीकरण में विना किसी अपवाद के अवश्य रखें ।

---

१. वर्षञ्च देशं कालञ्च—क०; देशं कालमवस्थाञ्च काव्ययुक्तिमवेक्ष्य च—क०; वर्षञ्च देशं कालौ चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य च—ख० ।

२. पूर्वं—क०; ख; ग० ।   ३. यदा त्वेताः—क० ।

४. गानकादौ—ख०; ग० ।   ५. कर्माचरेत् सदा—ख० ग० ।

६. पद्यमिदं ख—पुस्तके नास्ति ।   ७. यस्यामन्येऽस्य—क० ।

नाट्य रचना के दो सामान्य प्रकार—

प्रयोगो द्विविधश्चैव विज्ञेयो नाटकाश्रयः[1]।
सुकुमारस्तथाविद्धो नाट्ययुक्तिसमाश्रयः ॥ ५७ ॥

नाट्य व्यवहार (नियम) के अनुसार नाट्य प्रयोग दो प्रकार का सामान्य रूप में माना जाता है। ये हैं—सुकुमार तथा आविद्ध ॥ ५७ ॥

आविद्ध नाट्य-प्रयोग—

यस्त्वाविद्धाङ्गहारन्तु[2] छेद्यभेद्याहवात्मकम्[3]।
मायेन्द्रजालबहुलं[4] पुस्तनेपथ्यसंयुतम्[5] ॥ ५८ ॥
पुरुषैर्बहुभिर्युक्तमल्पस्त्रीकं तथैव च[6]।
सात्वत्यारभटीप्रायं नाट्यमाविद्धमेव तत् ॥ ५९ ॥

आविद्ध नाट्य-प्रयोग में अंगहारों के साथ छेदन, भेदन तथा युद्ध का (युद्ध की चुनौती देने का) प्रदर्शन रहता है। इसमें माया तथा इन्द्रजाल आदि शक्तियों का उपयोग बतलाया जाता है तथा मुख-रचना (नेपथ्य) में पलस्तर की बहुलता होती है। इसमें पुरुष-पात्र अधिक तथा स्त्री-पात्र कम रखे जाते हैं और इसमें सात्वती और आरभटी वृत्ति का (अधिकांश) प्रदर्शन रहता है ॥ ५८-५९ ॥

डिमः समवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा[7]।
एतान्याविद्धसंज्ञानि विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः[8] ॥ ६० ॥

रूपकों में डिम, समवकार, व्यायोग तथा ईहामृग को नाट्यकुशल महानुभाव आविद्ध नाट्यप्रकार मानते हैं ॥ ६० ॥

एषां[9] प्रयोगः कर्तव्यो देव[10]दानवराक्षसैः।
उद्धता[11] ये च पुरुषाः शौर्यवीर्यबलान्विताः[12] ॥ ६१ ॥

आविद्ध नाट्य प्रकार का प्रयोग देव, दानव, राक्षस तथा शौर्य, वीर्य एवं शक्ति सम्पन्न उद्धत प्रकृति के पुरुषों के द्वारा किया जाना चाहिए ॥ ६१ ॥

---

१. नाटकाश्रितः—क०। २. तत्राविद्धा—सत्वाविद्धाङ्ग—क०।
३. हवात्मकः—क०। ४. बहुलो—क०। ५. संयुतः—क०।
६. प्रयोगः पुरुषप्रायस्तथाल्पस्त्रीक एव च—क०।
७. भटीयुक्तो ज्ञेय आविद्धसंश्रितः—क०।
८. आविद्धसंज्ञा विज्ञेमाः प्रयोगस्य वशानुगाः—क०।
९. एष—ग०। १०. दैत्य—ख; ग०। ११. उद्धताश्चैव–क०।
१२. समन्विताः—क०।

सुकुमार नाट्य-प्रयोग—

नाटकं सप्रकरणं भाणो वीथ्यङ्कः[1] एव च ।
सुकुमारप्रयोगाणि मानुषेष्वाश्रितानि[2] तु ॥ ६२ ॥

नाटक, प्रकरण, वीथी तथा अंक को सुकुमार नाट्य प्रयोग माना जाता है तथा इसका अभिनय केवल मनुष्यों के द्वारा किया जाता है ॥ ६२ ॥

अथ बाह्यप्रयोगे तु प्रेक्षागृहविवर्जिते ।
विदिक्ष्वपि भवेद्रङ्गं[3] कदाचिद्भर्तुराज्ञया ॥ ६३ ॥

यदि कोई नाट्य-प्रदर्शन खुली जगह पर किया जाए जहाँ स्थायी प्रेक्षागृह न हो तो स्वामी की आज्ञा से उस प्रेक्षागृह का किसी विदिशा (ईशान्य आदि कोणों) की ओर भी मुंह रखा जा सकता है ॥ ६३ ॥

पृष्ठे कृत्वा[4] कुतपं नाट्यं युङ्क्ते यतो मुखं भरतः ।
सा पूर्वा मन्तव्या प्रयोग[5]-कालेन नाट्यज्ञैः ॥ ६४ ॥

अभिनेता वाद्यों की ओर पीठ रखते हुए कभी अभिनय नहीं करता है अतएव वाद्याभिमुख स्थित नट के मुख की ओर ही पूर्व दिशा मान ली जाए ॥ ६४ ॥

द्वाराणि षट्चैव भवन्ति चात्र[6] रङ्गस्य दिग्भाण्डविनिश्चितानि ।
नाट्यप्रयोगेन खलु प्रवेशो प्राच्यां प्रतीच्याञ्च दिशि प्रवेशः ॥६५॥
विधानमुत्क्रम्य यथात्र रङ्गे विना[7] प्रमाणाद्विदिशः प्रयोगे ।
द्वारन्तु यस्मात्समृदङ्गभाण्डं प्राचीं दिशं तां मनसाध्यवस्येत्[8] ॥६६॥
वयोऽनुरूपः प्रथमं[9] तु वेषो वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतश्च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥६७॥

प्रेक्षागृह के दिशा तथा उनके भागों के विभागानुसार छः द्वार बतलाये गये हैं परन्तु नाट्य प्रदर्शन के समय पात्रों का प्रवेश केवल पूर्व या पश्चिम द्वार से ही होना चाहिये। विना विधान के (कदाचित् स्वामी आदि के आदेश से) ईशान्य आदि विदिक् की ओर भी रङ्गमञ्च का द्वार रखा जा

---

१. वीथ्यङ्कनाटिके—ख; ग० । २. योज्यान्येतानि मानुषैः—क० ।
३. भवेद्रङ्गः—ख०; ग० । ४ कृत्वास्य—ख०; ग० ।
५. प्रयोगकाले तु—ख०; ग० । ६. चास्य—ख; ग० ।
७. कृतः कथञ्चिद्विदिशः प्रयोगः—क०; लीना प्रमाणाद्विदिशः—ख०; ग० ।
८. मनसा व्यवस्येत—क० । ९. प्रथमस्तु—ख०; ग० ।

सकता है। वैसे ही मृदङ्ग आदि वाद्यों का जिधर मुंह रखा जाये उस द्वार को भी पूर्वं द्वार स्वीकार करना चाहिये। नाट्य प्रदर्शन में वय के अनुरूप (स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिए) वेश, वेष के अनुरूप गति आदि क्रियाएँ, गति प्रचार के अनुकूल संवाद (पाठ्य) तथा संवाद के अनुकूल ही अभिनय का संयोजन रहना चाहिये॥ ६५–६७॥

लोक तथा नाट्य-धर्मी—

धर्मी[1] या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम्॥ ६८॥

मैंने पहिले (उद्देशकथन के अवसर पर) जो लोक तथा नाट्य-धर्मी बतलाये थे, अब उनका लक्षण बतलाता हूँ॥ ६८॥

लोकधर्मी—

स्वभावभावोपगतं[2] शुद्धन्त्वविकृतं[3] तथा।
लोकवार्ताक्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम्॥ ६९॥
स्वभावाभिनयोपेतं[5] नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्[4]।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता॥ ७०॥

यदि कोई रूपक लोक स्वभाव के अनुसार भाव प्रदर्शित करने वाला सादगी तथा विना बाहरी दिखावट वाला हो, (अविकृतं) जो अपनी (कथा वस्तु में) सामान्य प्रजाजन के आचार तथा क्रियाएं प्रदर्शित करने वाला तथा आंगिक प्रदर्शन जो—लीला तथा वर्तना आदि के अभिनय—से रहित सादे एवं सहज भावप्रदर्शन करता हो, जिसमें विभिन्न पुरुष तथा स्त्री पात्र हों तो उसे 'लोकधर्मी' नाट्य प्रकार समझना चाहिये॥ ६९–७०॥

नाट्यधर्मी—

अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वाति-भावकम्[6][7]।
लीलाङ्गहाराभिनयं नाट्यलक्षणलक्षितम्[8]॥ ७१॥

---

१. तु—क०। २. स्वभावकर्मोपगतं—क०।
३. शुद्धञ्च विकृतञ्च यत्—क०। ४. नानाभावरसान्वितम्—क०।
५. भिनयस्थानम्—क०।
६. अतिसत्त्वक्रियोपेतम्, गीतवाद्यक्रियोपेतम्—क०।
७. भाविकम्—क०; भाषितम्—ख०; ग०।
८. नाट्यताललयान्वितम्—क०।

स्वरालङ्कारसंयुक्तमस्वस्थपुरुषाश्रयम्[1,2] ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७२ ॥

यदि किसी रूपक में वाक्यावली, क्रियाएँ, प्राणी-वर्ग (पुरुष या दिव्य जाति के पात्र) तथा भाव असामान्य हों, जिसमें लीला (मनोहर चेष्टाओं) से युक्त अङ्गहारों तथा लक्षण सम्पन्न नृत्य का प्रदर्शन हो, स्वर तथा अलङ्कारों की (काव्य-रचना तथा संगीत में) सुव्यवस्थित योजना हो, जिसमें (भूमिका धारण करने वाले) अदिव्य पुरुषों के भाव तथा चरित्र कुशलतापूर्वक वहन किये जाएँ तो उसे नाट्यधर्मी प्रकार जानिये ॥७१-७२॥

लोके[3] यदभियोज्यञ्च पदमत्रोपयुज्यते ।
मूर्तिमत्साभिभाषञ्च[4,5] नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७३ ॥

जिसमें लोक प्रसिद्ध वस्तु का मूर्तरूप में वैसी ही कुशलता से संवाद सहित प्रयोग किया जाये तो उसे भी 'नाट्यधर्मी' जानो ॥ ७३ ॥

आसन्नोक्तञ्च यद्वाक्यं न श्रृण्वन्ति परस्परम् ।
अनुक्तं श्रूयते यच्च नाट्यधर्मी तु[6] सा स्मृता ॥ ७४ ॥

(प्रदर्शन के समय) जहाँ समीपतर वचन भी न सुने जाएँ और अनुक्त वचन का भी सुनते हुए प्रत्युत्तर दिया जाता हो उसे भी 'नाट्यधर्मी' समझो ॥ ७४ ॥

शैलयानविमानानि चर्मवर्मायुधध्वजाः ।
मूर्तिमन्तः प्रयुज्यन्ते नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७५ ॥

जिसमें पर्वत, वाहन, विमान तथा ढाल, कवच, शस्त्र तथा ध्वज आदि का मूर्तरूप में प्रयोग किया गया हो तो उसे भी 'नाट्यधर्मी' जानो । ७५॥

यँ एकां भूमिकां कृत्वा कुर्वीतैकान्तरेऽपराम् ।
कौशल्यादेककत्वाद्वा नाट्यधर्मीति सा स्मृता ॥ ७६ ॥

१. अभिनवगुप्ताचार्य ने वतलाया है कि इसका उदाहरण है—माया—पुष्पक नामक नाटक में ब्रह्मशाप का मूर्तरूप में रङ्ग पर प्रवेश ।

१. सर्वालङ्कार—क० । २. नाट्यस्थ—क०; मस्वर्भू—ख० ग० ।
३. लोकप्रसिद्धद्रव्यन्तु यदा नाट्ये प्रयुज्यते—क०; ख० ।
४. वृत्तिमत् साभिभाषञ्च—ख०; ग० । ५. साभिलाषञ्च—क० ।
६. कृतं हि तत्—क० । ७. पद्यद्वयं ख-ग पुस्तकयोर्नास्ति ।
८. पुनरन्यां प्रयोजयेत्—क० । ९. कोशलादेककृत्यत्वात्—क० ।

जिसमें अभिनेता एक भूमिका का निर्वाह कर चुकने पर पुनः दूसरी भूमिका धारण कर ले तथा अपनी कुशलता से दोनों भूमिकाओं का एक समान सफलतापूर्वक निर्वाह करे तो उसे भी 'नाट्यधर्मी' जानो ॥ ७६ ॥

याऽगम्या प्रमदा भूत्वा गम्या भूमिषु युज्यते[1]।
गम्या भूमिष्वगम्या वा नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७७ ॥

जो स्त्री अभिनेत्री पहिले अगम्य स्त्री (पूज्य या वृद्धा) की भूमिका धारण करने के उपरान्त गम्या स्त्री (नायिका या प्रेयसी) की भूमिका धारण करे या गम्या स्त्री की भूमिका के साथ अगम्या स्त्री की भूमिका भी धारण करे तो यह (केवल नाट्य प्रयोजन या कार्य चलाने के कारण) 'नाट्यधर्मी' कहलाता है ॥ ७७ ॥

ललितैरङ्गविन्यासैस्तथोत्क्षिप्तपदक्रमैः।
नृत्यते गम्यते चापि[3] नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७८ ॥

(किसी नाटक में पात्रों की) गति ललित अङ्गों की हलचल के साथ पैरों की डग भरते हुए प्रदर्शित की जाने पर सामान्य गति होने पर भी (सुन्दरता के कारण) नृत्य की गति के समान असामान्य लगे तो उसे भी 'नाट्यधर्मी' समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

योऽयं[4] स्वभावो लोकस्य सुखदुःखक्रियात्मकः।
सोऽङ्गाभिनयसंयुक्तो नाट्यधर्मी प्रकीर्तितः[5] ॥ ७९ ॥

जब प्रतिदिन होने वाले स्वाभाविक सुख दुःखों की क्रियाओं का (अभिनेताओं के द्वारा) अङ्गादि अभिनयों से युक्त हूबहू प्रदर्शन किया जाता हो तो उसे भी 'नाट्यधर्मी' समझना चाहिये ॥ ७९ ॥

यश्चेतिहासवेदार्थो[6] ब्रह्मणा समुदाहृतः[7]।
दिव्यमानुषरत्यर्थं[8][9] नाट्यधर्मी तु सः स्मृतः ॥

१. योज्यते—क०।
२. यश्चाङ्गहारविन्यासै—क०।
३. चैव—क०।
४. यश्च स्वभावो—क०।
५. तु सा स्मृता—क०।
६. यत् सेतिहास—क०।
७. काव्यसम्मतः, काव्यधर्मतः—क०।
८. देव—क०। ९. रत्यर्थो—क०।

(प्रक्षिप्त—ब्रह्मा के द्वारा अभिहित इतिहास तथा वेद के अर्थों का निदर्शक जो नाट्यवेद निर्मित किया गया है। जो देवता और मनुष्यों का मनोरञ्जक उपस्करण है उस नाट्यशास्त्र को भी 'नाट्यधर्मी' समझना चाहिये।)

यश्च कक्ष्याविभागोऽयं नानाविधिसमाश्रितः[1]।
रङ्गपीठगतः प्रोक्तो नाट्यधर्मी तु सः स्मृतः ॥ ८० ॥

अभी जो रङ्गमञ्च तथा उसकी कक्ष्याओं का विधिवत् विभाग बतलाया गया वह भी 'नाट्यधर्मी' प्रकार का उदाहरण समझिये ॥ ८० ॥

नाट्यधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।
न ह्यङ्गाभिनयात् किञ्चिद्दते[2] रागः प्रवर्तते ॥ ८१ ॥

सदा 'नाट्यधर्मी' के द्वारा सम्पन्न होने वाले 'नाट्य प्रयोग' का प्रदर्शन करना चाहिए। क्योंकि आंगिक अभिनय के प्रदर्शन से हीन नाट्य-प्रयोग दर्शकों को प्रसन्न नहीं कर सकता ॥ ८१ ॥

सर्वस्य सहजो भावः सर्वो ह्यभिनयोऽर्थतः[3]।
अङ्गालङ्कारचेष्टा तु नाट्यधर्मी[4] प्रकीर्तिता ॥ ८२ ॥

मनुष्यों में विद्यमान सभी सहज भाव जब आंगिक अभिनय, अलङ्कार तथा चेष्टाओं के साथ आवश्यकतानुसार (अर्थतः) प्रदर्शित किये जाते हैं तो वे सभी अन्ततोगत्वा नाट्यधर्मी ही कहलाते हैं ॥ ८२ ॥

एवं कक्ष्याविभागस्तु[5] धर्मी युक्तय एव च[6]।
विज्ञेया[7] नाट्यतत्त्वज्ञैः प्रयोक्तव्याश्च[8] तत्त्वतः ॥ ८३ ॥

(मैंने) इस प्रकार कक्ष्या विभाग, धर्मी तथा प्रवृत्तियों के विषय में जो बतलाया उसे नाट्य-प्रयोक्ता ठीक से समझे और फिर उसे प्रयत्न-पूर्वक (यथातथ्य) प्रदर्शित करे ॥ ८३ ॥

---

१. देशसमाश्रयः—क० ।
२. किञ्चिद्विना नाट्यं—क० ।
३. -र्थजः—क० ।
४. धर्मीति संज्ञिता—क० ।
५. विभागास्तु—ग० ।
६. धर्मी-युक्तस्तथैव च—क; धर्मयुक्ताः प्रकीर्तिताः—ग० ।
७. विज्ञेयो—क० ।
८. प्रयोक्तव्यश्च—क० ।

उक्तो मयेहाभिनयो यथावच्छाखाकृतो यस्तु कृतोऽङ्गहारैः[1] ।
पुनश्च वाक्याभिनयं यथावद् वक्ष्ये स्वरव्यञ्जनवर्णयुक्तम्[2] ॥ ८४ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे कक्ष्या-प्रवृत्ति-धर्मी-व्यञ्जको नाम चतुर्दशोऽध्यायः[3] ॥



इस प्रकार मैंने शाखा तथा अङ्ग से निर्मित होनेवाले अभिनय का विधिवत् वर्णन किया। (अर्थात् समग्र आंगिकाभिनय बतलाया) अब मैं स्वर तथा व्यंजन से निर्मित वाक्याभिनय (वाचिकाभिनय) को (अगले अध्याय में) बतला रहा हूँ ॥ ८४ ॥

भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र का कक्ष्या-प्रवृत्ति धर्मी आदि का निरूपक 'चतुर्दश अध्याय' समाप्त



---

१. भावः कृतो यश्च कृताङ्गहारः—ख०; कृताङ्गहारैः—ग० ।

२. वक्ष्यामि वाक्याभिनयं स्वशक्त्या भूयः स्वरव्यञ्जन—क० ।

३. नाट्यधर्मीप्रवृत्तिव्यञ्जनो नाम—क०; करयुक्तिधर्मीव्यञ्जको नाम त्रयोदशोऽध्यायः—ख०, प्रवृत्तिधर्मव्यञ्जको नाम—ग० ।

पञ्चदशोऽध्यायः

(वाचिकाभिनयाद्यध्याय)

यो वागभिनयः पूर्वं[1] मया प्रोक्तो द्विजोत्तमाः।
लक्षणन्तस्य वक्ष्यामि स्वरव्यञ्जनसम्भवम् ॥ १ ॥

हे मुनिजन, अभिनयों के निरूपण के प्रसङ्ग में जो पहिले मैंने वाचिक अभिनय बतलाया था अब उसका (अवसर प्राप्त होने के कारण) स्वर एवं व्यञ्जनों के द्वारा निर्मित होने वाला लक्षण बतलाता हूँ ॥ १ ॥

नाट्य (रचना) में संवादों का महत्व—

वाचि यत्नस्तु[2] कर्तव्यो नाट्यस्यैषा[3] तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्वानि[4] वाक्यार्थं[5] व्यञ्जयन्ति हि ॥ २ ॥

(कवि के द्वारा काव्यादि निर्माण तथा अभिनेता के द्वारा प्रयोग के अवसर पर) शब्दों पर[2] विशेष उद्योग (प्रयत्न) रहना चाहिये, क्योंकि यही सारे नाट्यप्रदर्शन का कलेवर है। क्योंकि अङ्ग, नेपथ्य-रचना तथा सत्वाभिनय वाक्य के (शब्द के) अर्थों की (ही) अभिव्यक्ति करते हैं (आशय यह कि—वाचिक अभिनय के ये सभी सहायक (मात्र) हैं। यदि वाचिक अभिनय शिथिल हो तो अन्य अभिनयों से प्रयोग सुरुचिपूर्ण नहीं बन सकता) ॥ २ ॥

---

१. चार प्रकार के अभिनय का ना० शा० अध्याय ६।२३ पर उल्लेख किया जा चुका है।

२. यह नियम अभिनेताओं और नाट्यरचनाकार पर समान रूप से लागू है। अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत है कि नट के द्वारा अभिनय की और लेखक के द्वारा निर्माण की दशा में शब्दों की रचना पर ध्यान देना चाहिये। (अभि० भा० पृ० २२०)

आङ्गिक अभिनय के पश्चात् वाचिक अभिनय का स्वरूप निरूपण क्रम प्राप्त है; यह नाट्य का अनुप्राणक तत्व है तथा विषय के उत्तमता से प्रस्तुत करने में अतिशय महत्वशाली भी है इसीलिए वाचिक अभिनय का लक्षण बतलाने के क्रम को चलाने के कारण इसकी पूर्व अध्याय से संगति भी स्थापित होती है।

---

१. प्रोक्तो मयापूर्वं—क०   २. यत्नो विधातव्यः—क०
३. नाट्यस्येयं—क०।   ४. तत्वानि—क०।   ५. वागर्थं—क०।

वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्घि[2] सर्वस्य कारणम् ॥ ३ ॥

इस जगत में सभी शास्त्र तथा वाङ्मय शब्दात्मक हैं तथा शब्दनिष्ठ (शब्दाश्रित) भी। इसलिए वाणी से परे कुछ भी नहीं है और सभी का (भावों वस्तुओं आदि का) कारण शब्द ही[1] होता है ॥ ३ ॥

वाचिकाभिनय विभाग—

नामाख्यातनिपातोपसर्गतद्धितसमासनिर्वर्त्यः[3]।
सन्धिविभक्तिनियुक्तो[4] विज्ञेयो वाचिकोऽभिनयः[5] ॥ ४ ॥

यह वाचिकाभिनय नाम (संज्ञा), आख्यात (क्रिया), निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, सन्धि तथा विभक्ति (के ज्ञान) से सम्बद्ध होता है ॥ ४ ॥

पाठ्य के (दो) भेद—

द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृतं तथा[6]।
तयोर्विभागं[7] वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ५ ॥

(नाटक में स्थित) पाठ्य दो प्रकार का है—संस्कृत-पाठ्य तथा प्राकृत-पाठ्य। अब मैं क्रमशः उनका विभागपूर्वक स्वरूप बतलाता हूँ ॥ ५ ॥

---

१. शब्द सभी का कारण होता है यह विचार भर्तृहरि द्वारा भी निरूपित किया गया है। तुलना कीजिये—वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की निम्न कारिकाओं से—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ॥ (ब्र० का० १२१)
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (ब्र० का० १२४)
सा सर्व-विद्या-शिल्पानां कलानाञ्चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पत्तौ सर्वं वस्तु विभाव्यते ॥ (ब्र० का० १२६)

---

१. वाङ्मयानि तु—क०। २. वाग्भि—क०।
३. नामाख्यातनिपातैरुपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः—ख०; ग०।
४. विभक्तिषु युक्तौ—ख०; ग०।
५. वाचिकोऽभिनयः—क०। अत्र व्याख्यातृपाठस्त्वेवम्—
आगमनामाख्यातोपसर्गतद्धितनिपातसन्धियुतः।
सवचनविभक्त्युपग्रहनिर्वर्त्यो वाचिकाभिनयः ॥
६ यथा—क०। ७. अङ्गानि वक्ष्याम्यनयोः—क०।

पाठ्य के विभिन्न आधार—

व्यञ्जनानि स्वरांश्चैव सन्धयोऽथ विभक्तयः।
नामाख्यातोपसर्गाश्च निपातास्तद्धितास्तथा ॥ ६ ॥
एतैरङ्गैः समासैश्च नानाधातुसमाश्रयम्।
विज्ञेयं संस्कृतं पाठ्यं प्रयोगञ्च निबोधत ॥ ७ ॥

संस्कृत-पाठ्य व्यञ्जन, स्वर, सन्धि, विभक्ति, नाम (संज्ञा) आख्यात (क्रिया) उपसर्ग, निपात, तद्धित समास तथा नाम धातु के द्वारा निर्मित (या आश्रय से युक्त) होता है। अब मैं इनका सलक्षण प्रयोग बतलाता हूँ ॥ ६–७ ॥

पाठ्यवर्ण–निरूपण—

अकाराद्याः स्वरा ज्ञेया औकारान्ताश्चतुर्दश।
हकारान्तानि कादीनि व्यञ्जनानि विदुर्बुधाः ॥ ८ ॥

'अ' कार से प्रारम्भ होकर 'औ' कार तक पूर्ण हो जाने वाले चौदह स्वर तथा 'क' से प्रारम्भ होकर 'ह' पर समाप्त हो जाने वाले वर्ण व्यञ्जन कहलाते हैं ॥ ८ ॥

अत्र स्वराश्चतुर्दश कादीनि व्यञ्जनानि यथा—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ स्वरा ज्ञेयाः। व्यञ्जनानि यथा—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स हाः इति व्यञ्जनवर्गाः।

---

१. शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वर्णों (स्वरों) की विभिन्न संस्थाएँ बतलाई गई हैं जिनमें पाणिनि-शिक्षा में इनकी संख्या २२ है। अन्य प्रातिशाख्यों और ऋकतन्त्रव्याकरण में इनकी संख्या क्रमशः १३, १६ तथा २३ प्राप्त होती है। पाणिनिशिक्षा में अनुस्वार, विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को भी व्यंजनान्तर्गत माना गया है।

---

१. स्वरश्चैव—क०। २ तथा समासा इत्येवं; एतैरङ्गविधानैश्च—क०।
३. गवेक्षितम्—क०। ४. तद्वक्ष्यामि समासतः—ख०; ग०।
५. अकारादि—क०। ६. ककारादीनि हान्तानि—क०।
७. अस्मादनन्तरं क० पुस्तके तु—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः, इचुयशास्तालव्याः, ऋटुरषा मूर्धन्याः, लृतुलसाः

(गद्यभाग) ('अ' से प्रारम्भ होने वाले) स्वर चौदह हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए ऐ ओ औ तथा क से प्रारम्भ होने वाला व्यञ्जन समूह है—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह।

व्यञ्जन—तथा उनके उच्चारण स्थान—

वर्गे वर्गे समाख्यातौ द्वौ वर्णौ प्रागवस्थितौ।
अघोषा इति ये त्वन्ये सघोषाः परिकीर्तिताः ॥ ९ ॥

प्रत्येक वर्ग के प्रारम्भ के दो (व्यञ्जन) वर्ण (जैसे—क, ख तथा श, ष, स) अघोष तथा शेष सभी वर्ण सघोष (घोष) कहलाते हैं ॥ ९ ॥

एते घोषाघोषाः कण्ठ्यौष्ठ्या[1] दन्त्यजिह्वनासिक्याः।
ऊष्माणस्तालव्यौ[2] विसर्जनीयाश्च बोद्धव्याः ॥ १० ॥

ये घोष तथा अघोष वर्ण कण्ठ्य, ओष्ठ्य, दन्त्य, जिह्व्य[1], नासिक्य, ऊष्माण, तालव्य तथा विसर्जनीय भेद से आठ स्थानों से उच्चारित होते हैं।

ग घ ङ ज झ ञ ड ढ ण द ध न ब भ म य[3] र ल वा मता घोषाः।
क ख च छ ट ठ त थ प फ[4] श ष सा इतिं वर्गेष्वघोषाः स्युः ॥ ११ ॥

इस व्यञ्जन समूह में ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म,

---

१. जिह्व्य वर्णों का किसी व्याकरण में विवरण नहीं मिलता, सम्भवतः यह मूर्धन्य के स्थान का निर्देश करता है क्योंकि मूर्धन्य वर्णों की ध्वनि में जिह्वा का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

दन्त्या; उपूपध्मानीया ओष्ठ्या; इत्युपध्मानीयः, इति जिह्वामूलीयः, ए ऐ कण्ठ-तालव्यौ, ओ औ कण्ठौष्ठ्यौ, वकारो दन्तोष्ठ्यः, ङ-ञ-ण न-मा अनुनासिकाः, विसर्जनीयस्यौरस्य इत्येके सर्वमुखस्थानमवर्णमित्यपरे।

द्वौ द्वौ वर्णौ तु वर्गाद्यौ शषसाश्च अथोऽपरे।
अघोषा घोषवन्तश्च ततोऽन्ये परिकीर्तिताः ॥ इति—क० पुस्तकेऽधिकम्।

१. कण्ठ्योष्ठ(ढ्य)दन्त (न्त्य)जिह्वानुनासिक्यः— ख०; ग०।

२. स्तालव्यविसर्जनीयाश्च—ख०; ग०।

३. तथैव य र ल व हा घोषाः—ख०; ग०।

४. प फ इति वर्गेष्वघोषाः स्युः—ख० ग०।

तथा य र ल व 'घोष' तथा क ख, च छ, ट ठ, त थ, और प फ 'अघोष' वर्ण कहलाते हैं ॥ ११ ॥

क ख ग घ ङाः कण्ठस्थास्तालुस्थानास्तु[1] च छ ज झ ञाः ।
ट ठ ड ढ णा मूर्द्धन्याः त थ द ध नाश्चैव दन्तस्थाः ॥ १२ ॥

क, ख, ग, घ, ङ को कण्ठय, च, छ, ज, झ को तालव्य, ट, ठ, ड, ढ, ण को मूर्धन्य तथा त, थ, द, ध, न को दन्त्य व्यञ्जन समझना चाहिये। अर्थात् इनका उच्चारण स्थान यही है ॥ १२ ॥

पफबभमास्त्वोष्ठ्याः स्युर्दन्त्या ऌलसा अहौ[2] च कण्ठस्थौ ।
तालव्या इचुयशाः[3] स्युः ऋटुरषा[4] मूर्ध्नि[5] स्थिता ज्ञेयाः ॥ १३ ॥
ऌॡदन्त्यौ ओऔकण्ठोष्ठ्यौ[6] ए ऐकारौ च कण्ठतालव्यौ ।

प, फ, व, भ, म को ओष्ठ्य, ऌ, ल तथा स को दन्त्य, अ, ह को कण्ठय, इ, चु (चवर्ग) तथा य, श को तालव्य तथा ऋ, र और ष को मूर्धन्य, ऌ ॡ को दन्त्य, ओ, औ को कण्ठयौष्ठ्य तथा ए, ऐ को तालव्य जानो ॥ १३-१४ ॥

कण्ठ्यौ[7] विसर्जनीयो जिह्वामूलोर्द्ध्वौ क ख योः ॥ १४ ॥
पफयोरोष्ठस्थानो[8] भवेदुकारस्तथा स्वरो विवृतः[9] ।
स्पृष्टाः काद्या मान्ताः श ष स हकारास्तथा विवृताः ॥ १५ ॥
अन्तःस्था संवृता[10] ञा ङ ञ ण नमा नासिकोद्भवा ज्ञेयाः ।
ऊष्माणश्च श ष स हा य व र ल वर्णास्तथैव चान्तस्थाः ॥ १६ ॥
जिह्वामूलीयः कः प उपध्मानीयसंज्ञया ज्ञेयः[11] ।
कचटतपाः स्वरिताः स्युः खछठथफाः स्युस्तथा कण्ठ्याः[12] ॥ १७ ॥
कण्ठोरःस्यान्[13] विद्याद् गजडदबान्[14] पाठ्यसम्प्रयोगे तु ।
वेद्यो विसर्जनीयो जिह्वास्थानस्थितो[15] वर्णः ॥ १८ ॥

---

१. तालुस्थाना मतास्तु—ख०; ग० । २. गहौ—क० ।
३. इयशाः—ख०; ग० । ४. ऋ र षा—ख० ।
५. मूर्धस्थिताः—ख०; ग० । ६. ओ औ कण्ठोष्ठस्थानौ—ख०; ग० ।
७. कण्ठ्यौ विसर्जनीयौ जिह्वामूल्योद्भवौ कखयोः—क० ।
८. जिह्वामूलोद्भवः कपयोः—ख०; ग० ।
९. स्थानं भवेद्रकारः स्वराविद्धः—क०; ग० ।
१०. संवृताः—ख०; ग० । ११. ज्ञेयौ—क० ।
१२. तथाकम्प्याः—क० । १३. कण्ठोरस्थान्—क० ।
१४. घझढधभान्—क० । १५. जिह्वामूलस्थितो—क० ।

विसर्ग का कण्ठ तथा क, ख का जिह्वामूलीय, प, फ तथा उ का ओष्ठ तथा स्वरों का विवृत उच्चारण स्थान है। क से म तक स्पष्ट तथा श, ष, स, ह विवृत कहलाते हैं। अन्तस्थ का संवृत ङ, ञ, ण, न, म का नासिका उच्चारण स्थान है। श, ष, स, ह उष्मा, य, र, ल, व अन्तस्थ, क जिह्वामूलीय तथा प उपध्मानीय होता है।

क, च, ट, त, प स्वरित, ख, छ, ठ, थ, फ कण्ठ्य, (क्रम्य ?) ग, ज, ड, द, ब (घ, झ, ढ, ध, भ) कण्ठ तथा उरस्थल से उच्चारित किये जाते हैं।

विसर्जनीय जिह्वा के मूल भाग से उच्चरित होने वाला समझना चाहिये ॥ १४–१८ ॥

एते व्यञ्जनवर्गाः समासतः संज्ञया कथिताः।
शब्दप्रयोगविषये[1] स्वरांस्तु भूयः प्रवक्ष्यामि[2] ॥ १९ ॥

इस प्रकार संक्षेप से व्यञ्जनवर्ग का मैंने वर्णन किया। अब मैं शब्द प्रयोग के विषय में (की दशा में) स्वरों का कार्य बतलाता हूँ ॥ १९ ॥

स्वरः तथा उनका परिमाण—

य इमे स्वराश्चतुर्दश निर्दिष्टास्तत्र वै दश समानाः।
पूर्वो ह्रस्वस्तेषां परश्च[3] दीर्घो विधातव्यः ॥ २० ॥

मैंने पहिले जो चौदह स्वर बतलाये उनमें १ से १० तक के (स्वर) समान कहलाते हैं। इन समान स्वरों में क्रमशः पहिला ह्रस्व और दूसरा दीर्घ होता है ॥ २० ॥

शब्दों के विभेद—

एभिर्व्यञ्जनवर्गैर्नामाख्यातोपसर्गविनिपातैः।[4]
तद्धितसन्धिविभक्तिभिरधिष्ठितः शब्द इत्युक्तः ॥ २१ ॥

---

१. व्यंजनों के उच्चारण स्थान तथा उनकी परम्परा आदि के विशेष विवरण पाणिनि-शिक्षा तथा पातंजल-महाभाष्य आदि में भी देखे जा सकते हैं।

---

१. शब्दविषयप्रयोगे—क०।

२. अस्मात्परं—यस्मिन् स्थानेषु समो विज्ञेयो यः सवर्णसंज्ञोऽसौ। इति क० पुस्तकेऽधिकम्।

३. परस्तु दीर्घो विनिर्देश्यः—क०; परश्च दीर्घोऽवगन्तव्यः—क०।

४. इत्थं व्यञ्जनयोगैः परैश्च साख्यातनामपदविहितैः।
काव्यनिबन्धाश्च स्युर्धातुनिपातोपसर्गैस्तु।—क०।

इस प्रकार इन स्वर तथा व्यञ्जनों के योग से तथा आख्यात (क्रिया, धातु) नाम (संज्ञा), उपसर्ग, निपात, तद्धित, सन्धि तथा विभक्ति से अधिष्ठित शब्द होता है ॥ २१ ॥

पूर्वाचार्यैरुक्तं शब्दानां[1] लक्षणन्तु विस्तरतः ।
पुनरेव संहृतार्थं लक्षणतः सम्प्रवक्ष्यामि[2] ॥ २२ ॥

प्राचीन आचार्यों ने शब्द का विस्तारपूर्वक लक्षण (निर्दिष्ट) किया है । मैं उनका संक्षेप में (सार भूत) लक्षण प्रसंगवश बतलाऊँगा ॥ २२ ॥

नाम (संज्ञा)—

स्वाद्याद्यधिकारगुणैरर्थविशेषैर्विभूषितन्यासम्[3][4][5] ।
प्रातिपदिकार्थलिङ्गैर्युक्तं[6] पञ्चविधमिदं ज्ञेयम् ॥ २३ ॥

संज्ञा (नाम)—अपने 'सु' आदि विभक्ति प्रत्ययों तथा उनके द्वारा प्रकट होने वाले विशेष अर्थों से युक्त होती है । इसके पाँच प्रकार होते हैं तथा यह प्रातिपदिकार्थ[2] तथा लिंग से युक्त होती है ॥ २३ ॥

---

१. नाम या संज्ञा के पाँच प्रकार संक्षिप्तसार के अनुसार इस प्रकार हैं—(१) उणाद्यन्त, (२) कृदन्त, (३) तद्धितान्त, (४) समासान्त तथा (५) शब्दानुकरण ।
उणाद्यन्तं कृदन्तञ्च तद्धितान्तं तथैव च ।
शब्दानुकरणं चैव नाम पञ्चविधं स्मृतम् ॥ (संक्षिप्त सार-विवरणे—गोपीचन्द्रः)

२. प्रादिपदिकार्थ के विषय में विविध मत हैं—पाणिनि ने प्रातिपदिक या

---

१. विस्तरतो लक्षणन्तु शब्दानाम् । सङ्क्षेपादहमेषां लक्षणमर्थञ्च वक्ष्यामि—क० ।

२. अस्मादनन्तरम्—
अर्थप्रधानं नाम स्यादाख्यातन्तु क्रियाकृतम् ।
द्योतयन्त्युपसर्गास्तु विशेषं भावसंश्रयम् ॥ २३ ॥
नामाख्यातार्थविषयं विशेषं द्योतयन्ति ते ।
पृथक् तत्रोपसर्गेभ्यो निपाता नियमे च्युते ॥ २४ ॥ इति क० पुस्तक टिप्पण्यामधिकं पद्यद्वयमुपलभ्यते ।

३. एतस्य स्थाने च—
उद्दिष्टं शब्दानां लक्षणमेतत् समासयोगेन ।
प्रकरणवशाद्धि तदहं विस्तरतः सम्प्रवक्ष्यामि ॥ इति क० पुस्तके लभ्यते ।

४. स्वाद्यत्यधिकार—ख०, ग० । ५. विभूषितन्यासा—ख०; ग० ।

६. लिङ्गयुक्तम्—ख०, ग० ।

तत्प्राहुः सप्तविधं षट्कारकसंयुतं प्रथितसाध्यम् ।
निर्देशसम्प्रदानोपादानप्रभृतिसंज्ञाभिः ॥ २४ ॥

यह नाम सात[1] श्रेणियों से तथा छः कारको से युक्त होता है। कभी कभी यह सिद्ध वाच्यार्थ (प्रथित) तथा कभी-कभी साध्यभूत वाच्यार्थ (साध्य) वाला होता है। (और जब यह (विभिन्न) प्रत्ययों से युक्त होता है तो) निर्देश[2], सम्प्रदान, अपादान प्रभृति संज्ञा को सूचित करता हैं ॥ २४ ॥

सम्प्रत्यतीतकालक्रियादिसंयोजितं प्रथितसाध्यम् ।
वचनं नागतयुक्तं सुसदृशसंयोजनविभक्तम् ॥ २५ ॥

जो क्रियाएँ वर्तमान तथा भूतकाल एवं इसके समान समय में होने वाले कार्य को बतलाने वाले अर्थ से सम्बद्ध शब्द बनाती हैं। वह 'प्रथित' तथा जो कभी-कभी व्यवस्थित रस में निर्मित विभेद सम्पन्न शब्द बनाती हों साध्य कहलाती है।

आख्यात—(क्रिया)

पँञ्चशतधातुयुक्तं पञ्चगुणं पञ्चविधमिदं वापि ।
आख्यातं पाठ्यंकृतं ज्ञेयं नानार्थाश्रयविशेषम् ॥ २६ ॥

नाम के दो प्रकार (जाति तथा द्रव्य) माने हैं, कात्यायन के मत में एक प्रकार और जोड़ा गया जिसे 'लिंग' कहते हैं। व्याघ्रपाद आचार्य के मत से संख्या तथा भाष्यकार पतंजलि के मत से 'कारक' के संयुक्त करने पर नाम के ये पाँच प्रकार हो जाते हैं। यथा—जाति, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या तथा कारक।

१. सात श्रेणी का अर्थ सात विभक्तियाँ हैं। प्रथित तथा साध्य शब्दों का आश्रय यह भी है कि सिद्धवाच्यार्थ वाला शब्द जिसका प्रकृति, प्रत्यय आदि से विभाग करते हुए निर्वचन न किया जा सके 'प्रथित' कहलाता है (अर्थात् रूढ़ शब्द) तथा साध्य का आशय है कि प्रकृति प्रत्यय आदि से जिस शब्द का निर्वचन किया जाए तथा अन्तर्निहित अर्थ की अभिव्यक्ति हो सके। इसे हम दूसरे शब्दों में 'यौगिक' शब्द कह सकते हैं।

२. 'निर्देश' का सम्बन्ध 'कारक' से (प्रतीत होता) है। जैसा कि विवरण है और विभक्त्यन्त प्रत्यय से इसकी पुष्टि भी होती है।

---

१. निर्देशसम्प्रदानोपादान—क० ।
२. सम्प्रत्यतीतकालप्रयोजितः क्रियादिसंयोगः प्रथितः—ख०; ग० ।
३. वचनानागत—क०; साध्ये वचनानां यतियुक्तं—ख०; ग० ।
४. सदृशसंयोजन—ख०; ग० । ४. पद्यार्धमेतत ख० ग० पुस्तकयोर्नास्ति ।
५. पाठ्यमिदं—क० । ६. नामाश्रय—क०; नामार्थसंश्रय विशेषम्—ख० ।

पाँच सौ[1] धातुओं का पच्चीस वर्गों में विभक्त होने वाला क्रिया का समूह 'आख्यात' कहलाता है। ये पाठ्य या संवादों में संज्ञाओं के आश्रित अर्थों से संयुक्त की जाती हैं ॥ २६ ॥

उपसर्ग—

प्रातिपदिकार्थयुक्तान्[1] धात्वर्थानुपसृजन्ति[2] ये स्वार्थैः[3]।
उपसर्गा ह्युद्दिष्टास्तस्मात् संस्कारतस्तस्मिन्[4] ॥ २७ ॥

जो अपने अर्थों के द्वारा प्रातिपादिक अर्थ सम्पन्न धातु के मूल अर्थ को विशिष्टार्थ सम्पन्न बना देते हैं उन्हें संस्कार शास्त्र में (व्याकरण शास्त्र में) (इसी कारण) 'उपसर्ग'[2] कहते हैं ॥ २७ ॥

निपात—

प्रातिपदिकार्थयोगाद्धातुच्छन्दोनिरुक्तयुक्त्या च।
यस्मान्निपतन्ति पदे तस्मात् प्रोक्ता निपातास्तु ॥ २८ ॥

क्योंकि प्रादिपदिकार्थ के साथ, धातु, छन्द, निर्वचन तथा युक्ति द्वारा उनके मूलार्थ को फैलाने के लिए संयुक्त होकर आते हैं। (अतएव पद के समीप आने के कारण) इन्हें निपात[3] कहते हैं ॥ २८ ॥

---

१. धातुओं की निश्चित संख्या नहीं बतलाई जा सकती क्योंकि विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में इनकी अलग-अलग संख्या बतलाई गई है। पाणिनि ने अपनी धातुओं को दस गणों में विभक्त किया है। परन्तु धातुओं का पंच्चीस भागों में विभाग किसी भी व्याकरण ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता।

२. उपसर्ग का भरत प्रोक्त स्वरूप निरुक्त (१।१–३–४) में उद्धृत शाकटायन के विवरण से मिलता है। (तुलना कीजिए सम्बद्ध दोनों अंशों की।)

उपसर्गों का विविध अर्थद्योतन निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

क्वचिद् भिनत्ति धात्वर्थं क्वचित्तमनुवर्तते।
विशिनष्टि तमेवार्थमुपसर्गगतिस्त्रिधा ॥

३. पाणिनि के अनुसार अव्यय जो 'च' आदि वर्ग में पठित है 'निपात' कहलाते हैं। पतंजलि के मत में विभक्ति तथा स्वरों का समानता रखने वाले अव्यय कारक के कार्य की पूर्ति भी कर देते हैं। द्रष्ट० पात० महा० ३।४।२ (विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च भवन्तीति निपातसंज्ञाः)

---

१. युक्तं—क०। २. नुत्सृजन्ति—ख०; ग०।
३. स्वार्थैः—ख०। ४. संस्कारशास्त्रेऽस्मिन्—ख०; ग०।

प्रत्यय—

प्रत्ययविभागजनिताः प्रकर्षसंयोगसत्त्ववचनैश्च।
यस्मात् पूरयतेऽर्थान् प्रत्यय उक्तस्ततस्तस्मात् ॥ २९ ॥

जो प्रकर्ष, संयोग तथा भाव (सत्व) के द्वारा शब्दों के आंशिक अर्थों की पूर्ति करते हैं उन्हें इन विचारों (विश्वासों-प्रत्यय) को विकसित करने के कारण 'प्रत्यय'[1] कहा जाता है ॥ २९ ॥

तद्धित—

[3]लोप-प्रकृति-प्रत्यय-विभागसंयोगसत्व[4]-वचनेषु।
तांस्तान् पूर्यन्तेऽर्था स्तेषु[5][6] यतस्तद्धितस्तस्मात् ॥ ३० ॥

क्योंकि यह शब्द के अर्थों को—लोप, प्रकृति तथा प्रत्यय के विभाग या संयोग द्वारा विकसित या पूर्ण करता है तथा उनके अन्तःस्थित (विचारया) भावाभिप्राय को वतलाता है अतएव 'तद्धित'[2] कहलाता है ॥ ३० ॥

विभक्ति—

एकस्य बहूनां वा धातोर्लिङ्गस्य[7] वा पदानां वा।
यस्माद्विभजन्त्यर्थान् विभक्तयः कीर्तितास्तस्मात् ॥ ३१ ॥

एक या अनेक शब्दों के अर्थों का उनकी मूलधातु या लिङ्ग के अनुसार विभाग या विभेद करने के कारण 'विभक्ति'[3] कहलाती है ॥ ३१ ॥

---

१. प्रत्यय की भरत ने व्यापक परिभाषा की है। अभिनवगुप्त ने इस लक्षण को ऐन्द्रव्याकरण के अनुसार तथा वहीं से लिया हुआ निरूपित किया है। धातु में अवस्थित अर्थ के वोघ में जो सहायक हो उसे सामान्यतः 'प्रत्यय' कहा जाता है। (येनार्थः प्रतीयते स प्रत्ययः)।

२. भरतोक्त तद्धित का स्वरूप अन्य व्याकरण ग्रंथों से मेल नहीं खाता।

३. विभक्ति शब्द का निर्वचन या व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ लेकर यहाँ भरत ने

---

१. तत्व—क०। २. तांस्तान् पूरयते—क०। ३. लोक—ख०; ग०।
४. तत्ववचनैस्तु—क०।
५. ते ते पूर्यन्तेऽर्थाः—क०; तस्मात् पूरयतेऽर्थान्—ख०; ग०।
६. अर्थान् हि तो यतः—क०; ततो यतः—ख०; ग०।
७. लिङ्गस्यापदानां वा—ख०; ग०।
८. विभजन्त्यर्थं यस्मिन्—क०, विभजन्त्यर्थं यस्मात विभक्तयस्तेन ताः प्रोक्ताः—ख०; ग०।

सन्धि—

वर्णपदक्रमसिद्धः पदैकयोगाच्च वर्णयोगाच्च ।
सन्धीयते तु यस्मात्तस्मादुपदिश्यते सन्धिः ॥ ३२ ॥

जब पृथक्भूत पद, वर्ण या स्वर व्यञ्जन परस्पर शब्द या शब्दों के समीप आकर मिल जाते हों तो इस सन्धान या जोड़ के हो जाने को 'सन्धि' कहते हैं ॥ ३२ ॥

विशिष्टास्तु स्वरा यत्र व्यञ्जनं वापि योगतः ।
सन्धीयते पदे यस्मात्तस्मात् सन्धिः प्रकीर्तितः ॥ ३३ ॥

अथवा दो विशिष्ट स्वरों या पदों का क्रम (यदि) परस्पर मिल जाता हो तो उसे भी 'सन्धि' जानो ॥ ३३ ॥

उसके लक्षण को बतलाया गया है । इसी प्रकार का आशय कलापव्याकरण में दुर्ग सिंह ने भी व्यक्त किया है । यथा:—'अर्थस्य विभजनाद्विभक्तिः'

१. स्वर या व्यंजनों का केवल संयोग या सम्मिश्रण मात्र न तो सन्धि है न ही यह उसका प्रयोजन है किन्तु ध्वनिगतप्रभाव तथा सम्भाषणगत आवश्यकता के कारण भी सन्धियाँ होती हैं । इन सन्धियों का पाँच प्रकारों में विभाजन है और इसी कारण इनकी संज्ञा भी पाँच हैं—यथा—(१) स्वर, (२) व्यंजन, (३) प्रकृतिभाव, (४) अनुस्वार तथा (५) विसर्गसन्धि ।

समीप आकर (समय के लाघवार्थं) मिलने का कार्य—जो कि पृथक् दो ध्वनियों के अलग उच्चारण करने पर व्यर्थ ही अधिक समय ले लेता है—यदि किया गया हो तो सन्धि कहलाता है । यह प्राचीन वैयाकरणों की 'अर्धमात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' उक्ति के साथ ही सन्धि के उस नियम को भी—जिसके अनुसार अर्धमात्रा का उच्चारण में व्यवधान होने से उसके पृथक् उच्चारण के बजाय सम्मिलित उच्चारण ही 'सन्धि' करते हुए किया जाए—इस प्रकार के सिद्धान्त तथा उनकी स्वाभाविक वृत्ति तथा योजना को समर्थित करता है । यह सन्धि इसीलिए भी की जाती है कि दो जिससे श्लोकार्थ एकत्र न हों ।

---

१. वर्णक्रमसंसिद्धः—क०; वर्णक्रमसम्बद्धः—ख०; ग० ।

२. पदैकयोगोऽन्यवर्णयोगाच्च—ख०; ग० ।

३. सन्धीयते च यस्मात्तस्मात् सन्धिः समुद्दिष्टः—ख०; ग० ।

४. पद्यमेतत् ख० ग० पुस्तकयोर्नास्ति ।

समास—

लुप्तविभक्तिर्नाम्नामेकार्थं संहरत्समासोऽपि ।
तत्पुरुषादिस्तज्ज्ञैर्निर्दिष्टः षड्विधो विप्राः ॥ ३४ ॥

नामों की विभक्तियों का लोप करते हुए एकार्थक पद को जो संक्षेप करते हुए प्रस्तुत करता हो वह तत्पुरुष आदि छः प्रकारों से युक्त 'समास' कहलाता है ॥ ३४ ॥

एभिः शब्दविधानैर्विस्तारव्यञ्जनार्थसंयुक्तैः ।
पदबन्धाः कर्तव्या निर्बद्धबन्धास्तु चूर्णा वा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार शब्दशास्त्र के नियमों को ध्यान में रखते हुए शब्द रचना करना चाहिए जो गद्य (चूर्ण) निबद्ध बन्ध या पद्यात्मक हो तथा जो शब्दों के विस्तार और अभिव्यक्ति से पूर्ण या युक्त हो ॥ ३५ ॥

शब्द-द्वैविध्य—

विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयं निबद्धं चूर्णमेव च ।
तत्र चूर्णपदस्येह सन्निबोधत लक्षणम् ॥ ३६ ॥

विभक्ति जिस शब्द के अन्त में संयुक्त की जाये उसे 'पद' जानो । यह दो प्रकार होता है—निबद्ध तथा चूर्णपद । अब मैं चूर्णपद का लक्षण बतलाता हूँ जिसका गद्य लेखन में उपयोग किया जाता है ॥ ३६ ॥

चूर्णपद—

अनिर्बद्धपदं छन्दस्तथा चानियताक्षरम् ।
अर्थापेक्ष्यक्षरस्यूतं ज्ञेयं चूर्णपदं बुधैः ॥ ३७ ॥

---

१. लुप्तविभक्तिर्नाम्ना एकार्थान् संहरन्ति सङ्क्षेपात्—ख०; ग० ।
२. तत्पुरुषादिकसंज्ञैर्निर्दिष्टः षड्विधः सोऽपि—ख०; ग० ।
३. व्यञ्जनात्व—ख०; ग० ।
४. वृत्तनिबन्धास्तु—ख०; ग० ।
५. चतुर्विधं पदं तच्च—क०; विभज्यैकं पदं ज्ञेयं—ख०; ग० ।
६. निबन्धं—ख०; ग० ।
७. बहिर्बोधत—ख०; ग० ।
८. अनिबद्धं पदवृन्दं—ख०; ग० ।
९. छन्दो यथेष्टगुरुलाघवम्—क० ।
१०. अर्थापेक्षाक्षरपदं—क०; अर्थापेक्षाक्षरयुतं—ख०; ग० ।

जिसमें किसी निश्चित प्रकार से पदों की संयोजना न हो, जिसमें अक्षरों की संख्या नियत न हो तथा जो अपने उद्दिष्टार्थ को प्रकट करने के लिए अनेक वर्ण या पदों को स्वतन्त्रतापूर्वक (रचना में) समाविष्ट कर सके, तो उसे 'चूर्णपद' शब्द जानो ॥ ३७ ॥

निवद्धपद—

निवद्धाक्षरसंयुक्तं यति[१]च्छेदसमन्वितम् ।
निवद्धन्तु पदं ज्ञेयं प्रमा[२]णनियतात्मकम् ॥ ३८ ॥

जिसमें पदों तथा अक्षरों का निश्चित क्रम के अनुसार गठन हो, यति (विच्छेद) समन्वित हो तथा जिसमें अक्षर संख्या का निश्चित प्रमाण रहे उसे 'निवद्ध' (पद्योपयोगी) शब्द समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

छन्द—

एवं नानार्थसंयुक्तैः प[३]ादैर्वर्णविभूषितैः ।
चतुर्भिस्तु भ[४]वेद्युक्तं छ[५]न्दोवृत्ताभिधानवत् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार शब्दों के गठन द्वारा जो पद्य-रचना की जाती है उसमें चार पाद होते हैं—उसमें अनेक अर्थों का अभिव्यञ्जन रहता है तथा वर्णों के (गुरु तथा लघु स्वरूपों के) द्वारा यह निर्मित की जाती है। ऐसी रचना छन्द या वृत्त नाम से अभिहित की जाती है ॥ ३९ ॥

छन्द (वृत्तों) के विभेद—

षड्विंशतिः स्मृता[६]न्येभिः पा[७]दैश्छन्दांसि संख्यया ।
सम[८]मर्द्धसमञ्चैव तथा विषममेव च ॥ ४० ॥

---

१. पदच्छेद—ख०; ग० ।
२. प्रमाणनियताक्षरम्—क० ।
३. पदवर्ण—क०; पदैर्वर्ण—ख०; ग० ।
४. भवेत्पादै—क०; भवेद् वृत्तं—ख०; ग० ।
५. छन्दोवृत्यभिधानवत्, छन्दोवृत्तसमाश्रयम्—क० ।
६. स्मृतानीह—ख०; ग० ।
७. पादे—ख०; ग० ।
८. समञ्चार्धसमञ्चैव—ख०; ग० ।

[1]छन्दो ज्ञेयं समासेन [2]त्रिविधं वृत्तमिष्यते।

छन्दों के एक से २६ संख्या तक के अक्षरों में होने वाले पादों के कारण २६ भेद हैं। इनके तीन प्रकार और भी है—सम, अर्धसम तथा विषम वृत्त ॥ ४०-४१ ॥

[3]नानावृत्तविनिष्पन्ना शब्दस्यैषा तनुः स्मृता ॥ ४१ ॥
[4]छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न च्छन्दः शब्दवर्जितम्[5]।
[6]एवं तूभयसंयोगो नाट्यस्योद्योतकः स्मृतः ॥ ४२ ॥

यह छन्द—जो कि विभिन्न अक्षरों द्वारा वर्णिक वृत्त का स्वरूप धारण करता है—शब्दों का ढांचा है। क्योंकि वृत्तहीन कोई शब्द तथा शब्दहीन कोई वृत्त नहीं होता। ये दोनों परस्पर मिल कर ही नाट्य-प्रयोग को अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाते हैं ॥ ४१-४२ ॥

छन्दों के (वर्ण-संख्या के अनुसार पाद वाले) विभेद—

एकाक्षरं भवेदुक्तमत्युक्तं द्व्यक्षरं भवेत्।
म[7]ध्यं त्र्यक्षरमित्याहुः प्रतिष्ठा चतुरक्षरा ॥ ४३ ॥

सुप्रतिष्ठा भवेत् पञ्च षड् गायत्री भवेदिह।
[9]सप्ताक्षरा भवेदुष्णिगष्टौ चानुष्टुबिष्य[10]ते ॥ ४४ ॥

नवाक्षरा तु बृहती पङ्क्तिश्चैव दशाक्षरा।
[11]एकादशाक्षरा त्रिष्टुब्जगती द्वादशाक्षरा ॥ ४५ ॥

१. छन्दोयुक्तं—ख०; ग०।
२. निबद्धं—ख० ग०।
३. नानावृत्तविनिष्पन्नं शब्दमूलं तु तत्स्मृतम्—क०।
४. न शब्दश्छन्दसा हीनो—क०।
५. वर्जितः—ख० ग०।
६. तस्मात्तूभयसंयुक्ते नाट्यस्योद्योतके स्मृते—ख०; ग०।
७. मध्यमं त्र्यक्षरं प्रोक्तं—क०।
८. तथैव च—क०।
९. उष्णिक् सप्ताक्षरकृता त्वष्टाऽनुष्टुप् प्रकीर्तिता—क०।
१०. उच्यते—क०।
११. त्रिष्टुबेकादशा ज्ञेया—क०।

त्रयोदशातिजगती शक्करी तु चतुर्दश।
दशपञ्चातिशक्वर्या अष्टिः स्यात् षोडशाक्षरा ॥ ४६ ॥
तथा सप्तदशात्यष्टिः धृतिरष्टादशाक्षरा।
एकोनविंशातिधृतिः कृतिर्विंशतिरेव च ॥ ४७ ॥
प्रकृतिश्चैकविंशत्या द्वाविंशत्याकृतिस्तथा।
विकृतिः स्यात्त्रयोविंशा चतुर्विंशापि सङ्कृतिः ॥ ४८ ॥
पञ्चविंशत्यभिकृतिः षड्विंशत्यक्षरोत्कृतिः।

(अक्षर गणना के अनुसार होने वाले छन्दों के भेदों में) एक अक्षर के पाद वाला वृत्त 'उक्ता', दो अक्षरों वाला 'अत्युक्ता'. तीन अक्षरों वाला 'मध्या', चार अक्षरों वाला 'प्रतिष्ठा', पाँच अक्षरों वाला 'सुप्रतिष्ठा', छः अक्षरों का 'गायत्री', सात अक्षरों का 'उष्णिक्', आठ अक्षरों का 'अनुष्टुप्', नौ अक्षरों का 'बृहती', दस अक्षरों का 'पंक्ति', ग्यारह अक्षरों का 'त्रिष्टुप्' बारह अक्षरों का 'जगती', तेरह अक्षरों का 'अतिजगती', चौदह अक्षरों का 'शक्करी', पन्द्रह अक्षरों का 'अतिशक्करी', सोलह अक्षरों का 'अष्टि', सत्रह अक्षरों का 'अत्यष्टि', अट्ठारह अक्षरों का 'धृति', उन्नीस अक्षरों का 'अतिधृति', बीस अक्षरों का 'कृति', इक्कीस अक्षरों का 'प्रकृति', बाईस अक्षरों का 'आकृति', तेईस अक्षरों का 'विकृति', चौबीस अक्षरों का 'संकृति', पच्चीस अक्षरों का 'अतिकृति' तथा छब्बीस अक्षरों का 'उत्कृति' होता है ॥ ४३-४९ ॥

अतोऽधिकाक्षरं छन्दो मालावृत्तमिति स्मृतम् ॥ ४९ ॥

---

१. अतिशक्करी पञ्चदश षोडशाष्टिः प्रकीर्तिता—क० ।
२. अत्यष्टिः स्यात् सप्तदश—क० ।
३. एकाधिका चातिधृतिः—क० ।
४. स्त्वेकविंशत्या—क० ।
५. विकृतिश्च त्रयो—ग० ।
६. चतुर्विंशा च—ख०; ग० ।
७. षड्विंश चोत्कृतिर्भवेत्—क० ।
८. यत् स्यात्—क०; यत्तु—ख०; ग० ।
९. तदिष्यते—ख०; ग० ।

छन्दसान्तु तथा[1] ह्येते भेदाः प्रस्तारयोगतः।
असंख्येय[2]प्रमाणानि वृत्तान्याहुरतो बुधाः ॥ ५० ॥

गायत्रीप्रभृतिस्त्वेषां प्रमाणं सम्प्रव[3]क्ष्यते।
प्रयोगजानि सर्वाणि प्राय[4]शो न भवन्ति हि ॥ ५१ ॥

इससे अधिक अक्षरों के पाद वाले छन्द 'मालावृत्त' कहलाते हैं। छन्दों के प्रस्तार के (योग) द्वारा अनेक भेद बनते हैं—जिन्हें बुधजन जाने। परन्तु इनकी संख्या गणना से परे है। गायत्री तथा अन्य कुछ छन्दों की प्रस्तारगत संख्या या प्रमाण को ही यहाँ हम बतला रहे हैं। क्योंकि छन्दों के ये सभी भेद उपयोग में नहीं आते ॥ ४९–५१ ॥

वृत्ता[5]नि च चतुःषष्टि गायत्र्यां कीर्तितानि तु।
शतं विंशतिरष्टौ च वृत्तान्युष्णिग् ह्य[6]थोच्यते ॥ ५२ ॥

षट्पञ्चाशच्छ[7]ते द्वे च वृत्तानामप्य[8]नुष्टुभि।
शतानि पञ्च वृत्तानां बृ[9]हत्यां द्वादशैव तु ॥ ५३ ॥

पङ्क्त्[10]यां सहस्रं वृत्तानां चतुर्विंशतिरेव तु।
त्रैष्टु[11]भे द्वे सहस्रे च चत्वारिंशत्तथाष्ट च ॥ ५४ ॥

---

१. भास्कराचार्य ने लीलावती में छन्दों के प्रस्तारजन्य भेदों को बनाने की गणितप्रक्रिया बतलाई है। (दे० ली० व० ख० ८४)

---

१. भवेदेषां भेदोऽनेकविधः पृथक्—ख०; ग०।
२. असंख्यपरि—ख०; ग०।
३. संविधीयते—ख०; ग०।
४. प्रायस्तानि—क० ;ग०।
५. वृत्तानां हि चतुष्षष्टिर्गायत्री परिकीर्तिता—ख०; ग०।
६. न्युष्णिगथोच्यते—ख०।
७. छतं—ख०; ग०।
८. प्यनुष्टुभः—ख०; ग०।
९. वृहत्या—क०।
१०. पङ्क्तेः—क०; ग०।
११. त्रिष्टुभो द्वि—क०।

सहस्राण्यथ चत्वारि नवतिश्च षडुत्तरा ।
जगत्यां समव[1]र्णानां वृत्तानामिह सर्वशः ॥ ५५ ॥

शतमष्टौ सहस्राणि द्व्यधिका नवतिः पुनः ।
जगत्यामतिपूर्वायां वृत्तानां सर्व[2]शो भवेत् ॥ ५६ ॥

शतानि त्रीण्यशीतिश्च सहस्राण्यपि षोडश ।
वृत्तानि चैव चत्वारि शक्वर्याः परिसंख्यया ॥ ५७ ॥

द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि सप्त चैव शतानि च ।
अष्टौ षष्टिश्च वृ[3]त्तानि ह्याश्रयन्त्यतिशक्वरीम् ॥ ५८ ॥

पञ्चषष्टि सहस्राणि सहस्रार्धन्तु संख्यया ।
षड्विंशच्चैव वृत्तानि तथाष्ट[4]यां गदितानि तु ॥ ५९ ॥

एकत्रिंशत्सहस्राणि वृत्तानाञ्च द्विसप्ततिः ।
तथा शतसहस्रञ्च छ[5]न्दस्यत्यष्टिसंज्ञिते ॥ ६० ॥

धृत्यामपि हि पिण्डेन वृत्ता[6]न्याकल्पितानि तु ।
त[7]ज्ज्ञैः शतसहस्रे द्वे शतमेकं तथैव च ॥ ६१ ॥

द्विषष्टिश्च सहस्राणि चत्वारिंशच्च योगतः ।
चत्वारि चैव वृत्तानि [8]समसंख्याश्रयाणि तु ॥ ६२ ॥

अतिधृत्यां सहस्राणि चतुर्विंशतिरेव च ।
तथा शतसहस्राणि पञ्चवृत्तशतद्वयम् ॥ ६३ ॥

अष्टाशीतिश्च वृत्तानि वृत्तज्ञैः कथितानि तु ।
कृतौ शतसहस्राणि दश प्रोक्तानि सङ्ख्यया ॥ ६४ ॥

---

१. समपादानां—क०; जगत्यामतिपूर्वायां—ग० ।

२. परिमाणतः—क०; ग० ।

३. वृत्तानां संश्रयन्त्यतिशक्वरीम्—क० ।

४. तथाष्टौ—क० ।

५. स्यादत्यष्टौ परिसंख्यया—क० ।

६. वृत्तमाकलितं मया—ख०; ग० ।

७. तथा—ख०; ग० ।

८. शतसंख्यानि यानि तु—ख०; ग० ।

चत्वारिंशत्तथाष्टौ च सहस्राणि शतानि च ।
पञ्चषट्सप्ततिश्चैव वृत्तानां [1]परिमाणतः ॥ ६५ ॥

तथा शतसहस्रा[2]णां प्रकृतौ विंश[3]तिर्भवेत् ।
सप्त वै गदितान्यत्र नवतिश्चैव सङ्ख्यया ॥ ६६ ॥

सहस्राणि शतश्चैकं द्विपञ्चाशत्तथैव च ।
वृत्तानि परिमा[4]णेन वृत्तज्ञैः गदितानि तु ॥ ६७ ॥

च[5]त्वारिंशत्तथैकञ्च सहस्राणां शतानि तु ।
तथा चेह सहस्राणि नवतिश्चतुरुत्तरा ॥ ६८ ॥

शतत्रयं समाख्यातं ह्याकृत्याञ्चतुरुत्तरम् ।
ज्ञेया[6] शतसहस्राणामशीतिस्त्र्यधिका बुधैः ॥ ६९ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि वृत्तानां षट्शतानि च ।
अष्टौ चैव तु वृत्तानि विकृत्यां गदितानि तु ॥ ७० ॥

तथा[7] शतसहस्राणि सप्तषष्टिश्च सप्ततिः ।
सप्त चैव सहस्राणि षोडश द्वे शते तथा ॥ ७१ ॥

कोटिश्चैवेह वृत्तानि सङ्कृतौ कथितानि वै ।
तथा[8] शतसहस्राणि पञ्चत्रिंशच्च संख्यया ॥ ७२ ॥

तिस्रः कोट्यः सहस्राणि चतुष्पञ्चाशदेव च ।

---

१. प्रविभागशः—क० ।

२. शतसहस्राणि—क० ।

३. कलितानि तु । विंशतिर्नवतिश्चैव सप्त चैव हि संख्यया—क० ।

४. प्रविभागेन—क० ।

५. बुधैः शतसहस्राणि चत्वारिंशत्ततः परम् । नवतिश्चैव चत्वारि सहस्राणि शतत्रयम् । चत्वारि चैव वृत्तानि कथितान्याकृतौ बुधैः ॥—क० ।

६. तथा शतसहस्राणामशीतिस्त्रिकसंयुता । अष्टाशीति सहस्राणि षडष्टौ च शतानि च । वृत्तानि विकृतौ छन्दस्युद्दिष्टानीह संख्यया—क० ।

७. कोटिष्षडधिका नित्यं सप्तसप्ताधिका पुनः । सप्त चैव सहस्राणि वृत्तानाञ्च शतद्वयम् । षोडशोत्तरमाख्यातं सङ्कृत्यां परिमाणतः ॥—क० ।

८. कोटित्रयञ्चाभिकृत्यां पञ्चत्रिंशद्भिरन्वितम् । पञ्चाशद्भिः सहस्रैस्तु चतुर्भिरधिकैस्तथा । चतुष्टयं शतानां च द्वात्रिंशद्भिः समन्वितम् ।—क० ।

शतानि चत्वारि तथा द्वात्रिंशत् प्रविभागतः ॥ ७३ ॥

वृत्तान्यभिकृतौ चैव छन्दोज्ञैः कथितानि वै।
षट्कोट्यस्तु सहस्राणां शतानि ह्येकसप्ततिः ॥ ७४ ॥

अष्टौ चैव सहस्राणि शतान्यष्टौ तथैव च।
चतुष्षष्टिस्तु वृत्तानि ह्युत्कृतावपि सङ्ख्यया ॥ ७५ ॥

उक्ताद्युत्कृतिजातानि वृत्तसंख्याविचक्षणैः।
एतेन च विकल्पेन वृत्तान्येतानि निर्दिशेत् ॥ ७६ ॥

सर्वेषां छन्दसामेवं वृत्तानि कथितानि वै।
तिस्रः कोट्यो दश तथा सहस्राणां शतानि च ॥ ७७ ॥

चत्वारिंशत्तथा द्वे च सहस्राणि दशैव तु।
सप्तभिः सहितान्येव सप्तचैव शतानि च ॥ ७८ ॥

(इन भेदों में) गायत्री छन्द के वृत्तों का प्रमाण (चौसठ) ६४, उष्णिक् छन्द के वृत्तों का प्रमाण (एक सौ अट्ठाईस) १२८, अनुष्टुप् वृत्त की संख्या (दो सौ छप्पन) २५६, बृहती की ५१२, पंक्ति की १०२४; त्रिष्टुप की २०४८, जगती की ४०९६, अतिजगती छन्द की ८१९२, शक्वरी की १६३८४, अतिशक्वरी की ३२७६८, अष्टि की ६५५३६, अत्यष्टि की १३१०७२, धृति की २६२१४४, अतिधृति की ५२४२८८, कृति की १०४८५७६, प्रकृति की २०९७१५२, आकृति की ४१९४३०४, विकृति की ८३८८६०८, संकृति की १६७७७२१६, अतिकृति की (अभिकृति की) ३३५५४४३२ तथा उत्कृति की प्रमाण संख्या ६७१०८८६४ हो जाती है। इस प्रकार क्रम से उत्कृति आदि छन्दों की (प्रस्तारगत) संख्या बतलायी

१. षट्कोट्यस्तु तथोत्कृत्यां लक्षाणामेकसप्ततिः। चतुःषष्टि शतान्यष्टौ सहस्राण्यष्ट एव तु।—क०; ख०।

२ सर्वेषां छन्दसां पिण्डं कोटयोऽत्र त्रयोदश। शतानि सप्त सप्तैव सहस्राणि दशैव च। तथा शतसहस्राणां द्विचत्वारिंशदत्र हि। षड्विंशतिश्च वृत्तानामित्थं चानन्तमुच्यते (चान्यत् समुच्यते—ख०, ग०)—क०।

३. वृत्तांशं कथितं मया—ख०; ग०।

४. कोट्यस्त्रयोदश तथा चत्वारिंशद्द्वयं तथा। ज्ञेयं शतसहस्राणां ततो दश च सप्त च। सहस्राणि ततः सप्तशतानि प्रविभागशः। षड्विंशति च वृत्तानि वृत्तसंख्याविचक्षणैः।—क०।

गयी, जिनकी इसी के अनुसार योजना करनी चाहिये। इन सभी छन्दों की सम्पूर्ण प्रमाण-संख्या का योग १३४२१७७२६ होता है ॥ ५२-७८ ॥

छन्दों की विभेदक अन्य पद्धति—

षड्विंशतिरिहान्यानि व्याख्यातानि समासतः।
समानि गणनायुक्तिमाश्रित्य कथितानि वै ॥ ७९ ॥

सर्वेषां छन्दसामेवं त्रिकैर्वृत्तं प्रयोजयेत्।
एकं वा विंशतिं वापि सहस्रं कोटिरेव वा ॥ ८० ॥

ज्ञेया ह्यष्टौ त्रिकास्तत्र संज्ञाभिः स्थानमक्षरम्।
त्रीण्यक्षराणि विज्ञेयस्त्रिकोंऽशः परिकल्पितः ॥ ८१ ॥

गुरुलघ्वक्षरकृतः सर्ववृत्तेषु नित्यशः।

अभी मैंने गणना प्रमाण के द्वारा २६ अक्षरों तक के छन्दों के भेदों को बतलाया। इन छन्दों या वृत्तों का त्रिकों (गणों) के द्वारा गठन किया जाता है। चाहे ये वर्णवृत्त एक, बीस, सहस्र या करोड़ विभेदों को धारण किये हों किन्तु सामान्यतः इन वृत्त या वृत्तों के स्वरूपगठन में यहाँ गणों का नियमविधान रहता है तथा इसी से सारा काम चलता है।

ये गण आठ हैं जो तीन अक्षरों से निर्मित होते हैं। इनका अपने स्वरूपानुसार पृथक्-पृथक् नाम रहता है। गुरु तथा लघु वर्णों के तीन अक्षरों से निर्मित 'गण' कहलाते हैं तथा इन्हीं से प्रत्येक छन्द का आकार बनता है। इन्हें 'त्रिक' भी कहते हैं ॥ ७९-८२ ॥

गुरुपूर्वो भकारः स्यान्मकारस्तु[2] गुरुत्रयम् ॥ ८२ ॥

जकारो गुरुमध्यस्तु[3] सकारोऽन्तगुरुस्तथा।
लघुमध्यस्तु[4] रेफः स्यात्तकारोऽन्तलघुस्तथा[5] ॥ ८३ ॥

---

१. एतेषां तु पुनर्ज्ञेयं त्रिकैर्वृत्तप्रवर्तनम्। एकं वा विंशतिर्वापि सहस्रं कोटिरेव च। सर्वेषां छन्दसामेवं वृत्तानां वा द्विजोत्तमाः। ज्ञेयास्त्वष्टौ त्रिकास्तत्र स्वसंज्ञाभिः पृथक्-पृथक् ॥—ख०; ग०।

२. मकारो गुरुकत्रयम्—क०; मकारस्तु गुरुत्रिकम्—ख०; ग०।

३. गुरुमध्यस्थः—ख०; ग०।

४. लघुमध्यस्थितो रेफः—ख० ग०।

५. सकारोऽन्तलघुस्तथा—ख०; ग०।

लघुपूर्वो यकारस्तु नकारस्तु[1] लघुत्रयम् ।

इन त्रिकों में यदि आदि गुरु हो तो भगण (ऽ।।), तीनों गुरु हों तो मगण (ऽऽऽ), गुरु मध्य में हो तो जगण (।ऽ।), अन्त में गुरु हो तो सगण (।।ऽ), मध्य में लघु हों तो रगण (ऽ।ऽ), अन्त में लघु हो तो तगण (ऽऽ।), आदि में लघु हो तो यगण (।ऽऽ) तथा तीनों लघु होने पर नगण (।।।) कहलाता है ॥ ८२–८४ ॥

एते ह्यष्टौ त्रिका[2] नाम्ना विज्ञेया[3] ब्रह्मसम्भवाः ॥ ८४ ॥

लाघवार्थं पुनरमी छन्दोमानमवेक्ष्य[4] च ।
एभ्यो[5] विनिर्गताश्चान्या जातयोऽथ समादयः ॥ ८५ ॥

अस्वराः सस्वराश्चापि[6] प्रोच्यन्ते वृत्तलक्षणैः[7] ।
गुर्वेकं गितिविज्ञेयं तथा लघु लितिस्मृतम् ॥ ८६ ॥

ये आठ 'त्रिक' (गण) हैं—जो ब्रह्मा से उत्पन्न हुए। ये गण छन्द-शास्त्र में लाघव तथा छन्दों के प्रमाण बतलाने के लिए निर्मित किये गये हैं। (इन्हीं से समादि वृत्त) सम, अर्धसम तथा विषम और जाति (आर्यादि मात्रागणना के लक्षण वाली) की उत्पत्ति हुई। ये छन्द के लक्षण-वेत्ताओं द्वारा सस्वर तथा अस्वर रूप में (भी) प्रयुक्त किये जाते हैं। यहाँ एक दीर्घवर्ण को 'ग्' तथा लघु वर्ण को 'ल्' के संकेत द्वारा समझना भी चाहिये ॥ ८४-८६ ॥

नियतः पदविच्छेदो यतिरित्यभिसंज्ञिता[8] ।
गुरुर्दीर्घं प्लुतश्चैव संयोगपरमेव च ॥ ८७ ॥
सानुस्वारविसर्गश्च तथान्त्यश्च लघु क्वचित्[9] ॥ ८८ ॥

---

१. नकारश्च—क० ।

२. त्रिका ज्ञेया—क० । ३. प्राज्ञैर्विज्ञेया—क०; ख० ।

४. मपेक्ष्य—क० ।

५. इदं श्लोकार्धं ख०–ग० पुस्तकयोर्नास्ति ।

६. श्चैव—ख०; ग० ।

७. लक्षणम्—क०; लक्षणे—ख० ।

८. त्यभिधीयते—ख०; ग० ।

९. अस्मात् परं कपुस्तके ।

सम्पद्विरामपादश्च देवंतास्थानमक्षरम् ।
वर्णः स्वरा विधिर्वृत्तमिति छन्दोगतो विधिः ॥ ८९ ॥

(छन्दों में) दो शब्दों (पदों) का निश्चित स्थान पर पृथक् या विच्छिन्न रहना 'यति' या विराम कहलाता हैं। दीर्घ, प्लुत, अनुस्वार तथा विसर्ग से युक्त होने पर तथा संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण गुरु होता है तथा कभी-कभी पादान्त में वर्ण गुरु तथा कभी लघु हो जाता है ।

छन्दोविधान में सम्पद्, विराम, पाद, देवता, स्थान, अक्षर, वर्ण, स्वर, विधि तथा वृत्त होते हैं ॥ ८७-८९ ॥

सम्पद—

नैवांतिरिक्तं हीनं वा यत्र सम्पद्यतेऽक्षरम् ।
विधाने छन्दसामेषा सम्पदित्यभिसंज्ञिता ॥ ९० ॥

जिस छन्द में वर्णों की संख्या न अधिक और न कम हो उस नियमानुसार पूर्ण छन्द को 'सम्पद' जानो ॥ ९० ॥

विराम—

यत्रार्थस्य समाप्तिः स्यात् स विराम इति स्मृतः ।

छन्द में उद्दिष्ट अर्थ की समाप्ति हो जाना 'विराम' कहलाता है ।

पाद—

पादश्च पद्यतेर्धातोश्चतुर्भागः प्रकीर्तितः ॥ ९१ ॥

'पाद' शब्द पद धातु से निष्पन्न होता है । छन्द का एक चौथाई भाग 'पाद' कहलाता है ॥ ९१ ॥

---

१. दैवतस्थानमक्षरम्—ग० ।
२. वर्णस्वराधिकैः—क०; वर्णस्वरोऽधिकं—ग० ।
३. हीनं नैवातिरिक्तञ्च यत्तु स्यात् पादयोगतः ।
विधाने छन्दसामस्मिन् सा हि सम्पदुदाहृता ॥—क० ।
४. क्रमः—ग० ।
५. विविधा—क० ।
६. त्यभिधीयते—क० ।
७. पादस्य—क० ।
८. गत्यर्थात् सम्प्रकीर्तितः—क०, चतुर्भाग इति स्मृतः—ग० ।

छन्दों के अधिदेवता—

अग्न्यादि[1] दैवतं प्रोक्तम्—

अग्नि आदि इन छन्दों (तथा गणों) के अधिकारी देव होते हैं।

स्थान—

स्थानं द्विविधमुच्यते।
शरीराश्रयसम्भूतं दिगाश्रयमथापि वा[2][3] ॥ ९२ ॥

शरीर तथा दिशाओं के आश्रित रहने से 'स्थान' दो प्रकार का होता है ॥ ९२ ॥

ह्रस्वं[4] दीर्घं प्लुतश्चैव त्रिविधं चाक्षरं[5] स्मृतम्।
श्वेतादयस्तथा वर्णाः विज्ञेयाः छन्दसामिह ॥ ९३ ॥

अक्षर—ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत (नामक) तीन प्रकार के अक्षर होते हैं। वर्ण—छन्दों के श्वेत आदि वर्ण होते हैं ॥ ९३ ॥

स्वर—

तारश्चैव हि मन्द्रश्च मध्यमश्च[6] त्रिधा स्वरः[7]।
ध्रुवाविधाने चैवास्य[8] सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ९४ ॥

तार, मन्द तथा मध्यनामक तीन भेद स्वरों के (गेय-पदों के उपयोगार्थ) जानो। स्वरों का विशेष वर्णन ध्रुवा-विधान (ना० शा० अ० ३२) में किया जायगा ॥ ९४ ॥

---

१. देवा ह्यग्न्यादयः प्रोक्ताः—क०।

२. ऋक्सामाश्रयमेव च—क०; दिशाश्रय—ख०; जिह्वाश्रय—ग०।

३. अस्मात्परं क० पुस्तके।

शारीरं मन्त्रसम्भूतं छन्दो गायत्रसंज्ञितम्।
क्रुष्टे मध्यन्दिनं प्रोक्तं त्रैष्टुभं परिकीर्त्यते।
तृतीयसवनञ्चापि शीर्षण्यं जागतं हि तत् ॥

इति सार्धः श्लोको लभ्यते।

४. प्लुतं दीर्घञ्च ह्रस्वञ्च—क०।

५. ह्यक्षरं—क०।

६. मध्यश्च त्रिविधः स्वरः—क०।

७. स्मृतः—क०।

८. चैतेषां—क०।

विधि—

विधिर्गणकृतश्चैव तथा चार्थकृतोऽपि च ।[1]

गण तथा अर्थ के अनुसार किया गया कार्य 'विधि' या नियम कहलाता है ।

वृत्त के तीन प्रकार—

वृत्तमर्धसमश्चैव समं विषममेव च ॥ ९५ ॥[2]

वर्णिक छन्द के तीन प्रकार हैं–सम, अर्धसम तथा विषम-वृत्त ॥ ९५ ॥

छन्दसो यस्य पादे[3] स्यान्द्धीनं वाधिकमेव वा ।
अक्षरं तन्निवृत् प्रोक्तं[4] भुरुक् चेति द्विजातिभिः[5] ॥ ९६ ॥
अक्षराभ्यां यदा[6] द्वाभ्यामधिकं हीनमेव वा ।
तच्छन्दो नामतो[7] ज्ञेयं स्वराडथ विराडपि ॥ ९७ ॥

जिस छन्द के पाद में अक्षर की कमी या वृद्धि हो जाय उसे (क्रमशः) 'निवृत्' व 'भुरुक्' कहते हैं । इसी प्रकार छन्द के पाद में दो अक्षरों की कमी या वृद्धि हो जाने पर उसे स्वराट् या विराट् कहते हैं ॥ ९६–९७ ॥

सर्वेषामेव वृत्तानां तज्ज्ञैर्ज्ञेया गणास्त्रिकाः[8] ।
दिव्यो दिव्येतरश्चैव[9] दिव्यमानुष एव च ॥ ९८ ॥

सभी वर्णवृत्तों की तीन श्रेणियाँ होती हैं । दिव्य, दिव्येतर, (मानुष) तथा दिव्यमानुष ॥ ९८ ॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुप् च जगती चैव दिव्यो[10]ऽयं प्रथमो गणः ॥ ९९ ॥

---

१. कालकृतश्चापि तथा चैवार्थतो भवेत्—क० । विधिः कालकृतश्चैव तथैवार्थकृतो—ग० ।

२. विषमं सममेव वा—क० ।

३. पादः—क० ।

४. वृत्तं निवृदिति प्रोक्तं—क० ।

५. द्विजोत्तमाः—क० ।

६. सदा—क० ।

७. नाम तत्—क० ।

८. गणास्त्रयः—ख० ।

९. दिव्यतरश्चैव—ख० ।

१०. दिव्यस्तु—क० ।

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, त्रिष्टुप् तथा जगती दिव्यश्रेणी के अन्तर्गत आते हैं ॥ ९९ ॥

तथातिजगती चैव शक्वरी ह्यतिशक्वरी[1] ।
अष्टिरत्यष्टिरपि च धृतिश्चातिधृतिर्गणः ॥ १०० ॥

अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अत्यष्टि, धृति तथा अतिधृति द्वितीय (दिव्येतर) श्रेणी में समाविष्ट किये जाते हैं ॥ १०० ॥

कृतिश्च प्रकृतिश्चैव ह्याकृतिर्विकृतिस्तथा[2] ।
सङ्कृत्यभिकृतीश्चैव ह्युत्कृतिर्दिव्यमानुषः[3] ॥ १०१ ॥

कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति तथा उत्कृति—दिव्यमानुष श्रेणी के होते हैं[1] ॥ १०१ ॥

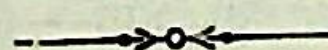
इति छन्दांसि यानीह मयोक्तानि द्विजोत्तमाः[4] ।
वृत्तान्येतेषु नाट्येऽस्मिन् प्रयोज्यानि निबोधत ॥ १०२ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वाचिकाभिनये
छन्दोविधानं नाम पञ्चदशोऽध्यायः[5] ।



हे ब्राह्मणो, यहाँ मैंने छन्दोविधान बतलाया । अब उनका नाटकों में व्यवहारार्थ लक्षण अगले अध्याय में बतलाया जायगा । आप इसे ध्यान से सुनिये ॥ १०२ ॥

नाट्यशास्त्र का 'छन्दोविधान' नामक १५ वाँ अध्याय समाप्त



---

१. (१०१) यहाँ सत्रह श्लोक अधिक प्राप्त होते हैं । ये प्रक्षिप्त (प्रतीत) होने के कारण मूल पाठ में नहीं दिये गये । मूल सहित इन श्लोकों का अर्थ आगे परिशिष्ट में दिया जा रहा है ।

---

१. चातिशक्वरी—ग० ।
२. व्याकृति—ख०; ग० ।
३. मानुषा—ख०; ग० ।
४. छन्दांस्येतान्यथोक्तानि मयैवं तु द्विजोत्तमाः—क० ।
५. चतुर्दशोऽध्यायः—क०; ख० ।

षोडशोऽध्यायः

वृत्तविधानाध्यायः

छन्दांस्येवं हि यानीह मयोक्तानि द्विजोत्तमाः ।
वृत्तानि तेषु नाट्येऽस्मिन् प्रयोज्यानि निबोधत ॥ १ ॥

हे मुनियों, इस प्रकार मैंने जिन छन्दों को पहिले बतलाया था अब उनका नाट्य-प्रयोग के व्यवहारार्थ लक्षण सुनिये ॥ १ ॥

आद्ये पुनरन्त्ये द्वे द्वे गुरूणी चेत् ।
सा स्यात्तनुमध्या गायत्रसमुत्था ॥ २ ॥

तनुमध्या—यह गायत्री छन्द के वर्ग में आता है । इसके प्रत्येक पाद में प्रथम दो तथा अन्तिम वर्ण गुरु होता[1] है ॥ २ ॥

यथा—संत्यक्तविभूषा भ्रष्टाञ्जननेत्रा ।
हस्तार्पितगण्डा किं त्वं तनुमध्या ॥ ३ ॥

हे कृशोदरि, तुमने अपने गहनों को क्यों निकाल दिया । तुम्हारी आंखें काजल से क्यों हीन हैं और तुम अपने कपोलों को हाथों के सहारे क्यों थामें हुए हो ॥ ३ ॥

लघुगण आदौ भवति चतुष्कः ।
गुरुयुगमन्त्ये मकरकशीर्षा ॥ ४ ॥

मकरशीर्षा—यदि प्रारम्भ के चार वर्ण लघु तथा अन्तिम दो वर्ण गुरु हों तो (गायत्री छन्द के वर्ग में) मकरशीर्षा[2] नामक वृत होता है ॥ ४ ॥

---

१. इस वृत्त की तरह अन्य वृत्तों के लक्षण भी वर्णित वृत्त के उदाहरण हो सकते हैं । यह क्रम आगे भी देखा जा सकता है ।

२. वृत्तरत्नाकर तथा प्राकृत-पैंगल आदि छन्दोग्रन्थों में इस छन्द का नाम 'शशिवदना' तथा लक्षण उपर्युक्त ही दिया गया मिलता है ।

---

१. इति च्छन्दांसि यानीह—ख०; ग० ।

२ वृत्तान्येतानि—क०; वृत्तान्येतेषु—ख०; ग० । ३. पादे—क० ।

४. मध्ये लघुनी चेद्वृत्तं तनुमध्या—क०; वृत्तं तनुमध्या—ग० ।

५. वक्त्रा—ग० । ६. किं त्वं तनुमध्ये—क; किञ्चित्तनुमध्या ग० ।

७. आद्यो—ख०; ग० । ८. मन्ते—ग० । ९. मधुकरशीर्षा—क० ।

यथा—स्वयमुपयान्तं[1] भजसि न कान्तं ।
भयकरि किं त्वं मकरकशीर्षा ॥ ५ ॥

हे भयकरि, तुम स्वयं होकर आने वाले अपने प्रिय का अभिनन्दन क्यों नहीं करतीं, क्या तुम्हारा भेजा (सर) मगर के समान (जड़) है ।

[एकमात्रं षट्के स्याद्द्वितीयं पादे ।
ख्यातरूपा वृत्ते मालिनी सा नाम्ना]

[यदि छः अक्षरों के पाद में दूसरा लघु तथा शेष गुरुवर्ण हो तो ऐसे प्रसिद्ध वृत्त का नाम 'मालती' होगा ।]

द्वितीयं पञ्चमञ्चैव लघु यत्र प्रतिष्ठितम् ।
शेषाणि च गुरूणि स्युर्मालती नाम सा यथा ॥ ६ ॥

मालती—यदि छः अक्षरों के पाद में दूसरा तथा पाँचवाँ लघु तथा शेष वर्ण गुरु हों तो 'मालती' वृत्त होता है ॥ ६ ॥

उदा०—शोभते वुद्धया षट्पदा[2]विद्धया ।
मालतीमालया मानिनी लीलया ॥ ७ ॥

(यह) मानिनी नायिका (इस) मालतीमाला को धारण करने पर बड़ी भली दीखती है । जिस पर भँवरे मँडरा रहे हैं ॥ ७ ॥

षडक्षरकृते पादे लघु यत्र द्वितीयकम् ।
शेषाणि तु गुरूणि स्युर्मालिनी सा मता यथा ॥ ८ ॥

मालिनी—यदि छः अक्षरों के पाद में दूसरा वर्ण लघु तथा शेष वर्ण गुरु हों तो 'मालिनी'[1] नामक वृत्त होता है ॥ ८ ॥

यथा—स्नानगन्धाधिक्यैर्वस्त्रैर्भूषायोगैः ।
व्यक्तमेवासौ त्वं मालिनी प्रख्याता ॥ ९ ॥

अरी, स्नान करने, माला धारण करने और वस्त्र तथा अलङ्कारों के धारण करने पर तो तू सचमुच 'मालिनी' (माला धारण करने वाली) नजर आने लगी है ॥ ९ ॥

---

१. वृत्तरत्नाकर तथा पिंगल आदि की इष्ट 'मालिनी' यह नहीं है । नाट्यशास्त्र में मालिनी का लक्षण नान्दीमुखी के नाम से प्राप्य है ।

---

१. कमलनिभास्ये परिजनमध्ये । वरतनु किं त्वं मकरकशीर्षा—क० ।

२. षटपदाबद्धया—क० । ३. मालिनी—क० । ४. व्यक्तभूषा—क ।

५. एवैषां, एवैषा, एष्वेषा—क० ।

द्वितीयश्च चतुर्थश्च पञ्चमश्च यदा लघु।
यस्याः सप्ताक्षरे पादे ज्ञेया सा तूद्धता यथा[1] ॥ १० ॥

उद्धता—*सात अक्षरों के पाद वाले छन्दों में दूसरा, चौथा, पाँचवाँ वर्ण लघु हो तो 'उद्धता' वृत्त होता है।*

यथा—दन्तघातकृताङ्कं[2] व्याकुलालकशोभम्[3]।
शंसतीव[4] तवास्यं निर्दयं[5] रतयुद्धम् ॥ ११ ॥

अरी, तेरे चेहरे पर प्रियतम के दन्ताघात के ये निशान और चारों ओर बिखरे हुए ये बाल (तेरे) प्रणय समर को स्वयं प्रकट कर रहे हैं। (कहने से क्या लाभ !)

आदौ द्वे नैधने[6] चैव गुरूणी यत्र वै सदा।
पादे सप्ताक्षरे ज्ञेया नाम्ना भ्रमरमालिका[7] ॥ १२ ॥

भ्रमरमाला—*सात अक्षरों के पाद वाले छन्दों में पहले दो तथा अन्तिम दो वर्ण गुरु हों तथा शेष वर्ण लघु हों तो 'भ्रमरमाला' वृत्त होता है ॥ १२ ॥*

यथा—नानाकुसुमचित्रे प्राप्ते[8] सुरभिमासे।
पश्य[9] भ्रमति मत्ता कान्ते भ्रमरमाला ॥ १३ ॥

प्रिये, इस (वसन्त ऋतु के) चैत मास में विभिन्न पुष्पों के उद्गम से—जो बड़ा ही अनोखा दिख रहा है—यह भ्रमरावली मदमत्त होकर घूम रही है ॥ १३ ॥

---

१. सौत्रिको यदि पादे अक्षरश्च गकारः। उष्णिगुत्थितपादा उद्धता खलु नाम्ना ॥ इति उद्धतायाश्चापरं लक्षणं—क-पुस्तकेऽधिकम्।

२. कुन्तकृतास्त्रं—क०; नखाग्रम्—क; कुन्तकृताङ्गं—ग०।

३. केशसंकुलिताग्रम्—क०।

४. शंसते तव वक्त्रं युद्धमुद्धतवेषम्—क०; ख०।

५. निर्भरं—क०।

६. निधने—क०; ख०।

७. पादे यदि निविष्टौ सम्यग्विरचितौ त्सौ। अन्त्ये यदि गकारः सा तु भ्रमरमाला—क०; ग०।

८. काले मदनभोग्ये—क०।

९. कुञ्जेषु मधुमत्ता रौति भ्रमरमाला—क०।

आद्यं तृतीयमन्त्यञ्च पञ्चमं सप्तमन्तथा।
गुरूण्यष्टाक्षरे पादे सिंहलेखेति सा यथा॥ १४॥

सिंहलेखा—(लीला) यदि आठ अक्षरों के पाद में प्रथम, तृतीय, पञ्चम, सप्तम तथा अन्तिम (आठवाँ) वर्ण गुरू हो तो 'सिंहलेखा' वृत्त होता है ॥ १४ ॥

यथा—यत्त्वया ह्यनेकभावैश्चेष्टितं रहः सुगात्रि।
तन्मनो मम प्रविष्टं वृत्तमत्र सिंहलेखम् ॥ १५॥

हे शोभने, तूने एकान्त में जो अनेक भावाश्रित चेष्टाएँ कीं वे मेरे मन को आज सिंह के नखों के समान कुरेद रही हैं ॥ १५ ॥

चतुर्थञ्च द्वितीयञ्च षष्ठमष्टममेव च।
गुरूण्यष्टाक्षरे पादे यत्र तन्मत्तचेष्टितम् ॥ १६॥

मत्तचेष्टित—यदि आठ अक्षरों के पाद में दूसरा, चौथा, छठा तथा आठवाँ वर्ण गुरू हो तो 'मत्तचेष्टितं' वृत्त होता है ॥ १६ ॥

यथा—चरावघूर्णितेक्षणं विलम्बिताकुलालकम्।
असंस्थितैः पदैः प्रिया करोति मत्तचेष्टितम् ॥ १७॥

यह प्रियतमा बार-बार अपनी आँखों को घुमाकर, बालों को लम्बे फैला कर और पैरों को लड़खड़ाता हुआ रखकर नशेबाजी की नकल कर रही है ॥ १७ ॥

---

१. मत्तचेष्टित का अन्य पिंगल तथा उत्तरकालीन छन्द ग्रन्थों में 'प्रमाणिका' नाम प्राप्य है परन्तु लक्षण यही है।

---

१. जौ तु यस्य गौ च पादे संस्थितौ समस्तरूपी। तामनुष्टुभाश्रयस्थां वावदन्ति सिंहलेखा (लीला)म्—क०; ख०!

२. त्वया हि नैक—क०। ३. चेष्टितो—क०। ४. प्रदिष्टं।

५. सिंहलीलम्—क०; ग०। अस्योदाहरणं ग–पुस्तक पाठान्तरे भिन्नमेव दृश्यते—वैरिवारणान्तकारिन् वीर तावकं स्तुवन्ति।
जन्यकानने करालं वृत्तमत्र सिंहलीलम्॥

६. यदा तु जातपरौ रलौ गकार एव च स्थितम्। अनुष्टुबुद्भवं तदा वदन्ति मत्तचेष्टितम्॥ इति क०; ग० पु० अधिकम्।

७. मदावघूर्ण—ख०; ग०। ८. विलम्बितालकाकुलम्—ग०।

अष्टाक्षरकृते पादे सर्वाण्येव भवन्ति हि।
गुरूणि यस्मिन् सा नाम्ना विद्युल्लेखेति संज्ञिता॥ १८॥

विद्युल्लेखा—यदि आठ अक्षरों के पाद में सभी वर्ण गुरू हों तो विद्युल्लेखा वृत्त[1] होता है॥ १८॥

यथा—[2]साम्भोभारैरानदद्भिः श्यामाम्भोदैर्व्याप्ते व्योम्नि।
[3]आदित्यांशुस्पर्द्धिन्येषा[4] दिक्षु भ्रान्ता विद्युन्माला[5]॥ १९॥

आकाश गरजते हुए काले बादलों की घटाओं से व्याप्त है और सूर्य के किरणों से स्पर्द्धा करने को (इनके बीच) बिजली भी अनेक दिशाओं से भागती हुई आ रही है॥ १९॥

पँ[6]ञ्चमं सप्तमञ्चान्त्यं गुरु पादेऽष्टके तथा।
छन्दोज्ञैर्ज्ञेयमेतत्तु वृत्तं चित्तविलासितम्॥ २०॥

चित्तविलसित—यदि आठ अक्षरों के पाद में पाँचवाँ, सातवाँ और आठवाँ वर्ण गुरू हो तो 'चित्तविलसित' वृत्त होता है॥ २०॥

यथा—स्मितवशविप्रकाशैर्दशनपदैरमीभिः।
वरतनु पूर्णचन्द्रं तव मुखमावृणोति॥ २१॥

हे वरतनु, मुसकान के समय प्रकट होने वाली दांतों की इस चमक के कारण तुम्हारा मुख पूर्णचन्द्र को आच्छादित (तिरस्कृत) कर रहा है॥ २१॥

नवाक्षरकृते पादे त्रीणिस्युर्नैधनानि च।
गुरूणि यस्याः सा नाम्ना ज्ञेया मधुकरी यथा[7]॥ २२॥

---

१. विद्युल्लेखा का नाम 'विद्युन्माला' वृत्तरत्नाकर आदि ग्रन्थों में दिया गया है।

---

१. इदं लक्षणं क० ग० पु० यथा—
मो गो चान्त्यौ यस्याः पादे पादस्यान्ते विच्छेदश्च।
सा चानुष्टुप्छन्दस्युक्ता नित्यं सद्भिर्विद्युन्माला॥

२. साम्भोम्भोदैर्व्याप्तैर्व्योम्ना गम्भीरोघैर्नानानादैः—क; अम्भोभारैरानदद्भिः—ख०; सान्द्राम्भोभिर्नादाम्भोधै श्यामाकारै—ग०।

३. आदित्यांशुप्रख्या ह्येषा—क०। ४. स्पर्द्धिन्येषा—क०।

५. विद्युल्लेखा—ख०; ग०। ६. एतद्वृत्तलक्षणं ख० ग०—पु० नास्ति।

७. इदं लक्षणं क–ग० पु० त्वेवम्—
षडिह यदि लघूनि स्युर्निधनगतमकारश्चेत्।
बुधजनबृहतीसंस्था भवति मधुकरी नाम्ना॥

मधुकरी—यदि नौ अक्षरों के पाद में अन्तिम तीन वर्ण गुरु हों तो मधुकरी[1] वृत्त होता है ॥ २२ ॥

यथा—[1]कुसुमितमभिपश्यन्ती [2]विविधतरुगणैश्छन्नम् ।
[3]वनमतिशयगन्धाढ्यं भ्रमति[4] मधुकरी हृष्टा ॥ २३ ॥

यह भ्रमरी विभिन्न वृक्षों से पूर्ण तथा अनेक पुष्पों की सुगन्ध से व्याप्त इस वन को देखकर प्रसन्नता से झूमने लगी है ॥ २३ ॥

दशाक्षरकृते पादे त्रीण्यादौ त्रीणि नैधने[5] ।
यस्या गुरूणि सा ज्ञेया पङ्क्तिरुत्पलमालिका[6] ॥ २४ ॥

उत्पलमाला—यदि दस अक्षर के पाद में प्रथम तथा अन्तिम तीन वर्ण गुरु हों तो 'उत्पलमाला'[2] वृत्त होता है (इसे 'कुवलयमालिका' जानों—पाठान्तर से अर्थ)

यथा—अस्मिंस्ते शिरसि[7] तदा कान्ते
[8]वैदूर्यस्फटिक-सुवर्णाढ्ये ।
शोभा[9] स्वां न वहति तां बद्धा
सुश्लिष्टा[10] कुवलयमालेयम् ॥ २५ ॥

प्रिये, यह कुवलयों की माला (जब) तुम्हारे वैदूर्य, स्फटिक तथा सुवर्ण के अलंकारों सहित शिरस्थ केशों से बंधी थी तब इसकी स्वाभाविक शोभा आच्छादित हो रही थी ॥ २५ ॥

---

१. मधुकारी का पिंगल छन्द सूत्र में 'भुजगशशिभृता' नाम मिलता है ।
२. कुवलयमाला का पिंगल छन्दःसूत्र में 'पणव' नाम मिलता है ।

---

१. कुसुमितमपि पश्यन्ती—क; मपश्यन्ती—ग० ।
२. शुभविहगगणै—क० ।
३. नवनलिनसुगन्धाढ्यं—ख०, ग० ।
४. सुतनु—क० ।
५. नैधनानितु—क० ।
६. मालिनी—ख०; ग० । अस्या लक्षणमपरं क—पु० त्वेवम्—
त्रीण्यादौ यदि हि गुरूणि स्युश्चत्वारो यदि लघवो मध्ये ।
पङ्क्तावन्तगतमकारः स्याद् विज्ञेया कुवलयमाला(सा)ख्या ॥
७. भ्रमरनिभे कान्ते—ख०; ग० ।
८. नानारत्नरचितभूषाढ्ये—ख०; ग० ।
९. शोभामावहति शुभां मूर्ध्नि—क; ख० ।
१०. प्रोत्फुल्ला—ख०; ग० ।

द्वितीयश्च चतुर्थश्च षष्ठमष्टममेव च।
ह्रस्वं दशाक्षरे पादे यत्र सा शिखिसारणी[1] ॥ २६ ॥

मयूर (शिखि) सारणी—यदि दस अक्षर के पाद में दूसरा, चौथा, छठा तथा आठवां वर्ण लघु हो तो 'मयूरसारिणी'[1] वृत्त होता है ॥ २६ ॥

यथा—नैव तेऽस्ति सङ्गमो मनुष्यै
नापि कामभोगचिह्नमन्यत्।
गर्भिणीव[2] दृश्यसे ह्यनार्ये
किं मयूरसारिणी त्वमेवम्[3] ॥ २७ ॥

अरी, अनार्ये, तेरा मनुष्यों से मिलाप नहीं, न तूने कोई और उपभोग चिह्न धारण किया फिर भी तुम गर्भिणी के समान दिखाई दे रही हो और मयूर के समान आचरण कर रही हो ॥ २७ ॥

आद्यं चतुर्थमन्त्यश्च सप्तमं दशमं तथा।
गुरूणि त्रैष्टुभे पादे यत्र स्युर्दोधकन्तु तत्[4] ॥ २८ ॥

दोधक—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद में प्रथम, चतुर्थ, सातवां दसवां तथा अन्तिम वर्ण गुरू हो तो 'दोधक' वृत्त होता है ॥ २८ ॥

यथा—[5]प्रस्खलिताग्रपदप्रविचारं
मत्तविघूर्णितगात्रविलासम्[6]।
पश्य विलासिनि कुञ्जरमेतं[7]
दोधकवृत्तमयं[8] प्रकरोति ॥ २९ ॥

---

१. मयूरसारिणी का पिंगल ने 'मयूरसारा' नाम दिया है तथा वृत्तरत्नाकर में भी इसका यही नाम मिलता है।

---

१. क० ग० पुस्तकस्थं लक्षणं यथा—
जौं त्रिको तु पादगौ तु यस्या गौं च संश्रितौ तथा समस्तौ।
पङ्क्तियोगसुप्रतिष्ठिताङ्गी (ताङ्गा—ग०) सा मयूरसारिणीति नाम्ना ॥

२. गर्भिणी च जायसे—क०। ३. त्वमेव—ख०; ग०।

४. अस्य क० ग०—पुस्तकस्थं लक्षणं तु—भौ तु भगाविति (भगौ गिति—ग०) यस्य गणाः स्युस्स्याच्च यतिस्त्रिचतुर्भिरथोक्ता (पाठवशाच्च गतिस्खलिता-स्यात्—क०)। त्रैष्टुभमेव हि तत्खलु नाम्ना दोधकवृत्तमिति प्रवदन्ति ॥

५. प्रस्खलमानगतिप्रविचारो—क०। ६. विलासः—क०।

७. कुञ्जर एषो—क०। ८ वृत्तगतिं प्रकरोति—क०, ख०।

अरे विलासिनी, जरा इस हाथी को तो देख—जो अपने आगे के पैरों को लड़खड़ाते हुए रखकर तथा शरीर की चेष्टाओं को मद्यप जैसी बनाकर छोटे बछड़े (गोवत्स) जैसी चेष्टाएं कर रहा है ॥ २९ ॥

आदौ[1] द्वौ पञ्चमश्चैवाप्यष्टमं[2] नैधनं तथा।
गुरूण्येकादशे पादे यत्र तन्मोटकं यथा ॥ ३० ॥

मोटक—यदि ग्यारह अक्षर के पाद में पहले दो, पंचम, अष्टम तथा अन्तिम वर्ण गुरू हो तो मोटक[1] वृत्त होता है ॥ ३० ॥

◡◡ ‒‒◡ ‒‒◡ ‒ ◡

यथा—एषोऽम्बुदनिस्वनतुल्यरवः
[3]क्षीबः [4]स्खलमानविलम्बगतिः।
श्रुत्वा [5]घनगर्जितमद्रितटे
वृक्षान् [6]प्रतिमोटयति द्विरदः ॥ ३१ ॥

यह हाथी पर्वत-प्रदेश में मेघों की गर्जना सुन उसी जैसी मस्ती में लड़खड़ाती हुई धीमी चाल से चल रहा है और वृक्षों को (अपनी पैरों की) ठोकर दे रहा है ॥ ३१ ॥

नवमं सप्तमं षष्ठं तृतीयञ्च भवेल्लघु[7]।
एकादशाक्षरे पादे इन्द्रवज्रेति सा यथा[8] ॥ ३२ ॥

इन्द्रवज्रा—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद में तीसरा, छठा, सातवां तथा नवा अक्षर लघु हो तो 'इन्द्रवज्रा' वृत्त होता है ॥ ३२ ॥

◡ ◡‒ ◡ ◡ ‒‒◡‒◡◡

यथा—त्वं[9] दुर्निरीक्ष्या दुरतिप्रसादा
[10]दुःखैकसाध्या कठिनैकभावा।
सर्वास्ववस्थासु च कामतन्त्रे
योग्यासि किं वा बहुनेन्द्रवज्रा[11] ॥ ३३ ॥

१. मोटक का छन्दोमंजरी में 'मोटनक' नाम मिलता है। लक्षण यही है।

१. द्वे आद्ये—क० । २. गुरु एकादशाक्षरे—क० ।
३. क्षीण:—क० । ४. स्खलदङ्ग—ख० ।
५ घननिस्स्वन—क० । ६. प्रतितोटयते—क०, मोटयते—ग० ।
७. लघून्यथ—क० । ८. स्मृता—क० ।
९. दुष्प्रेक्षणीया विगतप्रसादा दुःखेन साध्या कठिनाभिघाता—क०, चन्द्रं निरीक्ष्यादुरितस्वभावा—ग० ।
१०. दुःखेन साध्या कठिनी स्तनी ते—ख० । ११. वज्रे—क० ।

तुम देखने में भद्दी, कठिनाई से प्रसन्न होने वाली, कष्ट से अनुकूलता को ग्रहण करने वाली, कठोर भावों से व्याप्त तथा अनुराग की सभी अवस्थाओं तथा भावनाओं से अनजान हो, थोड़े में बस इतना ही कहा जा सकता है कि तुम सभी कामतन्त्र की बातों में अयोग्य और इन्द्र के वज्र जैसी कठोर (कठिन, जड़) हो ॥ ३३ ॥

एभिरेव तु संयुक्ता लघुभिस्त्रैष्टुभी यदा।
उपेन्द्रवज्रा विज्ञेया लघ्वादाविह[1] केवलम् ॥ ३४ ॥

उपेन्द्रवज्रा—ग्यारह अक्षरों के (त्रिष्टुप् जाति के) पाद में यदि, प्रथम, तृतीय, षष्ठ, सप्तम तथा नवम अक्षर लघु हो तो उपेन्द्रवज्रा वृत्त जानों ॥ ३४ ॥

यथा—प्रिये[2] श्रिया वर्णविशेषणेन
[3]स्मितेन कान्त्या सुकुमारभावात्।
अमी गुणा रूपगुणानुरूपा
[4]भवन्ति ते किं त्वमुपेन्द्रवज्रा ॥ ३५ ॥

प्रिये, तुम अपनी शारीरिक शोभा, (वेष के विशिष्ट रंग, स्मित, कान्ति तथा शरीर की सुकुमारता से युक्त हो) तुम्हारे ये गुण तुम्हारे स्वरूप (रूप) तथा गुणों के अनुरूप ही है क्या तुम इन्द्र का दूसरा वज्रमय शस्त्र तो नहीं हो ? ॥ ३५ ॥

आद्यं तृतीयमन्त्यञ्च सप्तमं नवमं तथा।
गुरूण्येकादशे[5] पादे यत्र सा तु रथोद्धता ॥ ३६ ॥

रथोद्धता—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद में पहिला, तीसरा, सातवां, नवां तथा अन्तिम वर्ण गुरू हो तो रथोद्धता वृत्त होता है ॥ ३६ ॥

यथा—किं त्वया सुभट[6] दूरवर्जितं[7]
नात्मनो न [8]सुहृदां प्रियं कृतम्।

---

१. दावथ—क०, लघ्वाद्यमिह—ख० ।
२. प्रेम्णा श्रिया—क०; ख०; श्रिया च वर्णेन विशेषणेन—ग० ।
३. यथा च कान्त्या सुकुमारयुक्त्या—क० । ४. स्मितेन—ख० ।
५. गुर्वेकादशके—क० । ६. सुभग—क० ।
७. वर्जितात्मना—क० । ८. सुहृदः—क० ।

यत् पलायनपरायणस्य ते
याति धूलिरधुना रथोद्धता[1] ॥ ३७ ॥

हे वीर, तुमने पूर्ण रूप से युद्धभूमि को छोड़ दी इस प्रकार तुमने न तो अपना और न ही मित्रों का हित किया। क्योंकि युद्धभूमि से भागने वाले तुम्हारे मार्ग से रथों से उठाई गई धूल अब भी उठ रही है ॥ ३७ ॥

आद्यं तृतीयमन्त्यञ्च सप्तमं दशमं गुरु[2]।
[3]यस्यास्तु त्रैष्टुभे पादे विज्ञेया स्वागता हि सा ॥ ३८ ॥

स्वागता—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद में पहिला, तीसरा, सातवां तथा दसवां अक्षर गुरु हो तो 'स्वागता' वृत्त होता है ॥ ३८ ॥

यथा—अद्य मे सफलमायतनेत्रे
जीवितं मदनसंश्रयभावम्[4]।
आगताऽसि [5]भवनं मम यस्मात्
स्वागतं तव वरोरु निषीद ॥ ३९ ॥

आज मेरे विशाल नयनों ने उनका विषय प्राप्त किया और इसी प्रकार मेरे जीवन तथा प्रेम ने भी, क्योंकि आप मेरे घर पधारी, हे सुन्दरी, (वरोरू) आपका स्वागत है, अब आप विराजिये ॥ ३९ ॥

षष्ठञ्च नवमञ्चैव [6]लघुनी त्रैष्टुभे यदि।
[7]गुरूण्यन्यानि पादे तु सा ज्ञेया शालिनी यथा ॥ ४० ॥

शालिनी—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद में छठा तथा नवां अक्षर लघु (तथा शेष गुरू) हो तो 'शालिनी' वृत्त होता है ॥ ४० ॥

---

१. क. पुस्तके उदाहरणान्तरमपि। तद्यथा—
किं त्वया कुमतिसज्ञया सदा नाशयेव सुहृदां प्रियं कृतम्।
यद् गृहाद्वचनरोषकम्पिता याति तूर्णमबला रथोद्धता ॥

२. तथा—क०।

३. गुरूणि त्रैष्टुभे पादे यत्र सा स्वागता यथा—क०, ग०।

४. संश्रितभावम्—क; ग०; संस्कृतभावम्—ख०।

५ सदनं—क०; ग०। ६. लघु स्यात्—ग०।

७. चतुर्भिराद्यैर्विच्छेदः—ग०।

– ⏑⏑ ⏑ ⏑–⏑ ⏑–⏑ ⏑

यथा—दुःशीलं[1] वा निर्गुणं वापरं वा
लोके धैर्यादप्रियं न ब्रवीषि[2]।
[3]तस्माच्छीलं साधुहेतोः सुवृत्तं
माधुर्यात् स्यात् सर्वथा शालिनी त्वम् ॥ ४१ ॥

तुम इतनी धैर्यशालिनी हो कि तुमने कभी किसी व्यक्ति को-जो चरित्र-हीन गुणहीन या शत्रु भी क्यों न हो—कुशब्द नहीं कहा। हे साध्वी, इसी कारण तुम्हारा सभ्य (अर्थ) व्यवहार चारों ओर व्याप्त है तथा तुम मधुरता से सर्वथा शोभित गृहिणी रही हो ॥ ४१ ॥

[4]तृतीयश्चैव षष्ठश्च नवमं द्वादशं तथा।
[5]गुरूणि जागते पादे यत्र तत्तोटकं भवेत् ॥ ४२ ॥

तोटक—यदि बारह अक्षरों के पाद में तीसरा, छठा, नवां तथा बारहवां अक्षर गुरु हो तो 'तोटक' वृत्त होता है ॥ ४२ ॥

––⏑ ––⏑–––––⏑

यथा—किमिदं कपटाश्रयदुर्विषहं
[6]बहुशाठ्यमथोल्वणरूक्षकथम्[7]।
[8]स्वजनप्रियसज्जनभेदकरं
ननु तोटकवृत्तमिदं कुरुषे ॥ ४३ ॥

तुम यह धोखेबाजी से भरे असहनीय, अतिशय कपट, आग और सूखेपन लिये हुए वचनों को—जो सदाचारी आत्मीय व्यक्ति में भेद उत्पन्न

---

१. शीलभ्रष्टे निर्गुणे पापके वा (या प्रकोपा—ग०)—क०; दुःशीलं स्यादल्पकं वा सुशीलं—ख०। २. ब्रवीति—ख०।

३. आर्यं शीलं साध्वि हे तेऽनुवृत्तं माधुर्यात्—ग०।

४. षष्ठं तृतीयं नवमं गुरूण्यन्त्यमथापि वा—ख०; ग०।

५. यत्र तु द्वादशे पादे तज्ज्ञेयं तोटकं बुधैः—ख०; ग०।

(क) पुस्तकस्थञ्च तोटकलक्षणं यथा—
यदि सोऽत्र (त्रिकसोऽत्र—ग०) भवेत्तु समुद्रसमस्त्रिषु चापि तथा नियमेन यतिः।
सवतं जगतीविहितं हि ततो गदितं खलु तोटकवृत्तमिदम् ॥

६. बहुगण्डमिके—क०; ख०; बहुगर्जमिवोद्गण—ग०।

७. क्वतम्, पथम्—क०।

८. सुजन (स्वजन—ग०) प्रियदुर्जनभेदकरं—ग०।

करते हों, कहते हुए, सचमुच किसी छेदक (काटने वाले—तोटक) का आचरण कर रहे हो। (इसमें सन्देह नहीं।) ॥ ४३ ॥

आद्यं तृतीयमन्त्यञ्च पञ्चमं षष्ठमेव च।
तथोपान्त्यं जगत्याञ्च गुरु चेत् कुमुदप्रभा[1] ॥ ४४ ॥

कुमुदप्रभा—(कुमुदनिभा)—यदि बारह अक्षरों के पाद में पहला, तीसरा, पांचवा, छठा, सातवां, नवाँ, ग्यारहवां (उपान्त्य) तथा बारहवां अक्षर गुरु रहे तो 'कुमुदप्रभा (निभा)' वृत्त होता है ॥ ४४ ॥

⏑–⏑– ⏑ ⏑ ⏑–⏑–⏑⏑

यथा—कुमुदनिभा त्वं कामबाणविद्धा
किमसि नतभ्रूः शीतवातदग्धा।
[2]मृदुनलिनीवापाण्डुवक्त्रशोभा
कथमपि[3] जाता ह्यग्रतः सखीनाम् ॥ ४५ ॥

हे नतभ्रू सुन्दरी, तुम कुमुद के पुष्प के समान कोमल होकर (भी) काम के बाण से कैसे विध गई और तुम आज अपनी सखियों के सामने पाले से जली नलिनी के समान अपने पीले मुंह से युक्त होकर क्यों आ रही हो ॥ ४५ ॥

द्वादशाक्षरके पादे सप्तमं दशमं लघु।
आदौ[4] पञ्चाक्षरच्छेदश्चन्द्रलेखा तु सा यथा ॥ ४६ ॥

---

१. क—ग० पुस्तके कुमुदनिभाया लक्षणान्तरं सोदाहरणं यथा—

यदि खलु पादे यौं त्रिको तथान्त्यो षड्भिरेव वर्णैर्यदि च यतिः स्यात्।
नित्य सन्निविष्टा जगति विधाने कुमुदनिभा सा नामतः प्रसिद्धा ॥

यथा—मन्मथेन विद्धा सललितभावा नृत्तगीतयोगा प्रविकसिताक्षी।
निन्द्यमद्य किं त्वं विगलितशोभा चन्द्रपादयुक्ता कुमुदवती च ॥

मतान्तरे तु—

यदि खलु पादे न्यौ त्रिको तथा यौं
यतिरपि वर्णैः षड्भिरेव चेत् स्यात्।
जगति विधाने नित्यसन्निविष्टा
कुमुदनिभा सा नामतः प्रसिद्धा ॥ इति लक्षणं लक्ष्यञ्च।

२. नलिनीव पाण्डु—ग०। ३. कथमसि—ग०।

४. यत्रान्यानि च दीर्घाणि—क०।

चन्द्रलेखा—यदि बारह अक्षरों के पाद में सातवां तथा दसवां वर्ण लघु (तथा शेष गुरु हो) तथा पांच अक्षरों पर यति हो तो 'चन्द्रलेखा' वृत्त होता है ॥ ४६ ॥

वक्त्रं सौम्यन्ते पद्मपत्रायताक्षं
[1]कामस्यावासं सुभ्रुवोश्चावभासम्[2] ।
कामस्यापीदं काममाहर्तुकामं
कान्ते कान्त्या त्वं चन्द्रलेखेव भासि[3] ॥ ४७ ॥

प्रिये, तुम्हारा मधुर (सौम्य) आनन—जिसमें कमल के पत्रों के समान विशाल नेत्र हैं तथा भौहों की चमक काम की विश्राम स्थली (जैसी प्रतीत हो रही) है, वह आज काम की भी प्रणयवृत्ति को हर ले जाने को उद्यत हो रहा है और इसी कारण तुम अपनी देहदीप्ति से चन्द्रलेखा जैसी शोभित हो रही हो ॥ ४७ ॥

तृतीयमन्त्यं नवमं पञ्चमञ्च यदा गुरु ।
द्वादशाक्षरके पादे यत्र[4] सा प्रमिताक्षरा ॥ ४८ ॥

प्रमिताक्षरा—बारह अक्षरों के पाद में यदि तृतीय, पंचम, नवम तथा अन्तिम अक्षर गुरु हो तो प्रमिताक्षरा वृत्त होता है ॥ ४८ ॥

यथा—स्मितभाषिणी[5] ह्यचपला परुषा
[6]निभृतापवादविमुखी सततम् ।
[7]अपि कस्यचिद्युवतिरस्ति सखा
प्रमिताक्षरा स हि पुमान् जयति[8] ॥ ४९ ॥

यदि किसी की युवती भार्या स्मितपूर्वक भाषण करने वाली हो, अचंचला तथा मृदुहृदया हो, एकान्त में भी कठोर शब्दों या निन्दाव्यजंक शब्दों से विलग रहती हो तो हे मित्र, वही पुरुष भाग्यशाली या विजयी है । उस पुरुष की ही जय हो ॥ ४९ ॥

---

१. ईषत्पाण्डुवाभं—क० । २. नोच्चप्रहासम्—क० ।
३. का त्वम्—क० । ४. तदा स्यात्—ख०; ग० ।
५. स्मितहासिनी—ख०; ग० । ६. वशवर्तिनी मधुरवाङ्निभृता—क० ।
७. यदि—ग० । ८. जगति—ख० ।

द्वितीयमन्त्यं दशमं चतुर्थं पञ्चमाष्टमे।
गुरूणि द्वादशे पादे वंशस्था जगती[1] तु सा ॥ ५० ॥

वंशस्थ—यदि द्वादशाक्षर पाद में दूसरा, चौथा, पांचवां, आठवां, दसवां तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो 'वंशस्थ' वृत्त होता है ॥ ५० ॥

– ᴗ – ᴗ ᴗ – – ᴗ – ᴗ – ᴗ
यथा—न मे प्रिया[2] त्वं बहुमानवर्जिता
कृता[3] प्रिये ते परुषातिभाषणैः।
तथा च पश्याम्यहमद्य विग्रहं[4]
[5]ध्रुवं हि वंशस्थगतिं[6] करिष्यति ॥ ५१ ॥

तुम मुझे (अब) अतिशय प्रिय नहीं हो, तुम्हारे कठोर वचनों ने मुझे अप्रसन्न कर दिया। इस प्रकार मैं देखता हूं कि तुम्हारी स्वाभाविक या वंशानुकूल (वंशस्थ) वृत्ति निश्चय ही आज युद्ध को खड़ा कर देगी ॥ ५१ ॥

चतुर्थमन्त्यं दशमं सप्तमञ्च यदा गुरु।
भवेद्धि[7] जागते पादे [8]तदा स्याद्धरिणप्लुता ॥ ५२ ॥

हरिणप्लुता—यदि द्वादशाक्षर पाद में चतुर्थ, सप्तम, दशम तथा अन्तिम अक्षर गुरु हो तो हरिणप्लुता[1] वृत्त होता है ॥ ५२ ॥

– – – ᴗ – – ᴗ – – – ᴗ – ᴗ
यथा—परुषवाक्यकशाभिहता[9] त्वया
[10]भयविलोकनपार्श्वनिरीक्षणैः।

---

१. पिंगल० तथा वृत्तरत्ना० में भरतोक्त हरिणप्लुता को 'द्रुत-विलम्बित' कहा गया है।

---

१. गदिता तु सा—क०। जगतीलक्षणं क—पुस्तके त्वेवं पठ्यते—
यदि त्रिको ज्तौ भवतस्तु पादत-
स्तथैव च ज्राववसानसंस्थितौ (संज्ञितौ—ग०)।
तदा हि वृत्तं जगतीप्रतिष्ठितं
वदन्ति वंशस्थमितीह नामतः ॥ इति।

२. प्रियं यद्बहुमान—क०। ३. प्रियं प्रिया ते परुषाभिभाषिणी—क०।
४. विक्रमं—ग०। ५. क्षणेन—क०।
६. इदं करिष्यति—क०। ७. यस्यास्तु—क०।
८. सा ज्ञेया हरिण—क०। ९. कथा—क०।
१०. भयनिरीक्षणपार्श्वविलोकनैः—क०; भयविलोकनपार्श्वनिरीक्षणा—ख०।

वरतनुः प्रततप्लुतसर्पणै-
[1]रनुकरोति गतैर्हरिणप्लुतम् ॥ ५३ ॥

वह सुन्दरी (वरतनु), कठोरवचनरूपी कशा से पिट कर, भय से दोनों बगलों को देखते हुए तथा सतत चौकड़ी मार चाल से भागने के कारण हरिण की गति का अनुकरण कर रही है ॥ ५३ ॥

सप्तमं नवमं [2]चान्त्यमुपान्त्यञ्च यदा गुरु ।
द्वादशाक्षरके पादे कामदत्तेति[3] सा यथा[4] ॥ ५४ ॥

कामदत्ता—यदि बारह अक्षरों के पाद में सातवां, नवां, ग्यारहवां तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो कामदत्ता वृत्त होता है ॥ ५४ ॥

यथा—करजपदविभूषिता यथा त्वं
सुदति[5] दशनविक्षताधरा च ।
गतिरपि [6]चरणावलग्नमन्दा
त्वमसि[7] मृगनिभाक्षि[8] कामदत्ता[9] ॥ ५५ ॥

सुन्दरि, तुम जिस प्रकार इन नखक्षतों से अलङ्कृत हो तथा तुम्हारा अधर दन्तक्षत से युक्त एवं तुम्हारी लड़खड़ाती और मन्द गति है। इसे देखकर ऐसा लगता है कि हे प्रिये, तुम प्रेम (काम) के लिये ही प्रदान की गई हो ॥ ५५ ॥

आद्यं चतुर्थं दशमं सप्तमञ्च यदा[10] लघु ।
पादे[11] तु जागते यस्या अप्रमेया तु[12] सा स्मृता ॥ ५६ ॥

अप्रमेया—यदि बारह अक्षरों के पाद में पहिला, चौथा, सातवां, तथा दसवां वर्ण लघु हो तो अप्रमेया[1] वृत्त होता है ॥ ५६ ॥

---

१. अप्रमेया को पिंगल तथा अन्य ग्रन्थों ने 'भुजङ्गप्रयात' माना है ।

---

१. प्रकुरुते प्रगतं हरिणप्लुता—क० ।
२. चैव ह्यन्त्योपान्त्ये गुरूण्यथ । यत्र स्युर्जागते पादे—क० ।
३. काममत्तेति—ख०, ग० ।   ४. मता—क० ।   ५. सुतनु—क० ।
६. चरणारविन्दमन्दा—ख०; सन्नमन्दा—ग० ।   ७. तदसि—क० ।
८. समाक्षि—क० ।   ९. काममत्ता—ख०; ग० ।
१०. लघून्यथ—क० ।   ११. द्वादशाक्षरके पादे—ख० ।
१२. तथाहि सा—ग० ।

यथा—न ते काचिदन्या समा दृश्यते स्त्री
　　　[1]नृलोके विशिष्टा गुणैरद्वितीयैः ।
त्रिलोक्यां गुणाग्र्यान् समाहृत्य सर्वान्
　　　जगत्यप्रमेयासि दृष्टा[2] विधात्रा ॥ ५७ ॥

इस मर्त्य लोक में तुम्हारे जैसी दूसरी स्त्री नहीं दिखाई देती । अपने असामान्य गुणों से तुम अप्रतिम हो अतएव विधाता ने तीनों भुवनो के सभी श्रेष्ठ गुणों को एकत्र कर तुम्हें बनाया है ऐसा दिखाई देता है ॥ ५७ ॥

द्वितीयं पञ्चमञ्चैव [3]ह्यष्टमैकादशे तथा ।
पादे यत्र लघूनि स्युः पद्मिनी नाम सा यथा[4] ॥ ५८ ॥

पद्मिनी—यदि बारह अक्षर के पाद में द्वितीय, पंचम, अष्टम तथा एकादशवां वर्ण लघु हो तो पद्मिनी[1] वृत्त होता है ॥ ५८ ॥

यथा—देहतोयाशया वक्त्रपद्मोज्वला
　　　नेत्रभृङ्गाकुला दन्तहंसस्मिता[5] ।
केशपाशच्छदा चक्रवाकस्तनी
　　　पद्मिनीव प्रिये भासि मे सर्वदा[6] ॥ ५९ ॥

हे प्रिये, तुम मुझे सदा पद्मसर जैसी दिखाई देती हो । क्योंकि तुम्हारा शरीर जलाशय, तुम्हारा मुख कमल, तुम्हारे नेत्र आकुल भंवरे, तुम्हारी सस्मित दन्तपंक्ति हंस, तुम्हारे केश कमल पत्र तथा तुम्हारे उरोज चक्रवाक हैं ॥ ५९ ॥

---

१. पद्मिनी को पिंगल ने 'स्रग्विणी' कहा है ।

---

१. गुणैर्याद्वितीया तृतीयापि चास्मिन् । ममेयं मतिर्लोकमालोक्य सर्वं—ख०; ग० ।　२. सृष्टा—ख०; ग० ।　३. अष्टमैकादशं तथा —ख० ।

४. क—पुस्तकस्थमस्यैव लक्षणान्तरमेवम्—

राज्ञिकाः सागराख्या निविष्टा यदा (यदि—ख०)
　　　स्यात् त्रिके च त्रिके युक्तरूपा यतिः ।
सन्निविष्टा जगत्या (जगत्यां—ग०) स्ततः सा बुधै
　　　र्नामतश्चापि सङ्कीर्त्यते पद्मिनी ॥

५. हंसैः सिता—क० ।　६. उदाहरणान्तरमपि क—पुस्तके लभ्यते । तद्यथा—फुल्लपद्माननना त्वं द्विरेफेक्षणा केशपत्रच्छदा चक्रवाकस्तनी ।
　　　पीततोयावली बद्धकाञ्चीगुणा पद्मिनीव प्रिये भासि नीरे स्थिता ॥ इति ।

आदौ षट्दशमञ्चैव पादे यत्र लघुन्यथ।
शेषाणि तु गुरूणि स्युर्जागते [1]पुटसंज्ञिता ॥ ६० ॥

पुटवृत्ता—यदि बारह अक्षरों के पाद में प्रथम छः तथा दसवां अक्षर लघु तथा शेष गुरु हों तो पुटवृत्त[1] नामक वृत्त होता है ॥ ६० ॥

यथा—उपवनसलिलानां बालपद्मै-[2]
भ्रमरपरभृतानां कण्ठनादैः[3]।
[4]मदनमदविलासैः कामिनीनां
कथयति पुटवृत्तं पुष्पमासः ॥ ६१ ॥

यह चैत्रमास (अपने) कमल कोरकों के जो सरोवररूप वन में हैं—तथा भौरों की गुंजार, कोयल की कूक और मदमत्त कामिनिजन के लीलापूर्ण विलासों के द्वारा युगलभाव (पुटवृत्तं) की छवि की कहानी कह रहा है ॥६१॥

द्वितीयान्त्ये चतुर्थश्च नवमैकादशे गुरु।
[6]विच्छेदोऽतिजगत्यान्तु चतुर्भिः सा प्रभावती ॥ ६२ ॥

प्रभावती—यदि बारह अक्षरों के पाद में दूसरा, चौथा, नवाँ, ग्यारहवां और अन्तिम वर्ण गुरू हो तो प्रभावती नामक वृत्त होता है ॥ ६२ ॥

यथा—[7]कथं न्विदं कमलविशाललोचने
गृहं घनैः[8] पिहितकरे दिवाकरे।
[9]अचिन्त्ययन्त्यभिनववर्षविद्युत-
[10]स्त्वमागता सुतनु यथा प्रभावती ॥ ६३ ॥

---

१. पिंगल ने इसे 'पुट' कहा है। पुट-वृत्ता का 'पुटवृत्त' भी पाठान्तर मिलता है। 'पुटवृत्त' का आचार्य अभिनव-गुप्त ने अर्थ किया है 'पुटस्य युगलस्य वृत्तम्'। यहां तदनुसार ही हमने भी अर्थ किया गया है।

---

१. पटु—क०। पुटवृत्तस्य लक्षणान्तरं क. ग. पुस्तकस्थमपि लिख्यते—
यदि चरणनिविष्टौ नौ तथा म्यौ यतिविधिरपि युक्तयाष्टाभिरिष्टः।
भवति च जगतीस्थः सर्वदासौ य इह हि पुटवृत्तं नामतस्तु ॥

२. पद्मे—क०। ३. कण्ठनादे—क०।
४. समदगतिविलासे—क०। ५. कथयसि पटुवृत्तं—क०।
६. पादे तु जगतीसंस्थे यत्र सा तु—क०। ७. अदः कथं—क०।
८. गता—क०। ९. न मानसे भयमतिवृष्टिसम्भवं पराक्रमैस्त्वमसि—क०।
१०. समागता—क०।

सुन्दरि, तुम कमल के समान विशाल नेत्रों वाली हो, तुम (इस) चन्द्रमा के बादलों से ढक जाने पर, अन्धेरी हो जाने वाली इस रात में प्रारंभ होने वाली (अभिनव) वर्षा और बिजली की परवाह किये बिना और प्रभावती (सूर्यपत्नी) के समान मेरे घर कैसे चली आई ? ॥ ६३ ॥

त्रीण्यादावष्टमञ्चैव दशमं नैधनद्वयम् ।
'गुरूण्यतिजगत्यां तु त्रिभिश्छेदैः प्रहर्षिणी ॥ ६४ ॥

प्रहर्षिणी—यदि तेरह अक्षरों के पाद में पहिले तीन, आंठवां, दसवां, बारहवां तथा अन्तिमवर्ण गुरू हो तो प्रहर्षिणी वृत्त होता है । इसमें तीन स्थान पर यति रहती है ॥ ६४ ॥

यथा—भावस्थैर्मधुरकथैः[2] सुभाषितैस्त्वं
साटोपस्खलितविलम्बितैर्गतैश्च ।
[3]शोभाढ्यैर्हरसि मनांसि कामुकानां[4]
सुव्यक्तं ह्यसि[5] जगति प्रहर्षिणी[6] च ॥ ६५ ॥

हे सुन्दरि, तुम प्रेमभाव से पूर्ण तथा मीठे शब्दों वाले सुभाषितों के एवं लड़खडाने वाले मन्द मन्द पदसंचालन के द्वारा कामिजन के चित्त हर लेती हो। इससे यही 'प्रकट होता है कि इस संसार में तुम परम आल्हादक (प्रहर्षिणी) हो ॥ ६५ ॥

षष्ठञ्च सप्तमञ्चैव दशमैकादशे[7] लघु ।
त्रयोदशाक्षरे पादे ज्ञेयं मत्तमयूरकम् ॥ ६६ ॥

मत्तमयूर—यदि तेरह अक्षरों के पाद में छठा, सातवां, दसवां तथा ग्यारहवां अक्षर लघु हो तो 'मत्तमयूर' नामक वृत्त होता है ॥ ६६ ॥

यथा—विद्युन्नद्धाः [8]सेन्द्रधनूरञ्जितदेहा
वातोद्धूताः श्वेतबलाकाकृतशोभाः[9] ।

---

१. गुरूणि पादे ह्यत्रैव यस्याः सा वै प्रहर्षिणी—क० ।
२. मधुरसकैः, मधुरतरैः—क० । ३. नानाङ्गैः—ख०; ग० ।
४. मानवानां—क० । ५. ह्यतिजगती—क० ।
६. प्रहर्षिणीव—ख०; ग० ।
७. दशे तथा । लघूनि यस्य पादे तु गच्छेन्मत्तमयूरताम्—क० ।
८. सेन्द्रधनुर्द्योतितदेहा—ख०; ग० ।
९. कृतचिह्नाः—क० ।

एते मेघा [1]गर्जितनादोज्ज्वलचिह्नाः
प्रावृट्कालं मत्तमयूरं[2] कथयन्ति ॥ ६७ ॥

ये बादल—जो कड़क और चमक के प्रकट चिन्हों से बिजली और इन्द्र धनुष से युक्त होकर, वायु से संचालित और सफेद बगुलों की कतार से शोभित होकर बरसात की सूचना मदमत्तमयूरों को दे रहे हैं ॥ ६७ ॥

आदौ द्वे च चतुर्थञ्चाप्यष्टमैकादशे गुरु।
अन्त्योपान्त्ये च शक्वर्यां वसन्ततिलका यथा[3] ॥ ६८ ॥

वसन्ततिलका—यदि चौदह अक्षरों के पाद में पहिले दो, चौथा, आठवां, ग्यारहवां, तेरहवां, (उपान्त्य) तथा अन्तिम अक्षर गुरु हो तो 'वसन्ततिलका' वृत्त होता है ॥ ६८ ॥

यथा—चित्रैर्वसन्तकुसुमैः [4]कृतकेशहस्ता
स्रग्दाममाल्यरचनासुविभूषिताङ्गी ।
[5]नागावतंसकविभूषितकर्णपाशा
साक्षाद्वसन्ततिलकेन विभाति नारी ॥ ६९ ॥

यह सुन्दर वेश धारिणी कामिनी—जिसने अपने केशों के जूड़े को विविध वासन्ती पुष्पों से सजा रखा है। जो पुष्पों की मालाओं से अपना शरीर सजाए है। जिसने अपने कानों पर सुरपुंनाग पुष्पों को सजाया है। इस प्रकार जो सुन्दरी वसन्तऋतु के ललाट पर लगाए गए तिलक जैसी (वसन्ततिलका) शोभित हो रही है ॥ ६९ ॥

[6]पञ्चादौ शक्वरीपादे गुरूणि त्रीणि नैधने।
पञ्चाक्षरादौ च यतिरसम्बाधा तु सा यथा ॥ ७० ॥

असम्बाधा—यदि चौदह अक्षरों के पाद में आदि के पांच तथा अन्तिम

---

१. गर्जितगम्भीरनिनादैः—क०। २. मत्तमयूराः—ख०; ग०।

३. वसन्ततिलकैव सेतवाचार्येणोद्धर्षिणीति, काश्यपेन सिंहोन्नतेति, गोमानसेन मधुमाधवीति रामकीर्तिना चेतोहितेति कृत्वा लक्षितेति जनाश्रय्यां स्पष्टम्।

४. हृतहस्त—क०।

५. नागावतंसकविभूषितगण्डपाली; नानावतंसकविलम्बितकर्णपूरा; नानावतंसक शिरोधृतमुण्डमाला—क०।

६. चतुर्दशाक्षरे पादे पञ्चादौ त्रीणि नैधने।
यस्या गुरूण्यसम्बोधा नाम्ना ज्ञेया तु सा बुधैः ॥—क०।

तीन अक्षर गुरू हों तथा पांच अक्षरों पर यति हो तो 'असम्बाधा' नामक वृत्त होता है ॥ ७० ॥

यथा—मानी लोकज्ञः श्रुतबलकुलशीलाढ्यो
यस्मिन् [1]सम्मानं न सदृशमनु पश्येद्धि[2] ।
गच्छेत्तं त्यक्त्वा तं [3]द्रुतगतिरपरं देशं
कीर्णा नानार्थैरवनिरियमसम्बाधा ॥ ७१ ॥

वह आत्मसम्मान रखने वाला पुरुष—जो संसार को जानता हो (लोकज्ञ), विद्वान्, बलवान्, कुलवान तथा चरित्रवान् हो। उसे जहां उचित सम्मान प्राप्त न हो वहां नहीं रहना चाहिए। वह वहां से तुरन्त दूसरे (उचित) प्रदेश के लिए प्रस्थान करे, क्योंकि अनेक अर्थों से पूर्ण पृथ्वी उसके लिए कहीं भी बाधा न देगी ॥ ७१ ॥

[4]चत्वार्यादौ गुरूणि स्युर्दशमैकादशे तथा ।
अन्त्योपान्त्ये च शक्वर्याः पादे तु शरभा यथा ॥ ७२ ॥

शरभा—यदि चौदह अक्षरों के पाद में आदि के चार, दसवां, ग्यारहवां, तेरहवाँ तथा चौदहवां वर्ण गुरू हो तो 'शरभा' नामक वृत्त होता है ॥ ७२ ॥

यथा—एषा कान्ता व्रजति ललितं वेपमाना
[5]गुल्मैश्छन्नं वनमभिनवैः सम्प्रविद्धम् ।
[6]हा हा कष्टं किमिदमिति नो वेद्मि मूढो
व्यक्तं [7]कान्ते शरभललिता त्वं करोषि ॥ ७३ ॥

यह ललना ललितगति से झूमती हुई (वेपमाना) जा रही है उस वन में जो विशाल पर्वतों तथा लतागुल्मों से आवेष्टित है। हाय, बड़े दुःख की बात है कि मैं मूर्ख ही रहा और इतना भी न समझ पाया कि प्रिये तुम क्रोध में आकर हाथी के बच्चे की चेष्टाएं (शरभललिता) करने पर उतारू (हो गई) हो ॥ ७३ ॥

१. सामान्यं—क० ।
२. पश्येत—क० ।
३. द्रुतगति—ख०; ग० ।
४. आदौ चतुर्गुरूणि—क० ।
५. गुल्मच्छन्नं वनमुरुनगैः सम्प्रवृद्धम्—क० ।
६. आहो कष्टं किमिदमिति संविभ्रचेष्टा—क० ।
७. क्रोधाच्छरभललितं कर्त्तुकामा, क्रोधाच्छरभललितं हर्त्तुकामा—क० ।

आदौ षट्दशमश्चैव लघु[1] चैव त्रयोदशम् ।
[2]यत्रातिशाकरे पादे ज्ञेया नान्दीमुखी[3] तु सा ॥ ७४ ॥

नान्दीमुखी—यदि पन्द्रह अक्षरों के पाद में पहिले छः, दसवां तथा तेरहवां अक्षर लघु हो तो 'नान्दीमुखी'[1] वृत्त होता है ॥ ७४ ॥

– – – – –, – ⏑ – – ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑

यथा—न खलु तव[4] कदाचित् क्रोधताम्रायताक्षं
[5]भ्रुकुटिवलितभङ्गं दृष्टपूर्वं मयास्यम्[6] ।
किमिह बहुभिरुक्तैर्या ममेच्छा[7] हृदिस्था
त्वमसि मधुरवाक्या देवि[8] नान्दीमुखीव ॥ ७५ ॥

हे देवि, मैंने तुम्हारा क्रोध में लाल आंखों वाला, टेढ़ी और चढ़ी हुई भौहों वाला मुंह नहीं देखा था । मैं अब और क्या कहूँ बस इतना ही कि तुम वही मेरे हृदय में बसने वाली मधुरभाषिणी नान्दीमुखी (जिसका मुंह नान्दी—(दुन्दुभि नगाड़े) की तरह (तुरन्त आवाज देने वाली या मंगलकारिणी) हो ॥ ७५ ॥

आद्यं चतुर्थं षष्ठञ्च नैधनञ्च यदा[9] गुरु ।
षोडशाक्षरके पादे [10]गजं विलसितं तु तत्[11] ॥ ७६ ॥

गजविलसित—यदि सोलह अक्षर के पाद में पहिला, चौथा, छठा तथा अन्तिम अक्षर गुरू हो तो 'गजविलसित'[2] नामक वृत्त होता है ॥ ७६ ॥

---

१. पिंगलाचार्यने नान्दीमुखी को 'मालिनी' कहा है । इसी प्रकार अन्य छन्दः शास्त्रियों ने भी । परन्तु प्राकृतभाषा के छन्दो ग्रन्थों में 'नान्दीमुखी' के रूप में ही इस छन्द का विवरण मिलता है ।

२. पिंगलाचार्य ने 'गजविलसित' को 'वृषभगजविलसित' संज्ञा दी है ।

---

१. लघूनि स्युस्त्रयोदशम्—क० ।   २. यत्र पञ्चदशे—क० ।
३. नान्दीमुखा—क० ।   ४. वद—क० ।
५. भ्रुकुटिपुटतरङ्ग—क० ।   ६. तवास्यम्—क० ।
७. ममैषा—क० ।   ८. वेद्मि नान्दीमुखा त्वम्—क० ।
९. गुरूण्यथ—क० ।   १०. यत्रेभललितं—क० ।
११. गजविलसितलक्षणं क. पु. त्वेवं पठ्यते—
भ्री यदि नाश्च नित्यमिह विरचितचरणाः (चरणविरचिताः—ग०)
गश्च तथा च वै भवति निधनमुपगतः ।
स्यादपि चाष्टिमेव यदि सततमनुगतं
तत्खलु वृत्तमग्रवृषभगजविलसितम् ॥—क० ।

यथा—तोयधरैः सुधीरघनपटुपटहरवैः[1]
सर्जकदम्बनीपकुटजकुसुमसुरभिः ।
कन्दलसेन्द्रगोपकरचितमवनितलं
वीक्ष्य करोत्यसौ वृषभगजविलसितकम्[2] ॥ ७७ ॥

पृथ्वी को सुई-केलिया (कन्दली) तथा इन्द्रकीट (इन्द्रगोप) से युक्त देखते हुए—जो कि सर्ज, कदम्ब, नीप एवं कुटज के सुमनों से सुवासित है और जो घन की गंभीर ध्वनि से पटुता से बजाए गए गम्भीर मृदंग के समान (जो) लगती है, प्रकट होने पर—क्रीडा करने वाले हाथी के समान यह व्यक्ति (भी) चेष्टाएं (विलास) करने लगा है ॥ ७७ ॥

आद्यात् पराणि वै पञ्च द्वादशं सत्रयोदशम् ।
[3]अन्त्योपान्त्ये च दीर्घाणि ललितप्रवरं हि तत्[4] ॥ ७८ ॥

प्रवरललिता—यदि सोलह अक्षरों के पाद में प्रारम्भ के (दो से) पांच, बारहवां, तथा तेरहवां, पन्द्रहवां और सोलहवां अक्षर गुरू हो तो 'प्रवरललित' वृत्त होता है ॥ ७८ ॥

यथा—नखालीढं गात्रं [5]दशनखचितश्चोष्ठगण्डं
शिरः पुष्पोन्मिश्रं प्रविलुलितकेशालकान्तम्[6] ।
गतिः खिन्ना[7] चेयं वदनमपि[8] सम्भ्रान्तनेत्रं[9]
अहो श्लाघ्यं वृत्तं प्रवरललितं कामचेष्टम्[10] ॥ ७९ ॥

(इस सुन्दरी का) शरीर नखों से विक्षत है, इसके ओठ तथा कपोलों पर दन्तक्षत विद्यमान है, इसके मस्तक पर पुष्प सजे हुए हैं, केश इतस्ततः बिखरे हुए हैं, गति (थकान के कारण) धीमी है, मुंह घबराए नेत्रों वाला

---

१. पटुविशदनिनदितैः—क० । २. मत्तगजविलसितकमसौ—क० ।

३. अन्त्ये द्वे यत्र दीर्घाणि प्रवरं ललितं हि तत्—क० ।

४. ललितप्रवरलक्षणं क. पु. त्वेवम्—
यदा य्मी पादस्थौ भवत इव चेत् न्सौ तथा गौं
तथा षड्भिश्चान्यैर्यतिरपि च वर्णैर्यथा स्यात् ।
तदप्यष्टौ नित्यं समनुगतमेवोक्तमन्यैः
प्रयोगज्ञैर्वृत्तं प्रवरललितं नामतस्तु ॥—क० ।

५. दशनविहतं—क० । ६. केशाग्रकान्तं—क० ।

७. मन्दायामा—ख.; मन्दा चेयं—ग० । ८. यद् भ्रान्तनेत्रं—क० ।

९. ग्लाननेत्रम्—क० कामवेषम्—ग० । १०. गुरु स्मृतम्—क० ।

लग रहा है। ओह! हो आश्चर्य—प्रेम की यह कैसी महान् महिमा है कि जिसने इस प्रशंसनीय प्रकार द्वारा अपना विशिष्ट स्थान बना रखा है ॥७९॥

आद्यात् पराणि पञ्चाथ द्वादशं सत्रयोदशम्।
अन्त्यं सप्तदशे पादे शिखरिण्यां गुरूणि[1] च ॥ ८० ॥

शिखरिणी— यदि सत्रह अक्षरों के पाद में दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवा, बारहवां, तेरहवां तथा अन्तिम वर्ण गुरू होता है तो 'शिखरिणी' वृत्त होता है ॥ ८० ॥

यथा—महानद्या भोगं[2] पुलिनमिव ते भाति जघनं
तथास्यं नेत्राभ्यां[3] भ्रमरसहितं पङ्कजमिव।
[4]तनुस्पर्शच्छायं सुतनु सुकुमारो न परुषः
स्तनाभ्यां तुङ्गाभ्यां[5] शिखरिणि-निभाभासि[6] वनिते[7] ॥८१॥

हे सुन्दरि, तुम्हारी जंघाएं महानदी के पुलिन के समान (दीर्घ, शुभ्र) है तथा नेत्रों सहित तुम्हारा मुंह भ्रमर युक्त कमल जैसा है, तुम्हारे शरीर का स्पर्श कोमल है, कठोर नहीं और हे प्रिये, तुम अपने उन्नत उरोजों से एक पहाड़ी (शिखरिणी) जैसी शोभित हो रही हो ॥ ८१ ॥

यत्र पञ्च लघुन्यादौ त्रयोदशचतुर्दशे।
षोडशैकादशे चैव तत् स्याद् वृषभचेष्टितम्[8] ॥ ८२ ॥

---

१. लक्षणमिदं क-पु० त्वेवं पठयते—
चतुर्भिस्तस्यैव प्रवरललितस्य त्रिकगणै-
र्यदा लौ गश्चान्ते भवति चरणेऽत्यष्टिगदिते।
यदा षड्भिश्छेदो भवति यतिमार्गे विरचित—(यदि मार्गैविहित—क०)
स्तदा वृत्तेष्वेषा खलु शिखरिणी नाम गदिता ॥

२. भोगे—ख०, ग०। ३. नेत्राढ्य'—ख०।

४. गतिर्मन्दा चेयं सुतनु तव चेष्टा सुललिता—क०।

५. पीनाभ्यां—क०। ६. ममाभासि—क०।

७. दयिते—ख०; ग०।

८. लक्षणमिदं क—पुस्तकस्थमेवं लभ्यते—
यदि हि चरणे न्सौ म्रौ स्लो गः क्रमाद्विनिवेशिताः
यदि खलु यतिः षड्भिर्वर्णैस्तथा दशभिः पुनः।
यदि च विहितं स्यादत्यष्टिप्रयोगसुखाश्रयं
वृषभललितं वृत्तं ज्ञेयं तथा हरिणीति वा ॥—क०।

वृषभचेष्टित—यदि सत्रह अक्षरों के पाद में आदि के पांच, ग्यारहवां, तेरहवां, चौदहवां, तथा सत्रहवां अक्षर लघु हो तो उसे 'वृषभचेष्टित'[1] वृत्त कहते हैं ॥ ८२ ॥

यथा—जलधररवं[1] श्रुत्वा श्रुत्वा[2] मदोच्छ्रयदर्पितो
विलिखति महीं [3]शृङ्गाक्षेपैर्वृषः प्रतिनद्यं च।
स्वयुवतिवृत्तो गोष्ठाद् गोष्ठं प्रयाति च निर्भयो
वृषभललितं चित्रं वृत्तं करोति च शाद्वले ॥ ८३ ॥

(यह) वृषभ मेघों की गर्जना को सुनकर एवं अहंकार से पूर्ण होकर मदमत्त हो गया है और अपने सींगों से पृथ्वी को खोदकर गर्जन के उत्तर में डकारता है। अपनी सजातीय (अनुगामिनी) गौओं के साथ एक गोष्ठ से दूसरे गोष्ठ में निर्भय होकर विचरता है तथा हरे घास पर विभिन्न अचरज भरी क्रीडाओं को कर रहा है ॥ ८३ ॥

चत्वार्यादौ च दशमं गुरु[4] यत्र त्रयोदशम्।
चतुर्दशं तथान्त्ये[5] द्वे चैकादशमथापि च ॥ ८४ ॥
यदा सप्तदशे पादे शेषाणि च लघून्यथ।
भवन्ति यस्मिन्[6] सा ज्ञेया श्रीधरा नामतो यथा[7] ॥ ८५ ॥

श्रीधरा—यदि सत्रह अक्षर के पाद में आदि के चार, दसवां, ग्यारहवां, तेरहवां, चौदहवां तथा अन्तिमवर्ण गुरु हो तो 'श्रीधरा'[2] नामक वृत्त होता है ॥ ८४–८५ ॥

---

१. वृषभचेष्टित को पिंगलाचार्य ने 'हरिणी' माना है।
२. 'श्रीधरा' का ही पिङ्गलादिसम्मत नाम 'मन्दाक्रान्ता' है।

---

१. जलदनिनदं—ग०।
२. गर्जन्मदोच्चयदर्पितो—ग०।
३. दर्पाच्छृङ्गैर्मृगः प्रतिनन्द्य च—क०।
४. गुरूण्यथ—ख०।
५. तथा पञ्च एकादश—ख०। ६. यत्र—क०।
७. लक्षणमिदं—क—ग—पुस्तकस्थमेवम्—
मो भ्रौ च स्युश्चरणरचितास्तौ गरू च प्रविष्टा—(गश्च गोन्त्यप्रतिष्ठ—ग०)
श्छेदः श्लिष्टो (श्चेष्टो—ग०) यदि च दशभिः स्यात्तथान्यै (श्चै—ग०) श्चतुर्भिः।
अत्यष्टौ च प्रतिनियमिता वर्णतः स्पष्टरूपा
सा विज्ञेया द्विजमुनिगणैः श्रीधरा नामतस्तु ॥—(क०; ग०)

यथा— स्नानैश्चूर्णैः सुखसुरभिभिर्गन्धवासैश्च धूपैः[1]
पुष्पैश्चान्यैः[2] शिरसि रचितैर्वस्त्रयोगैश्च तैस्तैः।
नाना रत्नैः [3]कनकखचितैरङ्गसम्भोगसंस्थै-
र्व्यक्तं कान्ते कमलनिलया [4]श्रीधरेवातिभासि ॥८६॥

हे प्रिये, (कान्ते) तुम अपने स्नान, चूर्ण, लेपन, आनन्ददायी सुवास के द्वारा (जो शरीर (कपोल से आशय है) पर लगाई गई है) (इसी प्रकार तुम्हारे) केशों में स्थित सुगन्धित पुष्पों तथा विविध धूप गन्धों के द्वारा और अपने शरीर पर धारण किये हुए अनेक रत्नजटित सुवर्णालंकारों के द्वारा तुम सचमुच कमल में निवास करने वाली सुन्दरता की देवी श्री (लक्ष्मी) सी लग रहो ॥ ८६ ॥

आद्यं चतुर्थं षष्ठञ्च दशमं नैधनं गुरु।
[5]तद्वंशपत्रपतितं दशभिः सप्तभिर्यतिः ॥ ८७ ॥

यदि प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तथा दस और सात अक्षरों पर क्रमशः यति हो तो उसे 'वंशपत्रपतित' वृत्त समझना चाहिये ॥ ८७ ॥

यथा—एष गजोऽद्रिमस्तकतटे [6]कलभपरिवृतः
क्रीडति वृक्षगुल्मगहने कुसुमभरनते।
मेघरवं निशम्य मुदितः [7]पवनजवसमः
सुन्दरि वंशपत्रपतितं पुनरपि कुरुते ॥ ८८ ॥

हे सुन्दरि, यह हाथी कुछ छोटे-छोटे हस्तिशावकों से घिरकर वृक्ष तथा लताओं से घने और पुष्पों के भार से नमने वाले पर्वत के शिखर पर क्रीडा कर रहा है। अब यह मेघ के गर्जन को सुन हर्षविभोर हो यह फिर वायु के वेग से बाँस के वृक्षों के पत्तों को पृथ्वी पर गिराने लगा है ॥ ८८ ॥

द्वितीयमन्त्यं षष्ठं चाप्यष्टमं द्वादशं तथा।
चतुर्दशं पञ्चदशं पादे सप्तदशाक्षरे ॥ ८९ ॥

---

१. गन्धवाहैः सधूपैः—क.; गन्धसारैश्च धूपैः—ख.; गण्डलेपैः सुधूपैः—ग०।
२. पुष्पैर्माल्यै—ख०।
३. कनकरचितै—ग०।
४. श्रीधरेवावभासि—क०, श्रीधरा त्वं विभासि—ख०।
५. यत्र सप्तदशे पादे वंशपत्राह्वयं तु तत्—क०।
६. युवति-परिवृतः—क०। ७. पवनजववशात्—ग०।

भवन्ति यत्र दीर्घाणि शेषाणि च लघून्यथ ।
विलम्बितगतिः सा[1] तु विज्ञेया नामतो यथा[2] ॥ ९० ॥

विलम्बितगति—यदि सत्रह अक्षरों के पाद में दूसरा, छठा, आठवां, बारहवां, चौदहवां तथा पन्द्रहवां अक्षर गुरु हो तो उसे 'विलम्बितगति'[1] नामक वृत्त कहते हैं ॥ ८९–९० ॥

यथा—विघूर्णितविलोचना [3]पृथुविकीर्णहारा पुनः
प्रलम्बरशना[4] चलत्स्खलितपादमन्दक्रमा[5] ।
[6]न मे प्रियमिदं जनस्य बहुमानरागेण य[7]-
न्मदेन[8] विवशा विलम्बितगतिः कृता त्वं प्रिये ॥ ९१ ॥

हे प्रिये, तुम्हारी आँखें खुमारी के कारण घूम रही है, (स्वर्ण का) बड़ा हार अपने स्थान से खिसक गया है। तुम्हारी करधनी शिथिल हो जाने के कारण लटकने लगी है और तुम्हारे धीरे-धीरे रखे जाने वाले पग लड़खड़ा रहे हैं। मैं इस तुम्हारी मन्दगति को खूब पसन्द कर रहा हूँ। जो तुमने इस जन के प्रेम में मदहोश होकर (विवशा) आदर करने के लिये धारण की है ॥ ९१ ॥

पञ्चादौ पञ्चदशकं [9]द्वादशैकादशे गुरु[10] ।
चतुर्दशं [11]तथान्त्ये द्वे चित्रलेखा[12] धृतौ स्मृता ॥ ९२ ॥

---

१. विलम्बित गति का पिंगलोक्त नाम 'पृथ्वी' है।

---

१. तत्र—क० ।

२. लक्षणमिदं क—ग पुस्तकस्थं त्वेवम्—
यदा द्विरुदितौ हि पादमभिसंश्रितौ ज्सौ त्रिकौ
तथैव च पुनस्तयोर्निधनमाश्रितो यो लगौ । (ज्लौ सगौ—ग०)
तदाष्टिरिति पूर्विका यतिरपि स्वभावाद् यथा ।
विलम्बितगतिस्तथा निगदिता द्विजैर्नामतः ॥

३. प्रसृतहारमालाधरा—क०; पृथुविघूर्णहारा—ग० ।

४. वसना—क० ।

५. चलत्स्खलितगात्रपादक्रमा—क० । स्खलत्स्खलितपाद-मन्दक्रमा—ख० ।

६. न मे प्रियमसज्जनेति—क० । ७. ते—क० ।

८. मदेन तु विलम्बितागतिकृता कदाचित् प्रिये—क० ।

९. द्वादशं सानुगं गुरु—ख० । १०. धृतौ—क० ।

११. तथा पञ्च—ख० । १२. चित्रमाला गुरूणि तु—क० ।

चित्रलेखा—यदि अठारह अक्षरों के पाद में आदि के पांच, ग्यारहवां, बारहवां, चौदहवां, पन्द्रहवां, सत्रहवां तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तो 'चित्रलेखा'[1] नामक वृत्त होता है ॥ ९२ ॥

यथा—नानारत्नाढ्यैर्बहुभिरधिकं भूषणैरङ्गसंस्थै
नानागन्धाढ्यैर्मदनजननैरङ्गरागैश्च[1] हृद्यैः ।
केशैः स्नानाढ्यैः[2] कुसुमभरितैर्वस्त्ररागैश्च[3] तैस्तैः
कान्ते[4] सङ्क्षेपात् किमिह बहुना चित्रलेखेव[5] भासि ॥९३॥

प्रिये, इन अनेक रत्न-जटित गहनों से जो तुमने अपने शरीर पर धारण कर रखे हैं (और) अनेक सुवास से पूर्ण मस्त बना देनेवाले शरीर के अंगरागों से तथा स्नान के बाद फूलों से सजाए गए इन केशों से और विविध रंगों वाले इन सुन्दर वस्त्रों से तुम बहुत सुशोभित हो रही हो। (और) अधिक क्या बतलाएँ, ऐसा लगता है कि जैसे (तुम) चित्र में आलिखित (चित्रलेखा) सी दिखाई दे रही हो ॥ ९३ ॥

अन्त्यं सप्तदशञ्चैव षोडशं स[6] चतुर्दशम् ।
[7]त्रयोदशं द्वादशञ्च षष्ठमष्टममेव च ॥ ९४ ॥
त्रीण्यादौ च गुरूणि स्युर्यस्मिंस्त्वेकोनविंशके ।
पादे लघूनि शेषाणि 'शार्दूलक्रीडितन्तु तत्[8]' ॥ ९५ ॥

शार्दूलविक्रीडित—यदि उन्नीस अक्षरों के पाद में पहले तीन, छठा,

---

१. चित्रलेखा को पिंगलाचार्य ने 'कुसुमितलतावेल्लिता' माना है।

---

१. रङ्गरागैर्विचित्रैः—ख०; रङ्गहारैर्विचित्रैः—ग० ।
२. स्नानार्द्रैः—क० । ३. रचितैर्वस्त्ररागैश्च—क० ।
४. कान्तैः—क० । ५. चित्रमालेव—क० ।
६. च चतुर्दशम्—ख०; ग० ।
७. द्वादशं सानुगञ्चैव—क०; द्वादशे साग्रगञ्चैव—ख० ।
८. तत्शार्दूलविक्रीडितम्—ग० ।
९. क. पुस्तके शार्दूलविक्रीडितस्य लक्षणन्त्वेवं पठ्यते—
म्सौ ज्सौ तौ गुरु च प्रयोगनियता यस्मिन्निविष्टास्त्रिका
आद्या चान्त्ययतिश्चतुस्त्रिकयुता ज्ञेया परा सप्तभिः ।
नित्यं यत्पदमाश्रिता द्युतिधृतिर्नित्यं कवीनां प्रियं
तज्ज्ञेयं खलु वृत्तजातनिपुणैः शार्दूलविक्रीडितम् ॥

आठवां, बारहवां, तेरहवां, चौदहवां, सोलहवां, सत्रहवां तथा अन्तिमवर्ण गुरू हो तो 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त होता है ॥ ९४–९५ ॥

ऽऽऽ।।ऽ।ऽ।ऽऽऽ।ऽ ऽऽ।ऽऽ।ऽ

यथा—नानाशस्त्रशताग्नितोमरहताः प्रभ्रष्टसर्वायुधाः
निर्भिन्नोदरपादबाहुवदना[1] निर्णाशिताः[2] शत्रवः ।
धैर्योत्साहपराक्रमप्रभृतिभिस्तैस्तैर्विचित्रैर्गुणै
र्वृत्तं ते रिपुघाति भाति[3] समरे शार्दूलविक्रीडितम्[4] ॥९६॥

तुम्हारे शत्रुगणों में अनेक शस्त्र, तोप, तोमर आदि से आहत हो अपने सारे शस्त्रों को छोड़ते हुए समाप्त हो गए और इनमें से कुछ शत्रुओं के पेट, पैर, भुजा तथा मस्तक फट जाने से वे भी नष्ट हो गए हैं और उनने अपने शस्त्रों को फेंक दिये हैं इस प्रकार हे राजन् धैर्य, पराक्रम, उत्साह आदि तुम्हारे आश्चर्यकारी गुणों के कारण युद्ध में शत्रुओं को नाश करने का आपका यह कार्य सिंह की क्रीड़ा के समान शोभित होने लगा है ॥ ९६ ॥

चत्वार्यादौ च षष्ठञ्च सप्तमं स चतुर्दशम् ।
तथा पञ्चदशञ्चैव षोडशं नैधनं तथा ॥ ९७ ॥
एतानि च गुरूणि स्युः शेषाणि तु लघून्यथ ।
पादे यत्र[5] कृतौ ज्ञेया नाम्ना सुवदना तु[6] सा ॥ ९८ ॥

सुवदना—यदि बीस अक्षरों के पाद में पहिले चार, छठा, सातवां,

---

१. वक्त्रवदना—क; हस्तवदनाः—ख; वक्त्रनयनाः—ग० ।
२. निर्वासिता—ख; निर्भत्सिता—ग० । ३. लाति—ख० ।
४. क—पुस्तके शार्दूलविक्रीडितस्योदाहरणान्तरमपि लभ्यते । तद्यथा—
तावत्त्वं विजितेन्द्रियः शुभमते सर्वात्मना प्रत्यहं
दाने शीलविधौ च योजय मनः स्वर्गापवर्गावहम् ।
यावद्व्याधिजराप्रचण्डनखरो व्यायत्तसटाभिर्भृशं
मृत्युस्ते न करोति जीवितमृगैः शार्दूलविक्रीडितम् ॥
५. यत्र तु सा ज्ञेया—क० ।
६. यथा—क० । क—पुस्तके सुवदनाया लक्षणान्तरं त्वेवं पठ्यते—
म्रौ भ्नौ य्भौ लगौ च सम्यग्यदि च विरचिता पादे क्रमवशात्
विच्छेदः सप्तभिः स्यात् पुनरपि च यतिः सप्ताक्षरकृता ।
यद्येषा संश्रिता स्यात् कृतिमपि च पुनः श्लिष्टाक्षरपदा
विद्वद्भिर्वृत्तजातौ तत इह गदिता नाम्ना सुवदना ॥

चौदहवां, पन्द्रहवां, सोलहवां तथा अन्तिम वर्ण गुरू हो तो 'सुवदना' नामक वृत्त होता है ॥ ९७-९८ ॥

यथा—नेत्रे लीलालसान्ते कमलदलनिभे भ्रूचाप[1] रुचिरे
गण्डोष्ठं पीनमध्यं समसहितघनाः[2] स्निग्धाश्च दशनाः ।
[3]कर्णांवंसप्रलम्बौ चिबुकमपि [4]नतं घोणा सुरुचिरा
[5]व्यक्तं त्वं मर्त्यलोके वरतनु [6]विहितास्येका सुवदना ॥९९॥

हे सुन्दरि, तुम्हारी आंखें कमल दल के समान है जिसके साथ भौंहें धनुष के समान सुन्दर दिखाई दे रही हैं, आंखों की नोंकें लीलापूर्ण और अलस दिखाई दे रही हैं, तुम्हारे ओठ और कपोल अपने मध्य भाग में भरे हुए, दांतों की पांत चमकीली समान और घनी हैं, कान तथा कन्धे झुके हुए (झूलते हुए) हैं, ठुड्डी झुकी हुई और नासिका अत्यन्त सुन्दर दिखाई दे रही हैं । हे सुगात्रि, इस मनुष्यलोक में तुम ही एक ऐसी सुन्दरी हो जिसे इतने शोभन स्वरूप में बनाया गया है ॥ ९९ ॥

चत्वार्यादौ तथा षष्ठं सप्तमञ्च चतुर्दशम् ।
अष्टादशं सप्तदशं तथा पञ्चदशं पुनः ॥ १०० ॥
[7]अन्त्योपान्त्ये गुरुण्यत्र लघून्यन्यानि सर्वदा ।
एकविंशतिके पादे स्रग्धरा नाम सा यथा[8] ॥ १०१ ॥

स्रग्धरा—यदि इक्कीस अक्षरों के पाद में आदि के चार, छठा, सातवां, चौदहवां, पन्द्रहवां, सत्रहवां, अठारहवां, बीसवां तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तो 'स्रग्धरा' नामक वृत्त होता है ॥ १००-१०१ ॥

---

१. विनवे—क०; निहिते—ख०; ग० । २. घनं—ख०; ग० ।
३. कर्णौ ह्रस्वप्रलम्बौ—क०; कर्णौ पार्श्वावलम्बौ—ख०; ग० ।
४. तटनता—क०; मपि नतौ—ग० ।
५. सर्वस्वं—क०; सर्वस्मिन्—ख०; ग० ।
६. विदितास्येका—ख०; ग० ।
७. अन्त्यञ्च विंशकञ्चैव गुरुसंज्ञानि यत्र तु—क० ।
८. क—पुस्तके स्रग्धराया लक्षणन्त्वेवं पठ्यते—
म्रौ भ्नौ यौ यश्च सम्यग्यदि हि विरचिताः स्युस्त्रिकाः पादयोगे
वर्णैः पूर्वोपदिष्टैर्यतिरपि च पुनः सप्तभिः सप्तभिः स्यात् ।
वृत्तं सम्यग्यदि स्यात् प्रकृतिमनुगतं तत्त्वविद्भिः प्रदिष्टं
विज्ञेयं वृत्तजातौ कविजनदयिता स्रग्धरा नामतस्तु ॥

यथा—चूताशोकारविन्दैः कुरवकतिलकैः कर्णिकारैः शिरीषैः
पुन्नागैः पारिजातैर्बकुलकुवलयैः किंशुकैः सातिमुक्तैः ।
एतैर्नानाप्रकारैः कुसुमसुरभिभिर्विप्रकीर्णैश्च तैस्तै-
र्वासन्तैः पुष्पवृन्दैर्नरवर वसुधा स्रग्धरेवाद्य[1] भाति ॥१०३॥

हे राजन्, इन वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों की मीठी तथा मोहक सुगन्ध से—जो आम्र, अशोक, अरविन्द, कुरवक, तिलक, कर्णिकार, शिरीष, पुन्नाग, पारिजात, वकुल, कुवलय, किंशुक तथा अतिमुक्त पुष्पों की है। यह पृथ्वी ऐसी दिखाई देती है जैसे किसी अङ्गना ने पुष्पों की अनेक मालाएं पहिन रखी हो ॥ १०३ ॥

चतुर्थमाद्यं षष्ठञ्च दशमं द्वादशन्तथा ।
षोडशाष्टादशो चैव नैधनञ्च गुरुण्यथ ॥ १०४ ॥
द्वाविंशत्यक्षरे पादे शेषाणि च लघून्यथ ।
भवन्ति यत्र तज्ज्ञेयं मद्रकं नामतो यथा[2] ॥ १०५ ॥

मद्रक—यदि बाईस अक्षरों के पाद में पहिला, चौथा, छठा, दसवां, बारहवां, सोलहवां, अठारहवां तथा अन्तिम वर्ण गुरू हो (और बाकी लघु वर्ण हों) तो 'मद्रक'-वृत्त कहलाता है ॥ १०४–१०५ ॥

यथा—उत्प्लुतमेकहस्तचरणं[3] द्वितीयकररचितं[4] सुविनतं
वंशमृदङ्गवाद्यमधुरं विचित्रकरणानुगं[5] बहुविधम् ।

---

१. रेवावभाति—क० । २. मद्रकवृत्तस्य लक्षणान्तरमेवं क—पुस्तके—
भ्रौ चरणे यदा विनियतौ त्रिकौ क्रमवशादथाकृतिविधौ
भ्री च ततःपरञ्च रुचिरावनन्तरकृतौ नगावपि पुनः ।
तच्च दशाष्टवर्णरचिता चतुर्ष्वपि तथा यतिश्च सततं
मद्रकवृत्तमेव खलु नाटचयोगकुशलैर्बुधैर्निगदितम् ॥ तथा
काशी पुस्तकेऽस्य लक्षणस्य पाठस्त्वेवम्—
भ्रौ चरणे यदा विनियतो त्रिको क्रमवशादथाकृतिविधो
नौ च ततः परश्च नियतौ तथा तदनु चार्पिता नरनगाः ।
स्याच्च दशाष्टवर्णरचिता यतिः पुनरिह प्रिया च विदुषां
श्रुतिसुखसमर्थसुभगं मद्रकवृत्तमेतदुदितं खलु ॥
३. उन्नतमेक—ख०, उद्यतमेक—ग० ।
४. कररेचकं सललितं—ख०; ग० । ५. करणान्वितं—ख०; गं० ।

मद्रकमेतदद्य[1] सुभगे विदग्धगतिचेष्टितैः [2]सुललितैः
नृत्यसि[3] विभ्रमाकुलपदं [4]विचित्ररसभावितं शशिमुखि॥१०६॥

हे सुन्दरि, (चन्द्रमुखी) तुम आज वंशी, मृदंग के मधुर वादन के साथ 'मद्रक' नृत्य कर रही हो। इसमें तुमने एक हाथ और पैर को ऊँचा उठाया हुआ है और दूसरे को नवां लिया है, तुम्हारे पैर रेचित स्थिति में विश्राम रहित हो रहे हैं। तुम अनेक विभिन्न करणों को प्रसन्न, ललित तथा उत्साहपूर्ण गतियों के साथ वनाते हुए विशिष्ट रस-मयी भावना को अपने विलासपूर्ण डगों द्वारा प्रकट करती जाती हो ॥ १०६ ॥

अन्त्यमेकोनविंशञ्च [5]सप्तमं सत्रयोदशम्।
एकादशं सप्तदशं पञ्चमश्च[6] गुरूण्यथ ॥ १०७ ॥
शेषाणि च लघूनि स्युर्विकृत्याश्चरणे[7] बुधैः।
वृत्तं तदश्वललितं विज्ञेयं नामतो यथा[8] ॥ १०८ ॥

अश्वललिता—यदि तेईस अक्षरों के पाद में पांचवा, सातवां, ग्यारहवां, तेरहवां, सत्रहवां, उन्नीसवां और अन्तिम वर्ण गुरु हों तो 'अश्वललिता' वृत्त कहलाता है ॥ १०७–१०८ ॥

यथा—[9]विविधतुरङ्गनागरथयौधसङ्कुलमलं बलं समुदितं
शरशतशक्तिकुन्तपरिघासियष्टिविततं बहुप्रहरणम्।

---

१. मेवमद्यसुभगैः—ग०। २. सललितैः—ख०; ग०।
३. नित्यसुविभ्रमाकुलपदं वरोरु ललिताङ्गचेष्टितयुतम्—क०।
४. वरोरु ललितक्रियं समरसम्—ग०।
५. पञ्चमञ्च गुरूण्यथ—ख०; ग०।
६. सप्तमं सत्रयोदशम्—ख०; ग०।
७. विकृतौ चरणेषु च—ख०; ग०।
८. अश्वललितलक्षणं क—पुस्तके यथा—
यदि च नकार आदि-रचितः पदे विरचितोऽन्त एव च लगौ
यदि च जभौ त्रिधा च निहितौ क्रमेण खलु मध्यमावपि तथा।
यदि च समाश्रितं हि विकृतिं यतिश्च दशभिस्तथैकसहितै-
स्तत इह कीर्त्तितं मुनिगणैर्विशुरुचरितैस्तदश्वललितम् ॥
९. रथहयनागयौधपुरुषैः सुसंकुलमलं समुद्रितशरा-
सनशरशक्तिकुन्तपरिघासियष्टिविवृतंबहुप्रकरणम्। क०।

[1]रिपुशतमुक्तशस्त्ररवभीतशङ्कितभटं[2] भयाकुलदिशं
कृतमभिवीक्ष्य संयुगमुखे [3]समर्पितगुणं त्वयाश्वललितम्[4] ॥१०९॥

इस पूर्णरूप से सुसज्जित अपनी सेना को देखते हुए जो अनेक घोड़े, हाथी, रथ तथा पैदलों से भरी हुई हैं, इसमें अनगिनत बाण, शक्ति, भाले, परिघा तथा तलवारे फैली हुई है, शत्रुओं के द्वारा चलाये गये शस्त्रों के भयंकर शब्दों से (कुछ) पैदल सैनिक सबके भय के कारण सहम रहे हैं और दिशाएं भी भय से व्याप्त हो रही हैं। ऐसे समय आपने अपने घोड़े को युद्ध में आगे डाल कर जो एक क्रीडा मात्र प्रदर्शित की (अश्वललितं) प्रजानन के द्वारा आज भी आपका वह गुण बड़ा लोकप्रिय हो रहा है ॥१०९॥

षडाद्यावष्टमश्चैव ह्येकादशचतुर्दशे।
विंशं सप्तदशञ्चैव त्रयोविंशं तथैव च ॥ ११० ॥
एतानि च लघूनि स्युः शेषाण्यथ गुरूणि च।
चतुर्विंशतिके[5] पादे मेघमालेति सा यथा ॥ १११ ॥

मेघमाला—यदि चौबीस अक्षरों के पाद में आदि के छः वर्ण, आठवां, ग्यारहवां, चौदहवां, सत्रहवां, बीसवां और तेईसवां अक्षर लघु हो तथा शेष वर्ण गुरु हों तो 'मेघमाला' वृत्त होता है ॥ ११०–१११ ॥

यथा—पवनजवसमाहता[6] तीव्रगम्भीरनादा[7] बलाकावलीमेखला
क्षितिधरसदृशोच्चरूपा[8] [9]महानीलधूमाञ्जनाभाम्बुगर्भोद्भवा।

---

१. वसुगणमस्यभिन्नहतशत्रुनाशितशिरः प्रमथ्य तरसा—क०।

२. शस्त्ररवभिन्नशङ्कितभटं भयाकुलमिद—ख०; शङ्कित भटं भिन्नहतशत्रुनाशि भयाकुलमिदं—ग०।

३. समीप्सितगुणं—ख०; ग०।

४. तदश्वललितम्—ग०। ५. चतुर्विंशाक्षरे—क०।

६. मेघमालालक्षणं क—पुस्तके यथा—

यदि खलु चरणस्थितौ नौ त्रिकौ कृत्तिकाख्यास्तथा राःपरं स्युः क्रमाद्
भवति यदि यतिस्तथा सप्तभिः सप्तभिस्त्रिष्वतोऽन्या यतिः पञ्च विद्यात्तथा।
सततमभिनिविष्टदेहा तथा सङ्कृतौ सूरिभिः सर्वदा दृश्यते
तत इह परिभाषिता शास्त्रविद्भिस्त्वियं मेघमाला यथा दण्डकः॥

६. पवनबल—क; ख०। ७. तीव्रनादा बलाकावलीमेखलाशोभिता—ग०।

८. सदृशोर्ध्वरूपा—क; ख०।

९. महाधूमपुञ्जायमानाम्बुगर्भोद्भवा—ख०।

सुरपतिधनुरुज्ज्वलाबद्धकक्ष्या[1] तडिद्द्योतसन्नाहपट्टोज्ज्वला[2]
गगनतलविसारिणी[3] प्रावृषेण्या दृढं मेघमालाधिकं[4] शोभते ॥११२॥

आकाश में व्याप्त होने वाली वर्षा के बादलों की यह पाँत जो हवा के झोंकों से आगे बढ़ती दिखाई दे रही है और इसी कारण तीव्र और गम्भीर ध्वनि कर रही है, इसने हंसों की पाँत की मेखला धारण की है। पर्वत के समान इसका अत्यन्त विशाल स्वरूप है। यह अत्यन्त नीले पानी को अपने अन्दर धारण किये है जो धुएँ या काजल के समान (लग रहा) है। इसने इन्द्रधनुष-सा उज्ज्वल या चमकीला कमर-पट्टा धारण किया है तथा बिजली की दीप्ति-के कवच-सी भास्वत्प्रभा वाली यह मेघमाला इस समय सचमुच बड़ी सुहावनी दिखाई दे रही है ॥ ११२ ॥

आद्यञ्चैव[5] चतुर्थञ्च पञ्चमं षष्ठमेव च।
नवमं दशमञ्चैव नैधनञ्च[6] भवेद्गुरु ॥ ११३ ॥
पञ्चविंशतिके पादे शेषाणि च लघून्यथ।
वृत्तज्ञैः सा तु विज्ञेया क्रौञ्चपादीति नामतः[7] ॥ ११४ ॥

क्रौञ्चपदी—यदि पचीस अक्षरों के पाद में पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा, नवाँ, दसवाँ, तथा अन्तिम अक्षर गुरू हो (तथा शेष लघु हों) तो क्रौंचपदी नामक वृत्त होता ॥ ११३–११४ ॥

˘ – – ˘ ˘ ˘ – – ˘ ˘ – – – – – – – – – – – – – – ˘ ˘

यथा—यः किल दाक्ष्यं विद्रुतसोमं[8] क्रतुवरमचमसमपगतकलशं[9]
पातितयूपं क्षिप्तचषालं[10] विचयनमसमिधमपशुकचरुकम्[11]।

---

१. बद्धशोभा—ख०। २. बन्धोज्ज्वला—ख०।
३. विचारिणी प्रावृषि प्रोन्नता—ख०। ४. मेघमालावली—क०।
५. आद्यं चतुर्थञ्च तथा—ख०; ग०।
६. अन्त्यञ्चैव गुरूण्यथ—ख०; ग०।
७. क्रौञ्चपदालक्षणं क—पुस्तके यथा—
भ्मौ यदि पादे स्मावपि चेष्टावभिक्कविरपि च हि यदि खलु विहिता
नाश्च समुद्राः स्युर्विनिविष्टा यदि च खलु गुरु भवति निधनगतम्।
पञ्चभिरादौ छेदमुपेता पुनरपि यतिरिह यदि खलु दशभिः
क्रौञ्चपदेयं वृत्तविधाने सुरगणपितृगणमुनिगणविहिता ॥
८. विद्रुमसोमं—क०। ९. मनुपममपगतकलुषं—ख०।
१०. कपालं—ख०। ११. विवसनसममिव सपशुकसहितम्—ख०।

कार्मुकमुक्तेनाशु चकार व्यपगतसुरगणपितृगणमिथुना[1]
नित्यमसौ[2] ते दैत्यगणारिः प्रदहतु[3] मखमिव रिपुगणमखिलम्[4] ॥११५॥

जिन भगवान शिव ने अपने बाण से सोमपात्र को शीघ्र लुढ़का दिया, कलश को फोड़ दिया और चमस को फेंक दिया, यूप को गिरा दिया, चषाल को फेंक डाला, (आग में जलती हुई) समिधाओं को विच्छिन्न कर दिया, यज्ञीय पशुओं को दूर कर चरू को लुढ़का दिया, देवता और पितरों को भगा दिया और इस प्रकार दक्ष के महायज्ञ का विध्वंस कर दिया वे ही भगवान इस यज्ञ के समान तुम्हारे शत्रुओं का सदा विनाश करें ॥ ११५ ॥

अष्टावादौ गुरूणि स्युस्तथा चैकोनविंशकम् ।
एकविंशश्च[5] विज्ञेयं चतुर्विंशं सनैधनम् ॥ ११६ ॥
एतानि गुरुसंख्यानि शेषाणि[6] च लघून्यथ ।
षड्विंशत्यक्षरे[7] पादे तद्भुजङ्गविजृम्भितम्[8] ॥ ११७ ॥

भुजंगविजृम्भित—यदि छब्बीस अक्षरों के पाद में पहले आठ, उन्नीसवाँ,

---

१. मुनिगण—क० ।

२. स त्वतिमायो दैत्यगणारिस्तव नृप मखमिव दहतु रिपुगणम्—क० ।

३. प्रददतु मुखमिव—ख० ।

४. पद्यस्यास्य स्थाने ग—पुस्तके तु भिन्नमेवोदाहरणं प्राप्यते । तच्च हलायुधेन पिङ्गलवृत्तावप्युदाहृतम् अस्ति—
या कपिलाक्षी पिङ्गलकेशी कलिरुचिरनुदिनमनुनयकठिना
दीर्घतराभिः स्थूलसिराभिः परिवृतवपुरतिशयकुटिलगतिः ।
आयतजङ्घा निम्नकपोला लघुतरकुचयुगपरिगतहृदया
सा परिहार्या क्रौञ्चपदा स्त्री ध्रुवमिह निरवधि सुखमभिलषता ॥

५. एकविंशं तथा चैव—ख०; ग० ।

६. पादे षड्विंशकाक्षरे—ख०; ग० ।

७. यत्र नाम्ना तथा ज्ञेयं तद्भुजङ्गविजृम्भितम् ।—ख०; ग० ।

८. भुजङ्गविजृम्भितस्य क—पुस्तके लक्षणं यथा—
यस्मिन् मौतोनाः सौ नित्यं प्रतिचरणमथगदितास्त्रिका ह्यनुपूर्वशः
षड्विंशत्यामेकोनायां च यदि हि खलु यतिरभिधा चतुर्भिरष्टाभिः ।
पश्चादन्त्यौ ग्लौ संयोज्यौ यदि भवति मनुजदयिता समाश्रितमुत्कृतिं
नाम्ना वृत्तं लोके ख्यातं कविवदनविकसनपरं भुजङ्गविजृम्भितम् ॥

इक्कीसवाँ, चौबीसवाँ तथा अन्तिमवर्ण गुरू हो तो भुजंगविजृम्भित वृत्त होता है ॥ ११६–११७ ॥

यथा—

रूपोपेतां[1] देवैः[2] सृष्टां समदगजविलसितगतिं निरीक्ष्य तिलोत्तमां
प्रादक्षिण्यात्प्राप्तां[3] दृष्टुं बहुवदनमचलनयनं[4] शिरः कृतवान् हरः[5]।
दीर्घं[6] निश्वस्यान्तर्गूढं स्तनवदनजघनरुचिरां[7] निरीक्ष्य तथा पुनः
पृष्ठे[8] न्यस्तं देवेन्द्रेण प्रवरमणिकनककवलयं भुजङ्गविजृम्भितम् ॥११८॥

देवगण द्वारा निर्मित मत्तगजगामिनी उस परमसुन्दरी तिलोत्तमा को देखते हुए—जो प्रदक्षिणा करने आई हुई थी—भगवान शंकर ने अपने सभी नेत्रों को उसी ओर लगा दिया और अपने सिरों को निश्चल कर दिया। पुनः भगवान शिव ने अन्तकरण में अत्यन्त गूढ़ भाव से दीर्घ निश्वास लेकर उसे फिर देखा—जिसका उरोज, मुँह तथा जघन भाग का सौन्दर्य अवर्णनीय था। फिर उसे आशीष देने के लिए भगवान शिव ने उसकी पीठ पर श्रेष्ठ मणिखचित कनकवलयों वाला तथा सर्पों से अधिष्ठित अपना हाथ रख दिया ॥ ११८ ॥

[दण्डकं[9] नाम विज्ञेयमुत्कृतेरधिकाक्षरम्।
वृत्तं मालादिकं तस्मान्नोक्तं चादौ गुहादिना ॥

उत्कृति के पाद से अधिक अक्षरों वाले पाद होने पर 'दण्डक' समझना चाहिए। इसके माला आदि छन्द प्रभेद होते हैं जिन्हें आरंभ में ही गुह आदि ने बतलाया।]

[यथा—मुदितजनपदाकुला स्फीतसस्याकरा
भूतधात्री भवन्तं समभ्यर्चति[10]
द्विरदकरविलुप्तहिन्तालतालीवनास्त्वां
नमस्यन्ति विन्ध्यादयः पर्वताः।

---

१. रूपेऽनिन्द्यां—क०। २. देवैः स्पृष्टां—ख०; ग०।
३. प्रादक्षिण्यं प्राप्तां—ख०; ग०।
४. वदननयनसहितं तिरस्कृतवान् हरः—क०, शिरःशतवान् हरिः—ख०।
५. मुदा—क०। ६. ब्रह्मा दीर्घं निःश्वस्यान्तः स्तनवदन—क०।
७. कलितां—ख०; ग०। ८. कण्ठे न्यस्तं—क०; पृष्ठन्यस्तां—ग०।
९. श्लोकावेतौ प्रक्षिप्तौ–दण्डकं नाम विज्ञेयं षड्विंशादधिकाक्षरम्–ख०, ग०।
१०. समभ्यर्च्यते—क०।

स्फुटितकलशशुक्तिनिर्गीर्णमुक्ता-[1]
फलैरूर्मिहस्तैर्नमस्यन्ति वः सागराः
मुदितजलचराकुलाः सम्प्रकीर्णामलाः
कीर्तयन्तीव[2] कीर्तिं महानिम्नगाः[3] ॥]

प्रसन्न जनपद से व्याप्त, समृद्ध धान्य की खानि होकर यह पृथ्वी आपकी अर्चना कर रही है, मद मत्त हाथियों की सूंडों से विध्वस्त तालवनों के समूहवाले विध्य आदि पर्वत भी आपके प्रति आनत हैं, विदीर्ण होने वाली शुक्तियों के कलशों से बाहर निकलते मौक्तिक वाले तरंग हस्तों द्वारा सागर भी आपके प्रति प्रणत हैं तथा ये महानदियाँ भी अपने सानन्द जलचरों से व्याप्त हो निर्मलता को विस्तीर्ण करती हुई आपकी शुभ्र कीर्ति का मानों आख्यान गा रही हैं।]

विषम तथा अर्धसमवृत्त—

एतानि समवृत्तानि मयोक्तानि द्विजोत्तमाः ।
विषमार्द्धसमानान्तु[4] पुनर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ११९ ॥

हे मुनिजन, मैंने अभी समवृत्त बतलाये हैं। अब मैं अर्धसमवृत्त तथा विषमवृत्तों के लक्षण बतलाता हूँ ॥ ११९ ॥

यत्र पादास्तु विषमा नानावृत्तसमुद्भवाः ।
ग्रथिताः पादयोगेन तद्वृत्तं विषमं स्मृतम् ॥ १२० ॥

जिसमें अनेक वृत्तों के असमान पाद हों तथा उनसे एक पूर्ण छन्द का निर्माण किया गया हो तो विषमवृत्त होता है ॥ १२० ॥

द्वौ[5] समौ द्वौ च विषमौ वृत्तेऽर्धविषमे तथा ।
सर्वपादैश्च विषमैर्वृत्तं विषममुच्यते ॥ १२१ ॥

जिस छन्द में दो पाद (पहले व तीसरे) सम और दो (दूसरे व चौथे) पाद विषम हों तो उसे अर्धविषम (अर्धसमवृत्त) वृत्त, तथा दो पादों के

१. विमब—क० ।
२. कीर्तयिष्यन्ति वर्णं—क० ।
३. उदाहरणमेतत् जनाश्रयां विद्यते । तद् ग्रन्थकारेण रुद्रस्वामिना कृतः उद्धृतमिति निर्णेतुं न शक्यते । अयं दण्डकश्चण्डवृष्टिप्रयोग इति नाम्ना भासते । इति क० पु० टिप्पणां रामकृष्णकविमहाभागः ।
४. युग्मोजविषमाणाञ्च सम्प्रवक्ष्यामि—क० ।
५. समावेकान्तरौ पादौ द्वौ द्वावर्द्धसमौ स्मृतौ —क० ।

असमान (विषम) रहने पर विषमवृत्त होता है। इसी प्रकार सभी (चारों) पादों के असमान रहने पर भी विषमवृत्त होता है ॥ १२१ ॥

ह्रस्वाद्यमथ[1] दीर्घाद्यं दीर्घं ह्रस्वमथापि वा।
युग्मौजविषमैः पादैर्वृत्तमर्धसमं भवेत् ॥ १२२ ॥

यदि किसी वृत्त के सम तथा विषम पादों का ह्रस्व, आदि दीर्घ या ह्रस्व स्वरूप हो तो उसे विषम वृत्त समझें ॥ १२२ ॥

पादे सिद्धे समं सिद्धं विषमं सार्वपादिकम्।
द्वयोरर्धसमं[2] विद्यादेष छेदस्तु[3] पादतः ॥ १२३ ॥

पादों के अनुसार लक्षण करने में सभी समान पाद रहने पर समवृत्त, दो पादों के समान रहने पर अर्धसम-वृत्त तथा सभी पादों के (या तीन पादों के) असमान रहने पर विषमवृत्त होता है ॥ १२३ ॥

छेदतस्तु[4] मया प्रोक्तं समवृत्तविकल्पनम्।
त्रिकैर्विषमवृत्तानां सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम्[5] ॥ १२४ ॥

मैंने पादों के विभाजन द्वारा वृत्तों का लक्षण बतलाया। अब मैं अर्धसम वृत्तों के त्रिकों (गणों) द्वारा बनने वाले स्वरूप को (भी) बतलाता हूँ ॥१२४॥

पथ्या—

सौ गौ तु प्रथमे पादे स्रौ लगौ चापि[6] द्वितीयके।
युग्मेऽर्धविषमे[7] पादे ज्ञेया पथ्या तु सा त्रिकैः ॥ १२५ ॥

यदि (अनुष्टुप् में) पहले पाद में सगण, सगण तथा दो गुरु हों, द्वितीय पाद में सगण, रगण लघु तथा गुरू हों तथा यही शेष सम तथा

---

१. ह्रस्वाद्यं नैधनाद्यं वा—क०।

२. द्वयोश्च पादयोरोज एषच्छेदस्तु वृत्तजः—क०, पादद्वयस्य संसिद्धौ सिद्धमर्द्धसमं पुनः—ख०; ग०।

३. भेदस्तु—ग०।

४. छेदास्तु ये मया प्रोक्ताः समवृत्तविकल्पिताः। ख०; ग०।

५. अस्मादनन्तरं क—पुस्तके—
नैधनेऽन्यतरस्यां वै प्रथमे पाद इष्यते।
द्वितीये चरणे च स्यादित्यनुष्टुप् समासतः ॥ इति अधिकम्।

६. यत्र तथापरे—क०।

७. एवं युग्मोजयोर्ज्ञेयं पथ्यावृत्ते त्रिकौ यथा।—क०; एवं युग्मोजकौ ज्ञेयौ—ख०; ग०।

विषम पाद में रहे तो त्रिकों द्वारा जाना जानो वाला यह वृत्त पथ्या कहलाता है ॥ १२५ ॥

– – ⏑ – – ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑

यथा—प्रिय-दैवतमित्रासि, प्रिय सम्बन्धि-बान्धवा ।

प्रियदानरता पथ्या दयिते त्वं प्रियासि मे ॥ १२६ ॥

तुम देवता तथा मित्रों का आदर करती हो, सम्बन्धी तथा बान्धवों पर तुम्हारा स्नेह है, तुम सदा प्रेमपूर्वक इष्ट वस्तु को प्रस्तुत करती हो तथा हितबुद्धिवाली हो इसलिए हे प्रिये, मुझे तुम अत्यन्त प्रिय हो ॥ १२६ ॥

सर्वविषमपथ्या—

म्रौ गौ तु[1] प्रथमे पादे यू सौ लगौ च द्वितीयके ।

पादे भौ ल्गौ तृतीये च चतुर्थे तु तसौ लगौ[2] ॥ १२७ ॥

यदि (अनुष्टुप जाति के वृत्त मे) प्रथम पाद में म, र, ग, ग; दूसरे पाद में य, स, ल, ग; तीसरे पाद में रगण, भगण, लघु तथा गुरु तथा चौथे पाद में जगण, सगण लघु तथा गुरु हों तो सर्वविषमा पथ्या वृत्त कहलाता है ॥ १२७ ॥

⏑⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – – ⏑ – ⏑

यथा—[3]नैवाचारो न ते मित्रं न सम्बन्धिगुण-प्रिया ।

⏑ – ⏑ ⏑ – – – ⏑ ⏑ ⏑ – – – ⏑ ⏑ –

सर्वथा सर्वविषमा पथ्या न भवसि प्रिये ॥ १२८ ॥

हे प्रिये, तुम्हारा व्यवहार अच्छा नहीं, तुम्हारा कोई मित्र नहीं, और न तुमने अपने सम्बन्धिजन के लिए अच्छे कार्य किये, तुम प्रत्येक बात में बड़ी स्थूल हो । इसी कारण तुम सभी को बड़ी असहमत बन रही हो ॥ १२८ ॥

विपरीत पथ्या—

अयुजोर्लक्षणं[4] ह्येतद्विपरीतन्तु यत्र च ।

पथ्या हि विपरीता सा विज्ञेया नामतो यथा[5] ॥ १२९ ॥

जिसमें प्रथम तथा तीसरे पाद के उपर्युक्त पथ्या के लक्षण विपरीत हो जाएँ तो उसे विपरीतपथ्या वृत्त जानो ॥ १२९ ॥

यथा—कृतेन[6] रमणस्य किं सखि रोपेण तेऽप्यर्थम् ।

विपरीता न पथ्यासि, त्वं जड़े केन मोहिता ॥ १३० ॥

१. खलु भवेत् पूर्वं—क० । २. पथ्या स्तौ ग्लौ चतुर्थके—क० ।
३. एतदुदाहरणं ख –ग० पुस्तकयो र्न विद्यते । ४. युग्मयो—ग० ।
५. बुधैः—ख०; ग० ।
६. त्वं जडे केन मोहिता विपरीता न पथ्यासि—क० ।

तुमने अपने प्रिय पर रोष दिखला कर क्या कर लिया ? ऐसा लगता है कि तुम मूर्ख हो और कुछ लोगों के द्वारा उभाड़ी जाने पर अव्यवस्थित मति (मोहित) हो रही हो। अतएव तुम इस समय बड़ी विपरीत या असहमत सी बन रही हो, जो ठीक नहीं है ॥ १३० ॥

(अनुष्टुप्) चपला—

चतुर्थादक्षराद्यत्र त्रिलघु स्यादयुक्ततः ।
अनुष्टुप्-चपला[1] सा तु विज्ञेया नामतो यथा ॥ १३१ ॥

यदि अनुष्टुप् वृत्त में चतुर्थ अक्षर से आगे पंचम, षष्ठ तथा सप्तम अक्षर लघु हो तो उसे अनुष्टुप्-चपला नाम से अभिहित किया जाता है ॥ १३१ ॥

उदा०—न खल्वस्याः प्रियतमः श्रोतव्यं व्याहृतं सख्या ।
नारदस्य प्रतिकृतिः कथ्यते[2] चपला ह्रीयम् ॥ १३२ ॥

यह उस (कन्या) का प्रियतम नहीं, यह बात मैंने अपनी सखी की जोर से बातचीत करने से जान ली। यह चंचला स्त्री सचमुच नारद की दूसरी प्रतिमा है (जो कलह-प्रिया है) ॥ १३२ ॥

विपुला—

विपुला तु युजि ज्ञेया लघुत्वात् सप्तमस्य तु ।
सर्वत्र सप्तमस्यैव केषाञ्चिद्विपुला[3] यथा ॥ १३३ ॥

यदि अनुष्टुप् वृत्त के दूसरे तथा चौथे पाद में सातवाँ अक्षर लघु हो तो (अनुष्टुप्) विपुला वृत्त होता है। कुछ विद्वानों के मत में सभी पादों के सातवें वर्ण के लघु होने पर विपुला होती है ॥ १३३ ॥

यथा—संक्षिप्ता वज्रवन्मध्ये हेमकुम्भ-निभस्तनि ।
विपुलासि प्रिये[4] कट्यां, शरच्चन्द्र-निभानने[5] ॥ १३४ ॥

हे प्रिये ! तुम्हारा शरीर दुबला, तुम्हारा कटिभाग वज्र के समान पतला, उरोज सुवर्ण-कलश के समान, नितम्ब गुरु तथा विस्तीर्ण एवं मुख शारदीय चन्द्र के समान सुन्दर है ॥ १३४ ॥

---

१. विपुला—ग० । २. श्रूयते विपुला ह्रीयम्—क० ।
३. विपुलैरनु—क० । ४. प्रिये श्रोण्यां—क० ।
५. पूर्णचन्द्रनिभानने—क० ।

यथा वा—गङ्गेव मेघोपगमे आप्लावित-वसुन्धरा ।

कूलवृक्षानारुजन्ती स्रवन्ती विपुलाचलात्[1] ॥ १३५ ॥

तुम वर्षा के समय विद्यमान रहने वाली गंगा के समान पृथ्वी को लहरों से ठेलने वाली, किनारे के वृक्षों को ढहने वाली तथा ऊँचे पर्वतों से उतरने या गिरने वाली हो ॥ १३५ ॥

एवं विविधयोगास्तु[2] पथ्यापादा भवन्ति हि ।

युग्मौजविषमैः पादैः शेषैरन्यैस्त्रिकैरथ[3] ॥ १३६ ॥

इस प्रकार पथ्या के पाद अनेक स्वरूप लिए हुए हैं । जो अपने सम, विषमपादों तथा शेष अन्य त्रिकों से निर्मित होते हैं ॥ १३६ ॥

सगुर्वन्तः[4] सर्वलघुस्त्रिको नित्यं हि नेष्यते ।

प्रथमादक्षराद्यत्र चतुर्थात् प्राग्लघुः स्मृतः[5] ॥ १३७ ॥

इस वृत्त में किसी त्रिक के अन्तिम वर्ण के गुरु वर्ण, (उदा०—म० य० र० स०) या लघु वर्णों में रखना (न०) या रहना ही इष्ट नहीं है । यहाँ (केवल) प्रथम अक्षर के पश्चात् एवं चौथे अक्षर के पूर्व एक लघु वर्ण होना (ही) वांच्छित है ॥ १३७ ॥

पथ्यावक्र—

पथ्यापादं समास्थाय[6] त्रीण्यन्ते तु गुरूण्यथ ।

भवन्ति पादे सततं बुधैस्तद्वक्त्रमुच्यते[7] ॥ १३८ ॥

यदि पथ्या के पाद में अन्त के तीन अक्षर गुरु हों तो उसे (पथ्या) वक्त्र (अनुष्टुप्) वृत्त जानो ॥ १३८ ॥

यथा—दन्तक्षताधरं सुभ्रु, जागरग्लाननेत्रान्तम्[8] ।

[9]रति-सम्भोगखिन्नं ते दर्शनीयतमं वक्त्रम् ॥ १३९ ॥

---

१ अस्मादनन्तरं क—पुस्तके—

'आगता मेघसमये भीरु भीरुकुलोद्गते । एकरात्रो परगृहं चोरि बन्धनमर्हसि ॥' इति अधिकं समुपलभ्यते प्रक्षिप्तञ्च ।

२. विपुलयोगास्तु—ख०; ग० । ३. स्तथा—ख०; ग० ।

४. गुर्वन्तकः—ख०, ग० । ५. स्मृतम्—ग० ।

६. समान्यत्र—क०; समास्थाप्य—ख०; ग० ।

७. यत्र तद्—ख०; ग० । ८. नेत्रञ्च—ख०; ग० ।

९. प्रातः सम्भोग—ग० ।

हे सुन्दरि, तुम्हारे अधर दन्तक्षतों से युक्त, जागरण से अलसाई कोने से युक्त आँखें तथा रति (संभोग) से थका हुआ तुम्हारा चेहरा और भी सुन्दर हो गया है ॥ १३९ ॥

इत्येषा सर्वविषमा नामतोऽनुष्टुबुच्यते ।
तद्विदां[1] मतवैषम्यं त्रिकादक्षरतस्तथा ॥ १४० ॥

अनुष्टुप् जाति के सर्वविषम स्वरूप में ये भेद हो जाते हैं । इसमें आचार्यों का मतैक्य नहीं है कि ये त्रिकों से या अक्षरों से लक्षित किये जाएँ ॥ १४० ॥

वानवासिका

पादे षोडशमात्रास्तु गाथांशक-विकल्पिताः[2] ।
चतुर्भिरंशकैर्ज्ञेया वृत्तज्ञैर्वानवासिका ॥ १४१ ॥

यदि सोलह मात्राओं से बनने वाले पाद का गाथा छन्द में (जो कि चार भागों में विभक्त हो) त्रिकों (गणों) के द्वारा या त्रिकों के भागों द्वारा निरूपण किया जाए तो उसे वानवासिका वृत्त कहते हैं* ॥ १४१ ॥

यथा—असंस्थितपदा सुविह्वलाङ्गी[3] मदस्खलितचेष्टितैर्मनोज्ञा ।
क्व यास्यसि वरोरु सुरतकाले विषमा किं वानवासिका त्वम् ॥

हे सुन्दरि, तुम्हारी चाल लड़खड़ाती हुई, शरीर आवेगपूर्ण है और मधुपान के कारण तुम्हारी चेष्टाएँ बड़ी ही मधुर हैं । इस प्रणयानन्द के अवसर पर तुम पीछे हटकर कहाँ जा रही हो ? क्या तुम विषमभावना वाली (विरागयुक्त) वनवासिनी स्त्री तो नहीं ? ॥ १४२ ॥

केतुमती

स्जौ स्गौ च प्रथमे पादे तथा चैव तृतीयके ।
केतुमत्यां गणाः प्रोक्ता भ्रौ न्गौ गश्च सदा बुधैः ॥ १४३ ॥

यदि प्रथम तथा तृतीय पाद में सगण, जगण, सगण तथा गुरु तथा द्वितीय और चतुर्थपाद में भगण, रगण, नगण तथा गुरु हों तो केतुमती वृत्त होता है ॥ १४३ ॥

---

* पिङ्गलाचार्य ने इसे मात्रासमक माना है जिसका प्रभेद वानवासिका होता है ।

---

१. द्विधामतं हि वैषम्यं—ख० ; ग० ।
२. यस्या नित्यं भवन्ति हि—क० ; त्रिकांशक विकल्पिता—ग० ।
३. सविह्वलाङ्गी—क० ।

यथा—स्फुरिताधरं चकितनेत्रं[1] रक्तकपोलमम्बुजदलाक्षम्।
किमिदं रूषापहृत-शोभं[2] केतुमतीसमं[3] वद मुखं ते ॥ १४४ ॥

तुम्हारे ओठ फड़क रहे हैं, कमलदल के समान नेत्र चंचल हो उठे हैं, और कपोल लाल हैं। बतलाओ तो भला, क्रोध के कारण लाल होकर यह मुँह अपने सौन्दर्य को क्यों नष्ट कर रहा है—जो कि केतुमती (आग की लपट) के समान दिखाई दे रहा है ? ॥ १४४ ॥

अपरवक्त्र

वक्त्रस्यापरपूर्वस्य[4] चादौ नौ रो लगौ त्रिकाः।
न जौ जरौ द्वितीये च शेषाग्रं पुनरेव तु ॥ १४५ ॥

यदि प्रथम और तृतीय पाद में नगण, नगण, रगण, लघु तथा गुरु और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में नगण जगण तथा रगण हों तो उसे अपरवक्त्र वृत्त कहते हैं ॥ १४५ ॥

द्वितीय व चतुर्थ पाद में नगण—

यथा—सुतनु जलपरीतलोचनं[5] जलदनिरुद्धमिवेन्दुमण्डलम्।
किमिदमपर-वक्त्रमेव ते [6]शशिवदनेऽद्य मुखं पराङ्मुखम् ॥

अरी चन्द्रमुखी, तुम्हारी आँखें आँसुओं से लबालब क्यों भरी हैं ? तुम्हारा मुँह ऐसा लग रहा है जैसे मेघों से ढ़का हुआ चाँद हो और तुम्हारा यह दूसरी ओर मोड़ा हुआ मुँह तो किसी दूसरे जैसा ही दिखने लगा है। यह सब क्या है ॥ १४६ ॥

पुष्पिताग्रा

नौ यौ तु प्रथमे पादे न्जौ[7] ज्रौ गश्च तथापरे।
यत्र[8] तत् पुष्पिताग्रा स्याद्यदि शेषन्तु पूर्ववत् ॥ १४७ ॥

यदि प्रथम तथा तृतीय पाद में नगण, नगण, रगण तथा यगण और

---

१. चलितनेत्रं—क०; कलितनेत्रं—ग०। २. शेषं—ख०।
३. केतुमतिमुखाकृतिमुखं ते—ख०; ग०।
४. अपरवक्त्रस्यादौ तु म्लौ गिति त्रिकं त्रिकम्।
नजौ जरौ द्वितीये तु चतुर्थे पुनरेव तु ॥—क०।
५. परीतलोचने—ख०; ग०।
६. मम तु तथापि मनोहरं मुखम्—ख०; ग०।
७. नजौ ज्रौ गस्तथा परे—ख०; ग०।
८. पादे तु पुष्पिताग्रायां यथैतावपरौ तथा—ख०; ग०।

दूसरे तथा चौथे पाद में नगण, जगण, जगण, रगण तथा गुरु हों तो पुष्पिताग्रा वृत्त होता है ॥ १४७ ॥

यथा—पवनस्य[1] विधूतचारुशाखं प्रमुदितकोकिलकण्ठनादरम्यम् ।

मधुकर[2]परिगीयमान-शब्दं वरतनु पश्य वनं सुपुष्पिताग्रम् ॥१४८॥

सुन्दरि, पुष्पों से अलंकृत इस वन को (सिरे तक) देख जाओ । इसमें पवन के वेग से टहनियाँ हिल रही हैं, कोकिल आनन्द में आलाप कर रहे हैं और भौंरे चारों ओर गूँज रहे हैं ॥ १४८ ॥

उद्गता

स्जौ[3] स्लौ चादौ यथा न्सौ ज्गौ भ्जौ ज्लौ गश्च तथा पुनः ।

स्जौ स्जौ गश्च त्रिका ह्येते उद्गतायाः प्रकीर्तिताः ॥१४९॥

जिसके प्रथम पाद में सगण, जगण, सगण तथा लघु हो, द्वितीय पाद में नगण, सगण, जगण तथा गुरु, तृतीय पाद में भगण, जगण, लघु तथा गुरु और चतुर्थ पाद में सगण, जगण, सगण तथा गुरु हो तो उद्गता वृत्त होता है ॥ १४९ ॥

यथा—तव रोमराजिरतिभाति, सुतनु मदनस्य मञ्जरी ।

नाभिकमलविवरोत्पतिता[4], भ्रमरावलीव कुसुमात्समुद्गता[5] ॥

हे सुन्दरि, तुम्हारी यह रोमावाली—जो नाभिकमल के मध्य से ऊपर की ओर उठ रही है, पुष्पों पर से जा उड़ने वाली भौंरों की कतार—जो कामदेव की कुसुमंजरी पर बैठी हो—के समान अतिशय शोभित हो रही है ॥ १५० ॥

ललिता

स्जौ[6] स्लौ च ततो न्सौ ज्गौ नौ सौ चेति तृतीयके ।

स्जौ स्जौ गश्च चतुर्थे तु ललितायाः गणाः स्मृताः ॥ १५१ ॥

---

१. पवनबल—क० । २. रवगीयमानवृक्षं—ख०; ग० ।

३. स्जौ ज्लौ गश्च तृतीये स्युः स्जौ स्जौ गश्च तुरीयके ।
एते त्रिकाः क्रमप्राप्ता उद्गतायां प्रकीर्तिताः ॥—ख०; ग० ।

४. कमले—ख०; ग० । ५. कुसुमे समुद्गता—ख०; ग० ।

६. स्जौ जश्च ललितापादे न्सौ जो गश्च द्वितीयके ।
नौ सौ चैव तृतीये तु द्विः स्जौ गश्च चतुर्थके ॥—ख०; ग० ।

जिसके प्रथमपाद में सगण, जगण, सगण तथा लघु; द्वितीय पाद में नगण, सगण, जगण और गुरु, (अर्थात् प्रथम दो पाद उद्गता के समान हों) तृतीय पाद में दो नगण और दो सगण तथा चतुर्थ पाद में सगण, जगण, सगण, जगण और एक गुरु हो तो ललिता नामक वृत्त होता है ॥ १५१ ॥

यथा—[1]ललिता-कुलभ्रमित[2]-चारुवसनकरचारुपल्लवा ।
– – – – – – – – ⏑ – – ⏑ – – ⏑ – ⏑ – ⏑ ⏑ – – ⏑ – ⏑
प्रविकसित-कमलकान्तिमुखी[3] प्रविभासि देवि सुरतश्रमातुरा ॥

हे सुन्दरि, तुम अपने विकसित कमल के समान शोभा वाले मुँह से अतिशय सुशोभित हो रही हो (और सम्प्रति) शीघ्र सुकुमारता पूर्वक चलने पर सुन्दर लगने वाले तुम्हारे वस्त्र तथा हाथ भी बड़े अच्छे लग रहे हैं ॥ १५२ ॥

एवमेतानि वृत्तानि समानि विषमाणि च ।
नाटकाद्येषु[4] काव्येषु प्रयोक्तव्यानि सूरिभिः ॥ १५३ ॥

ये सम तथा विषम प्रकार के वृत्त हैं जिनका नाटक तथा काव्य में सुधिजन प्रयोग करें ॥ १५३ ॥

सन्त्यन्यान्यपि वृत्तानि यान्युक्तानीह पिण्डशः[5] ।
न च तानि प्रयोज्यानि [6]हतशोभानि तानि हि ॥ १५४ ॥

इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के अन्य मात्रिक वृत्त भी होते हैं, जिन्हें सामूहिक रूप में बतलाया गया पर उनका (अप्रचलित स्वरूप हो तो) प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे किसी प्रकार रचनासौन्दर्य को नहीं बढ़ाते हैं ॥ १५४ ॥

यान्यत्र[7] प्रतिषिद्धानि गीतके तानि योजयेत् ।
[8]ध्रुवायोगे तु वक्ष्यामि तेषामेव[9] विकल्पनम् ॥ १५५ ॥

---

१. ललितावलि भ्रमरजासु वदनकरचारुपल्लवा ।
ललितासुतासुतनु वदतेऽद्य लोचने वलिता लतेव चलबालपल्लवा ॥–क० ।
२. भ्रमिवाहवसनकरपल्लवा हि मे—ख०; ग० ।
३. कमलकान्तमुखि प्रतिभासि—ख०; ग० ।
४. नाटकादिषु—ग० । ५. पण्डितैः—ख०; ग० ।
६. न शोभां जनयन्ति हि—ख० ।
७. यान्यतः परमत्र स्यु—ख०; ग० ।
८. ध्रुवाविधाने व्याख्यास्ये—ख०; ग० । ९. तेषाञ्चैव—ख०; ग० ।

जो मात्रिक वृत्त यहाँ छोड़ दिये गए हैं उनकी गीत में योजना की जाए। इनका विशेष वर्णन ध्रुवाओं के वर्णन के अवसर पर किया जाएगा ॥ १५५ ॥

आर्या वृत्त—

वृत्तलक्षणमेवन्तु[1] समासेन मयोदितम्।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ह्यार्याणामपि[2] लक्षणम् ॥ १५६ ॥

यहाँ मैंने संक्षेप में वृत्तों का लक्षण और स्वरूप बतलाया। अब मैं आर्या के लक्षण बतलाता हूँ ॥ १५६ ॥

पथ्या च विपुला चैव चपला मुखतोऽपरा।
जघने चपला चैव आर्याः पञ्च प्रकीर्तिताः ॥ १५७ ॥

आर्या के पाँच प्रकार होते हैं—(१) पथ्या, (२) विपुला, (३) चपला, (४) मुखचपला तथा (५) जघनचपला ॥ १५७ ॥

आसान्तु[3] सम्प्रवक्ष्यामि यतिमात्राविकल्पनम्।
[4]लक्षणं नियमञ्चैव विकल्पगुणसंश्रयम् ॥ १५८ ॥

अब मैं इन आर्याओं के लक्षण एवं उनमें होनेवाली यति तथा मात्राएँ, उनके भेद तथा विकल्प के (गुरु, लघु के विकल्प के) नियम आदि बतलाता हूँ ॥ १५८ ॥

यतिश्छेदस्तु विज्ञेयश्चतुर्मात्रो गणः स्मृतः।
द्वितीयान्त्यौ युजौ पादावयुजौ[5] त्वपरौ स्मृतौ ॥ १५९ ॥

यति कहते हैं पाद के विभाग (छेद) को और (इन आर्या आदि मात्रिक वृत्तों में) गण चार मात्रा का होता है। द्वितीय तथा चतुर्थ पाद (युग्) या सम तथा प्रथम और तृतीय पाद को असम या अयुग् पाद कहते हैं ॥ १५९ ॥

गुरुमध्यविहीनस्तु चतुर्गणसमन्वितः।
अयुग्गणो विधातव्यो युग्गणस्तु[6] यथेप्सितः ॥ १६० ॥

(आर्या में) मध्य-गुरु-गण (अर्थात् जगण) को छोड़कर शेष सभी

---

१. मेतत्तु—ख०; ग०। २. आर्याणा—ख०; ग०।
३. आसान्चैव प्रवक्ष्यामि—ख०; ग०।
४. लक्षणैर्नियतांशैश्च विकल्पान् गणसंश्रितान्—ख०; ग०।
५. शेषौ चैवायुजौ स्मृतौ—ख०; ग०।
६. युग्गणः पञ्च चैव तु—ख०; ग०।

चार मात्रा के अयुग् गण काव्य रचना में कवि द्वारा रखे जा सकते हैं पर युग् गण में ऐसा कोई प्रतिवन्ध नहीं है ॥ १६० ॥

[1]षष्ठस्य द्विविकल्पस्य नैधने ह्येकसंश्रितः[2] ।
[3]पश्चादर्थे तु षष्ठः स्यादेकमात्रस्तु केवलः ॥ १६१ ॥

षष्ठ गण के दो (वैकल्पिक) स्वरूप हैं और आठवाँ गण केवल एक वर्ण होता है। उत्तरार्ध में छठा गण केवल एक मात्रा से ही निर्मित होता है ॥ १६१ ॥

द्विविकल्पस्तु षष्ठो[4] यो गुरुमध्यो भवेत्तु सः ।
तथा[5] सर्वलघुश्चैव[6] यतिसंज्ञासमाश्रिताः ॥ १६२ ॥

छः गण के दो वैकल्पिक स्वरूपों में एक है 'ज' जिसमें गुरु मध्य में होता है और दूसरा इसका रूप चार लघु वर्ण (मात्रा) वाला है। ये यति से सम्बद्ध या उस पर आश्रित रहते हैं ॥ १६२ ॥

[7]द्वितीयादिलघुर्ज्ञेयः सप्तमे[8] पञ्चमे यतिः ।
प्रथमादिरथान्त्ये[9] च पञ्चमे वा विधीयते ॥ १६३ ॥

जब दूसरा गण आदि लघु हो तथा पंचम-गण के बाद हो तो यति होती है, जबकि वह पूर्ण होता हो या षष्ठ गण के प्रथम अक्षर से या पाँचवें गण के बाद पूर्ण होता हो ॥ १६३ ॥

[[10]गुरुमध्यविहीनस्तु चतुर्गुणसमन्वितः ।
अयुग्गणो विधातव्यः युग्गणस्तु स एव च ॥

प्रक्षिप्तः—मध्य गुरु अर्थात् जगण को छोड़ कर चार गण से युक्त विषम गण वाले तथा शेष उसी प्रकार सम गण वाले पाद रखे जाते हैं।]

---

१. षष्ठोऽस्य द्विविकल्पः स्यात्—क०; षष्ठो वै द्विविकल्पस्तु—ख० ।

२. संस्थितः—क०; ख० ।

३. पश्चार्धे यो गणः षष्ठ एकमात्रः स इष्यते ।—क०; स उच्यते—ख०; ग० ।

४. षष्ठोऽत्र—ग० ।

५. यथा—ख० ।

६. सर्वयतिश्चैव यदि संज्ञां—क० यतिः संज्ञाः समाश्रितः—ग० ।

७. सद्वितीयाद्विलघुनी सप्तमे सप्तमाद्यदि—क०, सा द्वितीया द्विलघुका सप्तमे प्रथमे यतिः—ख; साद्वितीयाद् द्विलघुनि सप्तमे प्रथमाद्यति—ग० ।

८. प्रथमादि तथान्ते च—क; ग० ।

९. पञ्चमे तु—ग० ।

१०. प्रमाणश्चैव पञ्चमः—ख० ।

पथ्या आर्या—विपुला आर्या—

[1]गणेषु त्रिषु पादस्य यस्याः पथ्या तु सा भवेत् ।
अतश्च विपुलान्या तु विज्ञेयाऽयतिलक्षणा ॥ १६४ ॥

जिसमें तीन गण के पश्चात् यति हो (अर्थात् जिसमें तीन गणों या १२ मात्रा का पाद हो) उसमें पथ्या आर्या होती है पर विपुला आर्या इससे भिन्न है क्योंकि उसमें किसी प्रकार की (पाद में) यति नहीं होती (अयतिलक्षणा) है ॥ १६४ ॥

पथ्या यथा—

रक्तमृदुपद्मनेत्रा ।सतदीर्घबहुल-मृदुकेशी ।
कस्य तु पृथुमृदुजघना तनुबाह्वंसोदरी पथ्या ॥ १६५ ॥

ऐसी स्त्री किसे इष्ट नहीं जो रक्तवर्ण के कोमल कमल जैसे नेत्रों वाली हो, जिसके काले, लम्बे, कोमल तथा घुँघराले बाल हों और मोटी तथा कोमल जाँघें हों, पतली बाँहें, कंधे तथा उदर हों ॥ १६५ ॥

विपुला यथा—

विपुलजघनवदनस्तननयनैस्ताम्राधरोष्ठकरचरणैः ।
आयतनासागण्डैर्ललाटकर्णैः शुभा कन्या[2] ॥ १६५ ॥

वह कन्या शुभ लक्षण वाली होती है जिसका नितम्ब, चेहरा, उरः

---

१. प्रथमतृतीयौ पादौ द्वादशमात्रौ भवेत्तु सा पथ्या ।
विपुलान्या खलु गदिता पूर्वोदितलक्षणोपेता ॥—क०
ख० पुस्तकेऽत्रैषाधिका सार्धपञ्चश्लोकी—
द्वितीयश्च चतुर्थश्च जकारौ गुरुमध्यगौ ।
यस्याः स्यात् पादयोगे तु विज्ञेया विपुला तु सा ॥
मुखेऽस्य मुखचपला स्यादन्यत्र जघने तथा ।
उभयोरर्धयोरेतल्लक्षणं दृश्यते यदि ।
वृत्तज्ञैः सा तु विज्ञेया सर्वतश्चपला तथा ।
त्रिंशन्मात्रास्तु पूर्वार्द्धे विंशति सप्त चापरे ।
उभयोरर्धयोर्ज्ञेयो मात्रापिण्डो विभागशः ।
अधिकानि यानि त्रिंशद्भ्यस्तानि द्विगुणितानि तु ।
अक्षरत्रययुक्तानि ज्ञेयान्यत्र लघूनि तु ।
एतानि लघुसंज्ञानि निर्दिष्टानि समासतः ।
सर्वासामेव चार्याणामक्षराणि यथाक्रमम् ॥

तथा नयन बड़े हों, हाथ और पैरों के तले लाल हों तथा नाक, कपोल, ललाट तथा कान ऊँचे उठे हुए हों ॥ १६५ ॥

चपला आर्या—

द्वितीयश्च चतुर्थश्च गुरुमध्यगतो भवेत्।
उभयोरर्धयोर्यत्र विज्ञेया चपला यथा ॥ १६६ ॥

चपला में द्वितीय और चतुर्थ गण ('ज' या) मध्य गुरु के रहते हैं जो दोनों के अर्धभाग में होता है ॥ १६६ ॥

यथा—उद्भटगामिनी परुषभाषिणी कामचिह्नकृतवेषा।
जानाति मांस-युक्ता सुरा-प्रिया सर्वतश्चपला ॥ १६७ ॥

वह स्त्री जो अपने पति के प्रतिकूल उद्धत आचरण करे और उसे कठोर वचन कहे, जिसके वेष (वस्त्रादि) में उपभोग के चिह्न दिखाई दे रहे हों, जिसके शरीर पर अधिक मांस हो, सुरा पीने की आदत हो, वह चंचला स्त्री किसी को कभी भी प्राप्त हो सकती है ॥ १६७ ॥

मुखचपला तथा जघनचपला—आर्या

पूर्वार्धे लक्षणं ह्येतदस्याः[1] सा च मुखेन तु।
पश्चिमार्धे[2] तु चपला यस्याः सा जघनेन तु ॥ १६८ ॥

जब चपला का लक्षण पूर्वार्द्ध में उपलब्ध हो तो मुख चपला तथा उत्तरार्ध में लक्षण दिखे तो जघनचपला होती है ॥ १६८ ॥

मुखचपला यथा—

आर्यामुखे तु चपला तथापि चार्या न मे यतः सा तु।
दक्षा गृहकृत्येषु तथा दुःखे भवति दुःखार्त्ता ॥ १६९ ॥

मेरी स्त्री वाचाल है पर उसका व्यवहार बुरा नहीं है। वह गृहकार्य में चतुर है और मेरे दुःखी होने पर वह भी दुःखी हो जाती है ॥ १६९ ॥

जघनजपला यथा—

वरमृगनयने चपलासि वरोरु शशाङ्कदर्पणनिभास्ये।
कामस्य सारभूते पूर्वमदचारुजघनेन ॥ १७० ॥

हे सुन्दरि, तुम्हारी चंचल आँखें श्रेष्ठ हरिण के समान हैं और तुम्हारा मुख चाँद या दर्पण के समान (स्वच्छ या आह्लादक) है, तुम्हारी सुन्दर

---

१. यस्याः सा चपलामुखे—क०।
२. पश्चिमार्धं भवेद्यत्र जघने चपला तु सा—क०।

जंघाए काम की सार एवं पूर्णतः मादक है परन्तु तुम चपला (चंचल स्वभाव) होने से विश्वास के योग्य नहीं हो ॥ १७१ ॥

उभयोरर्धयोरेतल्लक्षणं दृश्यते यदि।
वृत्तज्ञैः सा तु विज्ञेया सर्वतश्चपला तु सा ॥ १७२ ॥

यदि पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्ध में 'चपला' का लक्षण समान उपलब्ध हो तो इसे 'सर्वचपला' आर्या जानों ॥ १७२ ॥

कार्यौ द्वादशमात्रौ च पादावाद्यौ तृतीयकौ।
अष्टादश द्वितीयश्च तथा पञ्चदशोत्तमाः ॥ १७३ ॥

इस वृत्त में प्रथम तथा तृतीय पाद में बारह मात्राए तथा दूसरे में अठारह और अन्तिम पाद में पन्द्रह मात्राएँ रखनी चाहिए ॥ १७३ ॥

[1]चतुःपञ्चप्रकाराणां चतुष्कानां विशेषतः।
प्रस्तारयोगमासाद्य बाहुल्यं सम्प्रदर्शयेत् ॥ १७४ ॥

विषम स्थान या पाद में स्थित रहने वाले चार प्रकार के अर्थात् चार गण रखे जाते हैं। समस्थान या समपाद में पांच प्रकार के गण या पांच गण को रखते हैं। इनमें जो परस्पर संकीर्णता के द्वारा होने वाला वैशिष्ट्य है उसे प्रस्तारगत विस्तार से दिखलाया जाता है ॥ १७४ ॥

पञ्च पञ्चाशदन्त्या[2] तु त्रिंशदाद्या तथैव च।
आर्या त्वक्षरपिण्डेन विज्ञेयाऽत्र प्रयोक्तृभिः ॥ १७५ ॥

अन्त्या अर्थात् अन्तिम सर्वलघु के पांच गण में रखा जाए इस प्रकार इनके पचपन प्रभेद प्रस्तारगत विस्तार से होंगे। प्रथमार्ध में आदि के पाद के आद्यगण के तीस प्रस्तारगत प्रभेद होंगे। दूसरे के छब्बीस प्रस्तारगत भेद होंगे। इस प्रकार प्रयोक्तागण आर्या के अक्षर समुदाय को समझें॥१७५॥

त्रिंशतस्त्वथ वर्णेभ्यो लघुवर्णत्रयं भवेत्।
शेषाणि गुरुसंज्ञानि[3] एवं सर्वत्र निर्दिशेत् ॥ १७६ ॥

और इन तीस वर्ण गत प्रस्तार भेदों के प्रकार में द्वितीय और षष्ठ स्थान के साथ अन्तिम स्थान पर स्थित रहने से तीन लघु वर्ण बनते हैं तथा शेष गुरु संज्ञक वर्ण विभेद होते हैं, ऐसा सभी स्थान पर समझना चाहिए ॥ १७६ ॥

---

१. श्लोकोऽयं अभिनवगुप्तव्याख्यातत्वादत्र निवेशितः।

२. पञ्चाशदाद्या—ख०। ३. गुरुसंख्यानि—क०।

[1]सर्वेषामेव चार्याणामक्षराणां यथाक्रमम् ।
सर्वेषां जातिवृत्तानां[2] पूर्वमुत्तरसंख्यया ।
विकल्पं[3] गणनां कृत्वा संख्यां पिण्डेन दर्शयेत्[4] ॥ १७७ ॥

सभी जातिवृत्तों में विकल्पगत संख्या के पूर्व विभेदों को उत्तर संख्या के साथ गुणा करके उससे जो समुदाय संख्या बने वही उसका प्रस्तार भेद होगा जिसे बोधक संख्या के रूप में दिखलाया जाए ॥ १७७ ॥

[5]आर्यागीतिरथार्धे च केवलश्चाष्टभिर्गणैः ।
इतरार्धे[6] तु षष्ठस्तु न लघुर्गण इष्यते ॥ १७८ ॥

आर्या गीति के अर्ध भाग में आठ गण रखते हैं और आर्यागीति के प्रथमार्ध के समान उत्तरार्ध में भी षष्ठ गण के दो भेद माने जाते हैं जिसमें लघुगण न हों ॥ १७८ ॥

[7]वृत्तैरेवन्तु विविधैर्नानाच्छन्दसमुद्भवैः ।
काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः ॥ १७९ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे छन्दोविचितिर्नाम षोडशोऽध्यायः ।

इन छन्दों के नियमों को जानकर विविध छन्दों में नाटक काव्य आदि का कविजन ३६ लक्षणों सहित निर्माण करें ॥ १७९ ॥

भरतनाट्यशास्त्र का 'छन्दोविरचिति नामक सोलहवां अध्याय सम्पूर्ण ॥

---

१. पद्यार्धमेतत् क—पुस्तकेऽधिकम् ।
२. यानि वृत्तानि—ख० ।
३. विकल्पं गणयित्वा तु संख्या पिण्डेन दर्शयेत्—ख० ।
४. निर्दिदशेत्—ग० ।
५. गीतिरथार्यैव केवलं त्वष्टभि—ख०; ग० ।
६. इतरार्धेऽपि षष्ठः स्यात् स विकल्पो भवेद् मणः—ख०; इतरा चापि षष्ठा स्यात् स विकल्पो भवेद्गुणः—ग० ।
७. एवं चतुर्विधैर्वृत्तै—ख० ।

सप्तदशोऽध्यायः

(वाचिकाभिमये) काव्यादिलक्षणाध्याय

(नाट्य-रचना के छत्तीस) लक्षण—

भूषणाक्षरसङ्घातौ शोभोदाहरणे तथा।
हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्त्यभिप्राय एव च ॥ १ ॥
निदर्शनं निरुक्तश्च सिद्धिश्चाथ विशेषणम्।
गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥ २ ॥
[1]दिष्टश्चैवोपदिष्टश्च विचारोऽथ विपर्ययः।
भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणन्तथा ॥ ३ ॥
अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च।
मनोरथश्च लेशश्च [2]सङ्क्षोभो गुणकीर्तनम् ॥ ४ ॥
[3]ज्ञेयाभ्यनुक्तसिद्धिश्च प्रियं वचनमेव च।
षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥ ५ ॥

(द्रश्य) काव्य में छत्तीस लक्षण[1] समायोजित होते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) भूषण (२) अक्षर-संघात (३) शोभा (४) उदाहरण (५) हेतु (६) संशय (७) द्रष्टान्त (८) प्राप्ति (९) अभिप्राय (१०) निदर्शन (११) निरुक्त (१२) सिद्धि (१३) विशेषण (१४) गुणातिपात (१५) गुणातिशय (१६) तुल्यतर्क (१७) पदोच्चय (१८) दिष्ट (१९) उपदिष्ट (२०) विचार (२१) विपर्यय (२२) भ्रंश

---

१. 'लक्षणों' के विषय में नाटयशास्त्र की टीकाओं में असमानता परिलक्षित होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने दस विभिन्न मतों का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि महापुरुष लक्षण शब्द से लक्षण शब्द इस सन्दर्भ में तुलना योग्य है। अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण यह गुण, रीति, अलंकार आदि सभी से पार्थक्य रखता है। कुछ टीकाकारों ने लक्षणों को नाट्योपयोगी मानते हुए इसका व्यापक प्रसार भी बतलाया है। इसका विवेचन परिशिष्ट में दिया गया है।

---

१. दृष्टश्चैवोपदिष्टश्च—ख०; ग०। २. क्षोभोऽथ—ख०; ग०।
३. ज्ञेयान्यक्त—ख०; ग०।

(२३) अनुनय (२४) माला (२५) दाक्षिण्य (२६) गर्हण (२७) अर्थापत्ति (२८) प्रसिद्धि (२९) पृच्छा (३०) सारूप्य (३१) मनोरथ (३२) लेश (३३) संक्षेप (संक्षोभ) (३४) गुणकीर्तन (३५) अनुक्त सिद्धि तथा (३६) प्रियवचन (प्रियोक्ति) ॥ १–५ ॥

भूषण[1]

अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्कृतम् ।
भूषणैरिव [1]चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम् ॥ ६ ॥

जो काव्य रचना अनेक अलङ्कारों तथा गुणों से अलङ्कारों से सजाए व्यक्ति के शरीर के सदृश सुशोभित हो रही हो उस विभिन्न अर्थों के गुण-सूचक लक्षण को 'भूषण' जानो[2] ॥ ६ ॥

अक्षरसंघात—

यत्राल्पैरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रमुपवर्ण्यते ।
तमप्यक्षरसङ्घातं विद्याल्लक्षणसंज्ञितम् ॥ ७ ॥

जहां थोड़े श्लिष्ट अक्षरों से विचित्र अर्थ की अभिव्यक्ति हो उसे 'अक्षर-संघात' नामक लक्षण जानों[3] ॥ ७ ॥

---

१. इस अध्याय में (३६ लक्षणों का निदर्शक) नाट्यशास्त्र का अंश दो पाठान्तरों में उपलब्ध है। इनमें एक पाठ को प्राचीन टीकाकारों ने लिया और उसी पाठ का विश्वनाथ तथा सिंहभूपाल प्रभृति ने अनुसरण किया। इस पाठ में सभी लक्षणों के अनुष्टुप् श्लोक हैं। हमने भी अपने अनुवाद में इसे ही प्राथमिकता दी है। दूसरा पाठ—जो कि परवर्ती तथा परिष्कृत प्रतीत होता है नाट्यशास्त्र के टीकाकारों द्वारा गृहीत है। विशेषतः आचार्य कीर्तिधर, अभिनवगुप्तपाद तथा आचार्य धनञ्जय आदि के द्वारा। यह सत्रह लक्षणों में उक्त पाठ से अभिन्नता रखता है जिनमें आठ लक्षण तो दोनों पाठों के समान है। (द्वितीय पाठ को समग्र एवं सानुवाद अनुबन्ध में देने का उद्योग किया गया है।) इस प्रकार दोनों हो पाठान्तरों का अर्थ उपलब्ध करवाने का उद्योग हमने किया है। जिससे इस अध्याय के अध्ययन में बुद्धिभेद उत्पन्न न हो और आवश्यकताके अनुसार दोनों ही पाठों का उपयोग हो सके।

२. दूसरे पाठ में इसे ही विभूषण माना गया है। लक्षण अनुबन्धाध्याय में द्रष्टव्य।

३. अक्षरसंघात का लक्षण दोनों पाठों में गृहीत है।

---

१. विन्यस्तै—ख० ।

शोभा—

सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा ह्यसिद्धोऽर्थः प्रयुज्यते।
यत्र [1]श्लिष्टा विचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ॥ ८ ॥

यदि नवीन तथा मनोहारि अर्थ की असिद्ध या अज्ञात विषय को सिद्ध या ज्ञात रूप में उद्धृत करते हुए श्लेष के द्वारा अभिव्यक्ति हो तो इसे 'शोभा' नामक लक्षण समझना चाहिए[1] ॥ ८ ॥

उदाहरण—

यत्र [1]तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात्।
[2]साध्यते निपुणैरर्थस्तदुदाहरणं स्मृतम् ॥ ९ ॥

जब समानार्थक वाक्यों द्वारा किसी अर्थ को प्रकट करते हुए निपुणजन अपने प्रयोजन को साधें तो उसे 'उदाहरण' नामक लक्षण समझना चाहिए[2] ॥ ९ ॥

हेतु—

यत्प्रयोजनसामर्थ्याद्वाक्यमिष्टार्थसाधनम्[3]।
समासोक्तं मनोग्राहि स हेतुरिति संज्ञितः ॥ १० ॥

जब संक्षिप्त और हृदय ग्राही वाक्यावली द्वारा उसके दक्षतापूर्वक प्रयोग किये जाने के कारण इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाए तो उसे 'हेतु' नामक लक्षण जानों[3] ॥ १० ॥

संशय—

अपरिज्ञाततत्त्वार्थं वाक्यं यत्र समाप्यते।
अनेकत्वाद्विचाराणां स संशय इति स्मृतः ॥ ११ ॥

जब विचारों की अधिकता रहने के कारण बिना (उसके) सम्पूर्ण आशय का ज्ञान किये ही वाक्य समाप्त हो जाए तो उसे 'संशय' समझना चाहिए[4] ॥ ११ ॥

---

१. शोभा का लक्षण दोनों पाठों में समानता युक्त है।
२. तुलना, सा० दर्पण ६।१७७। उदाहरण का लक्षण अन्य पाठ में मिलता है।
३. हेतु का लक्षण अन्य पाठ में दूसरा है। इस लक्षण का विस्पष्टरूप कदाचित् अस्पष्ट सा है। अभिनवगुप्त की व्याख्या यहाँ विशद है।
४. संशय का लक्षण दोनों पाठों में समान है।

---

२. श्लक्ष्णविचित्रार्था—ख०; यत्र श्लिष्टं विचित्रार्थम्—ग०।
१. स्वल्पार्थं—ख०; ग०। २. साध्यन्ते निपुणैरर्था—ख०; ग०।
३. साधकम्—ख०; ग०।

दृष्टान्त—

सर्वलोकमनोग्राही यस्तु[1] पक्षार्थसाधकः ।
हेतोर्निदर्शनकृतः स दृष्टान्त इति स्मृतः ॥ १२ ॥

हेतु तथा उदाहरण को देते हुए जिसमें किसी विषय या वस्तु का मनोरंजक रूप में पक्ष-समर्थन किया जाए तो उस वचनावली को 'दृष्टान्त'[1] समझना चाहिए ॥ १२ ॥

प्राप्ति—

दृष्ट्वैवायवान्[2] कांश्चिद्भावो यत्रानुमीयते[3] ।
[4]प्राप्तिं तामभिजानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥ १३ ॥

जब कुछ (सूचनाओं के द्वारा या) चेष्टाओं को देखकर किसी भाव को ताड़ लिया जाए तो उसे 'प्राप्ति' नामक (श्रेष्ठ) नाटकों में प्राप्त होने वाला लक्षण समझना चाहिए[2] ॥ १३ ॥

अभिप्राय—

अभूतपूर्वो यो [5]ह्यर्थः सादृश्यात् परिकल्पितः ।
लोकस्य हृदयग्राही सोऽभिप्राय इति स्मृतः ॥ १४ ॥

जो विचार मनोग्राही स्वरुप वाला हो तथा जिसकी किसी ने कभी कल्पना भी न की हो—जब (दो विषयों की) समानता के आधार पर उसे प्रस्तुत या निर्माण किया जाए तो उसे 'अभिप्राय' समझना चाहिए[3] ॥ १४ ॥

निदर्शन—(या विपरीत दृष्टि)

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
[6]परापेक्षाव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १५ ॥

---

१. 'दृष्टान्त' के लक्षण दोनों पाठों में भिन्न हैं । इसकी दृष्टान्तालङ्कार से भी तुलना की जा सकती है ।

२. 'प्राप्ति' के लक्षण दोनों पाठों में प्रायः समान हैं ।

३. 'अभिप्राय' के स्थान पर अन्य प्राठ में 'युक्ति' प्राप्त होता है ।

---

१. यश्च—क०; पक्षपक्षार्थं—ख०; ग० ।

२. वावयवं किञ्चिद्—क० । ३. यत्रोपमीयते—क० ।

४. अप्राचि क्वैवतां प्राप्तिं जानीयाल्लक्षणं बुधः—क; प्राप्तुं तमपि जानीय—ख० ।

५. योऽप्यथोः—ख०; ग० ।

६. परोपेक्ष—क०; परापक्षोम्युदासार्थं—ख० ।

जिसमें पहिले कही गई किसी भूल या विपरीत दृष्टि को दूर करने के लिए (कुछ) प्रसिद्ध बातों का समर्थन स्वरूप प्रयोग किया जाए तो उसे 'निदर्शन' समझना चाहिए[1] ॥ १५ ॥

निरुक्त—

निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये[1]।
[2]यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम् ॥ १६ ॥

पिछली अदुष्ट (निरवद्य) बात को पुष्ट करने के लिए उसके समर्थन में प्रयुक्त की जाने वाली वाक्यावली को 'निरुक्त' समझना चाहिए[2] ॥ १६ ॥

सिद्धि—

बहूनान्तु[3] प्रधानानां नाम [4]यत्राभिकीर्त्यते ।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं सा सिद्धिरभिधीयते ॥ १७ ॥

जिसमें अपने इष्ट विषय को पूर्ण बतलाने के (या प्राप्त करने के) लिए अनेक प्रसिद्ध बड़े व्यक्तियों के नाम लिए जाए तो उसे 'सिद्धि' समझना चाहिए[3] ॥ १७ ॥

विशेषण—

सिद्धान् बहून् प्रधानार्थानुक्त्वा यत्र प्रयुज्यते ।
विशेषयुक्तं वचनं विज्ञेयं तद्विशेषणम् ॥ १८ ॥

जब अनेक प्रसिद्ध तथा बड़े विषयों को कहने के बाद उनकी विशेषता वतलाते हुए किसी बात को कहा जाए तो उसे 'विशेषण' समझना चाहिए[4] ॥ १८ ॥

---

१. 'निदर्शन' के स्थान पर अन्य पाठ में 'आशीः' प्राप्त होता है। निदर्शन के लक्षण का आचार्य अभिनवगुप्त ने विवेचन नहीं किया केवल एक उदाहरण मात्र दे दिया है जिससे यह अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया।

२. 'निरुक्त' का लक्षण दोनों पाठों में समानता लिये हुए मिलता है। दूसरे पाठ में इसके दो भेद भी निदर्शित किये गये हैं।

३. 'सिद्धि' के लक्षण में दोनों पाठों में थोड़ी भिन्नता है।

४. 'विशेषण' के स्थान पर अन्य पाठ में 'क्रम' मिलता है। लक्षण वहीं द्रष्टव्य।

---

१. क्तार्थः प्रसिद्धयति—क० ।

२. तदप्यागमसम्भूतं निरुक्तमभिनिर्दिशेत्—क० ।

३. बहूनाञ्च प्रयुक्तानां—क० । ४. यत्राभिधीयते—क० ।

गुणातिपात

गुणाभिधानैर्विविधैर्विपरीतार्थयोजितैः ।
गुणातिपातो [1]मधुरैर्निष्ठुरार्थैर्भवेद्यथा[2] ॥ १९ ॥

जब किसी के गुण मधुर पदावली में वर्णन करने पर कठोर अर्थ को लाते हुए (प्रकट करते हुए) विपरीत आशय में (या योजना में) लग जाए तो उसे 'गुणातिपात' समझना चाहिए[1] ॥ १९ ॥

अतिशय

बहून् गुणान् कीर्तयित्वा सामान्यजनसम्भवान् ।
विशेषः कीर्त्यते यस्तु ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः ॥ २० ॥

जब सामान्य मनुष्यों में दिखने वाले अनेक गुणों का बखान करने के बाद कुछ गुणगत विशेषताओं को (भी) बतलाया जाए तो उसे 'अतिशय'[2] समझना चाहिए ॥ २० ॥

तुल्यतर्क

रूपकैरुपमाभिर्वा[3] तुल्यार्थाभिः प्रयोजितः[4] ।
[5]अप्रत्यक्षार्थसंस्पर्शस्तुल्यतर्कः[6] प्रकीर्तितः[7] ॥ २१ ॥

किसी परोक्ष अर्थ को उपमा या रूपक के द्वारा अर्थगत समानता बतलाते हुए प्रत्यक्षतः अभिहित किया जाए तो उसे 'तुल्यतर्क'[3] नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ २१ ॥

पदोच्चय—

बहूनान्तु[8] प्रयुक्तानां पदानां[9] बहुभिः पदैः ।
उच्चयः सदृशार्थो यः स विज्ञेयः पदोच्चयः ॥ २२ ॥

जब अनेक शब्दों का प्रयोग उन्हीं के समान दूसरे शब्दों को मिलाते

---

१. अन्य पाठ में 'गुणानुवाद' इसी का अभिधान किया गया है। लक्षण भी भिन्न है।

२. 'अतिशय' का लक्षण दोनों पाठों में भिन्न है।

३. 'तुल्यतर्क' के स्थान पर अन्य पाठ में 'आक्रन्द' है।

---

१. निष्ठुरार्थो—क० । २. भवेदथ—ख०; ग० ।
३. रूपमानैर्वा—ख०; ग० । ४ प्रयोक्तृभिः—ख०; ग० ।
५. अप्रत्ययार्थ—ख०; ग० । ६. संस्पृष्टः—क० ।
७. इति स्मृतः—क० । ८. सम्प्रयुक्तानां—क० ।
९. पादानां—ख०; ग० ।

हुए—उसी अर्थ को बतलाने के लिए (या उसी कार्य को बनाने के लिए) किया जाए तो उसे 'पदोच्चय' समझना चाहिए[1] ॥ २२ ॥

दिष्ट (दृष्ट)—

यथादेशं यथाकालं [1]यथारूपञ्च वर्ण्यते।
यत् प्रत्यक्षं परोक्षं वा दिष्टं[2] तद्वर्णतोऽपि[3] वा ॥ २३ ॥

जब किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विषय का देश, काल तथा स्वरूप के अनुसार ठीक वैसा ही वर्णन कर दिया जाए तो उसे 'दिष्ट'[2] समझना चाहिए ॥ २३ ॥

उपदिष्ट—

परिगृह्य तु शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते।
[4]विद्वन्मनोहरं स्वन्तमुपदिष्टं तदुच्यते ॥ २४ ॥

जब किसी (इष्ट) विषय को शास्त्र का आधार लेकर कहा जाए तथा जिससे विद्वान् सन्तुष्ट हों जाए तो उसे 'उपदिष्ट'[3] समझना चाहिए ॥ २४ ॥

विचार—

[5]पूर्वाशयसमानार्थैरप्रत्यक्षार्थसाधनैः ।
[6]अनेकोपाधिसंयुक्तो विचारः परिकीर्तितः ॥ २५ ॥

जिसमें पिछली कही गई बातों के समान आशय वाले परोक्षार्थ के साधक अनेक प्रकार के उपायों को दोष-पूर्ण (या त्रुटिपूर्ण) रूप से प्रकट किया जाए उसे 'विचार'[4] समझना चाहिए ॥ २५ ॥

---

१. 'पदोच्चय' के लक्षण दोनों पाठों में भिन्न हैं।
२. 'दिष्ट' के स्थान पर अन्यत्र 'दृष्ट' पाठ मिलता है। इसके स्थान पर अन्य पाठ में 'सारूप्य' रखा गया है।
३. 'उपदिष्ट' के स्थान पर अन्य पाठ में 'उपपत्ति' प्राप्त होता है।
४. 'विचार' का के स्थान पर अन्य पाठ में पश्चात्ताप है।

---

१. पात्रञ्च—क०। २. दृष्टं—क०।
३. वर्णकोऽपि—क०। ४. विदुर्मनोहरं—क०।
५. पूर्वं शेष—क०; पूर्वदेश—ख०; ग०।
६. तिरस्कृतार्थविषयो—क०; अनेकोपोहसंयुक्तो—ख०; ग०।

विपर्यय—

विचारस्यान्यथाभावस्तथादृष्टोपदिष्टयोः[1] ।
सन्देहाज्जायते[2] यत्र स विज्ञेयो विपर्ययः ॥ २६ ॥

जब किसी (बात) को देखकर या कहकर फिर उसी विचार का सन्देह के कारण (परित्याग या) विपरीत स्वरूप हो जाए तो उसे 'विपर्यय'[1] समझना चाहिए ॥ २६ ॥

भ्रंश—

वाच्यमर्थं परित्यज्य दृष्टादिभिरनेकधा ।
अन्यस्मिन्नेव पतनादाशु[3] भ्रंशः स दूष्यते ॥ २७ ॥

जब अहंकार (घबराहट या शीघ्रता) आदि के कारण किसी व्यक्ति द्वारा वाच्यार्थ को छोड़कर कुछ दूसरी ही बात मुंह से निकाली जाए तो उसे 'भ्रंश' समझना चाहिए[2] ॥ २७ ॥

अनुनय—

उभयोः प्रीतिजननो विरुद्धाभिनिवेशयोः[4] ।
[5]अर्थस्य साधकश्चैव विज्ञेयोऽनुनयो बुधैः ॥ २८ ॥

जो शब्दावली दो प्रतिपक्षी (विरुद्ध) व्यक्तियों की प्रीति सम्पादन करते हुए अपनी इष्टसिद्धि को प्राप्त करे (तो) उसे 'अनुनय'[3] समझना चाहिए ॥ २८ ॥

माला—

अभिप्रेतार्थसिध्यर्थं[6] कीर्त्यन्ते यत्र सूरिभिः ।
प्रयोजनान्यनेकानि सा मालेत्यभिसंज्ञिता ॥ २९ ॥

जब अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए विद्वानों के द्वारा अनेक

---

१. 'विपर्यय' के स्थान पर अन्यपाठ में 'मिथ्याध्यवसाय' रखा गया है ।
२. भ्रंश के स्थान पर अन्य पाठ में 'प्रियवचन' या 'प्रियोक्ति' प्राप्त होता है ।
३. 'अनुनय' के स्थान पर अन्य पाठ में 'अनुवृत्ति' है ।

---

१. दिष्टोपदिष्टयोः—क०; दृष्टोपयोगतः—ख०; ग० ।
२. कल्प्यते यस्तु—ख०; कल्प्यते वस्तु—ग० ।
३. दिह भ्रंशः स इष्यते—ख० ग० । ४. भिनिविष्टयोः—ख०; ग० ।
५. द्वयर्थस्य—क० ।
६. अनीप्सितार्थं—क०; ईप्सितार्थप्रसिद्धयर्थं—ख०; ग० ।

आवश्यकताओं की पूर्ति का सुझाव दिया जाए तो उसे 'माला'[1] समझना चाहिए ॥ २९ ॥

दाक्षिण्य—

हृष्टैः प्रसन्नवदनैर्यत् परस्यानुवर्तनम्[1]।
क्रियते [2]वाक्यचेष्टाभिस्तद्दाक्षिण्यमुदाहृतम्[3] ॥ ३० ॥

जब सुखपूर्वक प्रसन्न मुंह, मीठे वचनों और अनुकूल चेष्टाओं के द्वारा एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ अनुकूल भाव में चलना हो तो इसे 'दाक्षिण्य'[2] समझना चाहिए ॥ ३० ॥

गर्हण—

यत्र सङ्कीर्तयन् दोषं[4] गुणमर्थेन दर्शयेत्।
[5]गुणातिपाताद्दोषाद् वा गर्हणं नाम तद्भवेत् ॥ ३१ ॥

जब दोषों को बतलाकर उन्हें गुण के रूप में वर्णित किया जाए या गुणों को बतलाकर उन्हें दोष सिद्ध कर दिया जाए तो 'गर्हण'[3] समझना चाहिए ॥ ३१ ॥

अर्थापत्ति—

[6]अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते[7]।
[8]वाक्यमाधुर्यसम्पन्ना सार्थापत्तिरुदाहृता ॥ ३२ ॥

जब किसी मधुर शब्दावली के कहने पर उसी से दूसरे अर्थ की भी उसके साथ ही प्रतीति हो जाए तो 'अर्थापत्ति'[4] समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

---

१. 'माला' का केवल उदाहरण ही अभिनवगुप्ताचार्य ने दिया है। साहित्यदर्पण में इसका भिन्न लक्षण मिलता है।

२. 'दाक्षिण्य' के स्थान पर अन्य पाठ में 'याञ्चा' प्राप्त होता है।

३. 'गर्हण' के स्थान पर अन्य पाठ में 'कपटसंघात' या 'कपट' प्राप्त होता है।

४. अर्थापत्ति के स्थान पर अन्य पाठ में 'कार्य' प्राप्त होता है।

---

१. वर्णनम्—क०। २. वान्यचेष्टाभि—ख०; ग०।
३. मिति स्मृतम्—ख०; ग०। ४. दोषान्—क०।
५. गुणाभिवादाद्दोषाद्वा—क०। ६. अन्यमर्थं समालोच्य—क०।
७. प्रकाश्यते—क०। ८. वाक्यं माधुर्यसंयुक्तं—क०।

प्रसिद्धि—

वाक्यैः सातिशयैरुक्ता [1]वाक्यार्थस्य प्रसाधकैः।
लोकप्रसिद्धैर्बहुभि[2] प्रसिद्धिरिति कीर्तिता ॥ ३३ ॥

जब अतिशय उत्तम शब्दों वाले वाक्यों के द्वारा—जो अनेक लोक प्रसिद्ध तथा अपने (अर्थ के) साधक अर्थों को वाक्यों में लिए हुए हो—कथन हो तो उसे 'प्रसिद्धि'[1] समझना चाहिए ॥ ३३ ॥

पृच्छा—

[3]यत्राकारोद्भवैर्वाक्यैरात्मानमथवा परम्।
[4]पृच्छन्निवाभिधत्तेऽर्थं सा पृच्छेत्यभिसंज्ञिता ॥ ३४ ॥

स्वयं को या दूसरे को सम्बोधन करते हुए जब कल्पित व्यक्ति या परोक्ष व्यक्ति द्वारा स्वयं को कुछ कहा या पूछा जाए तो उसे 'पृच्छा'[2] समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

सारूप्य

[5]दृष्टश्रुतानुभूतार्थकथनादि - समुद्भवम्[6]।
[7]सादृश्यं क्षोभजननं सारूप्यमिति संज्ञितम् ॥ ३५ ॥

जब किसी वस्तु को देखते, सुनते या अनुभव करते हुए उसकी (सन्दिग्ध) समानता के कारण बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो जाए तो उसे 'सारूप्य'[3] समझना चाहिए ॥ ३५ ॥

मनोरथ—

हृदयस्थस्य[8] वाक्यस्य गूढार्थस्य[9] विभावकम्।
अन्यापदेशैः[10] कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥ ३६ ॥

---

१. 'प्रसिद्धि' के स्थान पर अन्य पाठ में 'अनुनीति' प्राप्त होता है।
२. पृच्छा का लक्षण दोनों पाठों में समान है।
३. सारूप्य के स्थान पर अन्य पाठ में 'अभिमान' प्राप्त होता है।

---

१. स्ववाक्यार्थप्रकाशकैः—क०। २. बह्वर्थैः—क०।
३. यत्राकरो—ख०; ग०। ४. पृच्छेत् प्रज्ञापयन्नर्थं—क०।
५. श्रुतादि—क०। ६. कथनाभिः—ख०; ग०।
७. सादृश्यमक्षजनितं—ख०। ८. हृदयार्थस्य—ख०; ग०।
९. गूढस्यार्थप्रकाशकम्—सुश्लिष्टार्थप्रकाशकम्—क०।
१०. पदेशकथनं—क०।

जब हृदय में विद्यमान गुप्त अभिलाषाओं को अन्यापदेश (दूसरे की अवस्थाओं के वर्णन) के द्वारा निर्दशित किया जाए तो इसे 'मनोरथ'[1] समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

लेश—

यद्वाक्यं [1]वाक्यकुशलैरुपायेनाभिधीयते ।
[2]सदृशार्थाभिनिष्पत्त्या स लेश इति कीर्तितः ॥ ३७ ॥

जब चतुर जन द्वारा किसी बात को विषय की समानता बतलाने वाली पदावली को प्रयुक्त करते हुए बड़ी खूबी से प्रस्तुत किया जाए तो उसे 'लेश'[2] समझना चाहिए ॥ ३७ ॥

क्षोभ—

परदोषैर्विचित्रार्थैर्यत्रात्मा [3]परिकीर्त्यन्ते ।
[4]अदृष्टोऽन्योऽपि वा कश्चित् स तु क्षोभ इति स्मृतः ॥ ३८ ॥

यदि किसी दोष रहित या न देखी हुई वस्तु को भी विचित्र अर्थों के अभिधान द्वारा दोष से युक्त स्वरूप वाली बतला दे उसे 'क्षोभ'[3] समझना चाहिए ।: ३९ ॥

गुणकीर्तन—

लोके गुणातिरिक्तानां [5]गुणानां यत्र नामभिः ।
एको[6] हि शब्द्यते तत्तु विज्ञेयं गुणकीर्तनम् ॥ ३९ ॥

जब संसार में उपलब्ध होने वाली सारी गुणों की संख्या और स्थिति से अधिक गुण एक व्यक्ति में बतलाए जाए तो उसे 'गुणकीर्तन'[4] समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

---

१. मनोरथ का लक्षण दोनों पाठों में समान है ।
२. 'लेश' के स्थान पर अन्य पाठ में 'प्रतिषेध' प्राप्त होता है ।
३. 'क्षोभ' के स्थान पर संक्षोम तथा संक्षेप पाठ भी मिलता है । इसके स्थान पर अन्य पाठ में 'परिदेवन' प्राप्त होता है जिसके पाठ परिवाद, परिवादन तथा परिवेदन भी प्राप्त होते हैं ।
४. गुणकीर्तन का अन्य पाठ में लक्षण भिन्न है ।

---

१. वादकुशलै—ख० ।
२. सादृश्यार्था—क०; सदृशार्थाविनिष्पन्नः—ख०; ग० ।
३. चाभिधीयते—क० । ४. अदुष्टो—क० ।
५. बहूनां—क० । ६. एकोऽपि—ख०; ग० ।

अनुक्तसिद्धि

प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते[1]।
वचनेन विनानुक्तसिद्धिः[2] सा परिकीर्तिता ॥ ४० ॥

जहां विना अभिहित किये ही प्रस्ताव मात्र से किसी विषय के शेष भाग की प्रतीति हो जाए उसे 'अनुक्तसिद्धि'[1] समझना चाहिए ॥ ४० ॥

प्रियोक्ति—

यत् प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितुं वचः।
हर्षप्रकाशनार्थन्तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥ ४१ ॥

जब प्रसन्न चित्त हो पूज्यजन के सम्मान और अपने हर्ष को प्रकट करने के लिए उपयुक्त शब्दों को उच्चारित किया जाए तो उसे 'प्रियोक्ति'[2] समझना चाहिए ॥ ४१ ॥

एतानि [3]काव्यस्य च लक्षणानि षट्त्रिंशदुद्देशनिदर्शकानि[4]।
[5]प्रबन्धशोभाकरणानि तज्ज्ञैः सम्यक्प्रयोज्यानि [6]यथारसानि ॥ ४२ ॥

नाट्यरचना में प्रयुक्त किये जाने वाले ये ही वे छत्तीस लक्षण हैं जिन्हें नाट्यरचना के अवसर पर दृष्टि में रखा जाए और नाट्यरचना के शोभाधायक इन लक्षणों को उपयुक्त रसों के अनुकूल रखते हुए सदा प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ४२ ॥

अलंकार (तथा उनके लक्षण)—

उपमा [7]रूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा।
[8]काव्यस्यैते ह्यलङ्काराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ ४३ ॥

---

१. अनुक्तसिद्धि के स्थान पर ही अभिनवगुप्त ने अन्य पाठ में 'परिदेवन' भी माना है तथा इसके स्थान पर 'क्षोभ' को भी संकेतित किया है।

२. प्रियोक्ति का अन्य पाठ में लक्षण भिन्न है। अभिनवगुप्तपाद ने इसे 'भ्रंश' के स्थान पर भी उल्लिखित किया है।

---

१. प्रदीयते—क०।

२. जातु सिद्धिः—क०; विजानाति सिद्धिः—ख; विजानातु सिद्धिः—ग०।

३. एतानि काव्यस्य विभूषणानि—क०; एतानि वा काव्यविभूषणानि—ख०।

४. दुद्देश्यनिदर्शनानि ख०; ग०। ५. काव्येषु सोदाहरणानि—ख; ग०।

६. रसानुरूपम्—क०; बलानुरूपम् - ख०।

७. दीपकञ्चैव रूपकं—ख०; ग०।

८. अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः—क०।

नाटक आदि में सम्प्राप्त तथा प्रयोग किये जाने वाले अलंकार चार हैं। वे हैं—उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक ॥ ४३ ॥

उपमा—

यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा[1] ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥ ४४ ॥

काव्यरचना में जब दो पदार्थों की गुण या प्रकृति पर आश्रित होकर सादृश्य द्वारा तुलना की जाए तो उसे 'उपमा'[1] समझना चाहिए ॥ ४४ ॥

एकस्यैकेन सा कार्या[2] ह्यनेकेनाथवा पुनः।
अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा ॥ ४५ ॥

यह तुलना एक पदार्थ की एक से या अनेक से, या अनेकों की एक से, या अनेकों की अनेकों से की जाती है ॥ ४५ ॥

तुल्यन्ते शशिनः वक्त्रमित्येकेनैकसंश्रया[3]।
[4]शशाङ्कवत्प्रकाशन्ते ज्योतींषीति भवेत्तु[5] या ॥ ४६ ॥
[6]एकस्यानेकविषया सोपमा परिकीर्तिता।
श्येनबर्हिणभासानां[7] तुल्यार्थे[8] इति या भवेत् ॥ ४७ ॥
एकस्य बहुभिः सा स्यादुपमा नाटकाश्रया[9]।
[10]बहूनां बहुभिर्ज्ञेया घना इव गजा इति ॥ ४८ ॥

(इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं) 'तेरा मुख चन्द्र के समान है' में एक की उपमा एक से दी गई है। 'नक्षत्र चन्द्रमा की तरह प्रकाशित हैं', में अनेकों की उपमा एक से है। 'बाज, मयूर (तथा गिद्ध) के समान नेत्र'

---

१. यहाँ 'उपमीयते' पद से उपमेय का, सादृश्य पद से साधारण धर्म का गुणाकृति के द्वारा इवादि वाचक का तथा समाश्रय शब्द से उसी का आश्रय ग्रहण निर्दशित किया गया है।

---

१. विज्ञेया—क०।
२. कार्यानेकेनाप्यथवा पुनः—ख०; ग०।
३. इति ह्येककृता भवेत्—क०, ख०।
४. चन्द्रवत्सम्प्रकाशन्ते ज्योतींषीति द्विजोत्तमाः—क०।
५. भवेद्धि या—क०। ६. एकेन सा त्वनेकेषामुपमा—क०।
७. गृध्राणां—क०। ८. तुल्याक्ष—क०।
९. नाटकाश्रये—क०।
१०. घना इव गजा यत्र बहूनां बहुभिस्तथा—क०।

में एक की (नेत्र की) अनेकों से उपमा है तथा 'हाथी बादलों की तरह है' में अनेकों की अनेकों से उपमा है ॥ ४६-४८ ॥

उपमा के पांच प्रकार (विभेद)

प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा पुनः ॥ ४९ ॥

उपमा के पांच प्रकार हैं। जो (१) प्रशंसा, (२) निन्दा, (३) कल्पिता, (४) सदृशी तथा (५) किञ्चित् सदृशी ॥ ४९ ॥

प्रशंसा[1] यथा—

दृष्ट्वा[2] तु तां विशालाक्षीं तुतोष मनुजाधिपः ।
मुनिभिः साधितां कृच्छ्रात्[3] सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ॥ ५० ॥

प्रशंसा का उदाहरण—मुनिजन द्वारा कष्ट से अर्जित सिद्धि के समान उस विशालाक्षी रमणी को देखकर वह राजा प्रसन्न हुआ ॥ ५० ॥

निन्दा यथा—

सा तं सर्वगुणैर्हीनं[4] सस्वजे कर्कशच्छविम् ।
वने कण्टकिनं वल्ली [5]दावदग्धमिव द्रुमम् ॥ ५१ ॥

निन्दा का उदाहरण—उस रमणी ने सब गुणों से हीन बेढंगी शक्ल वाले (कर्कशच्छवि) उस पुरुष का—दावाग्नि से दग्ध कांटे वाले वृक्ष का लता के समान आलिंगन किया ॥ ५१ ॥

कल्पिता यथा—

क्षरन्तो[6] दानसलिलं लीलामन्थरगामिनः ।
मतङ्गजा विराजन्ते जङ्गमा इव पर्वताः ॥ ५२ ॥

कल्पिता का उदाहरण—मदजल के वर्षण करने वाले, लीला से मन्द-मन्द गति शाली ये गजराज जंगम पर्वतों के समान दिखाई देते हैं ॥ ५२ ॥

सदृशी यथा—

यत्त्वयाद्य कृतं कर्म परचित्तानुरोधिना ।
सदृशं तत्तवैव स्यादिति मानुषकर्मणः[7] ॥ ५३ ॥

सदृशी का उदाहरण—दूसरों के (मन के) अनुरोध से आपने जो

---

१. प्रशंसया यथा—ख० । २. आलभ्य तां—क० ।
३. कृत्वा—क० । ४. संश्रिता पुरुषाधमम्—क० ।
५. वह्निदग्ध—क०; दवदाघमिव—ख० ।
६. मदवारिनिषिक्ताङ्गा—क० । ७. कर्मणा—क० ।

कार्य किया वह अतिमानुषकर्मा (मनुष्यों से भी बढ़कर कार्य कर लेने वाला) पुरुष आपके ही समान है ॥ ५३ ॥

किञ्चित्सदृशी यथा—

सम्पूर्णचन्द्रवदना नीलोत्पलदलेक्षणा[1] ।
[2]मत्तमातङ्गगमना सम्प्राप्तेयं [3]सखी मम ॥ ५४ ॥

किञ्चित् सदृशी का उदाहरण—यह मेरी सखी आ गई, जो पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली, नीलकमल के सदृश नेत्रों वाली तथा मदमत्त हाथी के समान चालवाली है ॥ ५४ ॥

उपमायाः बुधैरेते ज्ञेया भेदाः समासतः ।
[4]ये शेषा लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्या लोककाव्यतः ॥ ५५ ॥

उपमा अलङ्कार के संक्षेप में ये ही भेद होते हैं । इसके जिन अन्य प्रकारों को यहां लक्षणों द्वारा नहीं कहा गया उन्हें लोक प्रचलित काव्यों के द्वारा समझा जाए ॥ ५५ ॥

दीपक—

[5]नानाधिकरणार्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकम्[6] ।
एकवाक्येन संयुक्तं[7] तद्दीपकमिहोच्यते[8] ॥ ५६ ॥

भिन्न विषयों वाले शब्दों का एक वाक्य में दीपक के समान संयोग होने पर दीपक[1] (अलंकार) होता है ॥ ५६ ॥

---

१. एक अवान्तर वाक्य से बिना संयुक्त हुए ही 'दीपक' की तरह वाक्य का प्रकाशक होने के कारण इसे 'दीपक' समझा जाए यही कारिका का आशय है । 'दीपक' का आशय आचार्य अभिनवगुप्त ने 'आकांक्षापूरक' माना है जो क्रिया, गुण तथा जात्यादि से होते हों ।

---

१. निभेक्षणा—क० । २. मत्तनागेन्द्र—क० । ३. प्रिया—क० ।

४. शेषा ये लक्षणे नोक्ताः संसाध्यास्तेऽपि लोकतः—क०, ये शेषा लक्षणे नोक्ताः—ख०; ग० ।

५. नानाविकरण—क०; नानाधिकरणस्थानां—क०; ग० ।

६. सम्प्रदीपनः—क०; सम्प्रकीर्तितम्—ख०; सम्प्रदीपतः—ग० ।

७. संयोगो यस्तु—क०; संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते—क०; ग० ।

८. अस्मादनन्तरमेकमधिकं प्रक्षिप्तञ्च पद्यं क—पुस्तके । तद्यथा—

प्रसृतं मधुरं वापि गुणैः सर्वैरलङ्कृतम् ।
काव्ये यन्नाटके विप्रास्तद्दीपकमिति स्मृतम् ॥ इति ।

यथा—

सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षाः मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव तस्मिन्नशून्यानि सदा क्रियन्ते ॥ ५७ ॥

उदाहरण :—वहां हंसों से सरोवर, पुष्पों से वृक्ष, मत्त भंवरों से कमल तथा गोष्ठियों से उपवन (सदा) (शोभा) युक्त रहते हैं ॥ ५७ ॥

रूपक—

स्वविकल्पेन[1] रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद् रूपं रूपकन्तु तत् ॥ ५८ ॥

जो अपने विकल्प से निर्मित 'तुल्य अवयवों वाला तथा थोड़ा सादृश्य गुण युक्त (अभिन्न) रूप हो वह 'रूपक'[1] कहलाता है ॥ ५८ ॥

[[2]नानाद्रव्यानुरागाद्यैर्यदौपम्यगुणाश्रयम् ।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥]

[प्रक्षिप्त—अनेक द्रव्यों के सम्बन्ध से उपमा के गुणों का आश्रय लेकर जिसके स्वरूप का सम्यक् वर्णन हो उसे 'रूपक' कहते हैं ॥]

यथा—

पद्माननास्ताः कुमुदप्रभासा[3] [4]विकोशनीलोत्पलचारुनेत्राः ।
[5]वापीस्त्रियो हंसकुलैः स्वनद्भिः[6] विरेजुरन्योन्यमिहालपन्त्यः[7] ॥ ५९ ॥

उदाहरण—वे वापियों में स्थित कमलवदनी, कुमुदहासिनी तथा विकसित नीलकमल सदृश नेत्रों वाली ललनाएं कूजित हंसों के द्वारा एक दूसरे को बतलाती हुई शोभित हुईं ॥ ५९ ॥

---

१. 'रूपक' का प्रक्षिप्त कारिका में अन्य लक्षण दिया गया है । इसका यहाँ संनिवेश अभिनवगुप्तपाद द्वारा उद्धृत एवं व्याख्यात होने से मूल के साथ किया गया । (सम्पा०)

---

१. स्वविकल्पैर्विरचितं—क०; ख० ।
२. नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम्—ख०; ग० ।
३. प्रकाशा—ख०; प्रहासा—क०; ग० ।
४. विलोल—क०; विकासिनीलो—ख०; ग० ।
५. वापीतरुण्योऽधिककद्य भान्ति शोभा मिवान्योन्यमधिक्षिपन्त्यः ।—क० ।
६. नदद्भिः—ख०; ग० ।
७. मिवालपन्त्यः—क०, रन्योन्यमिवाह्वयन्त्यः—ख०; ग० ।

यमक—

शब्दाभ्यासस्तु[1] यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
विशेषदर्शनश्चास्य गदतो मे निबोधत ॥ ६० ॥

शब्दों की आवृत्ति 'यमक'[1] कहलाती है। जो कि पादों से प्रारंभ होकर अनेक विधाओं को धारण करती हैं। अब इनके विशेष स्वरूप को बतलाता हूँ। आप ध्यान पूर्वक सुनें ॥ ६० ॥

यमकों के दस प्रकार—

[2]पादान्तयमकञ्चैव काञ्चीयमकमेव च ।
[3]समुद्गयमकञ्चैव विक्रान्तयमकन्तथा ॥ ६१ ॥
यमकं चक्रवालञ्च संदष्टयमकं तथा ।
पादादियमकञ्चैव [4]तथाम्रेडितमेव च ॥ ६२ ॥
चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च ।
एतद्दशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम् ॥ ६३ ॥

दृश्य काव्य (नाटक) में होनेवाले यमक के दस प्रकार होते हैं। यथा—(१) पादान्तयमक, (२) काञ्ची-यमक, (३) समुद्ग-यमक, (४) विक्रान्त-यमक, (५) चक्रवाल-यमक, (६) संदष्ट-यमक, (७) पादादि-यमक, (८) आम्रेडित-यमक, (९) चतुर्व्यवसित-यमक तथा (१०) माला-यमक ॥ ६१–६३ ॥

पादान्तयमक—

चतुर्णां यत्र पादानामन्ते स्यात् सममक्षरम्[5] ।
तद्धि पादान्तयमकं विज्ञेयं नामतो यथा ॥ ६४ ॥

(लक्षण) यदि चारों पादों के अन्त में समान पद (अक्षर) हो तो उसे 'पादान्तयमक' समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

यथा—दिनक्षयात् संहृतरश्मिमण्डलं
दिवीव लग्नं तपनीयमण्डलम् ।

---

१. 'यमक' के भरतमुनि ने १० प्रभेद किये हैं। आचार्य भामह ने इसके ५ भेद माने हैं तथा भरतमुनि के १० प्रभेदों का अपने भेदों में अन्तर्भाव भी निर्दिष्ट किया है। (द्र० भाम० काव्या० २।९०)

---

१. शब्दाभ्यासं—कं० । २. पदान्त—क० ।
३. सामुद्ग—क० । ४. आम्रेडितमथापि च—क० ।
५. स्याद् यमकाक्षरम्—क० ।

विभाति ताम्रं दिवि सूर्यमण्डलं
यथा तरुण्याः स्तनभारमण्डलम्[1] ॥ ६५ ॥

दिन की समाप्ति पर (सायंकाल) सूर्य का रक्ताभ मण्डल अपने रश्मिमण्डल को समेटते हुए, आकाश में स्वर्णिमवृत्त जैसा चमकते हुए तरुणियों के उरोजमण्डलों जैसा प्रतीत हो रहा है ॥ ६५ ॥

काञ्चीयमक—

पादस्यादौ तथान्ते[2] च यत्र[3] स्यातां पदे समे ।
तत् काञ्चीयमकं नाम[4] विज्ञेयं सूरिभिर्यथा ॥ ६६ ॥

यदि पाद के आदि तथा अन्त में समान पद हों तो उसे 'काञ्ची-' यमक जानें ॥ ६६ ॥

यथा—[5]यामं यामं चन्द्रवतीनां द्रवतीनां
व्यक्ताव्यक्ता सा[6] रजनीनां रजनीनाम् ।
फुल्ले फुल्ले सभ्रमरे वा भ्रमरे वा
रामा रामा विस्मयते च स्मयते च ॥ ६७ ॥

चन्द्र से पूर्ण रात्रियों के लम्बे प्रहर (याम) का—जो सुन्दरियों के सान्निध्य में बीत रहे हैं—ज्ञान कभी रहता है और कभी बिखर जाता है तथा पुष्प भ्रमरों से युक्त तथा विहीन हो रहे हैं तथा अनिन्द्यि ललना गण कहीं उसके कारण मुस्करा रही हैं और विस्मित हो रही हैं ॥ ६७ ॥

समुद्ग यमक—

[7]अर्धेनैकेन यद्वृत्तं सर्वमेव[8] समाप्यते ।
[9]समुद्गयमकं तत्तु[10] विज्ञेयं नामतो यथा ॥ ६८ ॥

लक्षण वृत्त के अर्ध भाग की आवृत्ति द्वारा सम्पूर्ण वृत्त की पूर्ति 'समुद्ग यमक' कहलाती है ॥ ६८ ॥

---

१. क० पुस्तके तु—
लोकानां प्रभविष्णुर्दैत्येन्द्रगदानिपातनसहिष्णुः ।
जयति सुरदैत्यजिष्णुर्भगवानसुरवरमथनकारि विष्णुः ॥
इति पद्यम् अधिकं प्रक्षिप्तञ्च ।

२. तथा चादौ—क०, ग० तथा चान्ते—ख० ।

३. स्यातां यत्र—ख०; स्यातां तत्र—ग० । ४. चैव—ग० ।

५. माया माया—ख०; ग० । ६. सारजनी सा रजनी सा—क० ।

७. सार्धेनैकेन—क० । ८. सर्वमेवं—क० ।

९. सामुद्ग—क० । १०. नाम तज्ज्ञेयं पण्डितैर्यथा—ख०; ग० ।

यथा—केतकीकुसुमपाण्डुरदन्तः[1] शोभते प्रवरकाननहस्ती ।
केतकीकुसुमपाण्डुरदन्तः[2] शोभते प्रवरकाननहस्ती ॥ ६९ ॥

इस विशाल वन-गज के दांत केतकी के पुष्पों जैसे श्वेत पीत दिखाई दे रहे हैं। तथा हाथी-रूपी विशालवन अपने केतकी के पुष्पों के पीले नीले रंग के दांतों से और अधिक सुन्दर दिखलाई पड़ता है ॥ ६९ ॥

विक्रान्त यमक—

एकैकं पादमुत्क्रम्य[3] द्वौ पादौ सदृशौ यदा[4] ।
विक्रान्तयमकं नाम [5]विज्ञेयं नामतो यथा ॥ ७० ॥

यदि एक पाद को छोड़कर दूसरा पाद समान हो (अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पाद की रचना समान हो) तो उसे 'विक्रान्त यमक' जानें ॥ ७० ॥

यथा—स[6] पूर्वं वारणो भूत्वा द्विश्टङ्ग इव पर्वतः ।
अभवद्दन्तवैकल्याद्विश्टङ्ग इव पर्वतः ॥ ७१ ॥

यह हाथी पहिले अपने दो अंगों (दांत, चोटी) वाले पर्वत से तुलनीय रहता था अब इसके दोनों दांत टूट जाने से यही श्रृङ्गहीन पर्वत जैसा हो रहा है ॥ ७१ ॥

चक्रवाल यमक—

पूर्वस्यान्तेन पादस्य [7]परस्यादिर्यदा समः ।
चक्रवच्चक्रवालं तद् विज्ञेयं नामतो यथा[8] ॥ ७२ ॥

यदि पादान्त शब्द की दूसरे पाद के प्रारंभ में आवृत्ति की जाए तो उसे 'चक्रवाल यमक' कहते हैं ॥ ७२ ॥

यथा—शैलास्तथा[9] शत्रुभिराहताहता
हताश्च [10]भूयस्त्वनुपुङ्खगैः खगैः ।

---

१. मुकुल—ख०; ग० । २. मुकुल—ख०; ग० ।
३. मुत्क्षिप्य—ख० । ४. यदि—ग० । ५. तद्विज्ञेयमिदं—क० ।
६. सम्पूर्णवारणो—ख०; स पूर्वं वानरो—ग० ।
७. पादस्या—क० ।
८. चक्रवालयमकस्य लक्षणान्तरं क—पुस्तके तु —
तुल्यात् पादद्वयादन्त्यादेकेनादिर्यदा समः ।
सर्वत्र चक्रवालं तद्विज्ञेयं नामतो यथा ॥ इति अधिकं प्रक्षिप्तञ्च ।
९. तलैस्तथा—क०; शैला यथा—ख० ग० ।
१०. भूयोऽप्यनु—ख०; बाणैरनुपुङ्खगै—ग० ।

खगैश्च सर्वैर्युधिसञ्चिताश्चिता-[1]
श्चिताधिरूढा [2]निहतास्तलैस्तलैः ॥ ७३ ॥

जैसे ये पर्वत शत्रुओं के बाणों और उनके पीछे आने वाले शिकारी पक्षियों से आहत होकर मर गए वैसी ही यह युद्ध भूमि भी ऐसे 'खों वाले पक्षियों की तरह बाणों से आच्छादित हो गई है और चिता पर रखे हुए शव इन पक्षियों की चोचों से और नखों से क्षतविक्षत हो गए हैं ॥ ७३ ॥

सन्दष्ट-यमक—

आदौ द्वे यत्र पादे तु भवेतामक्षरे समे ।
[3]सन्दष्टयमकं नाम विज्ञेयं [4]नामतो यथा ॥ ७४ ॥

यदि पाद के प्रारंभ में दो समान शब्दों की आवृत्ति हो तो 'सन्दष्ट-यमक' होता है ॥ ७४ ॥

यथा—

पश्य[5] पश्य रमणस्य मे गुणान्[6] येन येन वशगां करोति माम् ।
येन येन हि ममैति दर्शनं[7] तेन तेन वशगां करोति माम् ॥ ७५ ॥

देखो देखो, मेरे प्रिय की विशेषताएं; जिनसे वह मुझे आकृष्ट कर रहा है, यह जब भी मेरी दृष्टि में आता है तभी मुझे अपनी ओर झुका लेता है ॥७५॥

पादादियमक—

आदौ पादे [8]तु यत्र स्यात् समावेशसमाक्षरः[9] ।
पादादियमकं नाम विज्ञेयं[10] नामतो यथा ॥ ७६ ॥

यदि प्रत्येक पाद के प्रारंभ में आनेवाले शब्द की आगे के सभी पादों में आवृत्ति हो तो 'पादादियमक' होता है ॥ ७६ ॥

यथा—विष्णुः सृजति भूतानि विष्णुः संहरते प्रजाः ।
विष्णुः [11]प्रसूते त्रैलोक्यं [12]विष्णुर्लोकाधिदैवतम्[13] ॥७७॥

---

१. सञ्चिताञ्चिता—ग० ।
२. निहताः फलैः फलैः—ख; हि हता हता नराः—ग० ।
३. सन्दंशं—क० । ४. तद् बुधैः—ख०; ग० ।
५. यस्य यस्य—ग० । ६. गुणाः—क०; ग० ।
७. दिनमेति—ख०; हि समैति—ग० । ८. पादस्य—ख०; ग० ।
९. समावेशः समाक्षरः—ख०; ग० ।
१०. तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा—ख०; ग० । ११. विष्णुप्रसूतं—क० ।
१२. यच्च—क० । १३. लोकादिदैवतम्—ख० ।

विष्णु समस्त प्राणियों की रक्षा करते हैं, वे ही संहार करते हैं तथा वे ही त्रिलोकी का निर्माण भी करते हैं। ये श्री विष्णु भगवान् सभी लोकों के स्वामी हैं ॥ ७७ ॥

आम्रेडित यमक—

पादस्यान्त्यं पदं [1]यत्र द्विर्द्विरेकमिहोच्यते ।
[2]ज्ञेयमाम्रेडितं नाम यमकं तत्तु सूरिभिः ॥ ७८ ॥

यदि पाद का अन्तिम पद दो वार आवृत्त हो तो उसे आम्रेडित यमक जानो ॥ ७८ ॥

यथा—

विजृम्भितं निःश्वसितं मुहुर्मुहुः [3]कथं विधेय स्मरणं पदे पदे ।
यथा च ते ध्यानमिदं पुनः पुनः [4]ध्रुवं गता ते रजनी विना विना ॥७९॥

लम्बी उसासें लेते हुए जैसे ही तुमने उसका नाम लिया उसका मुझे तुरन्त स्मरण हो आया और फिर निश्चल हो उसी के ध्यान में (मेरी) उदास होते हुए मेरी सारी रात बीत गई ॥ ७९ ॥

चतुर्व्यवसित यमक—

सर्वे पादाः समा यत्र भवन्ति नियताक्षराः ।
चतुर्व्यवसितं नाम तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ॥ ८० ॥

यदि चारों पाद समान अक्षर वाले हों तो 'चतुर्व्यवसित-यमक' होता है ॥ ८० ॥

यथा—[5]वारणानामयमेव कालो वारणानामयमेव कालः ।
वारणानामयमेव कालो वारणानामयमेव कालः ॥ ८१ ॥

यह समय पुष्पों (वारण) (की बहार) का है, यही वह ऋतु है जब हाथी (वारण) व्याधिरहित होता है। यह शत्रुओं के (आक्रमण हेतु) आने का समय और उनके प्रतीकारार्थ वीरों के युद्धभूमि में कूदने का भी यही समय है ॥ ८१ ॥

---

१. यच्च—ग० ।
२. पादान्ताम्रेडितं नाम विज्ञेयं निपुणैर्यथा—ख०; ग० ।
३. यथाभिधानं—क०; ग०; कथाभिधानं—ख० ।
४. तथागता ते—ख०; ग० ।
५. सावारणानामिति सर्वत्र पाठः । ख० पुस्तके; ग० पुस्तके तु 'सावारणानामसमेव' इति पाठः समुपलभ्यते ।

मालायमक—

नानारूपैः स्वरैर्युक्तं[1] यत्रैकं व्यञ्जनं भवेत्।
तन्मालायमकं नाम विज्ञेयं काव्यकोविदैः[2] ॥ ८२ ॥

जब अनेक व्यञ्जनों से युक्त एक ही स्वर विभिन्न शब्दों में आता हो तो उसे मालायमक कहते हैं ॥ ८२ ॥

यथा—हली बली हली[3] माली खेली[4] माली सली जली।
[5]खलो बलो वलो मालो मुसली त्वभिरक्षतु[6] ॥ ८३ ॥

जो वीर, मालाओं से विभूषित, हाथ में अनाज की बाली रखे हुए, खिलाड़ी, लड़खड़ा कर चलने वाले, भावों से ओतप्रोत, शक्तिशाली, चंचल नेत्रों वाले और हाथ में गदा धरने वाले हैं वे भगवान् बलराम तुम्हारी रक्षा करें ॥ ८३ ॥

असौ हि रामा रतिविग्रहप्रिया[7] रहः प्रगल्भा रमणं मनोगतम्[8]।
रतेन रात्रौ[9] रमयेत् परेण वा न चेदुदेष्यत्यरुणः पुरो रिपुः ॥८४॥

प्रणय द्वन्द्व में रुचि लेने वाली यह सुन्दरी रमणी रात में अपने प्रगाढ़ आलिंगन से अपने प्रियतम को विना लज्जा किये हुए तब तक रिझाती रहेगी जब तक उसका शत्रु सूर्य सम्मुखवर्ती पूर्व दिशा में उदय नहीं हो जाता ॥ ८४ ॥

स पुष्कराक्षः क्षतजोक्षिताक्षः[10] क्षरत्क्षतेभ्यः क्षतजं दुरीक्ष्यम्[11]।
क्षतैर्गवाक्षैरिव संवृताङ्गः[12] साक्षात् सहस्राक्ष इवावभाति ॥८५॥

यह वीर जो कमल के समान नेत्र वाला है, जिसके नेत्र क्रोध से भरे होने से रक्त से नहाए हुए से लगते हैं, जिसके घावों से रक्त बह रहा है और जिसके शरीर के घाव वातायन के समान मोटे और खुले हुए हैं, अतएव यह सम्प्रति सहस्र नेत्रों वाले इन्द्र जैसा लग रहा है ॥ ८५ ॥

---

१. यत्र—ग०। २. पाठकैर्यथा—ख०; पण्डितैर्यथा—ग०।
३. लली—ख०; ग०। ४. शूली जाली लली जली—ख०; ग०।
५. बलो बलोच्चलोलाक्षो—ख०; ग०।
६. त्वाभिरक्षतु—ग०। ७. विग्रहः—ख०।
८. मनोद्गतम्—क०; रहोगतम्—ख०; ग०।
९. रात्रि—ख०; ग०। १०. क्षतजीक्षिताक्षः—ख०; ग०।
११. दुरीक्ष्यः—ख०। १२. संवृताक्षः—ख०; ग०।

एभिरर्थक्रियायुक्तैः[1] काव्यं कुर्यात्तु[2] लक्षणैः।
अतः परं[3] प्रवक्ष्यामि काव्यदोषान् गुणाँस्तथा[4] ॥ ८६ ॥

नाटकों की रचना (उनके) विषय तथा कार्य (अवस्था) आदि का विचार करते हुए इन अलङ्कारों की योजना काव्य में करनी चाहिए। अब मैं काव्य रचनाओं में होने वाले दोषों को बतलाता हूँ ॥ ८६ ॥

काव्यदोष—

[5]गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं[6] वै दश काव्यदोषाः ॥८७॥

काव्यगत दोष दस (प्रकार के) हैं। यथा—(१) गूढ़ार्थ, (२) अर्थान्तर, (३) अर्थहीन, (४) भिन्नार्थ, (५) एकार्थ, (६) अभिप्लुतार्थ, (७) न्यायादपेत, (८) विषम, (९) विसन्धि तथा (१०) शब्दच्युत ॥ ८७ ॥

[7]पर्यायशब्दाभिहितं गूढ़ार्थमिति[8] संज्ञितम्।

गूढ़ार्थः—जहां पर्यायवाचक (अप्रसिद्ध) शब्दों द्वारा वर्ण्य या विषय को कह दिया जाय तो उसे 'गूढ़ार्थ' समझना चाहिए।[1]

अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र[9] तदर्थान्तरमिष्यते ॥ ८८ ॥

अर्थान्तर—जहाँ अवर्णनीय विषय का वर्णन किया जाय उसे अर्थान्तर[2] दोष कहा जाता है ॥ ८८ ॥

---

१. 'गूढार्थ' में क्लिष्ट शब्द का प्रयोग करने से अर्थ-ज्ञान में कठिनाई आ जाती है। जैसे—दशरथ के लिये 'एकाधिकनवविमान' पद का प्रयोग। परवर्ति आचार्यों के 'निहतार्थत्व' दोष से इसकी तुलना की जा सकती है।

२. वर्णनीय अर्थ के साथ किसी अनभीष्ट या अवर्णनीय अर्थ की भी जब साथ-साथ प्रतीति हो तो 'अर्थान्तर' होता है। जैसे—'चिन्तामोहमनङ्गमङ्ग तनुते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः' यहाँ काम का बतलाना इष्ट है पर इसी के साथ बुद्धि में चिन्ता और मोह की भी बिना वर्णन के प्राप्ति हो जाती है। इसे मम्मटादि सम्मत 'अमतपरार्थता' दोष मानना चाहिए।

---

१. क्रियापेक्षं—ख०; क्रियापेक्षैः—ग०।
२. कार्यं तु—ख०। ३. ऊर्ध्वं तु वक्ष्यामि—ग०।
४. समासतः—ख०; दोषाँस्तथाविधान्—ग०।
५. अगूढ—ग०। ६. च्युतञ्च शब्दात्—शब्दात् च्युतं—क०।
७. इतः आरभ्य सार्धश्लोकपञ्चकं केषुचिदादर्शं पुस्तकेषु नास्ति।
८. मभिसंज्ञितम्—क०; ग०। ९. यत्तु—क०।

अर्थहीनं त्वसम्बद्धं [1]सावशेषार्थमेव च।

अर्थहीन—जो असम्बद्ध अर्थ हो या जो अर्थ असमाप्त (अधूरा) हो तो उसे 'अर्थहीन'[1] दोष कहा जाता है।

भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं[2] ग्राम्यमेव च ॥ ८९ ॥

भिन्नार्थ—असभ्य या ग्राम्य अर्थ के सूचक अर्थ को भिन्नार्थ[2] दोष जानो ॥ ८९ ॥

विवक्षितोऽन्य[3] एवार्थो [4]यत्रान्यार्थेन विद्यते।
भिन्नार्थं तदपि[5] प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः[6] ॥ ९० ॥

अथवा जहाँ विविक्षित अर्थ के स्थान पर अविवक्षित अर्थ का कथन किया जाय तो उसे भी विद्वान् 'भिन्नार्थ' दोष कहते हैं ॥ ९० ॥

[7]अविशेषाभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम्।

---

१. पूर्व कथन से उत्तर कथन के विरोध होने पर अर्थ के असम्बद्ध हो जाने से यह दोष हो जाता है। जैसे—'अद्यापि स्मरति रसालसं मनो मे मुग्धायाः स्मरचतुराणि' इत्यादि। (मेरा रस या आनन्द से मन्थर मन अभी भी उस स्मरचतुरा मुग्धा (भोली) का स्मरण करता है) यहाँ मुग्धा कहकर स्मरचतुरा बतलाना पूर्वकथन से उत्तरकथन का विरोध है। इसी प्रकार असमाप्त या अधूरे कथन के रहने पर यह उदाहरण—'स महात्माभाग्यवशान्महापदमुपागतः।' (वह महामना भाग्यवश महान् पद या महती आपत्ति को प्राप्त कर गया।) प्रस्तुत उदाहरण में प्रकरण के अनुसार अन्य सम्बद्ध शब्द की न्यूनता या वक्तव्य शेष होने से 'अर्थहीन' दोष हो गया है।

२. भिन्नार्थ दोष की तीन अवस्था में उपलब्धि होगी। (१) जहाँ व्यवधान के कारण अर्थ का अन्वय करने में कठिनाई आए, (२) जहाँ असभ्य या ग्राम्य अर्थ का अभिधान हो तथा (३) विवक्षित या उद्दिष्ट अर्थ के विपरीत कथन या उद्दिष्टार्थ का अन्यथाकरण हो।

---

१. सा त्वशेषार्थमेव च—ख०; ग०।
२. मपि—क०। ३. विवक्षितान्य—क०।
४. यत्वन्यार्थेन भिद्यते—क०; ग०। ५. तत्तु ते—क०।
६. काव्यविदो जनाः—क०; काव्यविचक्षणाः—ख०; ग०।
७. एकार्थस्याभिधानं यत्—ख०; ग०।

एकार्थ—जहां अनेक शब्दों का एक ही अर्थ के लिए प्रयोग किया जाय तो 'एकार्थ'[1] नामक दोष होता है।

[1]अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पदेन समस्यते ॥ ९१ ॥

अभिप्लुतार्थ—जिसके प्रत्येक पाद में संक्षेप में वाक्यार्थ (पूर्णरूप से) स्थापित किया जाय उसे 'अभिप्लुतार्थ'[2] नामक दोष जानो ॥ ९१ ॥

न्यायादपेतं विज्ञेयं [2]प्रमाणपरिवर्जितम्।

न्यायादपेत—प्रमाण रहित विषय का कथन 'न्यायादपेत'[3] नामक काव्य दोष कहलाता है।

वृत्तभेदो[3] भवेद्यत्र विषमं नाम तद्भवेत् ॥ ९२ ॥

विषम—छन्दों भंग होने पर 'विषम'[4] नामक काव्य-दोष हो जाता है।

[4]अनुपश्लिष्टशब्दं यत् तद्विसन्धीति कीर्तितम्।

---

१. एकार्थ दोष का उदाहरण है :—'कुन्देन्दुहारहरहाससितम्' यहाँ वर्ण्य की शुभ्रता के लिये कुन्द, चन्द्र, पुष्पमाला, शिवजी का हास आदि अनेक उपमाएँ दी जाने से यह कथन एक ही अर्थ की पूर्ति करता है।

२. प्रत्येक पाद में अर्थ समाप्त हो जाने के कारण एकवाक्यता न आने से अभिप्लुतार्थ दोष हो जाता है। जैसे :—

स राजा नीतिकुशलः सरः कुमुदशोभितम्।
सर्वप्रिया वसन्तश्री ग्रीष्मे मालतिकागमः ॥

यहाँ प्रत्येक पाद का अर्थ दूसरे किसी पाद के विषय से सम्बद्ध नहीं है।

३. प्रमाणरहित विषय का आशय है कि देश तथा काल के या कला एवं शास्त्रादि के विपरीत अभिधान करना न्यायादपेत दोष है।

जैसे—सुवीरेष्वस्ति नगरी मथुरा नाम विश्रुता।
अक्षोटनारिकेलाढ्या यस्याः पर्यन्तभूमयः ॥ इति।

४. यति भंग के या छन्द के लक्षण का व्यवस्थित अनुगमन न करने के कारण 'विषम' नामक काव्यदोष होगा। इसे ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने 'हतवृत्तता' दोष कहा है।

---

१. अविप्लुतार्थ—क०।

२. नोपपन्नं भवेत्तु यत्—क०; प्रमाणपरिवर्तितम्—ग०।

३. वृत्तभेदे—क०; वृत्तदोषो—ख०; ग०।

४. अनुपारूढशब्दश्च विसन्धिः परिवर्जितः—क०; अनुप्रतिष्ठाशब्दं यत् तद्विसन्धीति काशितम्—ख०; ग०।

विसन्धि—यदि शब्दों को परस्पर सन्धि हीन दशा में रखा जाय तो वहाँ 'विसन्धि'[1] नामक दोष होता है ।

[1]'शब्दच्युतश्च विज्ञेयमवर्णस्वरयोजनात्[2] ॥ ९३ ॥

शब्दच्युत—जहां एक वर्ण या स्वर का लोप कर दिया जाय तो वहाँ 'शब्दच्युत'[2] दोष होता है ॥ ९३ ॥

[3]एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः ।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥ ९४ ॥

काव्य के ये ही दोष हैं जो मैंने आपको बतलाए । इन्हीं दोषों का विपरीत स्वरूप में रहना 'गुण' कहलाता है जो उनके लक्षणानुसार माधुर्य, औदार्य आदि अर्थों को वहन करते हो ॥ ९४ ॥

काव्य-गुण—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च [4]काव्यस्य गुणा दशैते ॥ ९५ ॥

---

१. सन्धि के नियमों की उपेक्षा करने से काव्य में विसन्धि दोष हो जाता है ।

२. शब्दच्युत नामक दोष प्राकृतिक कारणों या दैनिक आदत के कारण किन्हीं वर्ण के लोप करने या अन्यथा-करण के कारण होता है ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इन दोषों में स्थूल दोषों को अनित्य तथा शेष अस्थूल दोषों को नित्य माना है । उनका मत है कि गूढ़ार्थ का पताकास्थानकादि में प्रयोग करना, अनुवाद में अर्थान्तर दोष का प्रयोग करना, हास्य में अर्थहीन दोष का प्रयोग, श्रोत्रियादि वक्ता के समक्ष भिन्नार्थ दोष का प्रयोग, दूसरे को समझाने में एकार्थ दोष का प्रयोग, उन्मादादि की दशा में अभिप्लुतार्थ दोष का प्रयोग तथा स्वयं के लिये भिन्नवृत्त या विसन्धिदोष का प्रयोग-स्थूल होने के कारण ग्राह्य या प्रयोज्य हो सकता है अथवा ऐसी स्थिति में ये दोष नहीं भी माने जा सकते हैं ।

---

१. शब्दाच्च्युतं—क०; शब्दहीनं—ख०; ग० ।

२. मशब्दस्य च योजनात्—ख०; ग० ।

३. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः ।
एत एव विपर्यस्ताः गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ॥—ख०; ग० ।

४. काव्यार्थगुणा दशैते—ख० ।

काव्य के दस गुण होते हैं।[1] यथा—(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) समाधि (५) माधुर्य (६) ओज (७) पद-सौकुमार्य (सुकुमारता) (८) अर्थव्यक्ति (९) उदारता तथा (१०) कान्ति ॥ ९५ ॥

श्लेष—

ईप्सितेनार्थजातेन [1]सम्बद्धानां परस्परम्।
श्लिष्टता या पदानां [2]स श्लेष इत्यभिधीयते ॥ ९६ ॥

इष्ट अर्थों से परस्पर-सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता (मसृणबन्धयोग) को 'श्लेष'-गुण[2] कहा जाता है ॥ ९६ ॥

---

१. भामह तथा दण्डी ने काव्य के दस गुण माने हैं परन्तु उनके वर्णन लक्षणादि भरतमुनि से भिन्न प्राप्त होते हैं। (द्र० भाम० काव्या० ३।१–४, काव्यादर्श १।४१–९४) गुणों के लक्षण दो पाठों या तीन पाठों में मिलते हैं। हेमचन्द्राचार्य आदि ने भरत के आधार पर गुणों का एक अलग ही पाठ लिया जिसका वर्तमान नाटयशास्त्र से भिन्न पाठ है। पर यह सभी गुणों के लक्षणों में नहीं है। इसी कारण सभी लक्षणों को सम्मिलित करते हुए तथा कुछ स्वोद्भावित गुणों को बढ़ाकर भोज तथा विद्यानाथ प्रभृति ने चौवीस गुण प्रतिपादित किये हैं। कुछ आलङ्कारिक वामन एवं दण्डी का अनुसरण करते हुए दस उनके सम्मत गुण मानते हैं। मम्मट तथा विश्वनाथ कविराज ने तीन गुण ही काव्य के लिये स्वीकृत किये। गुणों के लक्षणानुसारी विशद विवेचन का विकासपूर्ण क्रम हमने संक्षेप में परिशिष्ट में दे दिया है।

२. आचार्य अभिनवगुप्त के व्याख्यान के अनुसार कवि के द्वारा इष्ट अर्थों की परस्पर सम्बद्ध पदों के द्वारा योजना करने पर जब पदों का परस्पर सन्धान इष्ट अर्थ को उपपादित करता है तो 'श्लेष' नामक गुण समझना चाहिए। जैसे वामन के द्वारा उदाहरण दिये गये निम्न पद्य में—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरात्
एकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकप्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥ (अम० श०)

(धूर्त नायक एक आसन पर बैठी हुई अपनी दोनों प्रियाओं को देखकर आदरपूर्वक चुपचाप पीछे से आया और क्रीडा के व्याज से एक प्रिया की आँखें

---

१. सम्बद्धानुपरस्परम्—ख०; ग०। २. हि—ख०; ग०।

[[1]विचारगहनं यत् स्यात् स्फुटञ्चैव स्वभावतः ।
स्वतः सुप्रतिबद्धञ्च श्लिष्टं तत् परिकीर्तितम्[2] ॥]

[प्रक्षिप्त—जो रचना (वृत्ति) तर्क से विचार करने के उपरान्त ग्रहण की जाय, जो स्वभाव से स्फुट तथा स्वयं एक दूसरे से अच्छी प्रकार संग्रथित अर्थ वाली हो तो उसे भी 'श्लेष' गुण कहते हैं ।]

प्रसाद—

अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते ।
सुखशब्दार्थसंयोगात्[3] प्रसादः स तु कीर्त्यते ॥ ९७ ॥

सरल शब्दों तथा अर्थों के प्रयोग द्वारा बिना (स्पष्टता बोधक) व्याख्यान के ही जहां अर्थावबोध सरलता से होता हो तो उसे 'प्रसाद'[1] गुण जानो ॥ ९७ ॥

समता—

नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः ।
[4]दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता ॥ ९८ ॥

अपने हाथों से वन्द कर अपनी गर्दन टेढ़ी करके प्रेम से रोमाञ्चित एवं मुस्कराने वाली दूसरी प्रिया का चुम्बन करने लगा ।)

उक्त उदाहरण में एक साथ तथा एक ही समय दोनों नायिका के हृदय ग्रहण करने के उद्योग को इतनी सम्बद्ध पदावली में उपपादित किया गया है कि जिससे किसी भी नायिका की असंभावना के लिये थोड़ा भी अवकाश नहीं रहता और नायक का कुटिलतापूर्ण आरम्भ भी हृदय में पैठकर माधुर्य की ही सृष्टि करता है ।

१. अनुपयुक्त पदावली के अभाव के कारण बिना क्लिष्ट कल्पना के जब अर्थ स्वयं (निर्मलता के कारण) प्रतीत होने लगे तो 'प्रसाद' गुण होता है । जैसे :—'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी ।' (रूप एवं यौवन की प्राप्ति के आरम्भ से सुशोभित यह कन्या सजातीय अथवा इष्ट है) ।

इस उदाहरण में अर्थ की निर्मलता धूल से असम्पृक्त जल सदृश अतिस्पष्ट दिखलाई देती है तथा इस पद्य के उच्चारण मात्र से कन्या का विवाह के योग्य होना, सुन्दरतापूर्ण होने से हृदयाकर्षक रहना तथा गृहस्थ धर्म के उपयुक्त होना आदि अर्थ स्वतः व्यक्त हो जाने के कारण 'प्रसाद' गुण है ।

---

१. विचार्य ग्रहणं वृत्या—ग० । २. परिकीर्त्यते—ग० ।
३. सम्बोधात्—ग० । ४. न दुर्बोधा तैश्च कृता—ख०; ग० ।

जिस रचना में असमस्त पद हो, वे व्यर्थ का अर्थ प्रकट न करते हों तथा दुर्बोध न हो तो उसे शब्दों की समानता के कारण 'समता'[1] नामक गुण कहते हैं ॥ ९८ ॥

[[1]अन्योन्य सदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणाः ।
अलङ्कारा गुणाश्चैव समाः[2] स्युः समता मताः ॥]

[प्रक्षिप्त—जहां अलंकार तथा गुण समभाव से स्थित होकर एक दूसरे के (परस्पर) शोभावर्धक हों तो 'समता' नामक गुण जानो ।]

समाधि—

अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्येहोपलक्ष्यते[3] ।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्तितः[4] ॥ ९९ ॥

प्रतिभाशील व्यक्तियों के द्वारा विशेष अर्थ जिस रचना में देख लिया जाय तो उसे 'समाधि'[2] गुण जानों ॥ ९९ ॥

[उपमाद्युपदिष्टानामर्थानां[5] यत्नतस्तथा ।
प्राप्तानाञ्चापि[6] सङ्क्षेपात् समाधिर्निर्णयो[7] यतः ॥]

---

१. आरम्भ किये हुए रचनाक्रम का परित्याग न करते हुए जब असमस्त पदावली में रचना की जाए तो निष्प्रयोजन तथा दुर्बोध अर्थ के अभिधान न होने से समता गुण कहलाता है । जैसे :—

'मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः ।'

प्रस्तुत उदाहरण में विप्रलम्भ के उद्दीपक कथन को बिना निरर्थक पदावली का विस्तार करते हुए असमस्त रचना के द्वारा प्रस्तुत कर दिया गया है ।

२. जिस काव्य रचना के अन्य अर्थ का अति प्रतिभाशाली पुरुष ही अपूर्वता के कारण उल्लेख कर सकें उस एकतानता से उन्नेय या समाहित मन से प्रतीत अर्थ विशेष के उल्लेख को 'समाधि' समझना चाहिए । यह अपूर्वता अयोनि अथवा अपूर्वार्थं तथा अन्यच्छाया योनि अर्थ से आती है । इसके अतिरिक्त यहाँ पदबन्ध में आरोह अवरोह के क्रम का निर्वाह भी अपेक्षित माना जाता है ।

---

१. अन्योन्य सदृशं यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम्—ख०; ग० ।
२. समासात् समता यथा—ग० ।
३. र्थस्यैवोपलभ्यते—ख०; ग० । ४. परिकीर्त्यते—ग० ।
५. उपमित्युपदिष्टानां—उपमात्यपदिष्टानां—क० ।
६. च्चातिसंयोगात्—क०; च्चातिसंयोगः—ग० ।
७. परिकीर्त्यते—क० ।

[प्रक्षिप्त—जहाँ उपमा आदि से व्यक्त होने वाले तथा सम्प्राप्त विषयों या अर्थों का प्रयत्नपूर्वक समास आदि के द्वारा सुसम्बद्ध उपस्थापन (प्रयोग) किया जाय तो 'समाधि' गुण होता है ।]

माधुर्य—

बहुशो यच्छ्रुतं[1] वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः ।
नोद्वेजयति यस्माद्धि[2] तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥ १०० ॥

जो वाक्य अनेक बार सुनने या कहे जाने पर भी (अभीष्ट होने से) उद्वेग उत्पन्न न करे तो उसे 'माधुर्य'[1] गुण जानो ॥ १०० ॥

ओज—

समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च[3] पदैर्युतम् ।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते ॥ १०१ ॥

जो रचना अनेक सामासिक तथा विचित्र-पदों से युक्त हो तथा जिसका अर्थ उदार तथा ध्वनि जिसकी अनुराग-मयी हो तो उसे 'ओज'[2] गुण जानो ॥ १०१ ॥

---

१. जब संशय या विपर्यय ज्ञान को उत्पन्न न करते हुए केवल सुनने मात्र से या अनेक बार उच्चारण करने पर भी उद्वेग या बेचैनी पैदा न होती हो तो 'माधुर्य' गुण होता है । जैसे—'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्' (शा० २।६) इत्यादि । इसी प्रकार विचित्रता को उत्पन्न करने के उद्देश्य से अनेक बार अभिहित पदावली के मञ्जुल प्रयोग पर माधुर्य गुण होता है । जैसे—'अमृतममृतं कः सन्देहः मधून्यपि नान्यथा' इत्यादि ।

२. अनेक सामासिक पदों से जब किसी रचनाबन्ध को विचित्रता सम्पन्न करते हुए प्रस्तुत किया जाए तो 'ओज' गुण समझना चाहिए । जैसे वेणीसंहार के (वे० १।२२) निम्न पद्य में—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतिकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः ।
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः ॥ इत्यादि ।

इसी प्रकार जब सापेक्ष वर्ण रचना की जाए अर्थात् एक वर्ण दूसरे वर्ण की अपेक्षा लिये हुए रचना में स्थापित किया जाए तो ऐसी सानुराग रचना को 'ओज' समझना चाहिए । जैसे—

'विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्तः'

---

१. यत्कृतं—ख० । २. तस्माद्धि—क० ।
३. विविधैः—ख०; ग० ।

[अवगीतोऽपि[1] हीनोऽपि स्यादुदात्तावभासकः[2] ।
यत्र शब्दार्थसम्पत्त्या[3] तदोजः परिकीर्तितम् ॥]

[प्रक्षिप्त—जो रचना निन्दित (या हीन) होने पर भी उदात्त-अर्थ की प्रतीति करवाने वाली हो तो शब्द और अर्थ की सम्पत्तिशालिनी ऐसी रचना 'ओज' (गुण युक्त) कहलाती है ।]

सौकुमार्य—

[4]सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं[5] तदुच्यते ॥ १०२ ॥

जो सुश्लिष्ट सरलता से युक्त सन्धि के कारण सरलता से व्यवहार किये जाने वाले शब्दों तथा सुकुमार अर्थ से युक्त हो तो उसे 'सौकुमार्य'[1] गुण कहते हैं ॥ १०२ ॥

यहाँ 'र' वर्ण 'न्द' वर्ण की गुरुता की अपेक्षा से ग्रथित है । इसके अतिरिक्त जब एक वस्तु की अनेक पदों से विस्तारपूर्वक वर्णना की जाए—जैसे कालिदास के निम्न पद्य में—

''अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।''
(रघु० २।७५)

तथा संक्षेप में अर्थभूयस्त्व को प्रकट करने पर भी 'ओज' गुण समझना चाहिए । जैसे कुमारसंभव के निम्न पद्य में—

''ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धञ्चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥'' (कु० सं० ६।९३)

आचार्य हेमचन्द्र ने भरत के 'अवगीतोऽपि' लक्षण के अनुसार ओजगुण का स्वरूप माना है ।

१. जब पदगत रूक्षता या अर्थ के परुष रहने पर भी सुकुमारतापूर्ण बन्ध रचना ग्रथित हो तो सौकुमार्यगुण समझना चाहिए । जैसे—एकाकी के लिये देवतासहाय जैसे पद का या मृत व्यक्ति के लिये यशःशेष पद का प्रयोग करना सुकुमारता है ।

---

१. अवगीतविहीनोऽपि—क०; अवगीताविहीनोऽपि—ख० ।
२. वभावकः—ख०; ग० । ३. सम्पत्तिस्तदोजः—ख०; ग० ।
४. मुख्यप्रयो—ख० । ५. सुकुमारं—क० ।

अर्थव्यक्ति—

सुप्रसिद्धाभिधाना[1] तु लोककर्मव्यवस्थिता ।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ॥ १०३ ॥

जिस रचना में लोक में अतिशय प्रसिद्ध अर्थ का सुप्रसिद्ध शब्दों द्वारा अभिधान हो तो उसे अर्थ-व्यक्ति[1] नामक गुण जानो ॥ १०३ ॥

[यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा[2] परिकल्प्यते ।
अनन्तरप्रयोगस्तु[3] सार्थव्यक्तिरुदाहृता[4] ॥]

[प्रक्षिप्त—शब्द प्रयोग के तत्काल पश्चात् जिसका अर्थ तुरन्त चित्त में प्रवेश कर जाए तो उसे 'अर्थव्यक्ति' गुण जानो ।]

उदात्त (उदारता) ता—

दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम् ।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं[5] प्रकीर्तितम् ॥ १०४ ॥

रचना में जब दिव्यपात्रों की शृङ्गार तथा अद्भुत-रस-युक्त वर्णना हो जो अनेक भावों से पूर्ण हो तो उसे 'उदारता'[2] गुण जानो ॥ १०४ ॥

---

१. जिस काव्य क्रिया में अभिधा व्यापार को प्रसिद्ध या ज्ञात वस्तु के लिये गृहीत किया जाए (जैसे—'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्' इत्यादि) अथवा जहाँ लोकप्रसिद्ध वस्तु का हूबहू वैसा ही सहज अभिधान हो तो उसे भी 'अर्थव्यक्ति' गुण समझना चाहिए । जैसे—शाकुन्तल के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' (शा० १।७) इत्यादि पद्य में ।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में 'यस्यार्थानुप्रवेशेन' इत्यादि भरत कारिका के पाठ को गृहीत किया है ।

२. जहाँ मानुष भाव के योग्य होकर भी दिव्यता के साथ या करुणभाव से युक्त होकर भी शृङ्गार के साथ विस्मयावहता को उत्पन्न करते हुए वर्णन किया जाए तो ऐसे अग्राम्य, अप्रसिद्ध या अज्ञात वर्णन से आप्लुत काव्यबन्ध को 'उदारता' गुण समझना चाहिए । जैसे मालती-माधव में :—

'त्वमेवं सौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः

---

१. सुप्रसिद्धा धातुना तु—ख०; ग० । २. मनसः—क० ।
३. अनन्तरं प्रयोगस्य—ख० । ४. प्रकीर्तिता—क० ।
५. मुदारं तत्—क० ।

[अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः सौष्ठवसंयुतैः[1] ।
[2]उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तच्च कीर्त्यते ॥]

[प्रक्षिप्त—अनेक विशेष अर्थों से जो रचनागत पदावली निपुणतापूर्वक कहे गए सुन्दर शब्दों के कारण अनेक विचित्र अर्थों को धारण करे तो उसे 'उदात्त' गुण जानो ।]

कान्ति—

यन्मनः[3] श्रोत्रविषयमाह्लादयति[4] हीन्दुवत् ।
[5]लीलाद्यर्थोपपन्नां वा तां कान्तिं कवयो विदुः ॥ १०५ ॥

जिस रचना में पात्र की श्रृङ्गारक्रीडा का किया जाने वाला वर्णन मन और कानों को जब आह्लादित कर दे तो उसे 'कान्ति' गुण जानो ॥१०५॥

कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।' इत्यादि ।

इसी प्रकार जब चित्रपदों के बन्ध से विकटत्व या पदों के नर्तन करने जैसी काव्यरचना हो तो उसे भी 'उदारता' ही कहते हैं । जैसे—

'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झटिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलञ्चा' इत्यादि ।

यहाँ आचार्य हेमचन्द्र ने 'अनेकार्थविशेषैः' पाठ को गृहीत किया है ।

१. जो काव्यरचना श्रृङ्गार रस के विभावादि से या लीला आदि चेष्टाओं के वर्णन से मन को आह्लादित करती हो उसे 'कान्ति' समझना चाहिए । इसे ही अन्य आचार्य दीप्तरसता का नाम देते हैं । जैसे—'प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया' (अ० श०) इत्यादि । यहाँ ईर्ष्या अनुभाव, रति भाव तथा औत्सुक्य संचारी के द्वारा श्रृङ्गाररस को दीप्त किये जाने से कान्ति नामक गुण है । इसके अतिरिक्त जो वर्णगत काव्यबन्ध से श्रोत्र को आह्लादित करे तो ऐसी काव्यरचना भी 'कान्ति' गुणशालिनी ही होगी । जैसे—'कुरङ्गीनेत्रालीस्तवकितवनालीपरिसरः' इत्यादि । यहाँ समासयुक्त रचना श्रोत्र को आह्लादित करते हुए एकतानता को बनाए रखती है, अतः मधुर काव्य के कारण 'कान्ति' गुण यहाँ भी समझना चाहिए ।

---

१. संज्ञितैः—क० । २. उपेतमनतिग्राह्यैरुदारं—क० ।

३. यो मनःश्रोत्रविषयः प्रसादजनको भवेत्—ग० ।

४. प्रह्लादजननं भवेत्—प्रह्लादजननं तथा—क० ।

५. शब्दबन्धोऽप्रयोगेन स कान्त इति भण्यते—शब्दबन्धार्थयोगेन तत्कान्तिरिति भण्यते—, शब्दतत्वार्थसंयोगे तत्कान्तिरिति कीर्त्यते—क०; शब्दबन्धः प्रयोगेण स कान्त इति भण्यते—ग० ।

रसानुसारी अलंकार तथा छन्दों का प्रयोग-विधान—

एवमेते ह्यलङ्कारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः ।
प्रयोगमेषाञ्च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥ १०६ ॥

काव्य-रचना में स्थित अलंकार, दोष तथा गुणों का निरूपण किया गया। अब मैं उनका रसाश्रित प्रयोग बतलाता हूं ॥ १०६ ॥

लघ्वक्षरप्रायकृतमुपमारूपकाश्रयम् ।
काव्यं कार्यन्तु [1]नाट्यज्ञैर्वीररौद्राद्भुताश्रयम् ॥ १०७ ॥

वीर, रौद्र तथा अद्‌भुत रसों के वर्णन में काव्य रचना लघु अक्षरों से युक्त हो तथा उसमें उपमा या रूपक अलंकारों का प्रयोग होना चाहिए ॥ १०७ ॥

गुर्वक्षरप्रायकृतं बीभत्से करुणे तथा ।
कदाचिद्वीररौद्राभ्यां [2]यदाधर्षणजं भवेत् ॥ १०८ ॥

बीभत्स (तथा करुण) रस में गुरु अक्षरों वाली रचना हो और जब रौद्र तथा वीर रसों से करुण रस का वर्णन हो तब भी यथाशक्य (कदाचित्) गुरु अक्षरों वाली रचना होना चाहिए ॥ १०८ ॥

[3]रूपदीपकसंयुक्तमार्यावृत्तसमाश्रयम् ।
शृङ्गारे तु रसे कार्यं [4]मृदुवृत्तं तथैव च ॥ १०९ ॥

शृङ्गाररस में रूपक तथा दीपक अलंकारों का तथा आर्यावृत्त का तथा (फिर) कोमल वृत्तों का प्रयोग करना चाहिए ॥ १०९ ॥

उत्तरोत्तरसंयुक्तं वीरे पाठ्यन्तु[5] यद्भवेत् ।
जगत्यातिजगत्या[6] तु सङ्कृत्या चैव योजयेत् ॥ ११० ॥

वीररस की रचना में संयुक्त वर्णों का उत्तरोत्तर (अधिक) प्रयोग होना चाहिए तथा उसमें अतिजगती तथा संस्कृति जैसे वृत्तों का भी प्रयोग होना चाहिए ॥ ११० ॥

---

१. शास्त्रज्ञैः—ख०; काव्यज्ञैः—ग० ।
२. यथा—क० ।   ३. नार्यावृत्त—ख० ।
४. काव्यं स्यान्नाटकाश्रयम्—ख० ।
५. काव्यन्तु—ख०; ग० ।
६. जगत्यां वा सङ्कृत्यां वाऽपि तद्भवेत्—ख०; ग० ।

[1]युद्धसम्फेटयोस्तज्ज्ञैरुत्कृतिः सम्प्रकीर्तिता।
करुणे शकरी चैव[2] तथा चातिधृतिर्भवेत्॥ १११॥

युद्ध तथा उपद्रवों (संकट) के वर्णन में 'उत्कृति' छन्द का तथा करुण-रस में शकरी तथा अतिधृति छन्दों की योजना करना उचित होता है॥ १११॥

यद्वीरे कीर्तितं[3] छन्दस्तद्रौद्रेऽपि प्रयोजयेत्।
शेषाणामर्थयोगेन छन्दः कार्यं [4]प्रयोक्तृभिः॥ ११२॥

जो 'छन्द' वीररस के लिए उपयुक्त हों उन्हें रौद्ररस में भी प्रयोग हेतु उचित समझना चाहिए। शेष रसों में उनके अर्थानुसार यथोचित छन्दों की योजना की जाए॥ ११२॥

अक्षरों की रसानुकूल योजना-विधि—

त्रिविधं ह्यक्षरं [5]कार्यं कविभिर्नाटकाश्रयम्।
ह्रस्वं[6] दीर्घं प्लुतञ्चैव [7]रसभावविभावकम्॥ ११३॥

नाटकों (काव्य) की रचना में कविजन विभिन्न रसों तथा भावों की अभिव्यक्ति के लिए ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत अक्षरों का प्रयोग करें॥ ११३॥

एकमात्रं भवेद्ध्रस्वं द्विमात्रं दीर्घमुच्यते।
प्लुतश्चैव त्रिमात्रं स्याद् अक्षरं [8]वर्णसंश्रयम्॥ ११४॥

स्वरों के उच्चारणों के नियम के अनुसार एक मात्रा का अक्षर ह्रस्व, दो मात्राओं का दीर्घ तथा तीन मात्राओं का प्लुत कहलाता है॥ ११४॥

प्लुत वर्ण का प्रयोग विधान—

स्मृते [9]चासूयिते चैव तथा च परिदेविते।
पठतां ब्राह्मणानाञ्च प्लुतमक्षरमिष्यते॥ ११५॥

किसी बात के स्मरण करने, असूया तथा रोदन क्रियाओं में तथा ब्राह्मणों द्वारा वेद पठन करने में 'प्लुत' की योजना करनी चाहिए॥ ११५॥

---

१. तथैव युद्धसंस्फोटावुत्कृत्यां सम्प्रकीर्तितम्—क०; तथैव युद्धसम्फेटावुत्कृत्यां सम्प्रकीर्तितौ—ख०; ग०।
२. ज्ञेया तथैवातिधृति—ख०; ग०।
३. कीर्त्यंते छन्द्रस्तद्रौद्रे सम्प्रयोजयेत्—ख०। ४. तथा रसः—ख०।
५. काव्ये विज्ञेयं—ख०; काव्यं विज्ञेयं—ग०।
६. प्लुतं ह्रस्वञ्च दीर्घञ्च—क०। ७. पदबन्धसमाश्रयम्—क०।
८. स्वरयोजनात्—ग०। ९. वासूयिते—ख; चास्नयुते—ग०।

आकारस्तु[1] स्मृते कार्यम् [2]ऊकारश्चाभ्यसूयिते ।
परिदेविते च हाकारम्[3] ओङ्कारोऽध्ययने तथा ॥ ११६ ॥

स्मरण में 'आ' का असूया में 'ऊ' का, रोदन में 'हा' का तथा वेदों के अध्ययन में 'ओम्' का प्रयोग होना चाहिए ॥ ११६ ॥

ह्रस्वदीर्घप्लुतानीह यथाभावं यथारसम् ।
[4]काव्यबन्धेष्वशेषेषु ह्यक्षराणि प्रयोजयेत् ॥ ११७ ॥

इसके अतिरिक्त सभी प्रकार की काव्य-रचनाओं में भाव तथा रसों की स्थिति के अनुरूप ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए[1] ॥ ११७ ॥

[5]यच्छन्दः पूर्वमेवोक्तं विषमार्द्धसमे समम् ।
[6]उदारमधुरैः शब्दैस्तत्[7] कार्यन्तु रसानुगम् ॥ ११८ ॥

पूर्व अध्याय में जिन सम, अर्धसम तथा विषम छन्दों को बतलाया गया है उनका उदार तथा मधुर-शब्दावली द्वारा काव्यों में अर्थानुसारी प्रयोग किया जाए ॥ ११८ ॥

शब्दानुदारमधुरान् प्रमदाभिधेयान्[8]
[9]नाट्याश्रयासु कृतिषु प्रयतेत कर्तुम् ।
तैर्भूषिता भुवि विभान्ति हि काव्यबन्धाः
पद्माकरा विकसिता इव राजहंसैः ॥ ११९ ॥

नाटककार अपनी रचना में ऐसे शब्दों का प्रयोग करे जो औदार्य गुण

---

१. आशय यह कि दूर से बुलाने आदि के लिये व्याकरण शास्त्र में अभिहित प्लुत आदि नियमों का भी प्रयोग विधिवत् करना चाहिए ।

---

१. अकारस्तु स्मृते कार्ये—ग० ।
२. हुङ्कारं वाप्यसूयिते—ख०; उकारश्चाप्यसूचिते—ग० ।
३. हुंकार—ख० ।
४. एतानि काव्ययोगेषु त्वक्षराणि निवेशयेत् क, काव्ययोगेष्वक्षराणि यथा शोभं निवेशयेत्—ख० । काव्ययोगेषु सर्वेषु ह्यक्षराणि तु योजयेत्—ग०; ।
५. ये बन्धाः पूर्वमुद्दिष्टा विषमार्धसमा समाः—ख० ।
६. उदारशब्दैर्मधुरैः कार्यास्तेऽर्थवशानुगाः—ग० ।
७. कार्यास्ते स्यू रसानुगाः—ख० ।　८. प्रमदाभिनेयान्—ख०; ग० ।
९. नाट्याश्रितान्—क०; नाट्याश्रयान् नु—ख० ।

से पूर्ण,[1] (अर्थपूर्ण) तथा मधुर हों, जिन्हें स्त्रियों के द्वारा उच्चारण किया (या गाया) जा सके। यदि इन विशेषताओं से युक्त काव्य रचना होगी तो वह राजहंसी से युक्त कमल सरोवरों जैसी अति सुन्दर होकर सुशोभित होगी ॥ ११९ ॥

चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैश्च[1] शब्दै-
र्युक्ता[2] न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः ।
यज्ञक्रियेव[3] [4]रुरुचर्मधृतैर्घृताक्तै-
र्वेश्या द्विजैरिव कमण्डलुदण्डहस्तैः ॥ १२० ॥

'चेक्रीडित'[2] जैसे रूक्ष शब्दों (के प्रयोगों) से युक्त नाट्यरचना सुन्दर नहीं लगती। जैसे कृष्णाजिन तथा रूक्ष (मृग) चर्म को वहन करने वाले, यज्ञ के घृत से सने हुए कमण्डल और अक्षमाला युक्त हाथों वाले ब्रह्मचारी गण का नर्तकी (वेश्या) के साथ हो जाना अनुचित होता है ॥ १२० ॥

---

१. यहाँ कारिका में उदार पद से शब्दगुण तथा मधुर पद से उसी के अनुकूल माधुर्यादि गुणों का प्रयोग सूचित किया गया है। इसी प्रकार प्रमदाभिधेय पद की अन्य व्याख्या भी है। तदनुसार प्रमद का अर्थ है आह्लादजनक जिनका अभिधेय अर्थात् भावार्थ या हृदयगत-क्रियाविशेष हों ऐसे समग्र अर्थगुणों से युक्त भावों वाली पदावली का नाटकीय रचना में प्रयोग किया जाए।

२. 'चेक्रीडित' पद यङन्त है। यहाँ आदि शब्द से इसी प्रकार के ण्यन्त या सन्नन्त पदों का भी प्रयोग नटों के लिये उचित नहीं होता यह संकेत दिया है। यहाँ अन्य व्याख्यान इस प्रकार भी है कि जैसे ललित अर्थात् सुकुमार प्रयोग कठोर या रूक्ष पदावली से युक्त नहीं रहते ठीक उसी प्रकार जैसे वेश्याओं के साथ कमण्डलधारी ऋजुवृत्ति ब्रह्मचारी को रखना अनुचित है या जैसे यज्ञक्रिया में ब्रह्मचारी के साथ वेश्याओं का रखना अनुचित होता है। इस प्रकार यह दृष्टान्त साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों प्रकार से बनकर रसानुकूल एवं व्याकरण शास्त्रसम्मत प्रसिद्ध तथा प्रचलित शब्द प्रयोगों को ही नाट्यरचना में समावेश के उपयुक्त निर्दशित करता है।

---

१. प्रकृतिभि—ख०; ग०। २. मुक्ता—क०।

३. कृष्णाजिनाक्षवरु—ग०।

४. शरवर्मधरैः घृताक्तैः—ख०; चर्मधुरैः—ग०।

मृदुललितपदार्थं[1] गूढशब्दार्थहीनं
[2]जनपदसुखभोग्यं [3]युक्तिमन्नृत्तयोज्यम् ।
[4]बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
[5]भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥ १२१ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वागभिनये[6] काव्यलक्षणो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।



जिस नाट्य-रचना में मृदु तथा ललित अर्थों वाली पदावली हो, गूढ़ शब्द तथा अर्थ न हों, प्रेक्षक सुखपूर्वक देख और समझ सकें तथा आनन्द उपलब्ध करे, जिसमें युक्ति एवं विचारपूर्वक नृत्त की योजना की गई हो, रस की प्रवाहमय गति हो, सन्धियों का (जिसमें) स्पष्ट स्वरूप परिलक्षित होता हो वही नाटक संसार में प्रेक्षण योग्य हो जाता है ॥ १२१ ॥

भरतनाट्यशास्त्र का वागभिनयान्तर्गत (लक्षणालंकार गुण-दोष-निरूपण तथा) काव्यलक्षण नामक सत्रहवां अध्याय समाप्त ।



१. पदाढ्यं—ख० ।
२. बुधजनसुखभोग्यं—क०; जनपदसुखबोध्यं—ख०; बुधजनसुखयोग्यं—ग० ।
३. बुद्धिमन्नृत्त—ग० ।
४. बहुरसकृतमार्गं—क०, ग० ।
५. स भवति सुकवि काव्यं नाटयकाले मनोज्ञम्—क० ।
६. वागभिनयो नाम षोडशोऽध्यायः—क०, ख० ।

सप्तदशाध्यायानुबन्धः

विभूषणञ्चाक्षरसंहतिश्च[1] शोभाभिमानौ गुणकीर्तनञ्च ।
प्रोत्साहनोदाहरणे निरुक्तं गुणानुवादोऽतिशयः सहेतुः ॥ १ ॥
सारूप्य-मिथ्याध्यवसायसिद्धि-पदोच्चयाक्रन्दमनोरथाश्च ।
[2]आख्यानयाञ्चाप्रतिषेधपृच्छादृष्टान्तनिर्भासनसंशयाश्च[3] ॥ २ ॥
आशीः प्रियोक्तिः[4] कपटः क्षमा च प्राप्तिश्च पश्चात्तपनं तथैव ।
अथानुवृत्तिर्ह्युपपत्तियुक्ती [5]कार्योऽनुनीतिः परिदेवनञ्च ॥ ३ ॥
षट्त्रिंशदेतानि तु[6] लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसम्मितानि ।
काव्येषु [7]भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक्प्रयोज्यानि यथारसं[8] तु ॥ ४ ॥

दृश्य काव्य के अङ्गभूत छत्तीस लक्षण[1] होते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) विभूषण, (२) अक्षरसंघात, (३) शोभा, (४) अभिमान, (५) गुणकीर्तन, (६) प्रोत्साहना, (७) उदाहरण, (८) निरुक्त, (९) गुणानुवाद, (१०) अतिशय, (११) हेतु, (१२) सारूप्य, (१३) मिथ्याध्यवसाय, (१४) सिद्धि, (१५) पदोच्चय, (१६) आक्रन्द, (१७) मनोरथ, (१८) आख्यान, (१९) याञ्चा, (२०) प्रतिषेध,

---

१. दो भिन्न पाठों में पठित लक्षणों के क्रम में यहाँ अनुबन्धरूप में प्रदत्त इस पाठ को आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी परम्परा में समागत पाठ स्वीकृत करते हुए मुख्य माना है। आचार्य पाद ने ही दूसरे पाठ की भी व्याख्या की तथा इस पाठ की भी व्याख्या की तथा इस पाठ को भी उद्देश कथन के रूप में भरतमुनि सम्बद्ध भी बतलाया। इस प्रकार दो पाठों में विभक्त लक्षणों के स्वरूप को लेकर भोज आदि ने चौसठ काव्य लक्षण निरूपित किये। इन सभी लक्षणों का सोदाहरण विवेचन 'परिशिष्ट' में ही उचित मानकर यहाँ केवल अर्थमात्र ही देकर हम सन्तोष कर रहे हैं। (सम्पा० व्याख्या०)

---

१. चाक्षरसङ्गतिश्च—ख०; चाक्षरसंहितञ्च—ग० ।
२. आख्यानवादाः—ख० । ३. दृष्टाङ्ग—ख० ।
४. प्रियं वै कपटं क्षमा च—ग० । ५. कार्यानुनीती—ग० ।
६. मया समासात्—क० । ७. सोदाहरणेषु—क० ।
८. यथारसानि—क० ।

(२१) पृच्छा, (२२) दृष्टान्त, (२३) निर्भासन, (२४) संशय, (२५) आशीः, (२६) प्रियोक्ति, (२७) कपट, (२८) क्षमा, (२९) प्राप्ति, (३०) पश्चात्तापः, (३१) अनुवृत्ति, (३२) उपपत्ति, (३३) युक्ति, (३४) कार्य, (३५) अनुनीति या अनुनय तथा (३६) परिदेवन ॥ १–४ ॥

विभूषण—

अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिर्यदलङ्कृतम् ।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद्भूषणमिति स्मृतम् ॥ ५ ॥

जो रचना अनेक अलङ्कार तथा गुणों से अलंकृत होने के कारण अलंकार से सजाए गए व्यक्ति की तरह सुशोभित होने लगे तो विविध अर्थगुण सूचक ऐसे लक्षण को 'विभूषण'[1] समझना चाहिए ॥ ५ ॥

अक्षरसंघात—

[1]यत्राल्पैरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रार्थोपवर्णनम्[2] ।
[3]तदप्यक्षरसङ्घातं विद्याल्लक्षणसंज्ञितम् ॥ ६ ॥

जहाँ थोड़े अक्षरों के प्रयोग से श्लेषगत वैशिष्ट्य के कारण विविध एवं वैचित्र्य सम्पन्न अर्थ की अभिव्यक्ति होती हो तो उसे 'अक्षरसंघात'[2] नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ ६ ॥

शोभा—

सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा [4]ह्यसिद्धोऽर्थः प्रसाध्यते ।
यत्र [5]श्लक्ष्णा विचित्रार्था सा शोभेत्यभिसंज्ञिता[6] ॥ ७ ॥

यदि असिद्ध या अज्ञातार्थ की सिद्ध या ज्ञात रूप में उद्धृत करते हुए श्लेष के कारण नवीन या मनोहारि स्थिति में अर्थाभिव्यक्ति होती हो ऐसे लक्षण को 'शोभा'[3] समझना चाहिए ॥ ७ ॥

---

१. 'विभूषण' का पर्याय अन्य पाठ में 'भूषण' दिया है ।
२. 'अक्षरसंघात' दोनों पाठों में समान प्राप्त होता है ।
३. 'शोभा' का लक्षण भी दोनों पाठों में समान है ।

---

१. यत्रार्थैः—क० ।
२. विचित्रैरुपवर्णितम्—क०; विचित्रमुपवर्ण्यते—ग० ।
३ तमप्यक्षर—ग० । ४. यत्रासिद्धं—क० ।
५. श्लिष्टा—क०; श्लक्ष्णविचित्रार्थाः—ख०, ग० ।
६. त्यभिधीयते—ख०; ग० ।

अभिमान—

धार्यमाणस्तु[1] बहुभिर्वचनैः कार्ययुक्तिभिः ।
न[2] यः पर्यवतिष्ठेत सोऽभिमानस्तु संज्ञितः[3] ॥ ८ ॥

जब कोई पुरुष अनेक कथनों, कार्यों तथा युक्तियों के द्वारा समझाने पर भी उसे नहीं समझ पाता या सन्तुष्ट न होता हो तो ऐसे लक्षण को 'अभिमान'[1] समझना चाहिए ॥ ८ ॥

गुणकीर्तन—

कीर्त्यमानैर्गुणैर्यत्र विविधार्थसमुद्भवैः ।
दोषा[4] न परिकथ्यन्ते तज्ज्ञेयं गुणकीर्तनम् ॥ ९ ॥

जब एक व्यक्ति के अनेक गुणों को—विविध उद्देश्यों से उद्भूत अर्थों में बतलाने के समय—दोषों का उद्घाटन न किया जाए तो ऐसी रचना को 'गुणकीर्तन'[2] समझना चाहिए ॥ ९ ॥

प्रोत्साहन—

उत्साहजननैः स्पष्टैरर्थैरौपम्यसंश्रयैः ।
प्रसिद्धैरुपगूढञ्च[5] ज्ञेयं प्रोत्साहनं बुधैः ॥ १० ॥

जहाँ औपम्य का आश्रय या अन्वेषण करते हुए उत्साहवर्द्धक एवं सुस्पष्ट अर्थ के द्वारा प्रसिद्ध व्यक्तित्व का वर्णन किया जाए तो ऐसे लक्षण को 'प्रोत्साहन'[3] समझना चाहिए ॥ १० ॥

उदाहरण—

यत्रैकस्यापि[6] शब्दस्य दर्शनात् सुबहून्यपि ।
यान्ति सिद्धिमनुक्तानि[7] तदुदाहरणं स्मृतम् ॥ ११ ॥

---

१. 'अभिमान' के समान लक्षण होने पर अन्य पाठ में 'सारूप्य' (इसके स्थान पर) प्राप्त होता है ।

२. 'गुणकीर्तन' दोनों पाठों में गृहीत है किन्तु दोनों में (इसके) लक्षण भिन्न है ।

३. प्रोत्साहन के स्थान पर अन्य पाठ में प्रियवचन या प्रियोक्ति प्राप्त होता है ।

---

१. वार्यमाणस्तु—ख०; ग० । २. नार्यो यत्नानुतिष्ठन्ति—क० ।
३. भिमानः प्रकीर्तितः—क० । ४. दोषांशान् परिकल्प्यन्ते—क० ।
५. रुपगूढन्तु—क० । ६. यत्रैकस्यैव—क० ।
७. मनुक्तादि—ख०; ग० ।

जब किसी एक शब्द के उच्चारित होते ही अनेक अकथित या असंकेतित अर्थों की भी सूचना प्राप्त होने लगे तो उसे 'उदाहरण'[1] समझना चाहिए ॥ ११ ॥

निरुक्त—

निरुक्तं द्विविधं प्रोक्तं [1]तथ्यञ्चातथ्यमेव च ।
[2]सिद्धिपूर्वं भवेत्तथ्यमतथ्यञ्चाप्रसाधितम्[3] ॥ १२ ॥

निरुक्त के दो प्रभेद हैं—(१) तथ्य तथा (२) अतथ्य। इनमें जो अच्छी तरह से प्रसिद्ध या ज्ञात हो उसे 'तथ्य' तथा जो किसी प्रकार इसके विपरीत हो या अच्छी तरह से प्रसिद्ध न हो उसे 'अतथ्य' नामक निरुक्त[2] समझना चाहिए ॥ १२ ॥

गुणानुवाद—

[4]गुणानुवादो हीनानामुत्तमैरुपमाकृतः ।

जब किसी हीन विषय की उत्तम विषय से तुलना की जाए तो ऐसे कथन वाले लक्षण को 'गुणानुवाद'[3] समझना चाहिए ।

अतिशय—

[5]उत्तमार्थाद्विशिष्टो यः स चाप्यतिशयः स्मृतः ॥ १३ ॥

जब किसी उत्तम पदार्थ से तुलना करने पर भी किसी का (उक्त अर्थ से भी) अधिक वैशिष्ट प्रतीत होने लगे तो ऐसे लक्षण को 'अतिशय'[4] समझना चाहिए ॥ १३ ॥

हेतु—

बहूनां [6]भाषमाणानां [7]त्वेकस्यार्थविनिर्णयम् ।
सिद्धोपमानवचनं हेतुरित्यभिसंज्ञितः ॥ १४ ॥

---

१. उदाहरण का नाम दोनों पाठों में है परन्तु लक्षण भिन्न हैं ।
२. अन्य पाठ में निरुक्त के दो विभेदों का उल्लेख नहीं है ।
३. 'गुणानुवाद' का अन्य पाठ में 'गुणातिपात' अभिधान मिलता है ।
४. यह लक्षण पूर्व पाठ के 'अतिशय' के लक्षण का पूरक लक्षण होकर थोड़ी भिन्नता रखता है । 'अतिशय' का दोनों पाठों में सन्निवेश मिलता है ।

---

१. वातथ्य—ख०; ग० । २. सिद्धि प्रसाधितं तथ्य—क० ।
३. चाप्यसाधकम्—क० । ४. गुणाभिवादो—क० ।
५. उत्तमार्थ विशिष्टो—क०; उत्तमार्थविशेषो—ख०; ग० ।
६. भाष्यमाणानां—ख०; ग० ।
७. अनेकार्थविनिश्चयः—क०; अनेकार्थविनिर्णयात्—ग० ।

अनेक व्यक्तियों के कथन को सुनकर किसी एक असाधारण अर्थ का प्रमाण पुरस्सर वचन के आधार पर निश्चय करना 'हेतु'[1] कहलाता है ॥१४॥

सारूप्य—

[1]अपदेशस्तु परोक्षो यस्मादुत्पद्यतेऽनुकरणेन।
लक्षणसमानकरणात्[2] सारूप्यं तत्तु विज्ञेयम्[3] ॥ १५ ॥

किसी तथ्य को न जानकर यदि अनुकरण के अनुसार आधार लेकर लक्षण की आलोचना करते हुए सप्रमाण वस्तु का स्थापन किया जाए तो उसे 'सारूप्य'[2] समझना चाहिए ॥ १५ ॥

मिथ्याध्यवसाय—

[4]अभूतपूर्वैर्यत्रार्थैस्तत्तुल्यार्थस्य निर्णयः।
स मिथ्याध्यवसायस्तु प्रोच्यते काव्यलक्षणम्[5] ॥ १६ ॥

जहाँ किन्हीं अतथ्यभूत या अनृत अर्थों के द्वारा उसी के समान असत् वस्तु का वक्तृत्वपूर्ण पदावली में निर्धारण या विनिश्चय किया जाता हो तो उसे 'मिथ्याध्यवसाय'[3] नामक काव्य लक्षण समझना चाहिए ॥ १६ ॥

सिद्धि—

बहूनाञ्च प्रधानानां [6]मध्ये यन्नाम कीर्त्यते।
[7]एकार्थसाधनकृतं सा सिद्धिरिति कीर्तिता ॥ १७ ॥

अनेक प्रसिद्ध या प्रमुख व्यक्ति या पदार्थों के बीच यदि एक अप्रसिद्ध नाम का अभिधान उसके असाधारणत्व के निदर्शनार्थ निविष्ट किया जाता है तो उसे 'सिद्धि'[4] समझना चाहिए ॥ १७ ॥

---

१. हेतु का सन्निवेश दोनों पाठों में है परन्तु लक्षण दोनों भिन्न हैं।
२. सारूप्य के स्थान पर अन्य पाठ में दिष्ट या दृष्ट को रखा गया है।
३. मिथ्याध्यवसाय के स्थान पर अन्य पाठ में 'विपर्यय' मिलता है।
४. सिद्धि' का लक्षण दोनों पाठों में मिलता है परन्तु लक्षणों में थोड़ा विभेद प्राप्त होता है।

---

१. अपदेशेन परोक्षो योऽर्थो ह्युत्पद्यते—क०।
२. योगात्—क०। ३. निर्देश्यम्—क०।
४. अभूतपूर्वे यत्रार्थे तुल्यस्यार्थस्य निर्णयः—ख०; ग०।
५. लक्षणे—ख०।
६. नाम यत्राभिकीर्त्यते—क०।
७. अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थं—क०।

पदोच्चय—

गुणैर्बहुभिरेकार्थैः पदैर्यः सम्प्रशस्यते ।
पदोच्चयन्तु तं विद्यान्नानार्थग्रथितार्थकम्[1] ॥ १८ ॥

एक ही पदार्थ को निदर्शित करने वाले अनेक शब्द या वचनों के द्वारा जब किसी वस्तु की प्रशंसा की जाए तो अनेक अर्थों या वचनों द्वारा इष्ट वस्तु को स्वरूप प्रदान करने वाले ऐसे लक्षण को 'पदोच्चय'[1] समझना चाहिए ॥ १८ ॥

आक्रन्द—

आत्मभावमुपन्यस्य[2] परसादृश्ययुक्तिभिः ।
तीव्रार्थभाषणं यत् स्यादाक्रन्दः स तु कीर्तितः ॥ १९ ॥

अन्य पुरुष के सम्मुख जब सादृश्य या समानता को दर्शाने वाली युक्तियों से अपने अभीष्ट अप्रत्यक्ष अभिप्राय को प्रमुखतः स्पष्ट कथन (के) द्वारा स्वभावाविष्करण करते हुए रखा जाए तो वह 'आक्रन्द'[2] कहलाता है ॥१९॥

मनोरथ—

हृदयस्थस्य भावस्य [3]सुश्लिष्टार्थप्रदर्शकम् ।
[4]अन्यापदेशकथनैर्मनोरथ इति स्मृतः ॥ २० ॥

जब किसी गूढ़ मनोगत भाव को अन्य वस्तु के कथन के व्याज के द्वारा बतलाया जाए तो ऐसी सुनियोजित वाक्यावली को 'मनोरथ'[3] समझना चाहिए ॥ २० ॥

आख्यान—

[5]पृष्टैरपृष्टैरथवा निर्णयः क्रियते तु यः ।
आख्यानमिति तज्ज्ञेयं लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥ २१ ॥

---

१. 'पदोच्चय' का नाम तथा लक्षण दोनों पाठों में मिलता है ।

२. 'आक्रन्द' के स्थान पर अन्य पाठ में 'तुल्यतर्क' रखा गया है ।

३. 'मनोरथ' का लक्षण दोनों पाठों में गृहीत है ।

---

१. ग्रथनात्मकम्—क; मथनात्मकम्—ख०; कथनात्मकम्—ग० ।

२. भावेष्वपत्यस्य—ख०; ग० ।

३. सुस्पष्टार्थप्रदर्शकम्—ख०; ग० ।

४. कथनं—ख०; ग० ।

५. अपृष्टैरथवा पृष्टै—ख०; ग० ।

जब प्रश्नपूर्वक या बिना किसी प्रश्न या पूछताछ के ही किसी बात का निश्चय किया जाए तो उसे 'आख्यान'[1] समझना चाहिए ॥ २१ ॥

याञ्चा—

आदौ [1]यत् क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम् ।
यत्र[2] प्रियं पुनर्वाक्यं सा याञ्चा परिकीर्तिता ॥ २२ ॥

जिस वचन को हितकर समझ कर आरम्भ में कहने पर क्रोध की तथा अन्त में हर्ष की उत्पत्ति हो तथा जो प्रियजन को (उनकी ही भलाई के लिये) कहा जाता हो तो ऐसा कथन 'याञ्चा'[2] कहलाता है ॥ २२ ॥

प्रतिषेध—

कार्येषु विपरीतेषु यदि [3]किञ्चित्प्रवर्तते ।
निवार्यते च कार्यज्ञैः प्रतिषेधः प्रकीर्तितः ॥ २३ ॥

यदि कोई विपरीत कार्य में प्रवृत्त हो या किसी की निषिद्ध कार्य में प्रवृत्ति को देखकर उसे कार्यज्ञ या अनुभवी पुरुष उस कार्य से निवृत्त होने या हटने का उपदेश देता हो तो ऐसा कथन 'प्रतिषेध'[3] कहलाता है ॥२३॥

पृच्छा—

यत्राकारोद्भवैर्वाक्यैरात्मानमथवा परम् ।
[4]पृच्छन्निवाभिधत्तेऽर्थं सा पृच्छेत्यभिसंज्ञिता ॥ २४ ॥

---

१. 'आख्यान' के स्थान पर अन्य पाठ में 'प्रसिद्धि' प्राप्त होता है ।

२. 'याञ्चा' के स्थान पर अन्य पाठ में 'दाक्षिण्य' प्राप्त होता है । याञ्चा का अन्य लक्षण भी प्राप्त होता है । जैसे :—

लाभोपपत्तिमाख्याय स्वयं दूतमुखेन वा ।
प्रार्थ्यते यत्र कन्याया सा याञ्चेत्यभिधीयते ॥

अर्थात् स्वयं या दूत के द्वारा लाभ की उपलब्धि या संभावना को दर्शाते हुए जब किसी कन्या की प्रार्थना की जाए तो उसे 'याञ्चा' कहते हैं । अन्य विद्वानों का मत है कि केवल कन्या मात्र की याचना करने से यह याचना के एक पार्श्व की ही सूचक होगी । कुछ अन्य इसे प्रियवचन से मेल खाने के कारण 'प्रियोक्ति' नामक लक्षण के स्थान पर मानते हैं ।

३. 'प्रतिषेध' के स्थान पर अन्य पाठ में 'लेश' रखा गया है ।

---

१. च क्रोधजं नित्यं—क० । २. यत्तु—ख०; ग० ।
३. कश्चित्—ख०; ग० । ४. पृच्छत्यभिनयेनार्थं—ख०; ग० ।

जब किन्हीं गूढ़ अभिप्रायों को संकेतित करने वाले वाक्यों के द्वारा अन्य व्यक्ति या स्वयं को ही पूछते हुए जब किसी तथ्य या अर्थ का कथन किया जाए तो उसे 'पृच्छा'[1] समझना चाहिए॥ २४ ॥

दृष्टान्त—

विद्वान्[1] पूर्वोपलब्धौ यत् समत्वमुपपादयेत्।
निदर्शनकृतस्तज्ज्ञैः स दृष्टान्त इति स्मृतः॥ २५॥

जब कोई विद्वान् व्यक्ति किसी पदार्थ की समता को अपनी पूर्व उपलब्ध वस्तु के साथ तुलना करते हुए स्थापित करे या बतलावे तो उसे 'दृष्टान्त'[2] नामक लक्षण समझना चाहिए॥ २५ ॥

निर्भासन—

अनेकयुक्तिमद्वाक्यमनेकार्थप्रसाधकम्[2]।
[3]अनेकवाक्यसंयुक्तं [4]तन्निर्भासनमुच्यते॥ २६॥

जो कथन अनेक युक्तियों से युक्त, अनेक वाक्यों से भरा हुआ एवं अनेक उद्देश्य या प्रयोजन का साधक होता है तो उसे 'निर्भासन'[3] समझना चाहिए॥ २६ ॥

संशय—

अपरिज्ञाततत्त्वार्थं यत्र वाक्यं समाप्यते।
[5]सोऽनेकत्वाद्विचाराणां संशयः परिकीर्तितः॥ २७॥

जब वाक्य की समाप्ति किसी तथ्य या तात्त्विक अर्थ को जाने बिना ही

---

१. 'पृच्छा' का दोनों पाठों में समान रूप से सन्निवेश है।

२. 'दृष्टान्त' का दोनों पाठों में निवेश है। लक्षण भिन्न हैं।

३. निर्भास या निर्भासन के स्थान पर अन्य पाठ में 'माला' मिलता है।

---

१. विद्वन् पूर्वो—क०; सिद्धं पूर्वोपलब्धौ यः—ख०; ग०।

२. मनेकप्रकृतिस्थितम्—क०।

३. वचनैर्युक्तं—क०।

४. मासनं नाम तद्भवेत्—ख०, ग०।

५. अनेकत्वाद्वि—ख०; ग०। क (भ०) पुस्तके तु संशयस्य लक्षणं भिद्यते—तद्यथा—"परप्रशंसावचनं प्रयुक्तं योऽभ्यसूयते।
पूर्वोत्तरार्थव्याघातः संशयः स तु कीर्तितः॥" इति।

हो जाए तो अनेक विचारों के द्वारा प्रयुक्त ऐसे कथन को 'संशय'[1] समझना चाहिए ॥ २७ ॥

आशीः—

यथा[1] शास्त्रार्थसम्पन्नां[2] मनोरथसमुद्भवाम्[3] ।
अप्रार्थनीयामन्यां[4] वा विदुस्तामाशिषं बुधाः ॥ २८ ॥

जब किसी नीति या शास्त्र के अनुसार मनोनुकूल भावना से उद्भूत बिना किसी प्रार्थना के करने पर जो आशीर्वाद दिया जाता हो तो उसे विद्वज्जन 'आशीः'[2] नामक लक्षण कहते हैं ॥ २८ ॥

प्रियवचन—

आदौ यत् क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम् ।
तत् प्रियं वचनं ज्ञेयमाशीर्वादसमन्वितम् ॥ २९ ॥

जो आरम्भ में क्रोध को और अन्त में हर्ष को उत्पन्न करते हुए किसी आशीर्वाद की सूचना देता हो तो ऐसा कथन 'प्रियवचन'[3] (या प्रियोक्ति) कहलाता है ॥ २९ ॥

कपटसंघात—

[5]छलयुक्त्या त्वन्येषामभिसन्धानाभिभावकं कपटम् ।
द्वित्रिप्रयोगयुक्तौ विज्ञेयः कपटसङ्घातः ॥ ३० ॥

---

१. 'संशय' का दोनों पाठों में निवेश है। लक्षण भी समान है। इसके अतिरिक्त 'भ' पाठ के अनुसार—

परप्रशंसावचनं प्रयुक्तं योऽभ्यसूयते ।
पूर्वोत्तरार्थव्याघातः संशयः स तु कीर्तितः ॥

(अन्य पुरुष की प्रशंसा में कहे गये कथन को सुनकर जिसके मन में असूया उत्पन्न हो तथा पूर्व कथन से उत्तर कथन का इसी कारण जब विरोध होने लगे तो इसे 'संशय' समझना चाहिए।)

२. 'आशीः' के स्थान पर अन्य पाठ में 'निदर्शन' मिलता है।

३. प्रियवचन या प्रियोक्ति के स्थान पर अन्य पाठ में 'भ्रंश' प्राप्त होता है।

---

१. यदा—क०; यत्र—ग०। २. सम्पन्नं—क०।

३. समुद्भवम्—क०। ४. नीयमन्यं वा—क०।

५. छलयुक्त्या यदान्येषां मत्वा नायकभावनम् ।
द्वित्रिप्रयोगयुक्तेन ज्ञेयं कपटसंज्ञितम् ॥—क०।

जब एक साथ किसी को छलने या भ्रम उत्पन्न करने के लिये दो या तीन बार कपट प्रयोग का सहारा लेते हुए कथन किया जाए तो ऐसी उक्ति को 'कपटसंघात'[1] समझना चाहिए ॥ ३० ॥

क्षमा—

दुर्जनोदाहृतै रूक्षैः सभां[1] मध्येऽभिताडितः[2] ।
अक्रोधः क्रोधजननैर्वाक्यैर्यः सा क्षमा भवेत् ॥ ३१ ॥

जब किन्हीं दुष्ट पुरुषों के द्वारा सज्जनों के समक्ष सभा में अभिहित उत्तेजक एवं क्रोध के उत्पन्न करने वाले वचनों से अभिभूत होने पर भी जो व्यक्ति शान्त एवं क्रोधहीन दशा में स्थित हो तो ऐसे गुण को 'क्षमा'[2] समझना चाहिए ॥ ३१ ॥

प्राप्ति—

दृष्ट्वैवावयवं[3] किञ्चिद्भावो [4]यत्रानुमीयते ।
प्राप्तिं [5]तामभिजानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥ ३२ ॥

जब (किन्हीं) चेष्टाओं को देखकर ही किसी के मनोगत भाव को जान लिया जाए उसे उत्तम नाटकों में स्थित 'प्राप्ति'[3] नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

---

१. 'कपट' या 'कपटसंघात' के स्थान पर अन्य पाठ में 'गर्हण' मिलता है । भोज ने कपट का लक्षण इस प्रकार दिया है—

अदिव्यं दिव्यमपि वा कृत्वा रूपविपर्ययम् ।
अविद्वान् वञ्च्यते येन कपटं तदुदाहृतम् ॥

अर्थात् जब किसी दिव्य या अदिव्य वेश को धारण कर अपने रूप में परिवर्तन के द्वारा किसी साधारण मनुष्य (अविद्वान्) को धोखा दिया जाता हो तो यह कार्य 'कपट' कहलाता है ।

२. क्षमा के स्थान पर अन्य पाठ में 'विशेषण' मिलता है ।

३. 'प्राप्ति' का दोनों पाठों में निवेश है । लक्षण भी समान हैं ।

---

१. सतां मध्ये—क० । २. तिताडितः—ख०; ग० ।

३. दृष्टैर्वावयवं—ख०; दृष्टैर्वायवयैः—ग० ।

४. यत्रोपनीयते—क०; यत्रोपमीयते—ख०; ग० ।

५. तामपि—ग० ।

पश्चात्ताप—अकार्यं सहसा कृत्वाऽकृत्वा कार्यमथापि वा ।
सन्तापो मनसो यस्तु पश्चात्तापः [1]प्रकीर्तितः ॥ ३३ ॥

किसी अविचारित या असत् कार्य को या किसी कार्य को (पूर्ण) करने के बाद या न करने के बाद जो मानसिक ताप होता हो तो ऐसी दशा में होने वाले कथन को 'पश्चात्ताप'[1] कहते हैं ॥ ३३ ॥

अनुवृत्ति—

प्रश्रयेणार्थसंयुक्तं यत् परस्यानुवर्तनम् ।
स्नेहाद्दाक्षिण्ययोगाद्वा सानुवृत्तिस्तु संज्ञिता ॥ ३४ ॥

जब किसी व्यक्ति के कथन का सौजन्यवश, प्रेम या पक्षपात के कारण अनुसरण या समर्थन किया जाता है तो उसे 'अनुवृत्ति'[2] कहते हैं ॥ ३४ ॥

उपपत्ति—

प्राप्तानां[2] यत्र दोषाणां क्रियते शमनं पुनः ।
सा[3] ज्ञेया ह्युपपत्तिस्तु लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥ ३५ ॥

असत् या अवास्तविक दोषों के उपस्थित होने पर उनका उचित रूप से जब उपपत्तिपूर्वक निराकरण किया जाता है तो ऐसा कथन 'उपपत्ति'[3] कहलाता है, जिसका नाटकों में प्रयोग होता है ॥ ३५ ॥

युक्ति—साध्यते योऽर्थसम्बन्धो[4] महद्भिः समवायतः ।
परस्परानुकूल्येन सा युक्तिः परिकीर्तिता ॥ ३६ ॥

जिस विचार की समानता एवं परस्पर अनुकूलता के आधार पर उत्कृष्टता के साथ प्रतिपादन या सिद्धि की जाए तो ऐसा कथन 'युक्ति'[4] कहलाता है ॥ ३६ ॥

कार्य—[5]यत्रापसारयन् दोषं गुणमर्थेन योजयेत् ।
[6]गुणाभिवादं दोषाद्वा कार्यं [7]तल्लक्षणं विदुः ॥ ३७ ॥

---

१. 'पश्चात्ताप' के स्थान पर अन्य पाठ में 'विचार' मिलता है ।
२. 'अनुवृत्ति' के स्थान पर 'अनुनय' मिलता है ।
३. 'उपपत्ति' के स्थान पर अन्य पाठ में 'उपदिष्ट' मिलता है ।
४. 'युक्ति' के स्थान पर अन्य पाठ में 'अभिप्राय' मिलता है ।

---

१. स उच्यते—क० । २. प्रोक्तानां—क० । ३. ज्ञेया सा—क० ।
४. सन्तानो—क० । ५. यत्र सङ्कीर्तयन्—क० ।
६. गुणकीर्तिते हि दोषं—क०; गुणातिवादो दोषाद्वा—ख०; ग० ।
७. तदिह कीर्तितम्—ख०; तदिह संज्ञितम्—ग० ।

जब किसी पदार्थ या व्यक्ति के गुण को दोष अथवा दोष को गुण में परिणत करते हुए उपपादित किया जाता है तो ऐसा कथन 'कार्य'[1] कहलाता है ॥ ३७ ॥

अनुनीति—

[1]अपूर्वक्रोधजनितमपराधं प्रमृज्य[2] यत्।
सेवार्थं मधुरं वाक्यं [3]साऽनुनीतिः प्रकीर्तिता ॥ ३८ ॥

क्रोधवश किसी के एक अपराध को विसार कर जब प्रेमवश या सेवा भावना से प्रेरित होकर मधुर वचन का उच्चारण किया जाता है तो ऐसे कथन को 'अनुनीति'[2] कहते हैं ॥ ३८ ॥

परिदेवन—

[4]दोषैर्यदन्यनामोक्तैः प्रसिद्धार्थैः[5] प्रयोजितम्[6]।
अन्यत्रार्थेन [7]सम्बद्धं ज्ञेयं तत् परिदेवनम्[8] ॥ ३९ ॥

दूसरों के नाम पर उच्चारित दोषों की प्रसिद्ध बातों द्वारा प्रयुक्त वचनों को या गुणों का आधार लेकर जब अन्यत्र सम्बद्ध किया जाए या उसे अन्यथा प्रतिपादित किया जाए तो मिथ्यादोष के उपपादन से पूर्ण ऐसे कथन को 'परिदेवन'[3] कहते हैं ॥ ३९ ॥

इति सप्तदशाध्यायानुबन्धः समाप्तः।

---

१. 'कार्य' के स्थान पर अन्य पाठ में 'अर्थापत्ति' मिलता है।

२. 'अनुनीति' के स्थान पर अन्य पाठ में 'अनुनय' मिलता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने इसके स्थान पर 'प्रसिद्धि' को भी निर्दशित किया है।

३. 'परिदेवन' के स्थान पर 'क्षोभ' को अन्य पाठ में रखा गया है तथा 'अनुक्तिसिद्धि' को भी। भोज ने इसे परिवादन तथा सर्वेश्वर ने परिवेदन माना है। शारदातनय ने परिवाद का संक्षिप्त लक्षण करते हुए 'परिवादो मृषादोषः' अर्थात् मिथ्यादोष के उपपादन को 'परिवाद' बतलाया है।

---

१. अपूर्वक्षोभ—क०। २. प्रमार्जयेत्—ख०; ग०।
३. मनुनीतिः—ख०; ग०। ४. यद्दोषैरन्य—ख०; ग०।
५. प्रसिद्धार्थप्रयोजनम्—क०। ६. प्रयोजयेत्—ख०; ग०।
७. सम्बन्धो—ख०; ग०। ८. परिवादनम्—क०।

अष्टादशोऽध्यायः

भाषाविधानाध्यायः

प्राकृत-पाठ्य-लक्षण—

एवन्तु[1] संस्कृतं पाठ्यं मया प्रोक्तं समासतः[2] ।
प्राकृतस्य[3] तु पाठ्यस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १ ॥

इस प्रकार (पूर्व अध्याय में) मैंने संक्षेप में संस्कृत-पाठ्य[1] के विषय में बतलाया । अब मैं प्राकृत-पाठ्य का लक्षण कहता हूँ ॥ १ ॥

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ २ ॥

यही संस्कृतपाठ्य जब संस्कार के गुणों से हीन होकर परिवर्तित

---

१. पिछले दो अध्यायों में वाचिक अभिनय के निरूपण के प्रसंग में संस्कृत तथा प्राकृतपाठ्य का उल्लेख किया जा चुका है । इनमें संस्कृतपाठ्य के सन्दर्भ में विविध छन्दों का लक्षणपूर्वक निरूपण पिछले अध्याय में होने पर भी प्राकृत पाठ्य का स्वरूप शेष ही रह जाता है । अतएव इस अध्याय में प्राकृत-पाठ्य का स्वरूप निरूपण आवश्यक होने के कारण इसकी पूर्व अध्याय से संगति (स्थापित होती) है । 'पाठ्य' का अर्थ है जो विशेषतापूर्वक पढ़ा या कहा जाए या प्रयत्नपूर्वक पढ़े जाने या कहे जाने के जो योग्य हो अथवा जो किसी विशेष रूप में या विशेष विधि के द्वारा उच्चारित हो, क्योंकि आन्तरिक चित्तवृत्ति के अनुरूप जब किसी वचन का उच्चारण उपयुक्तता लिये हुए होता है तभी उसे पाठ्यसंज्ञा प्राप्त होती है जिसकी आचार्य द्वारा विधिवत् शिक्षा दी जाए और ऐसा शिक्षित होकर किया हुआ उच्चारण ही 'पाठ्य' कहलाता भी है । आचार्य अभिनवगुप्त ने पाठ्य शब्द के यही तीन प्रकार के निर्वचन प्रस्तुत किये हैं । (द्र० अभि० भा०—पठनार्हं, पठितुं शक्यम् आचार्य-यत्नेन वा पठनीयमिति पाठ्यम् ।)

---

१ पाठ्यन्तु संस्कृतं विप्राः; एतत्तु—क० ।
२. द्विजोत्तमाः—ग० । ३. प्राकृतस्यापि—क० ।

स्वरूप वाला हो जाता है तो 'प्राकृतपाठ्य' कहलाता है। विभिन्न दशाओं के कारण परिवर्तित होने वाला इसका अपना विशेष स्वरूप होता है ॥ २ ॥

प्राकृतपाठ्य के तीन प्रकार—

त्रिविधं तच्च[1] विज्ञेयं नाट्ययोगे[2] समासतः।
समानशब्दं [3]विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥ ३ ॥

नाट्य प्रदर्शन (या रचना) में होने वाला यह प्राकृतपाठ्य तीन प्रकार का होता है। यथा—(१) समानशब्दों या तत्सम से होने वाला (२) विभ्रष्ट या तद्भव शब्दों से होने वाला तथा (३) देशी शब्दों से होने वाला[1] ॥ ३ ॥

[[4]पाठ्यमेकन्तु विज्ञेयं संस्कृतं प्राकृतं तथा।]
[5]कमलामलरेणुतरङ्गलोलसलिलादिवाक्यसम्पन्नम्[6]।
प्राकृतबन्धेष्वेवं[7] [8]संस्कृतमपि[9] योगमुपयाति ॥ ४ ॥

संस्कृत के समान प्राकृत में भी कमल, अमल, रेणु, तरंग, लोल, सलिल आदि समान शब्दों से निर्मित वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् ये समान रूप से प्रयुक्त होने से तत्सम शब्द हैं जिनका दोनों भाषाओं में अपने वाक्यों में नियमित प्रयोग किया जाता है ॥ ४ ॥

ये वर्णाः [10]संयोगस्वरवर्णान्यत्वमूनताञ्चापि[11]।
[12]यान्त्यपदादौ प्रायो विभ्रष्टाँस्तान् विदुर्विप्राः ॥ ५ ॥

जो शब्द स्वर या वर्ण के परिवर्तन के कारण पदों या वाक्यों के साथ

---

१. समानशब्द, विभ्रष्ट तथा देशीगत को परवर्ती व्याकरण तथा नाट्य के आचार्यों ने तत्सम, तद्भव और देशी शब्द से अभिहित किया।

---

१. तद्धि—क०। २. नाट्ययोगं—क०।
३. शब्दैर्विनष्टं—क०, शब्दैर्विभ्रष्टं—ख०।
४. इदं श्लोकार्धं ख० ग० पु० नास्ति।
५. कमलदलरेणुकेसरतरङ्गसलिलादि—क०।
६. लोलजालादि, लोलसलीलादि—क०। ७. श्वेतत्—क०।
८. संयुक्तमपि, संस्कृतमिव—क०।
९. मिव प्रयोगमुपयाति—ग०।
१०. संयुक्ताः—क०; ख०; संयोगात्—ग०।
११. न्यूनतां वापि—ग०।
१२. गच्छन्ति पदन्यस्तास्ते विभ्रष्टा इति ज्ञेयाः—ख०; ग०।

प्रयोगार्थ सम्बद्ध किये जाने पर अपने समवेत स्वरूप को परिवर्तित कर लेते हों तो उन्हें विभ्रष्ट या अपभ्रष्ट शब्द समझना चाहिए ॥ ५ ॥

[ये[1] वर्णा वर्णगता व्यञ्जनयुक्ताश्च ये स्वराः नियताः ।
तानपरस्परवृत्ते प्राकृतयुक्त्या प्रवक्ष्यामि ॥]

(तथा वर्ण हों अथवा वर्णों में आने वाले व्यञ्जन से युक्त जो नियत स्वर हों उनमें परस्पर होने वाली या विद्यमान रहने वाली स्वर या व्यंजन की स्थिति को भी मैं प्राकृत भाषा के नियमों के अनुरूप निरूपण करता हूँ ।

स्वर तथा असंयुक्त व्यञ्जन—

यथा—[2]एओआरपराणिअ अंआरपरं[3] [4]अ पाअए णत्थि ।
वसआरमज्झिमाइं[5] [6]अ कचवग्गतवग्गणिहणाइं ॥ ६ ॥

[एओकारपराणि च अङ्कारपरञ्च प्राकृते नास्ति ।
वसकारमध्ये च कचवर्गतवर्गनिधनानि ॥]

---

१. पद्यमेतत्—ख०, ग० पुस्तकयोर्नास्ति ।

२. 'एओआर' इत्यादिलक्षणश्लोकाः अतीवास्फुटा ख० ग० पुस्तकयोः । क० पुस्तकटिप्पण्यां लक्षणश्लोकानां स्थाने गद्यतामापन्नः पाठभेदोऽपि । स च यथा—क ख घ त थ ध भ सा हत्वं यान्ति । यथा—फलिह, मुह, मेह, वसहि, रह, दहि, सोहा दिअहेसु । शषौ सकारौ भवतः । यथा—ससंक विसमेसु । टतदा डत्वं यान्ति । यथा—विड पडि अदंडासु । ट ठ ड द य राः लत्वं यान्ति । यथा—विअ लालिअ तुल पवितुला विहलयदीसु । थकारो ढत्वं प्राप्नोति । यथा—वुढ्ढो । नकारो भवति णकारः । यथा—णयणं । पकारो फत्वं याति बत्वञ्च । यथा—फरुसं कवद्दं च । धकारः ढत्वं याति । यथा—वढि । लकारो रत्वं याति । यथा—किर । टठौ डत्वं प्राप्नुतः । यथा—सढः फढमं फलिअं । तजौ यत्वं प्राप्नुतः । यथा—कयं धयं । श च ज तदपयवाः स्वरशेषा भवन्ति । यथा—पिउण, पउप, राइ, वई, णई, कइ, दइआ जयेसु । योगं याति यथा—अच्छरियं उच्छाहो अच्छरसा पच्छं । तुज्झं सज्झं विज्झो । श्लक्ष्णं—सह्णं । ग्रीष्मो—गिह्मो । दृष्टो—दिट्ठो । हस्तो—हत्थो । यक्षो—जक्खो । ब्रह्मा—बह्मा । बृहस्पतिः—वुहप्पइ । यज्ञो—जण्णोत्ति ।

३. अआर —क० । ४. पाइए—क० ।

५. गज्झिआइ—क० । ६. कच्चवग्ग —क० ।

जो [1]स्वर 'ए' तथा 'ओ' के आगे आने वाले अर्थात् 'ऐ' और 'औ हो, अनुस्वार के आगे आनेवाले अर्थात् विसर्ग हो प्राकृत भाषा में उनका कोई प्रयोग नहीं होता। इसी प्रकार प्राकृत भाषा में पाद (अर्थात् चार) स्वरों (ऋ, ॠ, लृ, लॄ) का तथा 'व' और 'स' के बीच रहने वाले वर्णों (अर्थात् 'श' 'व' 'ष') का तथा क, च और त वर्ग के अन्तिम वर्ण (अर्थात् ङ०, ञ० और न) का भी व्यवहार नहीं होता है। अर्थात् इस भाषा में ये बारह वर्ण शब्दों (पदों) में नहीं रहते या लुप्त हो जाते हैं ॥६॥

[1]वच्चन्ति कगतदयवा लोवं अत्थं च[2] से वहन्ति सरा।
[3]खघथधमा उण [4]हत्तं उवेंति अत्थं[5] अमुञ्चन्ता ॥ ७ ॥
[प्राप्नुवन्ति कगतदयवा लोपं अर्धञ्च तेषां वहन्ति स्वराः।
खघथधमाः पुनः ह्त्वमुपेयन्ति अर्थञ्चामुञ्चमानाः ॥]

क, ख, ग, त, द, य और व का लोप हो जाता है। (शेष स्वरों वाले उन्हीं शब्दों से वही अर्थ प्रकट होता है। और इनका आधा भाग स्वरों में मिल जाता है। ख, घ, भ, घ, और भ को 'ह' आदेश हो जाता है। तथा इस परिवर्तन या आदेश के कारण अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता[2] ॥ ७ ॥

---

१. स्वर तथा असंयुक्त व्यंजन विषयक कारिकाएं नाट्यशास्त्र में प्राकृत में तथा विभ्रष्ट-पाठों में प्राप्य है। यहाँ हमने बड़ौदा संस्करण के अनुसार संशोधन कर पाठ लिया गया है। (इन्हें कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त भी मानते हैं।) हमने इनकी संस्कृत-छाया को लगाकर व्याख्या की है।

२. जैसे स्पष्टतः—दूसरे शब्दों की अवस्था में कठोर ध्वनि या महाप्राणवर्ण में कोई परिवर्तन नहीं होता है। जैसे—परिघ, अथ, वध, परिह, अह, वह।

अल्पप्राण व्यंजन यहाँ अन्तःवर्ती अ से युक्त समझे जाना चाहिए इनमें 'अ' केवल उच्चारणार्थ ही रखा गया है।

सारो (स्वर) से यहाँ 'अर्थ' अभीष्ट है व्यंजन – ध्वनि नहीं।

---

१. वच्छति कगत्रजगदावा—वच्चति कटतदवयवाः—क०।

२. व सिस्वहृत्ति सरा—ख०।

३. खघधभउण—, खघघुधः उणइ—क०, खद्यथा भद्यथा उण—ख०।

४. हत्तं उवेंति—हत्त उषति—हत्तं वेंति—क०, हतं तुवेति—ख०।

५. अंगवअं चंता, अत्थं समुंचंता—अग्ग अमच्चता—क; अत्थं अमुंघना-ख०।

[1]उप्परहुत्तरआरो [2]हेट्ठाहुत्ते अ पाअए णत्थि ।
[3]मोत्तूण भद्दवोद्रहपद्रह्लदचन्दजाईसु ॥ ८ ॥
[उपरिस्थ-रकारः अधस्थः च प्राकृते नास्ति ।
मुक्त्वा भद्रवोद्रहह्रदचन्द्रधात्रीषु ॥]

प्राकृत में 'र' (रेफ या अर्द्धरकार) का ऐसा कोई प्रयोग नहीं होता जो किसी वर्ण के ऊपर या नीचे स्थित रहता हो । परन्तु केवल यह नियम भद्र, वोद्रह, ह्रद, चन्द्र और धात्री शब्द को छोड़कर समझना चाहिए ॥ ८ ॥

[4]खघथधभाणहआरो [5]मुह-मेहकहावहू-पहूएसु ।
[6]कगतदयवाणं णिच्चं वीयम्मि ठिओ सरो होइ ॥ ९ ॥
[खघथधभानां हकारः मुखमेघकथावधू प्रभूतेषु ।
कगतदयवानां नित्यं द्वितीये स्थितः स्वरो भवति ॥]

ख, घ, थ, ध, और भ को हकारादेश हो जाता है जैसे—मुख—मुह, मेघ—मेह, कथा—कहा, वधू = वहु, प्रभूत = पहुअ । तथा क, ग, द, और व—जो कि इन वर्णों के पूर्वाक्षर हैं इनके प्रतिनिधि रहते हैं सदा द्वितीय स्वर के रूप में ॥ ९ ॥

---

१. उंपर अन्तरआरो, उप्पाहुत रयारो, उरउर हारो, उच्चरउरहारो०, उद्यरहुत्तरसाहो, उच्चरउरआरो, डप्परहुतुरअरो, इंयर उंत्तरहारो—क०; उघंरफुतरसासाहे—ख० ।

२. रेभत्तत्तो अ वाअए णंधि, हेटाहुत्तो अ पाअए णत्थि, हेठ्ठाहुत्तो अपाणत्थि, हेणणहत्थो अ वाअए णत्थि—हेहाफुत्तप्लययायए णत्थि—हृद्धाहुस्तआ पइए णत्थि—क० ।

३. मोत्तूण भुदावो दहदददहचन्द्रजाईसु, मोत्तूण भद्दवोद्रहपद्रद्रह, मोहूण भाभ्रवोभ्रहरुभट्टगचन्द्र, मांभूषणभूभूओभूवरुभूद्रुहचन्द्र—(?), मोंतूण भाद्रवोद्रवभद्रचन्द्र—मोत्तूण वंइदोद्रहपउजइसु—क० ।

४. खयषधभाणहयाने—ख० ।

५. मुहकहापहुमुरिच्छेसु—क० ।

६. कगतिदयाण अणिच्चलोपजमपि ओसरो होइ, कगतदयपाण णिच्चं विइअ मिठिअ सरो होई, कगनदजवाण णिचलोपम्मि उं ओसरो होई—कगतदजवारमणिच्चं वीयंति डिउसरो होइ—क०; कगतदजवाण विच्चा वोयं मिठिउ सरो होइच्छे—ख० ।

[1]छ इति षकारो नित्यं बोद्धव्यः [2]षट्पदादियोगेषु ।
[3]किलशब्दान्त्यो रेफो भवति तथा [4]खुत्ति खलु शब्दः ॥१०॥

[1]'षट्पद' आदि (शब्द या गण ?) में रहने वाले 'ष' को प्राकृत भाषा में नित्य 'छ' हो जाता है । जैसे—छतपद । किल शब्द का अन्तिम 'ल' का 'र' हो जाता है और 'कु' शब्द को 'खु' ख (आदेश) हो जाता है ॥१०॥

[5]ड इति च भवति टकारो [6]भटकटककुटीतटाद्येषु ।
सत्वं च भवति शषयोः [7]सर्वत्र यथा विसं सङ्का ॥ ११ ॥

'ट' का 'ड' हो जाता है भट, कुटी, तट इत्यादि शब्दों में (जैसे—भट=भड, कुटी=कुडी, तट=तड) । तथा सर्वत्र 'श' ष के स्थान पर 'स' कार आदेश हो जाता है । जैसे विष=विस, शंका=संका इत्यादि ॥ ११ ॥

अस्पष्टश्च दकारो भवत्यनादौ तकार [8]इतराद्यः ।
[9]वडवातडागतुल्यो [10]भवति डकारोऽपि च लकारः ॥ १२ ॥

---

१. षट्पदादिगण के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त कुछ भी संकेत नहीं करते । न ही अन्यत्र इस गम का विवरण या संकेत प्राप्त है ।

---

१. छे इति षकारो, च इति चकारो, इत्ति यआरो; छ इति षआरो—हृषि उषिति षकारो—क० ।

२. षट्पादे तु, अपदादियोगे तु, षट्पदानि योग्ये तु—क० ।

३. कृति शब्दो रेफान्तेन भवन्ति तथा पुत्रि खलुशब्दः; किलं शब्दो कोरे भवति तदा खुत्ति खलु शब्दः; खिल शब्दाद्यो रेफो—क०; किल शब्दो रेफान्तो—ख० ।

४. खुत्ति खिलशब्दः, भवति तथा त्ति खलु शब्दः, तथा खुनिखलशब्दः–क० ।

५. त इति च भवत्ति टकाते, ड इति च टकारो—क० ।

६. भटकटककुटीकुटावटाद्येषु, भटकटकुटीकुटावडाद्येषु, कटकटक······, नडकटुकुटी तडाष्वेषु, नटकटुटीतटाद्येषु–क०, भटकुटकुटितटाद्येषु—ख० ।

७. विससंका, यथा हि विससंका, तथापि ससकादेशः, तथापि ससकादेः सा—क०; सर्वत्र तथाहि विससंका—ख० ।

८. इतराद्याः—क०; इतराद्ये—ख० ।

९. वडवाडडाग, वडवडवा—क० ।

१०. भवन्ति डकारोऽपि लकारं—क० ।

'इतर' आदि शब्दों में स्थित 'त' को—जो कि शब्द के प्रारंभ में विद्यमान नहीं—अस्पष्ट 'द' के रूप में उच्चारित किया जाता है तथा बडवा और तडाग शब्द में विद्यमान 'ड' का ल हो जाता है। जैसे—बडवा = बलवा। तडाग = तलाग[1] ॥ १२ ॥

[1]वर्द्धनगते च भावे [2]धकारवर्णोऽपि ढत्वमुपयाति।
सर्वत्र च प्रयोगे भवति [3]नकारोऽपि च णत्वमुपयाति ॥१३॥

'ध' वर्ण को (जो शठ, पाठ, पीठिका आदि शब्दों में हो–) 'ढ' हो जाता है। सभी प्रयोगों में 'न' कार के स्थान पर 'ण' कार का उच्चारण किया है। जैसेः—आपान = आवाण।

आपाणं आवाणं भवति पकारेण [4]वत्वयुक्तेन।
[5]अयथातथादिकेषु तु [6]थकारवर्णो व्रजति धत्वम् ॥ १४ ॥

'प' कार को 'व' कार हो जाता है। जैसे आपान = आवाण। और यथा तथा शब्द के अतिरिक्त शब्दों में स्थित 'थ' कार को 'ध' कार हो जाता है।

[7]परुसं फरुसं विद्यात् पकारवर्णोऽपि [8]फत्वमुपयाति।
यस्तु मृतः [9]सोऽपि मओ यश्च मृगः सोऽपि तथैव ॥१५॥

---

१. जो बिना किसी विभेद के 'ड' उच्चारण किया जाता है वह 'द' है, जो लकार की छाया लिए हुए है। इसे अस्पष्ट होने से लघुप्रयत्न के द्वारा उच्चार्य समझना चाहिए जैसे :—उदर = उलरम्। (अभि० भारती०)

२. वर्द्धन में 'द्ध' को ढ़ हो जाता है। यथा—वर्द्धनम् = वड्ढणम्।

---

१. वधुमधुशब्दे च तथा, शठपाठपीठि आदि सु, शठपाठपीठिकादिषु—क०, पधमधुशब्दे च तथा—ख०।

२. धकार वर्णो हकारतां याति; टकारवर्णोऽपि ठत्वमुपयाति, ठकारवर्णोऽपि ढत्व—क०।

३. मकारोऽपि च णकारः—क०; ख०।

४. आवाणं आधाणं भवति वकारेण च धयुक्तेन, पकारेण नत्वयुक्तेन—क०।

५. अयथातथादिषु केषु—क०।

६. भकार वर्णो, धकार वर्णो व्रजति पत्वम्, थकारवर्णो व्रजति हत्वम्—क०।

७. परुसं हरुसं—क०। ८. पकारवर्णोऽपि हत्वमुपयाति—क०।

९. सोऽपि मटो, सोऽपि मडोडि यस्तु मृतः सोऽपि मओ—क०। यस्तु मृगः सोऽपि मओ यस्तु मृतः सोऽपि तथैव—ख०।

किसी स्थान पर स्थित 'प' को 'फ' हो जाता है। जैसे—परूसं=फरूसं तथा 'मृग' और मृत शब्द का प्राकृत में एक ही 'मओ' रूप बनता है[1] ॥१५॥

[1]ओकारत्वं गच्छेदौकारश्चौषधादिषु नियुक्तः।
[2]प्रचलाचिराचलादिषु [3]भवति चकारोऽपि तु यकारः ॥१६॥

'ओषध' आदि शब्दों में स्थित 'औ' को 'ओ' कार हो जाता है। जैसे—औषध = ओसढ़। तथा प्रचय, अचिर और अचल शब्दों में स्थित 'च'[2] को 'य' हो जाता है। यथा प्रचय = पयय, अचिर=अयिर, अचल=अयल ॥१६॥

[4]अपरस्परनिष्पन्ना ह्येवं प्राकृतसमाश्रया वर्णाः।
संयुक्तानां तु पुनर्वक्ष्ये परिवृत्तिसंयोगम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार मैंने असंयुक्त वर्णों वाले प्राकृत शब्दों के वर्ण (परिवर्तन) विषयक नियम बतलाए। अब मैं संयुक्त वर्णों के (विषय में) होने वाले परिवर्तन, आदेश आदि नियमों को बतलाता हूँ ॥ १७ ॥

संयुक्त-व्यञ्जन—

[5]श्चप्सत्सथ्याः छ इति तथा भ्यह्यध्या [6]भवन्ति तु झकाराः।
[7]ष्टः ट्टः स्तः त्थः ष्मो म्ह क्ष्णो ण्हः ष्णो ण्हः क्षः खकाररूपोऽपि ॥१८॥

---

१ मृग तथा मृत शब्द में स्थित 'मा' में एक संघर्षीकृत या ऊष्म 'द' होगा जो 'याश्रुति' के अनुसार प्राचीन काल में ही ध्वनिपरिवर्तन के कारण लुप्त हो जाने से संप्रति प्रतीत नहीं होता है।

२. यहाँ 'च' के लिए संभवतः याश्रुति को मानना उसके सहसा सुस्पष्ट लोप को प्रकट नहीं करता प्रतीत होता है।

---

१. ओकारत्वं गच्छन्ताकार—क०; ओकारत्वं गच्छत्योवार—ख०; ग०।

२. प्रचलायिताचल—प्रचलापिताचला—क०; प्रचया चिरा—ख०; ग०।

३. चकारवर्णोऽपि च यकारः—ख०; ग०।

४. अपरस्वरनिष्पन्ना—ख०; ग०।

५. झप्सश्चः छ इति तथा राज्ञै तु त्तकार योग उपयातः, तच्छो अच्छरपच्छ रूपे चसं संज्ञाह्य स च सज्ञी—(?) क०; श्चत्सप्सां च्छ इति ध्यम्हयोर्भवति तुज्झकारः—ख०; ग०।

६. व्रजति वै झत्वम्—क०।

७ ष्ठो ट्टो स्तोत्रः शेषो लक्ष्मक्ष्मो ह्लक्ष्णः खकाररूपोऽपि, स्तत्थोष्ठट्ठः क्ष्ण ख इति चैव स्यात्, श्चत्सथ्याः छ इत्यह्वव्याम्वा भवन्ति तु झकाराः, यूष्ट स्तः त्थः भ्याह्नः क्लाष्टा ह्लक्षः ख इति चैव स्यात् (?)—क०; ष्ठः ट्ठः स्तः त्थ ष्णस्त्रक्ष्णां ह्वः क्षः खकाररूपो हि—ख०; ग०।

श्च, प्स, त्थ और थ्य को 'छ' कार तथा ध्य, ह्य और भ्य को 'झ' कार हो जाता है। इसी प्रकार ष्ट को 'ट्ठ' स्त को 'त्थ' ष्म को 'म्ह' ष्ण, क्ष्ण का 'ण्ह' और 'क्ष' का 'क्ख' आदेश हो जाता है ॥ १८ ॥

[1]आश्चर्यं अच्छरियं निश्चयमिच्छन्ति [2]णिच्छयं च यथा।
[3]वत्सं वच्छं च यथा अप्सरसं तद्वदच्छरअं।
[4]उत्साहो उच्छाहो पथ्यं पच्छं च विज्ञेयम् ॥ १९ ॥

इन नियमों से इस प्रकार शब्द हो जाते हैं:—ये क्रमशः 'आश्चर्य का अच्छरियं (श्च के स्थान पर 'च्छ'। निश्चय का णिच्छय (वही नियम)। उत्साह का अच्छाह (त्स के स्थान पर 'च्छ') तथा पथ्य का पच्छ (थ्य के स्थान पर 'छ') हो जाता है ॥ १९ ॥

तुभ्यं तुज्झं मह्यं मज्झं विन्ध्यश्च भवति [5]विंज्झोत्ति।
[6]दष्टो दट्ठोत्ति तहा हस्तोऽपि च भवति हत्थोत्ति ॥ २० ॥

तथा तुभ्यं का तुज्झं (भ्य के स्थान पर 'झ)। मह्यम् का मज्झम् (ह्य के स्थान पर 'झ')। दष्ट का दढ़ (ष्ट के स्थान पर 'ढ़')। और हस्त का हत्थ ('स्थ' के स्थान पर त्थ) ॥ २० ॥

ग्रीष्मो [7]गिम्होत्ति तथा श्लक्ष्णं सह्णं [8]सदा तु विज्ञेयम्।
[9]उष्णं उण्हं यक्षो जक्खो पल्लंकु भवति पर्यङ्को ॥२१॥

इसी प्रकार ग्रीष्म का गिम्ह (ष्म के स्थान पर 'म्ह')। श्लक्ष्ण का सण्ह (क्ष्ण के स्थान पर 'ण्ह)। उष्ण का उण्ह (ष्ण का ण्ह अथवा

---

१. आश्चर्यमात्सर्य—क०, आश्चर्यं मात्सर्यं चेत्यनयोर्यस्य रियं च तथा—ख०; ग०।
२. णिच्छयंति तथा—क०।
३. श्लोकार्धमेतत् ख० ग० पुस्तकयो र्नास्ति।
४. उत्साहश्चोत्छाहो—ख०; ग०। ५. विंज्झ इति—ख०।
६. दृष्टो दड्ढ इति स्यात् हस्तोऽपि च हत्थ इत्येवम्—ख०; ग०।
७ गिम्ह इति, गिह्मन्ति—क०; गिम्हो च तथा—ख०; ग०।
८. सण्हं तु सदा—क०; ण्हं तु सदा—ख०; ग०।
९, उष्णञ्च भवेदुण्हं यक्षो जक्खोत्ति योण्ह श्च भवति पल्लङ्कः; उष्णञ्च भवेदुष्णं यक्षो जक्खोत्ति पर्यन्तम्—क०; कृष्णं कण्हं च भवेद्यक्षो जक्खो पल्लंक पर्यङ्के—ख०।

कृष्ण का कण्ह—वही नियम), यक्ष का जक्ख (क्ष के स्थान पर 'ख') तथा पर्यङ्क का पल्लंक (र + य के स्थान पर 'ल') ॥ २१ ॥

[1]विपरीतं ह्मयोगे ब्रह्मादौ स्यात् बृहस्पतौ [2]फत्वम् ।
[3]यज्ञो भवति तु [4]जण्णो भीष्मो [5]भिम्होत्ति विज्ञेयः ॥ २२ ॥

ब्रह्मादि शब्दों में ह और म के योग में एक दूसरे के विपरीत स्थान में ये अक्षर हो जाते हैं जैसे ब्रह्मा—बह्मा। (यहां 'ह' और 'म' उलट कर एक दूसरे के स्थान पर हो गए हैं।) तथा बृहस्पति शब्द में 'प' को 'फ' हो जाता है जैसे—बृहस्पति—बुहप्फई। इसी प्रकार 'यज्ञ' का 'जण्ह तथा भीष्म का भिम्ह रूप हो जाता है ॥ २२ ॥

[6]उपरिगतोऽधस्ताद्वा भवेत्ककारादिकस्तु यो वर्णः ।
स हि संयोग-विहीनः शुद्धः[7] कार्यः प्रयोगेऽस्मिन् ॥ २३ ॥

जब 'क' किसी वर्ण के साथ संयुक्त हो या इस वर्ण के सिरे पर रेफ आदि अन्य वर्ण हो तो इनका उच्चारण दशा में संयोग रहित रूप होता है। जैसे [1]शक्र=सक्क। अर्क=अक्क आदि (यहां र के संयुक्तवर्ण होने पर भी क ही शेष रहा) ॥ २३ ॥

[8]एवमेतत्तु विज्ञेयं संस्कृतं प्राकृतं तथा[9] ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम् ॥ २४ ॥

---

१. सक्क आदि रूप स्पष्टतः स्वरभक्ति के नियम से सम्बद्ध हैं। किलेश (क्लेश), दुवार (द्वार) आदि भी इसी नियम के अतिरिक्त उदाहरण हो सकते हैं।

---

१. ब्रह्मा च भवति बह्मो बृहस्पतिर्वै बुहप्फइ भवति—क०; विपरीत मयोगेन ब्रह्मादौ—ख०; ग०।

२. हत्वम्—क०। ३. यज्ञश्च भवति—क०।

४. जण्हो, यण्णो—क०।

५. भिम्हत्ति—भिम्हत्ति—भीह्म इति—क०।

६. उपरिगतो ह्स्ताद्वा—ख०; उपरिगते तोऽधस्तान्वा—ग०।

७. शुद्धं कार्यं प्रयोगेऽस्मिन्—ग०।

८. पाठ्यमेतत्तु—क०; एवमेव तु—ग०।

९. एवमेतत् मया प्रोक्तं किञ्चित्प्राकृतलक्षणम् ।
शेषं देशीप्रसिद्धञ्च ज्ञेयं विप्राः प्रयोगतः ॥
इति पाठः क० पुस्तके च।

इस प्रकार संस्कृत तथा प्राकृतभाषा के उच्चारण (पाठ्य) को सीखा जाए। अब मैं देशी भाषाओं का विभागपूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ २४ ॥

भाषाओं के चार प्रकार—

भाषा चतुर्विधा ज्ञेया [1]दशरूपे प्रयोगतः ।
संस्कृतं प्राकृतञ्चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते ॥ २५ ॥

नाटक आदि में प्रयुक्त की जाने वाली भाषाएँ चार प्रकार की होती हैं, जिनमें पाठय रखा जाए। वे या तो संस्कृत या प्राकृत भाषा (के किन्ही प्रकारों में से) होती हैं ॥ २५ ॥

[2]अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च ।
तथा योन्यन्तरी चैव [3]भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता ॥ २६ ॥

भाषाओं के नाट्य प्रयोग में होने वाले चार प्रकार होते हैं—यथा—(१) अतिभाषा, (२) आर्यभाषा, (३) जातिभाषा तथा (४) जात्यन्तरी भाषा (योन्यन्तरी भाषा)[1] ॥ २६ ॥

[4]अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा[5] तु भूभुजाम् ।
संस्कारगुणसंयुक्ता[6] [7]सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता ॥ २७ ॥

देवगण की 'अतिभाषा' तथा भूपालों की 'आर्यभाषा'[2] होती है। इन

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों के मत में आर्य भाषा की अन्य भाषाओं से विलक्षणता का निदान उनका वैदिक शब्द बाहुल्य बतलाया (जो दूसरे टीकाकारों का मत है)। इनका स्वयं का मत है कि वक्तृभेद से संस्कृत तथा प्राकृत-पाठ्य के चार प्रकार हो गए थे जैसा कि भरत ने भी माना है।

२. अतिभाषा तथा आर्यभाषा संभवतः भारतयोरोपीय भाषा की कोई बोली होंगी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत का एक भाषा के रूप में

---

१. दशरूपेषु योक्तृभिः—क; देशरूपप्रयोगतः—ख०; ग० ।

२. अभिभाषा—क० ।

३. भाषा वै नाटकाश्रयाः—क०; भाषा नाटयप्रकीर्तिताः—ग० ।

४. सत्यादिभाषा देवानां—क०; अभिभाषा तु देवानां—ख० ।

५. आर्यभाषेति कीर्तिता—क० । ६. सम्पन्ना—क० ।

७. सम्यङ्न्याय्यप्रतिष्ठिता, सम्यक् राज्ये प्रतिष्ठता; सम्यग् नाटयप्रतिष्ठिता—क०; सम्यग्ग्रामप्रतिष्ठिता—ख० ।

भाषाओं में संस्कार रूप विशेष गुण विद्यमान होने से इनका सातों द्वीपों में प्रचलन है ॥ २७ ॥

जातिभाषा—

द्विविधा[1] जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता ।
[2]म्लेच्छशब्दोपचारा[3] च [4]भारतं वर्षमाश्रिता ॥ २८ ॥

नाटक में प्रयोग की जाने वाली जाति भाषा दो प्रकार की होती है । इनमें अनेक अनार्य तथा म्लेच्छों के द्वारा व्यवहार में आने वाले शब्द समाविष्ट रहते हैं, जो कि भारतवर्ष में बोली जाती है ॥ २८ ॥

जात्यन्तरी-भाषा—

अथ योन्यन्तरी भाषा [5]ग्राम्मारण्यपशूद्भवा ।
नाना-विहङ्गजा[6] चैव नाट्यधर्मीप्रतिष्ठिता[7] ॥ २९ ॥

तथा जात्यन्तरी भाषा[1] वह है जो ग्राम में तथा जंगल में रहने वाले पशुओं तथा पक्षियों की भाषा होती हो—इसका नाट्यधर्मी विधान से नाटक आदि प्रयोगों में अनुसरण किया जाए ॥ २९ ॥

पाठ्य के दो प्रकार—

जातिभाषाश्रयं[8] पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् ।
प्राकृतं संस्कृतञ्चैव [9]चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम् ॥ ३० ॥

भरत ने विस्पष्ट उल्लेख नहीं किया । भोज ने अतिभाषा तथा जाति-भाषा को क्रमशः श्रुति, पुराण (आर्ष) और लौकिक-भाषा माना है ।

१. नाट्यशास्त्र या इसके अनुसार निर्मित किसी संस्कृत नाट्य रचना में जात्यन्तरीभाषा का प्रयोग प्राप्त नहीं होता न ही (इसके) अन्यत्र भी उद्धरण या प्रयुक्त शब्द मिलते हैं ।

---

१. विविधा—ख० । २. म्लेच्छदेशप्रयुक्ता च—क० ।
३. चाराच्च—क० ।
४. तथा भारतसंश्रया—, तथा भारमाश्रिता—क० ।
५. ग्राम्यारण्य—ख० । ६. विहगजा चैव—ग० ।
७. नाटयधर्मे प्रतिष्ठिता—, नाटयधर्मप्रयोगजा०, नाटयधर्म प्रयोगतः—क०; नाटयधर्मी प्रयोगतः—ख०; ग० ।
८. भाषाश्रितं—क० । ९ चातुर्वर्ण्यादिसंश्रयम्—क० ।

जातिभाषा में होने वाला पाठ्य दो प्रकार का होता है। जो कि चारों ब्राह्मणादि वर्णों से सम्बद्ध है। वह हैं—एक संस्कृतपाठ्य तथा दूसरा प्राकृत पाठ्य ॥ ३० ॥

संस्कृत पाठ्य के प्रदेश या अवसर—

धीरोद्धते सललिते[1] धीरोदात्ते तथैव च।
धीरप्रशान्ते[2] च तथा पाठ्यं योज्यन्तु संस्कृतम् ॥ ३१ ॥

जो धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त या धीरप्रशान्त[1] प्रकार के नायक हों तो उनमें संस्कृतपाठ्य की योजना की जाए ॥ ३१ ॥

प्राकृत पाठ्य के प्रदेश या अवसर—

[3]एतेषामपि सर्वेषां नायकानां [4]प्रयोगजम्।
कारणव्यपदेशेन प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ॥ ३२ ॥

इन सभी नायकों में प्राकृत पाठ्य की योजना भी की जा सकती है, जब कि इस प्रकार के अवसर या आवश्यकता आ पड़े ॥ ३२ ॥

[[5]दारिद्र्याध्ययनाभावयदृच्छादिभिरेव वा]
[6]ऐश्वर्येण प्रमत्तानां दारिद्र्येण[7] प्लुतात्मनाम्।
[8]उन्मत्तस्यापि पठतः संस्कृतं[9] न प्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥

यदि कोई उत्तम—पात्र अपने राज्य या ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर अपने पद में मत्त हो या फिर दरिद्रता से अभिभूत हो या उन्मत्त हो जाए तो

---

१. नायकों आदि के भेद तथा लक्षणादि ना० शा० अ० ३६ में देखिये।

---

१. धीरललिते—ख०; ग०।

२. प्रशान्तके चैव—क०।

३. एषामेव तु—ख०, ग०।

४. प्रयोगजा—क०; प्रयोगतः—ख०; ग०।

५. पद्यार्धमेतत् ख० ग० पुस्तकयोर्नास्ति।

६. ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य —ख०; ग०।

७. दारिद्र्येणाप्लुतस्य च—क०; दारिद्र्येण प्लुतस्य च—ग०।

८. अनधीतोत्तमानाञ्च—क०; उत्तमस्यापि ब्रुवतः—ख०; उत्तमस्यापि पठतः ग०।

९. प्राकृतं सम्प्रयोजयेत्—ख०; ग०।

(उसकी इन विकल या मदमत्त दशाओं में) संस्कृत[1] भाषा की योजना नहीं रहनी चाहिए। अर्थात् ऐसी दशा में इस पात्र की भी प्राकृतभाषा रखी जाए ॥ ३३ ॥

[1]व्याजलिङ्गप्रविष्टानां[2] [3]श्रमणानां तपस्विनाम्।
भिक्षुचक्रचराणाञ्च[4] प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ॥ ३४ ॥

वे पात्र जो किसी व्याज[2] से साधु सन्यासी का वेष धारण किये हों, जो पात्र जैन साधु, साधु, भिक्षु तथा बाजीगर हों तो उनमें प्राकृतपाठ्य की योजना की जाए ॥ ३४ ॥

[5]बाले ग्रहोपसृष्टे च स्त्रीणां[6] स्त्रीप्रकृतौ तथा।
नीचे मत्ते सलिङ्गे च प्राकृतं पाठ्यमिष्यते[7] ॥ ३५ ॥

---

१. जैसे 'अर्जुन' पात्र के बृहन्नला के रूप में अज्ञातवास में रहने पर उसकी भाषा मागधी या शौरसेनी रखना उचित है। नाट्यशास्त्र के इस उल्लेख के अनुकूल स्थिति तथा अनुसरण का किसी संस्कृत नाटक में विवरण नहीं मिलता। हां, 'विक्रमोर्वशीयम्' में दैव के कारण विरही राजा की उन्माद अवस्था का वर्णन तथा प्राकृतापभ्रंश में संभाषण अवश्य उपलब्ध होता है और इस पर नाटयशास्त्र के उपर्युक्त नियम की छाया भी कदाचित् स्पष्ट परिलक्षित होती है।

२. व्याज से साधु का वेश धारण करने का उल्लेख भास के 'कर्णभारम्' में प्राप्त होता है जहां इन्द्र ब्राह्मण का वेष धारण करता है तब प्रयुक्त भाषा वहां प्राकृत मिलती है। विराधगुप्त का 'मुद्राराक्षस' में संपेरे की अवस्था में प्राकृत भाषा में संभाषण तथा यौगन्धरायण का अन्य (भिक्षु) स्वरूप धारण करने पर 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में प्राकृत संभाषण उपर्युक्त नियमों के स्पष्टतः उदाहरण है।

---

१. ऋतुलिङ्ग—क०। २. प्रतिष्ठानां—ख० ग०।
३. श्रवणानां—क०।
४. चक्रधराणाञ्च—क०; चाष्टचरांणाञ्च ख०; ग०।
५. पद्यमेतत्—कपुस्तके नास्ति।
६. स्त्रीणाञ्च प्रकृतौ तथा—ख०।
७. पद्यस्यास्य स्थाने क पुस्तके तु—
भागवततापसोन्मत्तबालनीचग्रहोपसृष्टेषु ।
स्त्रीनीचजातिषु तथा नपुंसके प्राकृतं योज्यम् ॥—इति पद्यं लभ्यते।

इसी प्रकार बालक, किसी भूत या पिशाच से ग्रस्त या लगे हुए व्यक्ति, स्त्री प्रकृति के पुरुष, नीच जाति के पुरुष तथा कफनी झोला धारी पाखण्ड साधुओं जैसे पात्रों की भी भाषा प्राकृत रखी जाए ॥ ३५ ॥

प्राकृत पाठ्यविधि के अपवाद—

परिव्राण्मुनिशाक्येषु[1] चोक्षेषु[2] श्रोत्रियेषु च।
शिष्टा[3] ये चैव लिङ्गस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत् ॥ ३६ ॥

परन्तु जो पात्र संन्यासी, साधु, बौद्धभिक्षु, श्रोत्रिय तथा वेदपाठी ब्राह्मण हों और जो अपनी प्रतिष्ठा या स्थिति के अनुरूप आचार-व्यवहार रखते हों तो उनकी (नाट्यप्रयोग में) संस्कृत भाषा रखी जाए ॥ ३६ ॥

[4]राज्ञ्याश्च गणिकायाश्च शिल्पकार्यास्तथैव च।
[5]कालावस्थान्तरकृतं योज्यं पाठ्यन्तु संस्कृतम् ॥ ३७ ॥

यदि विशेष अवसर या स्थिति आ पड़े तो महारानी, वेश्या[1] तथा शिल्पकारी (दासी) आदि जैसे स्त्री पात्र भी संस्कृत-भाषा का व्यवहार कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

सन्धिविग्रहसम्बन्धं[6] तथा[7] चापि शुभाशुभम्।
ग्रहनक्षत्रचरितं खगानां रुतमेव च ॥ ३८ ॥
सर्वमेतत्तु[8] विज्ञेयं [9]काव्यबन्धे शुभाशुभम्।
नृपपत्न्या [10]स्मृतं तस्मात् काले पाठ्यन्तु संस्कृतम् ॥ ३९ ॥

महारानी का इन अवसरों या अवस्थाओं में संस्कृतभाषा में संवाद (पाठ्य)

---

१. रानी, महारानी या मुख्य नायिका के रूप में स्त्रीपात्र द्वारा संस्कृत-संभाषण विशेष अवस्था में प्रायः अनेक नाटकों में प्राप्य है। उदाहरणार्थ मालविकाग्निमित्र में मालविका द्वारा, मृच्छकटिक में बसन्तसेना द्वारा तथा मालती-माधव में मालती द्वारा संस्कृत-पाठ्य का सहारा लिया गया है।

---

१ मुनिशान्तेषु—ख०।
२. चौक्ष्येषु—क०; शाक्येषु—ख० चैक्षषु (?)—ग०।
३. द्विजा—क; ग०। ४. देव्याश्च—क०।
५. कलावस्था—क०; कार्यावस्था—ग०। ६. सम्पन्नं—क०।
७. तथा च प्राप्तवाग्गतिम्—क०; तथा चाप्यशुभं शुभम्—ख०।
८. मेतद्धि—ख०; ग०। ९. कार्यबन्धे—ग०।
१०. भवेत् पाठ्यं संस्कृतं द्विजसत्तमाः—क०।

रखा जाए जबकि—कोई संन्धि या विग्रह से सम्बन्धित बात चल रही हो, आकाश में किसी उदितनक्षत्र के शुभ या अशुभ फल पर विचार किया जा रहा हो तथा किसी पक्षी की आवाज सुनकर उससे राजा के शुभ या अशुभ भविष्य की कल्पना की जानी हो ॥ ३८-३९ ॥

क्रीडार्थं सर्वलोकस्य [1]प्रयोगे च सुखाश्रयम् ।
[2]कलाभ्यासाश्रयञ्चैव पाठ्यं वेश्यासु संस्कृतम् ॥ ४० ॥

विविध रुचि वाले प्रजाजन के विनोद के लिए तथा कलाओं के व्यवहार और ज्ञान को प्रदर्शित करने के लिए वेश्याओं का संस्कृत भाषा में (भी) संवाद रखा जाए जिसकी सरलता पूर्वक नाटक में व्यवस्था की जा सकती है[1] ॥ ४० ॥

[3]कलोपचारज्ञानार्थं क्रीडार्थं पार्थिवस्य च ।
निर्दिष्टं शिल्पकार्यास्तु[4] नाटके संस्कृतं वचः ॥ ४१ ॥

नाट्य रचनाओं में शिल्पिका (आदि) स्त्री-पात्रों की राजा के मनोरंजन तथा कलाओं के व्यावहारिक ज्ञान के लिए प्रसंगोचित संस्कृत भाषा रखनी चाहिए ॥ ४१ ॥

आम्नायसिद्धं [5]सर्वासां शुभमप्सरसां वचः ।
संसर्गाद्देवतानाञ्च तद्धि लोकोऽनुवर्तते ॥ ४२ ॥

अप्सराओं के सभी संवाद संस्कृत में रखना शास्त्रानुमोदित (आम्नायसिद्ध) हैं और यही परम्परा भी है। क्योंकि इनका देवताओं से मुख्यतः संसर्ग रहता है लोक परम्परा में यह तथ्य अधिक रूढ़ भी[2] है ॥४२॥

---

१. इन सभी नियमों के अनुसार किसी सम्प्राप्त रूपक में संवाद प्राप्त नहीं होते।

२. संभवततः भरत के समय ऐसे रूपक अवश्य अस्तित्व में थे जिनमें अप्सराओं के नायिका के रूप में तथा सहायक पात्र के रूप में रहने पर संस्कृत भाषा में पूर्णतः संवाद रखे गए हो। सम्प्रति कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में नायिका उर्वशी के संवाद प्राकृत में तथा अन्य अप्सराओं के संवाद भी मुख्यतः प्राकृत भाषा (शौरसेनी) में उपलब्ध होते ही हैं।

---

१. प्रयोगस्य—ख०; ग०। २. क्रीडालीलार्थकञ्चैव—ख०; ग०।
३. लोकोपचार—ख०; ग०। ४. शिल्पकार्येषु—ख०; ग०।
५. सर्वेषां दिव्यानां वचनं शुभम्—क०; शुभञ्चाप्सरसां वचः—ग०।

[1]छन्दतः प्राकृतं [2]पाठ्यं स्मृतमप्सरसां[3] भुवि ।
मानुषाणाञ्च[4] कर्तव्यं कारणार्थव्यपेक्षया ॥ ४३ ॥

अप्सराओं के स्त्री जाति होने के कारण तथा उनके पृथ्वी पर विचरण विहार की अवस्थाओं में स्वाभाविक या स्वेच्छापूर्वक प्राकृत पाठ्य रखना उचित है परन्तु ये ही जब किसी मानव की पत्नी के रूप में रहे तो अवसरानुकूल संस्कृत या प्राकृत कोई भी पाठ्य रखा जाए ॥ ४३ ॥

न वर्वरकिरातान्ध्रद्रमिलाद्यासु[5] जातिषु ।
[6]नाट्यप्रयोगे कर्तव्यं पाठ्यं[7] भाषासमाश्रयम् ॥ ४४ ॥

परन्तु [1]वर्वर, किरात, आन्ध्र तथा द्रामिड (द्रविड) जाति के पात्रों की नाट्यरचनाओं में उनकी अपनी जातीय भाषाएँ न रखी जाएँ ॥ ४४ ॥

[8]सर्वास्वेव हि शुद्धास्तु जातिषु[9] द्विजसत्तमाः ।
[10]शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्येषु योजयेत् ॥ ४५ ॥

किन्तु इन जातियों की केवल शौरसेनी से मिलती जुलती किन्ही प्रचलित [2]भाषाओं का (अवसर आने पर) प्रयोग किया जाए ॥ ४५ ॥

---

१. वर्वर आदि के विषय में ना० शा० अध्याय १३।९९ का विवरण तथा टिप्पणियां द्रष्टव्य है ।

२. इनमें मागधी, अर्धमागधी तथा सौरसेनी के अतिरिक्त अवन्ती, प्राच्या, वाल्हीका और दाक्षिणात्या के नाम भर यहाँ दिये गए हैं । मृच्छकटिक में अवन्ती तथा प्राच्या के उदाहरण मिलते हैं । वाल्हीका का स्वरूप क्या था यह नाटकों के प्रयोग के आधार पर सम्प्रति प्राप्त नहीं हैं । यहां महाराष्ट्री प्राकृत का उल्लेख भरत द्वारा न किया जाना (भरत की) प्राचीनता की ओर संकेत करता है क्योंकि शौरसेनी का उत्तरकालीन स्वर महाराष्ट्री की रचना में स्पष्टतः परिलक्षित होता है ।

---

१. छन्दसां—क०; छन्दस्तः—ख० । २. वाक्यं—क०; ग० ।

३. मप्सरसामपि—क० । ४. मानुषाणाञ्च—क०; ग० ।

५. द्रविडा—ख० । ६. नाटचयोगेषु—क०; नाटचयोगे तु—ख०; ग० ।

७. काव्यं—ख०; ग० ।

८. जातिष्वेतासु सर्वासु—ख०; ग० । ९. श्रद्धासु च—ख०; ग० ।

१०. शौरसेनं समाश्रित्य भाषाः कार्यास्तु नाटके—क०; भाषा कार्या तु नाटके—ख०; ग० ।

अथवा छन्दतः कार्या [1]देशभाषा प्रयोक्तृभिः।
नानादेशसमुत्थं हि [2]काव्यं भवति नाटके॥ ४६॥

या फिर स्वेच्छानुसार नाट्य निर्देशक इनकी कोई एक लोकभाषा रख लें क्योंकि नाट्यरचनाएँ तो विभिन्न प्रदेशों की भाषा में रचित काव्यरचनाओं से युक्त लिखी जा सकती हैं॥ ४६॥

सात मुख्य भाषाएँ—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या [3]शौरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥ ४७॥

सात मुख्य (प्राकृत) भाषाएं हैं—(१) मागधी (२) अवन्ती (३) प्राच्या (४) सौरसेनी या शूरसेनी (५) अर्धमागधी (६) वाल्हीका तथा (७) दाक्षिणात्या॥ ४७॥

[4]शकाराभीर-चाण्डालशवरद्रमिलान्ध्रजाः[5]।
हीना [6]वनेचराणाञ्च विभाषा नाटके स्मृताः[7]॥ ४८॥

नाट्यरचना में इसके अतिरिक्त कुछ विभाषाएँ[1] भी—जो गौण स्थिति रखती हों—रखी जाती है। जिनमें हैं—शाकारी, आभीरी, चाण्डाली, शावरी, द्रामिड़ी, आन्ध्री तथा वनेचरों की अपनी जंगली भाषाएँ॥ ४८॥

मुख्य (प्राकृत) भाषाओं का उपयोग या व्यवहार—

मागधी तु [8]नरेन्द्राणामन्तः पुरसमाश्रया।
चेटानां राजपुत्राणां [9]श्रेष्ठिनाञ्चार्धमागधी॥ ४९॥

---

१. विभाषा का लक्षण मृच्छटिक के प्राचीन टीकाकार पृथ्वीधर ने 'विविधाः भाषा हीन-प्रयोज्यत्वात् विभाषाः' दिया है। अर्थात् नीचपात्रों के द्वारा व्यवहार में आनेवाली विविध भाषाएं विभाषा कहलाती है। नाटयशास्त्र में विद्यमान विभाषाओं में शाकारी, ढक्की तथा चाण्डाली का प्रयोग मृच्छकटिक में भी मिलता है। संभवतः भरत को अपने समय में इन सभी विभाषाओं की उदाहरण रूप में उपलब्धि रही हो।

---

१. दैवी भाषा—क०। २. कार्यं—क०।
३. शूरसेना—क०; सूरसेन्यर्ध—ख०; ग०।
४. शबराभीर—ख०; ग०।
५. सचरद्रमिडोद्भूजाः—ख०; द्रविडोद्रजाः—ग०।
६. वनचराणां—क०। ७. स्मृता—ग०।
८. नराणाञ्चैवान्तःपुरनिवासिनाम्—क०; ग०। ९. श्रेष्ठीनां—ग०।

इनमें (से) राजा के अन्तःपुर (रनिवास) के रक्षक तथा सेवकों की मागधी भाषा तथा राजपुत्र,[1] चेट तथा श्रेष्ठिजन की अर्धमागधी भाषा नियत रहनी चाहिए ॥ ४९ ॥

प्राच्या विदूषकादीनां [1]धूर्तानामप्यवन्तिजा ।
नायिकानां सखीनाञ्च [2]शूरसेन्यविरोधिनी ॥ ५० ॥

विदूषक[2] तथा उसके सदृश पात्रों की प्राच्या भाषा तथा धूर्तवृत्ति के पात्रों की 'अवन्ती भाषा' रखी जाए । यदि कोई अड़चन (या असुविधा) न हो तो नायिका तथा उनकी सारी सखियों की सौरसेनी भाषा रखी जाए ॥५०॥

[3]यौधनागरकादीनां दाक्षिणात्याथ दीव्यताम्[4] ।
वाह्लीकभाषोदीच्यानां [5]खसानाञ्च स्वदेशजा ॥ ५१ ॥

सैनिकों, (योध) जुआरियों, नगरमुख्य आरक्षक (नागरक) की दाक्षिणात्या[3] भाषा तथा भारत के उत्तर भाग के निवासी खसों की अपनी देश भाषा वाल्हीकी रखी जाए ॥ ५१ ॥

---

१. राजपुत्र = सेवक क्षत्रिय, अर्थात् जो अन्तःपुर में सेवक हो तथा क्षत्रिय-जाति के हों । श्रेष्ठि पात्र का संस्कृत भाषा या प्राकृत में संवाद प्राप्य है । जैसे मुद्राराक्षस में चन्दनदास का प्राकृत में संभाषण । परन्तु अर्धमागधी भाषा में इनके संभाषण (नियम) की किसी नाट्य-रचना द्वारा पुष्टि नहीं मिलती ।

२. विदूषक की मृच्छकटिक में 'प्राच्या' भाषा रखी गयी है तथा अन्य लक्षण ग्रन्थों में भी विदूषक की प्राच्या भाषा रखने का नियम है । विदूषक के सौरसेनी में या अन्य भाषा में संवाद नाट्य रचनाओं में विरलता से ही प्राप्त हैं । अवन्तीभाषा का प्रयोग मृच्छकटिक में वीरक और चन्दनक (अंक ६) एक पारस्परिक विवाद में करते हैं । अंवन्ती भाषा के अधिक प्राचीन नमूने तथा विशेष-विवरण आदि रूपकों में नहीं मिलते ।

३. मृच्छकटिक में चन्दनक की भाषा दाक्षिणात्या है ऐसा पृथ्वीधर का मत है । दाक्षिणात्या के स्वरूप के बारे में अन्यत्र कहीं से भी अधिक ज्ञात नहीं होता है ।

---

१. योज्या भाषा अवन्तिजा—ग० ।
२. सूरसेनाविरोधिनी—ख०; सौरसेन्य—ग० ।
३. योध—ख०; योधनागरिकादीनां—ग० । ४. दीप्यताम्—क० ।
५. खषाणां च स्वदेशजा—; स्वसानाञ्चैव भूमिषु—क० ।

विभाषाओं (या उपभाषाओं) का उपयोग—

[1]शकाराणां शकादीनां तत्स्वभावश्च यो गणः।
शकार[2] भाषा योक्तव्या [3]चाण्डाली [4]पुल्कसादिषु ॥ ५२ ॥

शकार, शक, तथा (शवर जाति के या) उसके अनुरूप स्वभाववाले वर्गों (गणः) की शाकारी[1] भाषा रखी जाए तथा पुल्कस डोम और इसके समान अन्य नीच जातियों की 'चाण्डाली' भाषा रखी जाए ॥ ५२ ॥

[5]अङ्गार-कारक-व्याधकाष्ठयन्त्रोपजीविनाम्[6] ।
योज्या[7] शकारभाषा तु किञ्चिद्वानौकसी तथा ॥ ५३ ॥

कोयलों के व्यवसायी, बहेलिये (व्याध), लकड़ी और पत्तों को जंगल से ढोकर अपनी जीविका चलाने वाले श्रमिक जैसे पात्रों की तथा जंगल के निवासीजन की भी शाबरी (शाकारी) भाषा रखनी चाहिए ॥ ५३ ॥

[8]गजाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम् ।
आभीरोक्तिः शाबरी वा[9] द्रामिडी [10]वनचारिषु ॥ ५४ ॥

जहां हाथी, घोड़े, बकरे, भेड़, ऊंट या बैल गायों को बांधा या रखा जाता हो—उन स्थानों के निवासियों की आभीरी[2] या शाबरीभाषा रखी जाए तथा द्रविड़ आदि देशों के व्यक्तियों या वनवासियों की 'द्राविड़ी' भाषा रखी जाती है ॥ ५४ ॥

---

१. मृच्छकटिक में ही शकार ऐसा उपलब्ध पात्र है और उसीकी शाकारी भाषा भी प्रयुक्त हुई है। इसके अतिरिक्त चाण्डालों द्वारा चाण्डाली भाषा का (भी) व्यवहार इसी प्रकरण में मिल जाता है।

२. आभीरी और द्राविड़ीभाषा के रूप उपलब्ध संस्कृत रूपकों में नहीं मिलते, हो सकता है कि यह कोई द्राविड़ी बोली होगी, शायद यह उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों की भी बोली हो—जैसा कि भाषाविदों का अनुमान है।

---

१. शकार—घोषकादीनां—क०; शवराणां शकादीनां—ख०; ग०।
२. सकार—क०। ३. पाञ्चाली—ख०; ग०।
४. पुल्कसादिषु—क०। ५. कारव्याधानां—ख०; ग०।
६. पत्रयन्त्रोप—क०। ७. ज्ञेया शबरभाषा तु—ख०।
८. गवाश्वाजाविकोष्ट्रादि—ख०।
९. स्यात्—क०। १०. द्रमिलादिषु—ख०।

सुरङ्गखनकादीनां [1]सन्धिकाराश्वरक्षताम् ।
[2]व्यसने नायकाश्चाप्यात्मरक्षासु [3]मागधी ॥ ५५ ॥

जो सुरंग आदि के खोदनेवाले कमकर हों, जेलों के पहरेदार, घोड़े के सईस (या ऊंट के रेवारी) हो या किसी आपत्ति में ग्रस्त नायक या उसके समान दूसरे पात्र हो तो अपने स्वरूप के रक्षणार्थ या आच्छादनार्थ उनके 'मागधी' भाषा में संवाद रखे जाते हैं ॥ ५५ ॥

विभिन्न देशभाषाओं के विभेदक लक्षण—

गङ्गासागरमध्ये तु ये देशाः [5]सम्प्रकीर्तिताः ।
[6]एकारबहुलां भाषां तेषु तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ५६ ॥

भारत के गंगा नदी और सागर के मध्यवर्ती प्रदेशों की 'एकार' बहुलता वाली भाषा रखी जाए ॥ ५६ ॥

विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागताः ।
[7]नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ५७ ॥

जो संभाग विन्ध्याचल पर्वत और सागर के मध्यवर्ती हों उनकी भाषा 'न' कार की बहुलता वाली रहनी चाहिए ॥ ५७ ॥

[8]सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु च ।
ये देशास्तेषु कुर्वीत [9]चकारप्रायसंश्रयाम् ॥ ५८ ॥

वेत्रवती नदी के उत्तरवर्ती प्रदेशों तथा सौराष्ट्र और अवन्ती देशों की 'च' कारबहुल भाषा रहनी चाहिए ॥ ५८ ॥

---

१. सुरङ्गाखनकादीनां—ख०; सुरङ्गवनकादीनां—ग० ।
२. औद्रिकारसरक्षसाम्—क०; औष्ट्रिकानाञ्च रक्षताम्—ग० ।
३. नायिकादीनां—ग० ।
४. योजयेत्—क० । अस्मादनन्तरं क० पुस्तके 'न बर्बर किरातान्ध्र' इत्यादिपद्यं पुनरपि पठ्यते ।
५. सम्प्रवर्तिताः—क० ।
६. षकार—क० ।
७. तकार—शकार—क० ।
८. वेत्रवत्यन्तरेषु च—ग० ।
९. चकार बहुलामिह—ख०; ग० ।

हिमवत्-सिन्धुसौवीरान् ये[1] जनाः समुपाश्रिताः ।
[2]उकारबहुलां [3]तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥ ५९ ॥

वे लोग जो हिमाचल पर्वत, सिन्धु तथा सौवीर देश के (समीपवर्ति प्रदेशों के) निवासी हों उनकी 'य' कार बहुल भाषी रखी जाए ॥ ५९ ॥

[4]चर्मण्वतीनदीतीरे ये [5]चार्बुदसमाश्रयाः ।
[6]ओकारबहुलां नित्यं तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥ ६० ॥

वे लोग जो चम्बल (चर्मण्वती) नदी के उस पार अरावली पर्वत (मेवाड़ तथा मारवाड़ आदि प्रदेशों) के समीपवर्ती प्रदेश के निवासी हों तो उनकी 'आ' (या 'त') कार बहुल भाषा रखनी चाहिए ॥ ६० ॥

एवं भाषाविधानन्तु कर्तव्यं नाटकाश्रयम् ।
अत्र नोक्तं मया यत्तु लोकाद् ग्राह्यं बुधैस्तु तत् ॥ ६१ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे भाषाविधानं [7]नामाष्टादशोऽध्यायः ।

नाटक में रहने वाली विभिन्न भाषाओं के ये ही नियम हैं । इसमें जो बात कहने में न आई हों उन्हें लोकाचार या सामान्य व्यवहार से लिया जा सकता है ॥ ६१ ॥

भरतनाट्यशास्त्र का भाषाविधान नामक अठारहवां अध्याय सम्पूर्ण ।

---

१. ये च देशाः समाश्रिताः—ख; येऽन्यदेशसमाश्रिताः—ग० ।
२. ओकार—क० । ३. तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्—ग० ।
४. सरस्वतीनदीतीरे पारियात्रार्बुदाश्रिताः—क०; चर्मण्वती नदीपारे—ख० ।
५. समाश्रिताः—ख० । ६. तकार—क; ख० ।
७. क० ख० पुस्तकयोस्तु नात्राध्यायसमाप्तिः ।

एकोनविंशोऽध्यायः

सम्बोधन तथा काकुस्वर-व्यंजनाध्याय

सम्बोधन शब्दावली प्रयोग विधान—

एवं भाषाविधानन्तु मया[1] प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
पुनर्वाक्यविधानन्तु[2] लौकिकं सन्निबोधत ॥ १ ॥
उत्तमैर्मध्यमैर्वाच्यैर्ये सम्भाष्या यथा नराः।
[3]समानोत्कृष्टहीनाश्च नाटके तान्निबोधत ॥ २ ॥

मुनियो, मैंने नाट्यरचना में प्रयुक्त की जाने वाली विविध भाषाओं के नियम बतलाए। अब मैं लौकिक-वाक्यों में व्यवहार किये जाने वाले उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों के द्वारा उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों को सम्बोधित किये जाने वाले नियत शब्द तथा उनके प्रयोग के विधान[1] को बतलाता हूं ॥ १–२ ॥

देवता, गुरुजन तथा विद्वानों के लिए सम्बोधन शब्द—

देवानामपि ये देवा महात्मानो महर्षयः।
भगवन्निति ते वाच्या [4]यास्तेषां योषितस्तथा ॥ ३ ॥

जो देवताओं में भी श्रेष्ठतम स्थान लिए हुए देवगण हों, महात्मागण तथा महर्षि हों तो उन्हें "भगवन्"[2] शब्द से तथा उनकी पत्नियों को भी इसी प्रकार ('भगवती' शब्द से) सम्बोधित करना चाहिए ॥ ३ ॥

---

१. संस्कृत तथा प्राकृत नाट्यरचनाओं में होने वाले सभी व्यवहार तथा तदुचित सम्बोधन इस अध्याय में पूर्ण रूप से भरत द्वारा नहीं बतलाए गए। केवल कुछ सम्बोधन शब्द ही समझाने के लिये दिये गए हैं। परवर्ती नाट्यशास्त्रीय रचनाओं में भी उक्त विषय पर थोड़ा बहुत परिवर्तित उल्लेख ही प्राप्त होता है।

२. जैसे शाकु० (४ अ०) में काश्यप को दिया गया सम्बोधन। इत्यादि।

---

१. यथावद्द्विजसत्तमाः—क०।

२. प्रचारन्तु—ख०; विचारं तु—ग०।

३. समानो वाल्पहीनो वा—क०।

४. याश्चैषां—क; यास्तासां—ख०।

देवाश्च लिङ्गिनश्चैव नानाश्रुतधराश्च ये[1]।
भगवन्निति ते वाच्याः पुरुषैः स्त्रीभिरेव च ॥ ४ ॥

इसी प्रकार जो [1]देवता, संन्यासी वेशधारी साधुजन तथा विविध शास्त्रों के विद्वान् हों उन्हें भी पुरुष या स्त्रियों के द्वारा 'भगवन्' शब्द से सम्बोधित किया जाए ॥ ४ ॥

ब्राह्मण के लिए सम्बोधन शब्द—

आर्येति ब्राह्मणं ब्रूयात्,

ब्राह्मणों को 'आर्य'[2] शब्द से सम्बोधित किया जाए।

राजा के लिए सम्बोधन शब्द—

महाराजेति [2]पार्थिवम्।

राजा को 'महाराज'[3] शब्द से सम्बोधित किया जाए।

गुरु तथा शिक्षक आदि के लिये सम्बोधन शब्द—

उपाध्यायेति चाचार्यं वृद्धं तातेति चैवहि ॥ ५ ॥

उपाध्याय या शिक्षक को[4] 'आचार्य' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए और बूढ़े मनुष्य को 'तात'[5] (बाबा) शब्द से सम्बोधित किया जाए ॥५॥

ब्राह्मण द्वारा राजा के प्रति सम्बोधन शब्द—

[3]नाम्ना राजेति वा वाच्या ब्राह्मणैस्तु नराधिपाः।
तत्क्षाम्यं हि [4]महीपालैर्यस्मात् पूज्या द्विजाः[5] स्मृताः ॥ ६ ॥

ब्राह्मणों के द्वारा राजा को[6] उसीका नाम लेकर या अन्य शब्द से

---

१. उदाहरणार्थ—अविमारक ना० (भास) में अग्नि और वरुण के सम्बोधन तथा माल० वि० नाटक (कालि०) में परिव्राजिका का सम्बोधन।
२. जैसे मध्यम व्यायोग में भीम को ब्राह्मणोचित सम्बोधन दिया गया है।
३. जैसे प्रतिमा में दशरथ को सुमन्त्र द्वारा महाराज शब्द से दिया गया सम्बोधन।
४. जैसे मुद्राराक्षस में चाणक्य का शिष्य द्वारा, उपाध्याय पद से सम्बोधन।
५. जैसे प्रतिमा में सुमन्त्र का भरत को तात शब्द से सम्बोधन।
६. जैसे मुद्रारा० में चन्द्रगुप्त को चाणक्य द्वारा दिये गए सम्बोधन।

---

१. श्मश्रुधराश्च—क०; श्रुतिधराश्च ये—ग०।
२. पार्थिवः—क०। ३. छन्दतो नामभिर्वाच्या—ख०; ग०।
४. तु—ख०। ५. द्विजोत्तमाः—ख०; ग०।

उनकी इच्छानुसार सम्बोधित किया जाए तथा राजाओं को भी ब्राह्मणों को पूज्य मान कर ऐसे सम्बोधन किये जाने पर उन्हें क्षमा करना चाहिए ॥६॥

ब्राह्मण का मन्त्री के प्रति सम्बोधन शब्द—

ब्राह्मणैः [1]सचिवो वाच्यो ह्यमात्य सचिवेति वा[2] ।
शेषैरन्यजनैर्वाच्यो हीनैरार्येति नित्यशः ॥ ७ ॥

ब्राह्मणों के द्वारा मन्त्री को "अमात्य"[1] तथा "सचिव" शब्द से सम्बोधित किया जाए तथा अन्य अधम तथा छोटे पद धारी पात्रों के द्वारा उन्हें 'आर्य'[2] शब्द से सदा सम्बोधित किया जाए ॥ ७ ॥

समान अवस्था के व्यक्तियों के प्रति सम्बोधन—

समैः सम्भाषणं कार्यं येन नाम्ना स संज्ञितः ।

समान वयस्कों द्वारा जिसका जो नाम हो उसे उसी नाम से सम्बोधित किया जाए[3] ।

हीन अवस्था के व्यक्तियों से सम्बोधन शब्द—

हीनैः[3] सपरिवारन्तु नाम्ना सम्भाष्य उत्तमः ॥ ८ ॥

अधम पात्र के द्वारा उत्तम पुरुष को उसका नाम[4] लेकर सम्बोधित किया जाए (जब कि वह ऐसा करने की असामान्य अवस्था रखे) ॥ ८ ॥

सेवक, शिल्पी आदि के लिये संबोधन—

[4]नियोगाधिकृतश्चैव पुरुषाः योषितस्तथा ।
[5]सेवकाः शिल्पिनश्चैव सम्भाष्यास्ते तथैव हि ॥ ९ ॥

---

१. इस नियम के अनुसार नाट्यरचनाओं में सम्बोधन अधिक मिलते नहीं हैं ।

२. जैसे राक्षस को आर्य के अतिरिक्त प्रतीहारी का अमात्य सम्बोधन करना । (दे० मुद्रा० रा०)

३. जैसे मुद्राराक्षस में चाणक्य का राक्षस को दिया गया सम्बोधन ।

४. जैसे चारुदत्त द्वारा अपनी सेविका को उसका नाम लेते हुए (यथा—रदनिके) सम्बोधित करना ।

---

1. सचिवैर्वाच्यं—क०; सचिवैर्भाष्यो—ख० । 2. वै—क० ।

3. सपरिचारं तु वाच्यं नामोत्तमस्य तु—क०; सपरिहारं तु—ख०; ग० ।

4. नियोगाधिकृता ये तु याः स्त्रियः पुरुषास्तथा—ख०; ग० ।

5. कारुकाः—क०; कारकाः—ग० ।

जो पुरुष या स्त्रीपात्र नौकर हों उन्हें तथा कलाकार[१] (शिल्पी) या उसकी पत्नी आदि को उनके स्थिति व्यवसाय या पदानुसार सम्बोधित किया जाए ॥ ९ ॥

मान्यो[१] भावेति वक्तव्यः किञ्चिदूनस्तु मार्षकः ।

सामान्य पुरुष को 'माघ'[२] तथा उससे कम स्थिति वाले पुरुष को 'मारिष' शब्द से सम्बोधित किया जाए ।

समान अवस्थावालों के सम्बोधन—

[२]समानोऽथ वयस्येति हं[३] हो हण्डेति चाधमः ॥ १० ॥

समान अवस्था वाले पुरुष एक दूसरे को 'वयस्य'[३] शब्द से तथा अधम पुरुष को 'हंहो' शब्द से सम्बोधित करें ॥ १० ॥

सूत का रथी पुरुष को सम्बोधन—

आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी [४]सूतेन सर्वदा ।

सूत्र के द्वारा रथ में स्थित पुरुष को 'आयुष्मन्'[४] शब्द से सम्बोधित किया जाए ।

[५]तपस्वीति प्रशान्तस्तु साधो इति च शब्द्यते ॥ ११ ॥

तपस्वी और प्रशान्त स्वभाव के व्यक्ति को[५] 'साधो' शब्द से सम्बोधित किया जाए ॥ ११ ॥

---

१. जैसे माल० वि० नाट० में राजा को हरदत्त द्वारा किया गया सम्बोधन (माल० वि० २।१२।४) ।

२. जैसे शकार का 'विट' को 'भाव शब्द से सम्बोधन करना व जैसे अवि० ना० (भास) में सूत्रधार का पारिपार्श्विक को 'मारिष' सम्बोधन ।

३. जैसे मुद्रा० रा० नाटक में सामिद्धार्थक और सुसमिद्धार्थक के परस्पर सम्बोधन तथा चाणक्य का शिष्य को 'हं हो ब्राह्मण' सम्बोधित करना ।

४. जैसे—शाकु० में (अंक २) में सूत का दुष्यन्त को सम्बोधन तथा शा० (अं० ५) में पुरोहित का दोनों तपस्वी कुमारों को सम्बोधन करना ।

५. 'साधु' शब्द द्वारा सम्बोधित करने का उल्लेख सम्प्रति किन्हीं नाटकों में प्राप्त नहीं होता ।

---

१ मार्षो—क० । २. समानो हि—ख; ग० ।

३. होहं वा इति वाधमः—ग० । ४. सूते तु सर्वथा—क० ।

५. तपस्वी च प्रशान्तश्च साधो इति हि शब्द्यते—ख०; ग० ।

सेवकों का राजकुमार के प्रति सम्बोधन—

स्वामीति युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः।

सेवकों के द्वारा युवराज राजकुमार को 'स्वामी'[1] शब्द से तथा शेष राजकुमारों को 'भर्तृदारक' शब्द से सम्बोधित किया जाए।

सोम्य भद्रमुखेत्येवं हे पूर्वञ्चाधमं वदेत् ॥ १२ ॥

अधम पात्र को हे (अरे) शब्द को पूर्व में प्रयुक्त करते हुए "सौम्य"[2] या 'भद्रमुख' शब्द से सम्बोधित किया जाए ॥ १२ ॥

यद्यस्य कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा।
स तेन नाम्ना [1]सम्भाष्यो नाटकादौ[2] प्रयोक्तृभिः ॥ १३ ॥

नाटक में जिस व्यक्ति का जो कार्य, हुनर (शिल्प) विद्या, जाति, जन्म (कुल) या उसकी अवस्था या स्थिति हो तो उसके अनुरूप ही उसे उसी नाम से सम्बोधित किया जाए ॥ १३ ॥

वत्स पुत्रक तातेति नाम्ना गोत्रेण वा पुनः।
वाच्यः शिष्यः सुतो वापि पित्रा[3] वा [4]गुरुणापि वा ॥ १४ ॥

---

१. इस प्रकार 'स्वामी' शब्द से युवराज को सम्बोधित करने के बजाय नाटकों में प्रायः राजा को सम्बोधन करना प्राप्त होता है। जैसे स्वप्नवासवदत्त में यौगन्धरायण का उदयन को सम्बोधित करना, आदि। इसी प्रकार युवराज या राजकुमार के लिये एक सामान्य शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे प्रतिमा में प्रतिहारी राम को भर्तृदारक शब्द से सम्बोधित करती है, स्वामि शब्द से नहीं। (दे० प्र० ना० १।२।९)। हां, इस सन्दर्भ में 'कुमार' शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाना अवश्य मिलता है। जैसे प्रतिमा अं० ३ में भरत का सम्बोधन तथा इसी प्रकार मुद्रा० रा० में मलयकेतु को भी। 'सौम्य' शब्द का नाटकों में प्रयोग कम मिलता है पर भद्र या भद्रमुख शब्द का प्रयोग यत्र तत्र अवश्य मिलता है। जैसे प्रतिमा और शाकु० में।

२. इस नियम के अधिक उदाहरण नहीं मिलने पर इसका उदाहरण मृच्छ क० में चारुदत के पुत्र द्वारा चाण्डालों को किया गया सम्बोधन कदाचित् हो सकता है।

---

१. भाष्यो हि—क०। २. नाटकादिषु योक्तृभिः क०।
३. नाटके नाट्यकोविदैः—क०। ४. गुरुणाऽथवा—ग०।

अपने शिष्य या पुत्र को गुरु के द्वारा वत्स, पुत्र, तात या उसके गोत्र या नाम से सम्बोधित किया जाए ॥ १४ ॥

सम्भाष्या शाक्यनिर्ग्रन्था [1]भदन्तेति प्रयोक्तृभिः ।

बौद्ध तथा जैन साधुओं को 'भदन्त' शब्द से सम्बोधित करना चाहिये ।

आमन्त्रणैस्तु पाषण्डा शेषाः[2] स्वसमयाश्रितैः ॥ १५ ॥

अन्य पाशुपत आदि सम्प्रदाय के साधुओं को उनके अपने नियमानुसारी सम्बोधनों से सम्बोधित करना चाहिए ॥ १५ ॥

देवेति नृपतिर्वाच्यो भृत्यैः [3]प्रकृतिभिस्तथा ।
भट्टेति सार्वभौमस्तु नित्यं परिजनेन [4]तु ॥ १६ ॥

राजा को अपने प्रजाजन तथा सेवकों के द्वारा 'देव' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए । परन्तु यदि यही सार्वभौम राजा हो तो सदा इसे 'भट्ट' या 'भर्ता' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ १६ ॥

राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यो ह्यपत्यप्रत्ययेन वा ।
वयस्य राजन्निति वा भवेद्वाच्यो महीपतिः ॥ १७ ॥
विदूषकेण राज्ञी च चेटी[5] च भवतीत्यपि ।
नाम्ना वयस्येत्यपि वा राज्ञा वाच्यो विदूषकः ॥ १८ ॥

ऋषिगण के द्वारा राजा को उसके कुलागत नाम (जैसे पुरुवंश के लिए "पौरव" शब्द) द्वारा सम्बोधित करना चाहिए और विदूषक के द्वारा राजा को "वयस्य" तथा 'राजन्' शब्द से सम्बोधित किया जाए । तथा इसी (विदूषक) के द्वारा महारानी तथा उनकी दासियों को 'भवती' शब्द से सम्बोधित किया जाए तथा राजा भी विदूषक को उसके नाम या फिर 'वयस्य' शब्द से सम्बोधित करे ॥ १७-१८ ॥

सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्यः आर्यपुत्रेति यौवने ।
[6]अन्यदा पुनरार्येति महाराजेति भूपतिः ॥ १९ ॥

---

१. भद्रं ते—क० ।
२. शेषां स्वयमुपागतैः—ख०; शेषास्तु समयाश्रितैः—ग० ।
३. परिजनेन वा—क० । ४. हि—ख०; ग० ।
५. चेटचा च—ख०; ग० ।
६. पद्यार्धमेतत् ख० पुस्तके नास्ति ।

सभी स्त्रियों को यौवन में अपने पति को 'आर्यपुत्र' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए। परन्तु कुछ अवस्थाओं में पति को केवल 'आर्य' शब्द से भी सम्बोधित किया जा सकता है। यदि पति राजा हो तो उसे महारानी द्वारा 'महाराज' शब्द से सम्बोधित किया जाए ॥ १९ ॥

आर्येति पूर्वजो भ्राता वाच्यः पुत्र इवानुजः[1]।
पुरुषाभाषणं ह्येवं कार्यं नाट्ये प्रयोक्तृभिः ॥ २० ॥

बड़े भाई को 'आर्य' शब्द से तथा छोटे भाई को अपने पुत्र के समान उपयुक्त शब्द द्वारा सम्बोधित करना चाहिए। पुरुष पात्रों के द्वारा नाटकों में सम्बोधन का यही विधान है ॥ २० ॥

पुनः स्त्रीणां [2]प्रवक्ष्यामि यथाभाष्यास्तु नाटके।
तपस्विन्यो देवताश्च वाच्या भगवतीति च ॥ २१ ॥

अब मैं स्त्रियों के द्वारा स्त्रियों के प्रति नाटक में किये जाने वाले सम्बोधन शब्द बतलाता हूँ। तपसी स्त्रियाँ तथा देवी को 'भगवती' शब्द से सम्बोधित किया जाए ॥ २१ ॥

[3]गुरुभार्या तु वक्तव्या स्थानीया भवतीति च।

पूज्य गुरुजन की पत्नियों या अन्य ज्येष्ठावस्था की स्त्रियों (स्थानीय) को 'भवती' शब्द से सम्बोधित किया जाए।

ग्राम्या[4] च भद्रेति वाच्या[5] वै [6]वृद्धाम्बेति च नाटके ॥ २२ ॥

पहुंच या भेंट के उपयुक्त ग्रामीण स्त्री (ग्राम्या) को 'भद्रे' तथा बूढ़ी स्त्री को 'अम्बा' (माता शब्द से भी) शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ २२ ॥

महारानी के प्रति सम्बोधन शब्द—

[7]राजपत्नस्तु सम्भाष्याः सर्वाः परिजनेन वै।
भट्टिनी स्वामिनी [8]देवीत्येवं वै नाटके बुधैः ॥ २३ ॥

१. अस्मादनन्तरं—योषिद्भिरथ काम्येति राजपुत्रेति योधनैः। इति. पद्यार्धमधिकं क—पुस्तके दृश्यते।

२. स्त्रीणाञ्च वक्ष्यामि संभाषां नाटकाश्रयाम्—ग०।

३. गुरुरार्येति—क०। ४. गम्या—क०।

५. वक्तव्या—ख०; ग०। ६. वृद्धा वाच्येति नाटके—ग०।

७. राजपुत्र्यस्तु—क०; राजपत्न्यश्च—ग०।

८. स्वामिनीत्येवं सर्वदा—क०; देवी इत्येवं—ख०; ग०।

नाटक में राज पत्नियों को सेवक तथा परिचारिकाओं के द्वारा भट्टिनी, स्वामिनी तथा देवी शब्द से सम्बोधित किया जाए ॥ २३ ॥

देवीति महिषी वाच्या राज्ञा परिजनेन वा ।

भोगिन्यः [1]परिशिष्टास्तु स्वामिन्य इति वा पुनः ॥ २४ ॥

इनमें पटरानी को 'देवी' शब्द से परिजन तथा राजा के द्वारा भी सम्बोधित किया जाए । राजा की शेष पत्नियों को परिजन 'भट्टिनी' या 'स्वामिनी' शब्द से सम्बोधित करे ॥ २४ ॥

राजकुमारियों के लिये सम्बोधन—

[2]कुमार्यश्चैव वक्तव्याः प्रेष्याभिर्भर्तृदारिकाः ।

अविवाहित राजकुमारियों को (उनकी) दासियां 'भर्तृदारिका' शब्द से सम्बोधित करें ।

स्वसेति भगिनी वाच्या [3]वत्सेति च यवीयसी ॥ २५ ॥

बड़ी बहिन को 'भगिनी' तथा छोटी बहिन को 'वत्से' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ २५ ॥

ब्राह्मणी, भिक्षुणी, आदि के सम्बोधन शब्द—

ब्राह्मण्यार्येति वक्तव्या लिङ्गस्था व्रतिनी च या ।

ब्राह्मणी, साधुनी या व्रतधारिणी स्त्री को 'आर्या' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ।

पत्नी के प्रति सम्बोधन शब्द—

पत्नी चार्येति सम्भाष्या [4]पितृनाम्ना सुतस्य वा[5] ॥ २६ ॥

अपनी धर्मपत्नी को 'आर्या' शब्द से या पिता और पुत्र के नाम से सम्बद्ध करते हुए शब्दों से सम्बोधित किया जाए ॥ २६ ॥

स्त्रियों के अपनी सखियों के प्रति सम्बोधन—

समानाभिस्तथा सख्यः[6] हलेति स्यात् परस्परम् ।

---

१. भट्टिन्यः इति शेषास्तु—ख०; ग० ।

२. पद्यार्धमेतत् ख० ग० पुस्तकयोर्नास्ति ।

३. ज्येष्ठा वत्सेति चानुजा—ख०; ग० ।

४. पितुर्नाम्ना—ख०; ग० । ५. सा—ख०; ग० ।

६. सख्यो हला भाष्याः परस्परम्—ख०; ग० ।

स्त्रियों की जो हमजोल या समवयस्का सखियाँ हों उन्हें वे परस्पर 'हला' शब्द से सम्बोधित करें।

स्त्रियों के दासी के प्रति सम्बोधन शब्द—

प्रेष्या हञ्जेति वक्तव्या स्त्रिया[1] यत्तूत्तमा भवेत् ॥ २७ ॥

उत्तम स्त्रियों के द्वारा सेविका या दासी को 'हंजे' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ २७ ॥

वेश्या के प्रति सम्बोधन शब्द—

अज्जुकेति च[2] वक्तव्या वेश्या परिजनेन च।
[3]अत्तेति गणिकामाता वाच्या [4]परिजनेन हि ॥ २८ ॥

वेश्या को उसके परिचारक, सेवक आदि के द्वारा 'अज्जुका' शब्द से सम्बोधित किया जाए और जब यही वृद्धा हो तो 'अत्ता' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ २८ ॥

प्रणयावस्था में पत्नी के लिये सम्बोधन शब्द—

प्रियेति भार्या शृङ्गारे वाच्या राज्ञेतरेण वा।
पुरोधः सार्थवाहानां [5]भार्यास्त्वार्येति सर्वदा ॥ २९ ॥

प्रणयावस्था में राजा के अतिरिक्त सभी पुरुष पत्नी को 'प्रिये' शब्द से सम्बोधित करें परन्तु पुरोहित और सार्थवाह की पत्नी को सदा 'आर्ये' शब्द से सम्बोधित किया जाए ॥ २९ ॥

नाटक में पात्रों के नाम एवं उनकी विधि—

[6]तल्लिङ्गार्थानि नामानि कार्याणि कविभिः सदा[7]।
औत्पत्तिकानि यानि [8]स्युरप्रख्यातानि नाटके ॥ ३० ॥

नाट्यकार को नाटक में अप्रख्यात पात्रों के ऐसे नाम जो कल्पित हों तो वे उनके गुण आदि से सम्बद्ध यौगिक रूप में ही रखना चाहिए ॥ ३० ॥

---

१. स्त्रियो या तूत्तमा—ख०; ग०।

२. भवेद्वाच्या—ख०; भवेद्वेश्या वाच्या परिजनेन तु—ग०।

३. या त्वत्र वृद्धा सा त्वत्ता भाष्या परिजनेन तु—क० ग०।

४. नाट्यजनेन—ख०; ग०। ५. नार्यस्त्वार्येति—ग०।

६. तल्लिप्सार्थानि—क०; तल्लिङ्गस्थानि—ग०।

७. द्विजाः—क०; ख०।

८. स्युर्न प्रत्याख्याति क; न प्रत्याख्यानि—ख०; ग०।

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय पात्र के नाम—

[1]ब्रह्मक्षत्रस्य नामानि [2]गोत्रकर्मानुरूपतः ।
काव्ये कार्याणि कविभिः [3]शर्मवर्मकृतानि हि ॥ ३१ ॥

इनमें भी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय पात्रों के नाम उनके गोत्र तथा कर्म के अनुरूप रखे जाएँ तथा उनके अन्त में शर्मन् या वर्मन् शब्द को रखा जाए ॥ ३१ ॥

वैश्य तथा शूरों के नाम—

दत्तप्रायाणि नामानि वणिजां [4]सम्प्रयोजयेत् ।
शौर्योदात्तानि नामानि तथा शूरेषु[5] योजयेत् ॥ ३२ ॥

वैश्य पात्र के नाम 'दत्त' शब्द से युक्त और शूरों के नाम उनके शौर्य, औदार्य आदि गुणों के सूचक रहने चाहिए ॥ ३२ ॥

रानियों तथा वेश्या के नाम—

विजयार्थानि नामानि [7]राजस्त्रीणाञ्च नित्यशः ।
दत्ता[8] मित्रा च सेना च वेश्यानामानि[9] योजयेत् ॥ ३३ ॥

राज-पत्नियों के नाम विजय परक अर्थ के सूचक रखने चाहिए तथा वेश्याओं के नाम दत्ता, मित्रा तथा सेना शब्दान्त रखे जाएं ॥ ३३ ॥

दासी (प्रेष्या) के नाम—

नाना कुसुमनामानः प्रेष्याः कार्यास्तु नाटके ।

नाटक में प्रेष्याओं (दासियों) के नाम विविध पुष्पों पर रखे जाएं ।

चेट के नाम—

मङ्गलार्थानि नामानि चेटानामपि योजयेत्[10] ॥ ३४ ॥

'चेट' (आदि) के नाम मंगलार्थ को लिए हुए रखे जाएं ॥ ३४ ॥

---

१. ब्राह्मक्षत्रस्य—ग० । २. धर्मकर्मा—क० ।
३. शर्मवर्मेति तानि हि—क० । ४. शर्मवर्मेति तानि हि—क० ।
५. अस्मादनन्तरं—कापालिकास्तु घण्टान्तनामानः समुदाहृताः ।' इति पद्यार्धमधिकं प्रक्षिप्तञ्च क—पुस्तके वर्तते ।
६. शूरे प्रयोजयेत्—क० ।
७. राजस्त्रीणाञ्च कारयेत्—ख; राज्ञां स्त्रीणाञ्च कारयेत्—ग० ।
८. दत्तां मित्राञ्च सेनाञ्च—क० ।
९. वेश्यामित्राणि कारयेत्—क० । १०. कारयेत्—ग० ।

उत्तम पात्रों के नाम—

गम्भीरार्थानि नामानि [1]ह्युत्तमानां प्रयोजयेत् ।
[2]यस्मान्नामानुसदृशं कर्म तेषां भविष्यति ॥ ३५ ॥

उत्तम पात्रों के नाम किसी गम्भीर अर्थ के सूचक रखे जाए क्योंकि उनके कार्य उनके नाम के अनुरूप ही नाटकादि में रहते हैं ॥ ३५ ॥

अन्य पात्रों के नाम—

जातिचेष्टानुरूपाणि शेषाणामपि [3]योजयेत् ।
नामानि पुरुषाणाञ्च[4] स्त्रीणाञ्चोक्तानि तत्त्वतः ॥ ३६ ॥
एवं [5]नामविधानन्तु कर्तव्यं कविभिः[6] सदा ।

(इसके अतिरिक्त) शेष पात्रों के नाम उनके जन्म, जाति तथा कार्य के अनुसार रखना चाहिए ।

इस प्रकार स्त्री तथा पुरुषों के नाटक में रहने वाले नामों का मैंने औचित्यपूर्ण वर्णन कर दिया ।

नाट्यकार को अपनी रचना में इसी विधान के अनुसार पात्रों के नाम[1] रखने चाहिए ॥ ३६–३७ ॥

एवं [7]भाषाविधानन्तु ज्ञात्वा कर्माण्यशेषतः[8] ॥ ३७ ॥
ततः पाठ्यं प्रयुञ्जीत [9]षडलङ्कारसंयुतम्[10] ।

---

१. यद्यपि नाट्य शास्त्र में सम्बोधन एवं नाम रखने के विविध नियम बतलाए परन्तु इनके अनुसार सम्बोधन वर्तमान नाट्यरचनाओं में उपलब्ध नहीं होते । इससे प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्रीय अध्ययन या प्राचीन शास्त्रीय परिपाटी की शिथिलता ही इसमें मूलभूत कारण हुई । यह भी हो सकता है कि इन नियमों की अधिक अपेक्षा न रहने के कारण ही शायद उपेक्षा की गई हो ।

---

१. योजयेदुत्तमेषु च—ख०; ग० । २. कस्मान्नामानु—क० ।
३. कारयेत्—ख०; ग० । ४. पुरुषाणान्तु—ख०; ग० ।
५. नामाभिधानन्तु—ग० । ६. कविभिस्त्वथ—ग० ।
७. भाषाविधानानि—क०; भाषाविधानादि ज्ञात्वा सर्वमशेषतः—ख०; ग० ।
८. पद्यार्धस्यास्य पाठान्तरं क—(भ.) पुस्तके—'भाषाविधानं विज्ञेयं ततः प्रकृतिसम्भवम् ।' इति ।
९. संश्रयम्—क० ।
१०. ततः पाठ्यस्य वक्ष्यामि गुणांश्च द्विजसत्तमाः । स्वरै षड्जादिभिर्युक्तं नानारससमन्वितम् । क० (?)

इस प्रकार विस्तारपूर्वक भाषा विधान आदि को ठीक तरह से जानकर नाट्यकार को छः अलंकारों से युक्त 'पाठ्य' की योजना करनी चाहिए ॥ ३७–३८ ॥

पाठ्य के गुण एवं स्वरूप—

पाठ्यगुणानिदानीं वक्ष्यामः। तद्यथा—सप्तस्वराः, त्रीणि स्थानानि, चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलङ्काराः षडङ्गानीति। एषामिदानीं [1]लक्षणमभिव्याख्यास्यामः। तत्र सप्तस्वराः नाम-षड्ज-र्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः। त एते रसेषूपपाद्याः। यथा—

अब मैं 'पाठ्य' के गुणों का वर्णन करता हूँ। इसमें सात स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो प्रकार की काकु, छः अलंकार तथा पांच अंग होते हैं। अब मैं क्रमशः उनके लक्षण बतलाता हूँ।

सात स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद। इन स्वरों को विभिन्न रसों के अनुसार उपयुक्त एवं अनुकूल स्थिति में रखना चाहिए।

विभिन्न रसों के अनुकूल सात स्वर—

हास्य शृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ ॥ ३८ ॥
षड्जर्षभौ [2]तथा चैव वीररौद्राद्भुतेष्वथ।
गान्धारश्च[3] निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे ॥ ३९ ॥
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके।

हास्य तथा शृंगार रस में मध्यम तथा पंचम स्वर तथा वीर, रौद्र और अद्‌भुत रस में षड्ज और ऋषभ स्वर रखना चाहिए। करुणरस में गान्धार तथा निषाद और बीभत्स और भयानक रस में धैवत स्वर रखा जाए ॥ ३८–४० ॥

स्वरों के तीन स्थान तथा उनका उपयोग—

त्रीणि[4] स्थानानि—उरः कण्ठ शिरः इति। भवत्यपि[5] च—
शारीर्यामथ वीणायां त्रिभ्यः स्थानेभ्य एव च ॥ ४० ॥

१. लक्षणान्यभिधास्यामः क०, स्तेषामिदानीं लक्षणान्यभिव्याख्यास्यामः ग०।
२. च कर्तव्यो—क०।
३. निषादश्चैव गान्धारः करुणे संविधीयते। क०।
४. त्रीणि स्थानान्युरःकण्ठशिरांसीति भवन्त्यपि।– ख०; ग०।
५. भवति चात्र श्लोकः—क०।

[1]उरसः शिरसः कण्ठात् स्वरः काकुः प्रवर्तते ।

स्वरों के तीन स्थान हैं उरस्थल, कण्ठ तथा शीर्ष। जैसे—मानव के शरीर में है उसी प्रकार वीणा में स्वर के तीन स्थान नियत होते हैं। वे हैं—छाती, कण्ठ तथा मस्तक[1] ॥ ४०–४१ ॥

आभाषणञ्च[2] दूरस्थे शिरसा सम्प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥
[3]नातिदूरे च कण्ठेन ह्युरसा[4] चैव पार्श्वतः ।

बहुत दूरी पर स्थित किसी व्यक्ति को बुलाने में शीर्षस्वर को उच्चारित किया जाए। जो थोड़ी दूरी पर स्थित हो उसे कण्ठ-स्वर से तथा जो समीप हो उसे छाती के स्थान से निस्सृत स्वर से बुलाया जाए ॥ ४१–४२ ॥

[4]उरसोदाहृतं वाक्यं शिरसा[5] दीपयेद् बुधः ॥ ४२ ॥
[6]कण्ठेन शमनं कुर्यात् पाठ्ययोगेषु[7] सर्वदा ।

पाठ्य स्वर के पाठ के समय जब किसी वाक्य को छाती के स्थान से सस्वर प्रारंभ किया जाए तो उसे शीर्ष स्थान तक खींचना चाहिए तथा कण्ठ स्थान पर उतारना चाहिए ॥ ४२–४३ ॥

---

१. स्वरों की उत्पत्ति नाद से हुई। जीवात्मा जब बोलने की इच्छा करता करता है तो सर्व प्रथम उसे मानसिक प्रेरणा होती है। मन शरीर में स्थित अग्नि को प्रेरित करना है अग्नि पवन को और पवन नाभि स्थान से उठकर क्रमशः हृदय, कंठ और सिर (शीर्ष) में गति उत्पन्न करते हुए अन्त में मुख द्वारा ध्वनिरूप में प्रकट होता है। इस नाभि स्थान से उत्पन्न ध्वनि को सूक्ष्म रूप में 'नाद' कहा जाता है। इस नाद के तीन प्रकार हैं। हृदय से उत्पन्न नाद को मन्द्र, कंठ से उत्पन्न नाद को मध्य तथा शीर्ष में उत्पन्न नाद को तार कहते हैं। यहां इसी आशय से स्वरों के स्थानों का शास्त्रकार द्वारा निर्देश किया गया है।

---

१. उरसा शिरसा—क० ।

२. आभाषणं तु दूरस्थं शिरस्थेन स्वरेण हि । कण्ठेन नातिदूरे स्यादुरसा चैव—क० ।

३. नातिदूरे च कण्ठे च ह्युरसा च समीपतः ।—ख०; नातिदूरेऽपि कण्ठेनाप्युरसा चापि पार्श्वतः—ग० ।

४. उरसोदाहरेद्—क० । ५. शिरसोद्दीपयेद्—ख० ।

६. कण्ठेन शमयेच्चैव—क० । ७. योगे तु नित्यशः—क० ।

चार वर्ण तथा उनका व्यवहार—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः॥ ४३॥

पाठ्य पाठ में चार स्वर (उच्चारण स्थान) होते हैं। यथा—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित॥ ४३॥

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः,[1] वीररौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितैः,[2] करुणबीभत्सभयानकेष्वनुदात्तस्वरितकम्पितैरिति[3]।

हास्य तथा शृङ्गार रस में स्वरित और उदात्त स्वर, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में उदात्त तथा कम्पित स्वर, करुण, वात्सल्य और भयानक रस में अनुदात्त, स्वरित और कम्पित स्वर रहने चाहिए।

काकु के दो प्रकार—

द्विविधा काकुः—साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा[4] चेति। वाक्यस्य साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षत्वात्।

काकु के दो प्रकार हैं—एक साकांक्ष तथा दूसरा निराकांक्ष। क्योंकि वाक्य का आशय इन्हीं दो बातों से सम्बद्ध या इन्हीं पर निर्भर रहता है।

[5]अनियुक्तार्थकं वाक्यं साकाङ्क्षमिति संज्ञितम्।
नियुक्तार्थन्तु यद्वाक्यं निराकाङ्क्षं तदुच्यते॥ ४४॥

वह वाक्य जिसमें अपना पूर्ण रूप से अर्थ प्रकट (निर्णीत) नहीं होता 'साकांक्ष' तथा जिसमें अपना अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट होता हो 'निराकांक्ष' कहलाता है॥ ४४॥

तत्र साकाङ्क्षं[6] नाम—[7]तारादिमन्द्रान्तमनियुक्तार्थमनिर्यातितवर्णालङ्कारं कण्ठोरःस्थलस्थानगतम्। निराकाङ्क्षं[8] नामनियुक्तार्थं निर्यातितवर्णालङ्कारं [9]शिरस्थानगतं मन्द्रादितारान्तमिति[10]।

१. स्वरितोदात्तैर्वर्णैः पाठ्यमुपपाद्यं—क०।
२. उदात्तं कम्पितं—क०। ३. कम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपाद्यम्—क०।
४. निराकाङ्क्षेति—ख०। ५. अनियुक्तकमेकं—क०।
६. तत्र साकाङ्क्षा नाम वाक्यं—क०। ७. अनिर्युक्तार्थं—क०।
८. निराकाङ्क्षा नाम निर्युक्तार्थं—क०। ९. कण्ठोरःस्थान—क०।
१०. तारान्तं पाठ्यमिति—क; तारागतमिति—ग०।

यदि किसी वाक्य के उच्चारण के समय—जिसका अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट न होता हो और जिसमें कंठ और वक्षःस्थल के प्रदेश से स्वर उत्पन्न हो रहा हो, जो तार स्वर से प्रारम्भ होकर मन्द्र स्वर में समाप्त हो जाता हो तथा वर्ण और अलंकारों की पूर्णता जिसमें न रहे तो उसे **'साकांक्ष'** काकु कहते हैं।

'निराकांक्ष' उसे कहते हैं जिसमें किसी वाक्य की उच्चारण दशा में जिसका अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट होता हो तथा जिसमें तार (मूर्धन्य) स्वर से प्रारम्भ होकर मन्द्र स्वर में समाप्ति हो जाती हो और जिसमें वर्ण और अलंकार पूर्ण रूप में विद्यमान हों। (इन वाक्यों का आश्रय लेने के कारण 'काकु' भी दो प्रकार की हो जाती है ।)

छः अलंकार—

अथ षडलङ्कारा[1] नाम—

उच्चो दीप्तश्च[2] मन्द्रश्च नीचो[3] द्रुतविलम्बितौ ।
[4]पाठ्यस्यैते ह्यलङ्कारा लक्षणञ्च [5]निबोधत ॥ ४५ ॥

स्वरों के छः अलंकार जो पाठ्य में रहते हैं। वे हैं—(१) उच्च, (२) दीप्त, (३) मन्द्र, (४) नीच, (५) द्रुत तथा (६) विलम्बित ॥ ४५ ॥

अलंकारों का विनियोग—

उच्चो नाम—शिरःस्थानगतस्तारस्वरः, स च दूरस्था [6]भाषण-विस्मयोत्तरोत्तरसञ्जल्पदूराह्वानत्रासनाबाधाद्येषु[7] ।

'उच्च' स्वर उसे कहते हैं जो मूर्धस्थान से उत्पन्न हो (मूर्धन्य) और 'तार' स्वर उसे जो थोड़ी ऊँची आवाज में बोला जाता हो। इसका उपयोग दूरस्थ व्यक्ति से संभाषण, विस्मय, परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर, दूरस्थ व्यक्ति को पुकारना, त्रास तथा बाधा आदि में किया जाता है।

---

१. षडलङ्काराः—ख०; ग० ।
२. दीप्तोऽथ,—क० ।
३ नीचद्रुतविलम्बिताः—क० ।
४. पाठस्यैते—क० ।
५. विनिबोधत—क० ।
६. विस्मयोत्तरसंजल्पनदूराह्वानबाधाद्येषु—क० ।
७. बाधाक्रुष्टकलहाभिधानेषु भावेषु—क०; त्रासनार्थं वाद्येषु—ख०; ग० ।

दीप्तो नाम—शिरःस्थानगतस्तारतरः,[1] स चाक्षेपकलह[2] [3]विवादामर्षकुष्टाधर्षणक्रोधशौर्यदर्पतीक्ष्णरूक्षाभिधाननिर्भर्त्सनाक्रन्दितादिषु[4] ।

दीप्त स्वर उसे कहते हैं जो मूर्धा स्थान से उत्पन्न हो और तारतर अर्थात् कुछ अधिक ऊंची आवाज से उच्चारित किया जाता हो। इसका संयोजन आक्षेप, युद्ध, कलह, विवाद (झड़प), अमर्ष, जोर से खींचना (आधर्षण), क्रोध, शौर्य, अहंकार (दर्प), तेज या रूखा उत्तर देना, डांटना तथा रोना आदि के प्रसंगो में किया जाता है।

मन्द्रो नाम—[5]उरःस्थानगतो [6]निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्य दैन्यव्याधि[7] क्रीडागाढ़शस्त्रक्षतमूर्च्छामदगुह्यार्थवचनादिषु[8] ।

मन्द्रस्वर वक्षः स्थल से उत्पन्न होता है। इसकी योजना निर्वेद, ग्लानि, शंका, चिन्ता, औत्सुक्य, दैन्य, (आवेग) व्याधि, (क्रीड़ा) शस्त्रों के गहरे घाव, मूर्च्छा, मद तथा गूढ़ार्थक शब्दों के कहने आदि में की जाती है।

नीचो नाम [9]उरःस्थानस्थो मन्द्रतरः, स च स्वभावाभाषणव्याधि-[10] शमश्रमार्त-त्रस्त-पतितमूर्च्छितादिषु ।

नीच स्वर वक्षःस्थले से उत्पन्न होने वाला और अत्यन्त मन्द्र (मन्द्रतर) स्वर होता है। इसकी योजना स्वाभाविक संभाषण, व्याधि, मार्ग चलने से थके, त्रस्त तथा व्यक्ति के गिरने, मूर्च्छित होने आदि दशा में की जाती है।

---

१. शिरस्थानातिरस्कारः सच—क० ।

२. वाद – क० ।

३. दामर्षोत्क्रुष्टाधर्षण - ख०; ग० ।

४. दाक्रन्दनादिषु—क० ।

५. उरसि मद्रस्वरः—क० ।

६. ग्लानि शङ्काचिन्तौ—क० ।

७. दैन्यव्याधिगाढ—ख०; ग० ।

८. मूर्च्छामदादिषु—ख०; ग० ।

९. तत्रैव मन्द्रतरः—क० ।

१०. भयशान्तत्रस्तपतितमूर्च्छितादिषु—क०; स्वभाषाभाषणव्याधितपथिश्रान्तत्रस्त—ख०; ग० ।

द्रुतो[1] नाम कण्ठगतः[2]। स च त्वरितः लल्लनमन्मनभयशीतज्वर-[3] त्रासायस्तात्ययिककार्यावेदनादिषु।

द्रुत स्वर कंठ स्थान से शीघ्रतापूर्वक उच्चारित किया जाता है। इसकी योजना स्त्रियों के द्वारा बालकों को सान्त्वना देने या चुप करने तथा प्रिय के प्रस्ताव को अस्वीकृत करने में और भय, शीत, ज्वर, त्रास, आवेग, गुप्त एवं आवश्यक या शीघ्र किये जाने वाले (आत्ययिक) कार्य के बतलाने आदि में करनी चाहिए।

विलम्बितो नाम [4]कण्ठगतस्थानगतस्तनुमन्द्रः, स च [5]शृङ्गार-करुणवितर्कितविचारामर्षासूयिता[6]व्यक्तार्थप्रवादलज्जाचिन्तातर्जन[7] विस्मयदोषानु[8]कीर्तनदीर्घरोग[9]-निपीडनादिषु।

विलम्बित स्वर कण्ठ स्थान से उच्चारित होता है तथा थोड़ा मन्द्र स्वरूप वाला होता है। इसका प्रयोग प्रणय (शृंगार), वितर्क, विचार, अमर्ष, असूया, अटपटी बात कहने (अव्यक्तार्थ-प्रवाद), लज्जा, चिन्ता, तर्जन, आश्चर्य (विस्मय), दोष कथन या निन्दा, लम्बी बीमारी तथा पीड़ा आदि में करना चाहिए।

अत्रानुवंश्या श्लोका भवन्ति—

[10]उत्तरोत्तरसञ्जल्पपरुषाक्षेपणेषु[11] च।
तीक्ष्णरूक्षाभिनयने [12]आवेगे क्रन्दिते तथा॥ ४६॥
[13]परोक्षस्य समाह्वाने तर्जने त्रासने तथा।
दूरस्थाभाषणे चैव तथा निर्भर्त्सनेषु च॥ ४७॥

---

१. ह्रस्वो नाम—ख०।

२. कण्ठगतस्त्वरितलज्जितमन्मथभय—ख०; कण्ठगतस्खलितवेल्लनमदन-भय—ग०।

३. वातज्वरात्तंत्रस्तांकार्यवेदनादिषु—ख०; शीतज्वरत्रस्तायस्तागूढ़कार्य-वेदनादिषु—ग०।

४. कण्ठस्थानस्थो—ख०; कण्ठस्थानगतः मन्द्रः—ग०।

५. शृङ्गारवितर्क—ख०; शृङ्गारवितर्कित—ग०।

६. मर्षाश्वसित—क०। ७. विस्मित—ख०।

८. दोषानुकीर्तनेन—ख०। ९. दीर्घरोष—ग०।

१०. संजल्पे—ख०; ग०। ११. क्षेपणे तथा—ख०; ग०।

१२. तथाऽऽक्रन्दे च नित्यशः—क०।

१३. परोक्षह्वयने चैव तर्जनत्रासनेषु च—क०।

[1]भावेष्वेतेषु नित्यं हि नानारससमाश्रया ।
उच्चा दीप्ता द्रुता चैव काकुः कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ ४८ ॥

इस विषय में ये आनुवंशीय श्लोक हैं—

विभिन्न रस और भावों को उपयुक्त (योग्य) बनाने के लिए काकु स्वर को उच्च, दीप्त तथा द्रुत रखना चाहिए जब कि प्रश्न और उत्तर की झड़ी लग रही हो, कठोर वचनों में आरोप-प्रत्यारोप होते हों, तीखी और रूखी बात चलने में, आवेग, विलाप (क्रन्दन); अप्रत्यक्ष व्यक्ति को युद्ध के लिए ललकारने, किसी को भयभीत करने या कष्ट देने में दूर स्थित व्यक्ति को बुलाने में तथा (किसी को) धौंस देने की अवस्था दिखलाई जा रही हो ॥ ४६–४८ ॥

व्याधिते च ज्वरार्ते च [2]भयार्ते शीतविप्लुते ।
[3]नियमस्थे वितर्के च गाढ़शस्त्रक्षतेषु[4] च ॥ ४९ ॥
[5]गुह्यार्थवचने चैव चिन्तायां तपसि स्थिते ।
मन्द्रा नीचा[6] च कर्तव्या [7]काकुर्नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ ५० ॥

जब व्याधि दशा, ज्वर, भूख, प्यास, तुच्छ व्यक्ति को देखने, नियमन, वितर्क, शस्त्रों के गहरे घाव हो जाने, गोप्य शब्दों को वहन करने, औत्सुक्य तथा किसी उग्र कथा के बतलाने के अवसर हो तो ऐसे अवसर पर मन्द्र और नीच काकु स्वर को रखना चाहिए ॥ ४९–५० ॥

[8]लल्ले च मन्मने चैव भयार्ते शीतविप्लुते ।
मन्द्रा द्रुता च कर्तव्या काकुर्नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ ५१ ॥

मन्द्र और द्रुत काकु स्वर तब रखना चाहिए जब कि स्त्रियों के द्वारा बच्चों को बहलाने पुचकारने की, प्रणय प्रस्ताव की अस्वीकृति, भय तथा शीत के द्वारा कष्ट पाने की दशा दिखलायी जा रही हो ॥ ५१ ॥

---

१. एषु नानारसोपेता नित्यमर्थप्रदर्शिका—क०, सर्वेष्वेतेषु—चैव—ख०; ग० ।

२. शोके च क्षुत्पिपासिते—क०, क्षोभे च क्षुत्पिपासिते—घ० ।

३. विषम—क० । ४. क्षते तथा—क० ।

५. गूढ़ार्थ—क० ।

६. स्थिता—क०; द्रुता—ख०; ग० ।

७. काकुः कार्या प्रयो—क० ।

८. मल्ले च मदने चैव—क० ।

दृष्टनष्टानुसरणे[1] इष्टानिष्टश्रुते[2] तथा।
[3]इष्टार्थख्यापने चैव [4]चिन्ताध्याने तथैव च॥५२॥
उन्मादेऽसूयिते[5] चैव उपालम्भे तथैव हि।
[6]अव्यक्तार्थप्रवादे च कथायोगे तथैव च॥५३॥
उत्तरोत्तरसञ्जल्पे कार्येऽतिशयसंयुते।
[7]विक्षते व्याधिते क्रोधे दुःखे[8] शोके तथैव च॥५४॥
[9]विस्मयामर्षयोश्चैव प्रहर्षे[10] परिदेविते।
विलम्बिता च दीप्ता च काकुर्मन्द्रा[11] च वै भवेत्[12]॥५५॥

विलम्बित, दीप्त तथा मन्द्र काकु स्वर तब रखना चाहिए जब कि कोई खोई हुई वस्तु दिखाई पड़े तो उसका पीछा करने, किसी अनचाहे व्यक्ति या बात को सुनने, किसी इष्ट वस्तु को बतलाने या प्रकट करने, चिन्ताग्रस्त होने, उन्माद, असूया, उपालम्भ जैसे कार्य अत्यन्त गुप्त बात कहने, किसी कहानी के कहने, उत्तरोत्तर भाषण करने, अत्यन्त कार्य व्यस्त होने, किसी शरीर के अवयव के क्षत-विक्षत हो जाने या शरीर के किसी भाग में व्याधि उत्पन्न हो जाने और दुःख तथा शोक की दशा उत्पन्न हो, तथा विस्मय, क्रोध, हर्ष या रुदन होता हो॥५२-५५॥

यानि सौम्यार्थयुक्तानि [13]सुखभावकृतानि च।
मन्द्रा विलम्बिता चैव तत्र काकुर्विधीयते॥५६॥

मन्द्र और विलम्बित काकु स्वर तब रखे जाएं जब कि शब्दावली किसी हर्षप्रद बात को या सुखकारी वृत्त को बतलाने वाली हो॥५६॥

---

१. नुसारेण—ख०; ग०। २. श्रुतौ—ख०; ग०।
३. दृष्टार्थं—क०। ४. चिन्ताग्रस्ते—ख०; चिन्तायाने—ग०।
५. सूयने—ख०। ६. अव्यक्तार्थप्रदाने च तथा लोके—क०; ख०।
७ विक्षते व्याधिते त्वङ्गे—ख०; ग०।
८. दुःखशोके—ख०; ग०।
९. अमर्षे विस्मये चैव—क०। १०. हर्षे च—ख०; ग०।
११. मन्दा—क०। १२. अस्मादनन्तरं क—पुस्तके च—

लघ्वक्षरप्रायकृते गुर्वक्षरकृते तथा।
उच्चा दीप्ता च कर्त्तव्या काकुस्तत्र प्रयोक्तृभिः॥

इति अधिकं लभ्यते।
१३. सुखनादकृतानि वै—क०; सुखभावकृतानि च—ग०।

यानि स्युस्तीक्ष्णरूक्षाणि दीप्ता चोच्चा[1] च तेष्वपि।
एवं नानाश्रयोपेतं पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः ॥ ५७ ॥

दीप्त तथा उच्च काकु स्वर तब रखे जाएं जब कि उच्चारित शब्दों में कुछ तीखापन या खुदरापन (प्रकट होता) हों। इस प्रकार नाट्य निर्देशक विविध आश्रयों से युक्त काकु-स्वरों का 'पाठ्य' में प्रयोग करें ॥ ५७ ॥

विभिन्न रसों में नियत काकु स्वर—

हास्य शृङ्गारकरुणेष्विष्टा काकुर्विलम्बिता।
वीररौद्राद्भुतेषूच्चा दीप्ता [2]वापि प्रशस्यते ॥ ५८ ॥
भयानके स बोभत्से द्रुता नीचा च कीर्तिता।
एवं भावरसोपेता काकुः[3] कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ ५९ ॥

हास्य, शृङ्गार तथा करुण रस में 'विलम्बित' काकु स्वर और वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में 'दीप्त' काकु स्वर प्रशस्त होता है ॥ ५८ ॥

तथा भयानक और बीभत्सरस में द्रुत और नीच काकु स्वर उत्तम होता है। इस प्रकार भाव तथा रसों के अनुकूल काकु स्वरों की उचित प्रदेशों में योजना की जाए ॥ ५९ ॥

उच्चारण के छः अंग—

[4]अथाङ्गानि षट्—विच्छेदोऽर्पणं विसर्गोऽनुबन्धो दीपनं प्रशमनमिति[5]। तत्र विच्छेदो नाम [6]विरामकृतः। अर्पणं नाम [7]लीलायमानमधुरवल्गुना स्वरेण पूरयतेव रङ्गं[8] यत् पठ्यते तदर्पणम्। विसर्गो नाम [9]वाक्यन्यासः। अनुबन्धो नाम [10]पदान्तरेष्वपि विच्छेदः [11]अनुच्छ्वसनं वा। दीपनं नाम त्रिस्थानशोभि वर्धमानस्वरञ्चेति। प्रशमनं नाम तारगतानां स्वराणां[12] प्रशाम्यतामवैस्वर्येणावतारणमिति[13]।

---

१. वोच्चा—ख०। २. चापि—ग०।
३. काकुर्योज्या—ख०; ग०। ४. अथ षडङ्गानि—क०।
५. इति षडङ्गानि—ख०; ग०। ६. विरामः—क०।
७. लीलावर्णस्वरूपेणापूरयदि—ख०; ग०।
८. रसं—क०। ९. वाक्योपन्यासः—क०।
१०. पदस्य विच्छेदमन्तरेणानुच्छ्वासनं—क०; पदान्तरेष्वविच्छेद–ग०।
११. अनुच्छ्वननं वा—ख०; अनुदच्छ्वासनं वा—ग०।
१२. स्वराणामेकस्वर्येण—क०; णावरोहण—ख०; णावतरणमिति—ग०।

अब (उच्चारण के) छः अंग बतलाते हैं—ये हैं—(१) विच्छेद, (२) अर्पण, (३) विसर्ग, (४) अनुबन्ध, (५) दीपन तथा (६) प्रशमन।

इनमें विराम के कारण होने वाला (अंग) 'विच्छेद' कहलाता है। (जिसका आगे विशद विवेचन दिया जा रहा है)।

लीला या सौकुमार्य से पूर्ण स्वरों में प्रेक्षागृह को भरते हुए जिस शब्दावली का पाठ किया जाए उसे 'अर्पण' कहते हैं। वाक्य का पूर्ण करना 'विसर्ग' कहलाता है। दो अथवा अधिक पदों (शब्दों) के बीच विच्छेद न करना या उनके उच्चारण की दशा में सांस का न टूटना 'अनुबन्ध' कहलाता है। जो स्वर तीनों (उरः, कंठ, मस्तक) स्थान से उच्चारित होकर क्रमशः बढ़ता जाए तो 'दीपन' कहलाता है। ऊंचे चढ़ाए हुए स्वरों को धीरे-धीरे नीचे की ओर बिना वैस्वर्य के लाना 'प्रशमन' कहलाता है।

[1]एषाञ्च रसगतः प्रयोगः—तत्र हास्यशृङ्गारयोराकाङ्क्षायामर्पण-विच्छेददीपनप्रशमनयुक्तं पाठ्यं[2] कार्यम्। दीपनप्रशमनयुक्तं करुणे[3]। विच्छेदप्रशमनदीपनानुबन्धबहुलं वीररौद्राद्भुतेषु, [4]विसर्गविच्छेद-युक्तं बीभत्सभयानकयोरिति।

अब उनके विभिन्न रसों में होने वाले प्रयोग बतलाता हूं। हास्य और शृङ्गार रस में पाठ्य को अर्पण, विच्छेद, दीपन और प्रशमन नामक अंगों से युक्त रखना चाहिए। करुण रस में दीपन और प्रशमन (अंगों) से युक्त रखा जाए। वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में विच्छेद, प्रशमन, अर्पण, दीपन तथा अनुबन्ध युक्त पाठ्य रहना चाहिए। बीभत्स और भयानक रस में विसर्ग, विच्छेद (अर्पण) युक्त पाठ्य रखना चाहिए।

सर्वेषामप्येषां[5] [6]मन्द्रमध्यतारकृतः प्रयोगस्त्रिस्थानगतः। तत्र दूरस्थाभाषणे तारं[7] शिरसा, नातिदूरं मध्यं कण्ठेन, पार्श्वतो मन्द्र-

---

१. एषां रस—क०। २. वाक्यं—ग०।

३. करुणवीराद्भुतेषु समाकाङ्क्षविच्छेदप्रशमनार्पणदीपनानुबन्धबहुलं पाठ्यं प्रयोज्यम्—ख०; ग०।

४. बीभत्सभयानकयोर्विच्छेदार्पणयुक्तमिति—ख०; ग०।

५. चैतेषां—ख०; ग०।

६. मध्यतारव्यवस्थया त्रिस्थानगतः प्रयोगः—ख०; ग०।

७. तारशिरसो – ग०।

मुरसा प्रयोजयेत् पाठ्यमिति । [1]मन्द्रात्तारं न गच्छेत् ताराद्वा मन्द्रमिति ।

इन सभी अंगों का मन्द्र, मध्य एवं तार स्वरों के—जिनकी तीन स्थान से उत्पत्ति हुई है—माध्यम से प्रयोग होता है। किसी दूरस्थ पात्र को पुकारने में तार स्वर का—जो मूर्ध स्थान से उत्पन्न होता है—प्रयोग करना चाहिए। जो पात्र अधिक दूर पर न हो उसे बुलाने में—कण्ठ स्थान से उत्पन्न होने वाले, मध्य स्वर का प्रयोग करना चाहिए। तथा किसी समीप स्थित पात्र से वार्तालाप करने में वक्षःस्थल से उत्पन्न होने वाले मन्द्र स्वर का प्रयोग करना चाहिए। (कभी भी) मन्द्र स्वर से (एकदम) तार स्वर या तार स्वर से मन्द्र स्वर पर नहीं पहुँच जाना चाहिए।

एषाञ्च[2] द्रुतमध्यविलम्बितास्त्रयो लया [3]रसेषूपपाद्याः। तत्र हास्यशृङ्गारयोर्मध्यलयः, [4]करुणे विलम्बितो, वीररौद्राद्भुतबीभत्स-[5]भयानकेषु द्रुत इति।

इन स्वरों की तीन प्रकार की लय का भी विभिन्न रसों में उपयोग किया जाता है। हास्य तथा शृङ्गार रस में मध्यलय, करुण में विलम्बित लय तथा वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स और भयानक रस में द्रुत लय का प्रयोग करना चाहिए।

विराम और उसका लक्षण—

अथ विरामः—अर्थसमाप्तौ कार्यवशान्न छन्दोवशात्। कस्मात्? दृश्यन्ते ह्येकद्वित्रिचतुरक्षरा विरामाः। यथा—

अब 'विराम' बतलाता हूँ। जिसका 'पाठ्य' में उपयोग होता है। यह (विराम) अर्थ की समाप्ति (या वाक्य के पूर्ण हो जाने) के कारण या फिर परिस्थिति पर निर्भर करता है। केवल छन्द के लक्षण पर ही विराम नहीं किया जाता है। क्योंकि व्यवहार में यह पाया जाता है कि एक, दो, तीन या चार अक्षरों पर भी विराम होता है—जैसे निम्न पद्य में—

किं, गच्छ, मा विश, सुदुर्जन, वारितोऽसि[6]
कार्यं, त्वया न, मम सर्वजनोपभुक्तम्[7]।

१. मन्द्रात्तारं गच्छेत्—ख०; मन्द्रात्तारं गच्छत्ताराद्वा मन्द्रमिति— ग०।
२. अत्र च—क०। ३. षूपयोज्याः—क०।
४. करुणे च—क०। ५. बीभत्सकरुणयोर्विलम्बितः—क०।
६. कारितोऽसि—क०। ७. युक्तम्—क०।

[1]सूचासु चाङ्कुरगते च तथोपचारे
स्वल्पाक्षराणि हि पदानि भवन्ति काव्ये[2] ॥ ६० ॥

रे दुष्ट, क्या है, दूर हट, आगे मत वढ़, तू रोक दिया गया है। अरे निर्बल पुरुष ! तू सभी से उपहास किया जा रहा है। मुझे तुम से कुछ भी काम नहीं।

इस प्रकार जिनमें थोड़े अक्षर भी हों पर काव्य में [1]सूचा तथा अंकुर[2] (अभिनय) से युक्त होने और 'विराम' की सम्बद्धता से ऐसे समय स्वतः उनमें गुणशालिता आ जाती है ॥ ६० ॥

एवं विरामे प्रयत्नोऽनुष्ठेयः। कस्मात् ? विरामो ह्यर्थानुदर्शकः।

अतएव 'विराम' के प्रयोग के विषय में ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि विराम अर्थों की स्पष्टता में सहायक होते हैं।

[3]अत्र श्लोकः—
[4]विरामेषु प्रयत्नो हि नित्यं कार्यः प्रयोक्तृभिः।
[5]कस्मादभिनयो ह्यस्मिन्नर्थापेक्षी यतः[6] स्मृतः ॥ ६१ ॥

इस विषय में प्राचीन अनुवंश्य श्लोक भी हैं :—

वाचिक अभिनय में 'विरामों' पर सदा नाट्य निर्देशक को ध्यान देना चाहिए क्योंकि अभिनय उच्चारित शब्दों के अर्थ पर निर्भर होता है ॥६१॥

अलंकार तथा विरामों में हस्त संचालन-विधि—

यत्र व्यग्रावुभौ हस्तौ तत्र दृष्टिसमन्वितः[7]।
वाचिकाभिनयः[8] कार्यो विरामैरर्थदर्शकैः[9] ॥ ६२ ॥

(नृत्य के समय) आंखों को वहीं रखे जहां हाथ अपनी मुद्राओं को प्रदर्शित करते हों तो ऐसी स्थिति में अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विरामों के साथ वाचिकाभिनय अवश्य रख देना चाहिए ॥ ६२ ॥

---

१. सूचा तथा अङ्कुराभिनय के लक्षण नाट्यशास्त्र के अध्याय २४।४३ तथा २४।४४ पर (भाग ३ में) अवलोकन करें।

---

१. सूचाङ्कुराभिनयनेषु—क०; शोकं शुचं कुरु गते च—ख०।
२. कार्ये—ख०। ३. भवत्यपि च—क०।
४. विरामे तु प्रयत्नस्तु—ग०। ५. तस्माद—ग०।
६. यतः स्थितः—ख०; ग०। ७. समन्वितैः—क०।
८. वाचिकोऽभिनयः—क०। ९. दर्शिभिः—क०।

प्रायो वीरे च रौद्रे च करौ प्रहरणाकुलौ।
वीभत्से [1]कुत्सितत्वाच्च भवतः कुञ्चितौ करौ ॥ ६३ ॥
हास्ये चोद्देशमात्रेण करुणे च प्रलम्बितौ।
अद्भुते विस्मयात् स्तब्धौ [2]भयाच्चैव भयानके ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार रौद्र और वीर रस में हाथ शस्त्र प्रहार में व्यस्त रहते हैं। वीभत्स रस में कुत्सित वस्तु के अवलोकन आदि के कारण हाथ सिकुड़े रहते हैं। हास्य रस में हाथ किसी व्यक्ति या वस्तु की ओर लटकाए हुए या ढीले रखे जाते हैं और अद्भुत रस में आश्चर्य के कारण हाथ स्तब्ध (निष्क्रिय) हो जाते हैं ॥ ६३–६४ ॥

एवमादिषु चान्येषु[3] प्रविचारेऽथ[4] हस्तयोः।
अलङ्कारविरामाभ्यां साध्यते ह्यर्थनिश्चयः ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार के अन्य अवसरों पर भी अलंकार और विरामों के द्वारा ही प्रदर्शित अर्थ स्पष्ट होता है ॥ ६५ ॥

ये विरामाः स्मृता वृत्ते[5] तेष्वलङ्कार दृष्यते।
समाप्तेऽर्थे पदे वापि तथा प्राणवशेन वा ॥ ६६ ॥
पदवर्णसमासे च द्रुते बह्वर्थसङ्कटे।
कार्यो विरामः पादान्ते तथा प्राणवशेन वा ॥ ६७ ॥
शेषमर्थवशेनैव विरामं सम्प्रयोजयेत्।

पद्यों में जो विराम रखे गए हैं उनमें अलंकारों की भी अपेक्षा रहती है। शब्द की अर्थ समाप्ति पर या सांस लेने के कारण जैसी भी स्थिति हो— उसमें विराम अवश्य किया जाना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ अक्षर और शब्द दीर्घ समासावली में समाविष्ट हों, या उनका उच्चारण शीघ्र गति से किया जा रहा हो, या उनसे अनेक अर्थ प्रकट हो रहे हों तो इन सभी अवस्थाओं में पाद की समाप्ति या फिर सांस लेने के लिये जहाँ भी आवश्यक रूप में रुकना होता हो तो वहाँ 'विराम' रखे जाएँ। (इसके अतिरिक्त) शेष स्थानों पर अर्थ के अनुसार 'विराम' की योजना की जाए ॥ ६६–६८ ॥

१. कुञ्चितत्वाच्च—क०।
२. विस्मयाविष्टे स्तब्धौ कार्यौ—क०।
३. सर्वेषु—ग०। ४. प्रविचारेषु—ख०; अधिकारेषु—ग०।
५. नृत्ते—क०; एते—ग०।

अत्र[1] च भावगतानि [2]रसगतानि च [3]कृष्याक्षराणि बोद्धव्यानि। तद्यथा—

(वृत्ति)—इसी प्रसंग में भाव तथा रस में होने वाले कृष्याक्षरों को भी जान लेना चाहिए।

[1]कृष्याक्षर और उनका व्यवहार—

[4]आकारैकारसंयुक्तमेकारौकारसंयुतम्।
व्यञ्जनं यद्भवेद्दीर्घं कृष्यं तत्तु विधीयते[5] ॥ ६८ ॥

जो व्यंजन आकार से युक्त या ए, ऐ, औ जैसे दीर्घाक्षर वाले स्वरूप के हों उन्हें कृष्याक्षर समझना चाहिए ॥ ६८ ॥

विषादे च वितर्के च प्रश्नेऽथामर्षे[6] एव च।
कलाकालप्रमाणेन पाठ्यं कार्यं[7] प्रयोक्तृभिः ॥ ६९ ॥

विषाद, वितर्क, प्रश्न और क्रोध की अवस्था में ऐसे वर्णों के (संवाद में) आने पर उन पर एक कला का विराम (प्रमाणानुसार) रखा जाए ॥ ६९ ॥

शेषाणामर्थयोगेन विरामे विरमेदिह[8]।
एकद्वित्रिचतुःपञ्च-षट्कलञ्च विलम्बितम् ॥ ७० ॥

(इसके अतिरिक्त) शेष (अक्षरों के होने पर) उनके अर्थों के

---

१. कृष्यतीति कृष्यो = विलम्बितो लयः तत्र साधूनि कृष्याक्षराणि सन्ध्यक्षराणीत्यर्थः ।' (अभि० भार० voll II. पृ० ४०२) अर्थात् विलम्बित लय के उपयुक्त सन्ध्यक्षर कृष्याक्षर समझना चाहिए। (जैसे आ ई ऊ जैसे दीर्घ अक्षर एवं सन्ध्यक्षर कृष्याक्षर हैं)।

---

१. अथ—क०, ख०; अत्रानुगतानि चत्वार्यक्षराणि रसभावानुगतानि निकृष्टाण्यक्षराणि चोद्बोध्यानि—ग०।

२. रसजातानि—ख०। ३. कृष्याण्यक्षराणि—ख०।

४. एकारैकारसंयुक्तमोकारौकारसंयुतम्—ख०; आकारे करसंयुक्तमेकारे . कारसंयुतम्—ग०।

५. भवेदिह—ख०; ग०।

६. चामर्षणे—ख०; वामर्षणे—ग०।

७. योज्यं—क०। ८. विरमेद्बुधः—क०।

अनुसार जो विराम रखे जाएं वे एक, दो, तीन, चार या पांच कलाओं के समय के प्रमाण वाले हों ॥ ७० ॥

[1]विलम्बिते विरामे हि सदा गुर्वक्षरं भवेत् ।
षण्णां कलानां परतो विलम्बो[2] न विधीयते ॥ ७१ ॥

जो सबसे अधिक समय लेने वाले (अर्थात् लम्बे) विराम हों वहाँ गुरु अक्षर रहने चाहिए किन्तु छः कला से अधिक समय तक होने वाले विराम नहीं हो ॥ ७१ ॥

अथवा [3]कारणोपेतं प्रयोगं कार्यमेव च ।
समीक्ष्य वृत्ते कर्तव्यो विरामो रसभावतः[4] ॥ ७२ ॥

या फिर किसी कार्य या अन्य आवश्यकता आ जाने पर और अधिक समय लेने वाले 'विराम' रखे जा सकते हैं पर इन्हें रस तथा भावों की स्थिति को देखते हुए ही रखना चाहिए ॥ ७२ ॥

ये विरामाः स्मृताः पाठ्ये[5] [6]वृत्तपादसमुद्भवाः ।
उत्क्रम्यापि क्रमं तज्ज्ञैः कार्यास्तेऽर्थवशानुगाः[7] ॥ ७३ ॥

काव्य रचना में 'पादों' के विभाजन से ही 'विरामों' की सृष्टि होती है पर रंगमंच पर उनके अर्थ को प्रकट करने के लिये चतुर जन निर्दिष्ट क्रम में परिवर्तन कर विरामों को रख सकते हैं ॥ ७३ ॥

नापशब्दं पठेत्तज्ज्ञो [8]भिन्नवृत्तं तथैव हि ।
विश्रमेन्नाविरामेषु[9] दैन्ये[10] काकुं न दीपयेत् ॥ ७४ ॥

कोई भी पात्र अशुद्ध शब्द और लक्षणहीन छन्दों का पाठ न करें। निर्दिष्ट विराम स्थल के अलावा अन्य स्थानों पर देर तक न रुके और दैन्य पूर्ण अवस्था में संवादों को बोलते हुए काकु को दीप्त न करे ॥ ७४ ॥

---

१. विरामे च विलम्बे च यदा—ख०; ग० ।
२. लम्बनं—ख०; ग० । ३. करणोपेतं—ग० ।
४. कर्त्तव्या विरामा रसभावतः—क० ।
५. काव्ये—ख०; ग० । ६. वृत्ते—क० ।
७. रसाश्रयाः—क०; तेऽर्थवशास्तदा—ग० ।
८. भिन्नवृत्तेन चैव हि—ख०; ग० ।
९. विश्रमेणाविरामेषु—ख०; ग० ।
१०. न काकुरसहीनकम्—ख०; ग० ।

[1]वर्जितं काव्यदोषैस्तु लक्षणाढ्यं गुणान्वितम् ।
स्वरालङ्कारसंयुक्तं पठेत् [2]पाठ्यं यथाविधिः ॥ ७५ ॥

जिस काव्य रचना का अभिनेता द्वारा मंच पर पाठ किया जाए वह काव्य के दोषों से युक्त नहीं रहना चाहिए, वह लक्षण तथा गुणों से और स्वर तथा अलंकारों से युक्त ही होना चाहिए ॥ ७५ ॥

[3]अलङ्कारा विरामाश्च ये पाठ्ये संस्कृते मताः ।
त[4] एव सर्वे कर्तव्याः स्त्रीणां पाठ्ये त्वसंस्कृते ॥ ७६ ॥

संस्कृत पाठ्य के लिए जिन अलंकार तथा विरामों को हमने बतलाया स्त्री पात्रों के द्वारा कहे जाने वाले प्राकृत पाठ्य में भी उन्हीं का अनुसरण किया जाए ॥ ७६ ॥

एवमेतत्स्वरकृतं[5] कलाकाललयान्वितम् ।
दशरूपविधाने तु पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः ॥ ७७ ॥

नाटयप्रयोक्ता या निर्देशक दश रूपकों को मंच पर प्रदर्शित करने के अवसर पर इन पाठ्य संवादों को उचित प्रकार से स्वर, कला, ताल और लय से युक्त रखकर विचारपूर्वक प्रस्तुत करे ॥ ७७ ॥

[6]उक्तं काकुविधान्तु यथावदनुपूर्वशः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दशरूपविकल्पनम् ॥ ७८ ॥

॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वागभिनये काकुस्वरव्यञ्जनो नाम
[8]एकोनविंशोऽध्यायः ॥



इस प्रकार मैंने उचित प्रकार से क्रमशः काकु स्वर आदि के विषय में

१. व्यपेतं वाक्यशेषैस्तु—ग० । २. काव्यं—ख० ।
३. अलङ्कारविशेषा ये पाठ्यसंस्कृतसंश्रयाः—ख०; ग० ।
४. ते सर्वे सम्प्रकर्त्तव्याः स्त्रीणां पाठ्ये तु संस्कृते ।—ख०; ग० ।
५. युतं—ख०; ग० । ६. ताल—ख०; ग० ।
७. यथा—ख० ।
८. सप्तदशोऽध्यायः—क०; ख० ।

आपको बतलाया। अब मैं दस रूपकों के स्वरूप को (अगले अध्याय में) बतलाता हूँ ॥ ७८ ॥

प्रदीप व्याख्या में भरत मुनि प्रणीत नाटचशास्त्र का 'काकु' स्वर-व्यंजन सम्बोधन आदि निरूपण नामक उन्नीसवां अध्याय समाप्त।



समाप्तश्चायं द्वितीयो भागः।



भरत नाट्यशास्त्र का द्वितीयखण्ड समाप्त।



परिशिष्ट

(नाट्यशास्त्र : अध्याय ८–१९)

अतिरिक्त टिप्पणियाँ

अष्टम अध्याय

(उपाङ्गविधान)

(संकेत—टिप्पणियों के आरम्भ में दी गयी संख्या अध्यायगत श्लोकों की है।)

१–३. यहाँ ऋषिगण ने रस तथा भावों के विवरण के प्राप्त हो जाने पर रसानुभूति के साधन एवं काव्यार्थ को हृदय तक ले जाने वाले **'अभिनय'** के विषय में भरतमुनि से प्रश्न किया जो इस अध्याय की संगति को दिखलाते हुए 'अभिनय' के विवरण को आरम्भ करने के लिये (प्रश्न रूप में आधार वनाकर उपस्थापित) किया गया है। प्रेक्षकों के लिये नाट्य-प्रयोग का उपस्थापन 'अभिनय' ही करता है जो दृश्यमानता के साथ नाट्यगत पात्रों की शारीरिक एवं मानसी स्थितियों का अनुकरण होकर दृश्यमान होता हो।

४–५. महामुनि ने ऋषिकों को आरम्भ में अभिनय के चारों प्रभेदों को वतला कर फिर अभिनय के स्वरूपादि का विवरण देना आरम्भ किया। इस प्रकार प्रश्न के अनुरूप ही समग्र एवं साङ्ग अभिनय का स्वरूप दिखलाने की प्रतिज्ञा के साथ साथ अभिनय शब्द की यौगिकी व्याख्या तथा स्वरूप को भी मुनि ने दर्शाया।

६. अभिनय का उपयोग नाट्यप्रयोग के लिये होता है इसी कारण इस प्रयोगात्मा विज्ञान को 'अभिनय' संज्ञा प्रदान की गयी है। अभिनय काव्यार्थ को दृश्यमानता देता है या यह उन्हें रूपायित करने का एक प्रकार है जिससे सामाजिक रसानुभव प्राप्त कर सकें। इस प्रकार इस अनुकृतिपरक तत्व के साथ सौन्दर्यवत्ता भी लगी हुई है, क्योंकि इसके बिना परमध्येय 'रसवत्ता' सम्भव नहीं है। इसी कारण रस भाव को व्यञ्जित करने वाली शारीरादि चेष्टाओं को अभिनय संज्ञा दी गयी है। संगीत रत्नाकर ने अभिनय का स्वरूप इस प्रकार दिया है :—

"सर्वत्राभिनयो भवेत् ।
काव्यवद्धं विभावादि व्यञ्जयन् यो नटे स्थितः ।
सामाजिकानां जनयन्निर्विघ्नां रससंविदम् ॥" (सं. र. ७।१८. १९)

[अर्थात् जो काव्य में निवद्ध विभावादि को अभिव्यंजित करते हुए सामाजिकों में विना किसी विघ्न या रुकावट के रससंविद् की उत्पत्ति करते हुए अवस्थित हो जाता है—वही अभिनय कहलाता है]

७. दर्शकों के सम्मुख होने वाला नाट्यगत पात्रों की मानसिक तथा शारीरिक स्थितियों का अनुकरण 'अभिनय' कहलाता है। यहाँ शाखा, अङ्ग तथा उपाङ्ग शब्द से आगे व्याख्यान में शरीर के विभिन्न अङ्गों के द्वारा सम्पन्न होने वाले अभिनय का विवरण देने का संकेत भी किया गया है। क्योंकि दर्शकों के समक्ष नाट्य प्रयोगगत रंजक तत्वों को प्रकट कर रसानुभूति का साधक हो जाता है।

८-९. भरतमुनि ने नाट्याश्रित अभिनय के (इस कारिका में) उद्देश्य क्रम द्वारा चारों भेद दिखलाकर उनको नाट्य का साधन उसी के सहारे नाट्य की स्थिति (होनी) दिखलायी है। अभिनय कला की रसाभिव्यञ्जकता को पूर्णरूप से हृदयंगम करने के लिये अभिनय के भेदोपभेदों का समग्ररूप में ज्ञान अपेक्षित होता है। प्राचीन नाट्य एक अतिशय उन्नत ललितकलाओं का रूप था जिसकी आङ्गिक चेष्टाएँ नृत्य के सन्निकट तर होती थी। अभिनेतृगण के अंग संचालन लयात्मकता के साथ होते थे तथा इसी कारण उनसे सौन्दर्य की भी पर्याप्त अभिव्यञ्जना हो जाती थी और रस की भी।

१०. भावों के अध्याय (ना० शा० अध्याय ७) में सात्विक भावों का विवरण दिया जा चुका है अतः उनके साथ रखा जाने वाला अभिनय सात्विक अभिनय कहलाता है। स्वरभेदादि अनुभावों का प्रदर्शन ही सात्विक अभिनय कहलाता है। जिसका लक्षण है—'सात्विकः स्वरभेदादेः अनुभावस्य दर्शनम्'। (इसका आवश्यक विवेचन प्रस्तावना में तथा नाट्यशास्त्र तृतीय भाग अध्याय २२ तथा २३ पर दृष्टव्य)।

११. अंगाभिनय के तीन प्रभेद मुनि ने वतला कर अभिनय निरूपण का विवरण विस्तार से देना आरम्भ किया। सर्वप्रथम मुनि ने शारीर (या आङ्गिक) अभिनय के तीन भेद किये। 'शारीर' अभिनय शाखा, अंग,

उपांग तथा प्रत्यंगों से प्रदर्शित किया जाता है। इनमें केवल उपांगों से होने वाला अभिनय 'मुखज' कहलाता है तथा स्थान आसन आदि चेष्टाओं के द्वारा होने वाला 'चेष्टा-कृत'। नाट्यप्रयोग अपनी समग्रता के लिये शारीरिक अवयवों से सम्बद्ध रखा जाता है। इन शरीर के अवयवों के तीन प्रभेद होते हैं तथा इन्हीं से युक्त अभिनय रहता है जिसका विवरण अगली कारिकाओं में (८–१२, १३) दिया गया है। इन छः अङ्गों से युक्त 'नाट्य' होता है।

१२. कारिका में छः अंगों का मुनि ने विवरण दिया। अन्य मत (अभि० दर्प०) के अनुसार ग्रीवा को भी अतिरिक्त रूप में अंग माना गया है।

१३. प्रत्यंग अर्थात् सहायक अवयव जो अंगों के जोड़ने वाले होते हैं—छः प्रकार होते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों कलाइयाँ, दोनों कुहनियाँ, दोनों घुटने तथा ग्रीवा को भी प्रत्यंगों में परिगणित किया जाता है। उपांग अर्थात् अंगों के छोटे-छोटे भाग। ये प्रत्येक अंग में पृथक् पृथक् हैं। जैसे शिर के उपांग (बारह) हैं—नेत्र, पलकें, पुतलियाँ, भौंह, कपोल, नासिका, हनु (जबड़ा) ओष्ठ, दन्त, जिह्वा, चिबुक तथा मुख (चेहरा। अन्य मत से कन्धों को भी उपांग माना गया है। हाथों के उपांग है—कोहनी, कलाई तथा अंगुलियाँ। इसी प्रकार पैर के उपांग होते हैं—टखने, एडियाँ, अंगुलियाँ पैरों के तले आदि। मुनि ने अगली कारिकाओं के द्वारा इस समग्र अध्याय में अंग, उपांगों के अभिनय को विस्तार से समझाया है।

१४. शाखा अंकुर, तथा नृत्त ये तीनों भी अभिनय ही होते हैं। इनमें आङ्गिक अभिनय को 'शाखा' कहते हैं। शाखा में हस्तों की चमत्कार पूर्ण गति रखी जाती है कथित—अर्थानुसारी (या भावों के अभिव्यञ्जक) उपयुक्त अभिनय के प्रस्तुतीकरण को अंकुर तथा शारीर अभिनय के अंकुर के द्वारा प्रदर्शित अर्थों को बतला कर आगे प्रस्तुत अर्थ की कल्पना करवा देना अर्थात् 'अंकुर' के द्वारा प्रस्तुत अर्थ को आगे विस्तार देकर अगले अर्थों को भी प्रस्तुत करने का आधार बनाना 'सूची' है। यही मत संगीतरत्नाकर का है जिसकी मूल कारिका टिप्पणी पृष्ठ ६ पर उद्धृत है। (भरतानुमत शाखा, अंकुर तथा नृत्त का लक्षण इसी अध्याय की कारिका १५ पर है)।

१५. मुनि ने प्रस्तुत कारिका में शाखा, अंकुर तथा नृत्त का आंगिक अभिनय में रहने वाला स्वरूप बतलाया।

१६–१८. उपांगों से होने वाले मुखज अभिनय में सर्वप्रथम 'शिरोभिनय' का भरत मुनि विवरण देकर अभिनय निरूपण आरम्भ करते हैं। इसके तेरह प्रभेद होते हैं भरतमुनि सम्मत किन्तु आचार्य नन्दिकेश्वर ने मस्तक के नौ अन्य भेद भी बतलाये। यथा—सम, उद्वाहित, अधोमुख, आलोलित, धुत, कम्पित, परावृत्त, उत्क्षिप्त तथा परिवाहित। नाट्यशास्त्रसंग्रह में उद्वाहित नामक एक अतिरिक्त प्रभेद दिखलाते हुए मस्तकाभिनय के १४ प्रकार माने हैं। यहाँ नन्दिकेश्वर सम्मत मस्तकाभिनय के नौ प्रभदों के स्वरूप (नाट्यशास्त्र से भिन्न होने के कारण) विवरणसहित दिये जा रहे हैं।

सममुद्वाहितमधोमुखमालोलितं धुतम्।
कम्पितञ्च परावृत्तमुत्क्षिप्तं परिवाहितम्।
नवधा कथितं शीर्षं नाट्यशास्त्र-विशारदैः॥ (अ० द० ४९, ५०)

[नाट्यशास्त्र के (विज्ञाता) आचार्यों ने मस्तकाभिनय के ९ प्रकार माने हैं। यथा—(१) सम, (२) उद्वाहित, (३) अधोमुख, (४) आलोलित, (५) धुत, (६) कम्पित, (७) परावृत्त, (८) उत्क्षिप्त तथा (९) परिवाहित।] इनके लक्षण तथा योजना भी ग्रन्थकार ने दी है जिसे अभिनयदर्पण (के कारिका ४९ से ६५ तक के ग्रन्थ भाग में) देखा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र-संग्रह में भरतोक्त 'उद्वाहित' माना है जिसका उल्लेख नन्दिकेश्वर ने भी किया था। किन्तु इसका लक्षण है :—

"सकृदूर्ध्वं शिरोनीतमुद्वाहितमुदीरितम्"

[अर्थात् मस्तक के एक बार ऊपर उठाने या तान लेने को 'उद्वाहित' शिर समझना चाहिये।]

योजना—"शक्तोऽहमिह कार्येऽस्मीत्यभिमाने प्रयुज्यते"॥
(ना० शा० संग्र० पृ० ५१)

[इसका प्रयोग व्यक्ति के कार्य में समर्थ होने के साभिमान सामर्थ्य ख्यापन में किया जाता है]

अभिनयदर्पण में उद्वाहित का स्वरूप इसी से मिलता हुआ है। यथा—"उद्वाहितं शिरो ज्ञेयमूर्ध्वभागोन्नताननम्" (का०५२) [मुख को ऊपर उठाये हुए मस्तक को ऊँचा करते हुए रखना 'उद्वाहित' कहलाता है]

योजना—"ध्वजे चन्द्रे च गगने पर्वते व्योमगामिषु।
तुङ्गवस्तुनि संयोज्यमुद्वाहितशिरो बुधैः॥ (५३)

[ध्वज, चक्र, आकाश, पर्वत, आकाश स्थित तारागण एवं ऊपर स्थित वस्तु को देखने के भाव को दिखलाने के लिये 'उद्वाहित' शिर की योजना की जाती है ।]

१६–३७. मुनि ने मस्तकाभिनय के अन्तर्गत उनके तेरह प्रभेद, लक्षण तथा उनकी योजना या विनियोग बतलाया। यद्यपि मस्तक द्वारा की जाने वाली क्रियाओं की कोई निश्चित संख्या या उनका अन्त नहीं है, इसी कारण इसके विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों में विभिन्नता भी प्राप्त होती है। स्वयं मुनि ने भी सामान्य लोकप्रचलित क्रियाओं के अनुसार मस्तक की अन्य गतियों को भी प्रस्तुत करने में अपनी सहमति दिखलाई। (द्रष्ट० च० ३६ पर)

३८–४२. यहाँ मुनि ने रस की संख्या के अनुरूप ८ रसदृष्टियाँ तथा स्थायी भावों की संख्या के अनुरूप ८ स्थायी दृष्टियाँ बतला कर शेष बीस संचारी दृष्टियों का विवरण किया है, जो सब मिल कर (८ + ८ + २० = ३६) छत्तीस होती हैं। इन सभी दृष्टियों के स्वरूप तथा उनकी योजना (या प्रयोगविधि) भी साथ साथ दिखलाई गयी है। अभिनयदर्पण में दृष्टियों के केवल आठ प्रकार ही बतलाये हैं।

४३–६५. रसादि दृष्टियों के साथ साथ भाव एवं सञ्चारीभाव जन्य दृष्टियों का सलक्षण निरूपण किया गया जिसमें सभी के लक्षण तथा योजना भी (दिखलायी गयी) है। अंगोपाङ्गों में दृष्टि का महत्व असाधारण होता है इसी कारण दृष्टि का विवरण बारीकी से देकर उसकी विस्तृत पर्यालोचना भी की गयी है। दृष्टि मनुष्य के आन्तरिक भावों की सूचक होने से भाषा भी है तथा भावभङ्गिमाओं की अभिव्यक्ति का द्वार भी जिनसे रसाभिव्यक्ति संभव होती है।

६५–६६. मुनि ने दृष्टि के विवरण के साथ साथ ताराकर्म को भी बतलाया जो पुतलियों की क्रियाएँ होती हैं। इनके नौ कार्य के उल्लेख के साथ (उनकी क्रियाओं के) लक्षण तथा योजना भी दी गयी।

६७–१०३. इस क्रम में ताराकर्म के प्रत्येक प्रभेद के स्वरूप विवरण तथा उनकी रस एवं भावादि में अभिनय योजना भी दी गयी है।

१०४–१०८. मुनि ने दर्शन विधान भी दिया है जिसमें नेत्रपुटों के हलन-चलन के द्वारा अवलोकन के आठ प्रकार दिखला कर उनके स्वरूप दिखलाये।

१०६–११६. यहाँ मुनि ने पलकों के ९ प्रभेद दिखलाते हुए उनकी अभिनय योजना दिखलाई।

११७–१२७. इसी क्रम में भ्रुकुटी की क्रियाओं को दिखलाते हुए उसके सात प्रभेद दिखला कर उसके लक्षण दिखलाये तथा अभिनय योजना भी।

१२८–१३४. नासा (नासिका) के कर्म को दिखलाते हुए उसके छः प्रकार, उनके स्वरूप तथा अभिनय योजना को दिखलाया गया है।

१३४–१३६. कपोल कर्म के छः प्रकार, उनके लक्षण तथा उनकी अभिनय योजना है।

१३६–१४४. अधर के छः कर्म तथा उनके लक्षण एवं अभिनय योजना।

१४५–१५१. चिबुक के सात कर्म, उनके लक्षणों के साथ-साथ मुखस्थ दाँतों की क्रियाओं का विवरण एवं इनकी अभिनय योजना को भी वतलाया गया है।

१५१–१५६. मुखज कर्म के छः प्रभेद दिखला कर उनके लक्षण एवं अभिनय योजना वतलायी गयी है।

१५६–१६४. मुखज कर्म के विवरण से लगे हुए 'मुखराग' का विवरण दिया गया है। मुखराग का अभिनय के अन्तर्गत विशेष महत्व होता है तथा भाव एवं रस के सन्दर्भ में अभिनेता के लिये मुखराग का प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक रहता है। आङ्गिक अभिनय का मुखराग द्वार माना जाता है। वेमभूपाल ने भरतोक्त मुखराग के चार प्रभेदों के अतिरिक्त विकस्वर, अरुण, मलिन तथा पाण्डु नामक अन्य चार प्रभेद भी वतलाये हैं (द्रष्ट–भरतकोष पृ० ४९६)। नेत्रादि के अभिनय के साथ साथ मुखराग की योजना नाट्यप्रयोग की स्थिति में आधार रहती है तथा यही प्रयोग की सिद्धि का मूल माना जाता है क्यों कि मुखराग ही दर्शक को पात्र की सुख, दुःखमयी स्थिति प्रकट करता है।

१६८–१७६. मुनि ने अन्त में ग्रीवा के नौ कर्म, उनके स्वरूप तथा अभिनय योजना के दिखला कर 'उपाङ्गविधान' को सम्पूर्ण किया। ग्रीवा कर्म शिर के आधार होते हैं परन्तु समग्र उपांग विवरण में सभी अंगों का सन्निवेश रहने से यथावश्यक सभी का विवरण पूर्णतः रखकर मुनि ने अगले अध्याय में प्रस्तुत किये जाने वाले अंगों का संकेत भी दिया।

नवम अध्याय

(हस्ताभिनय)

१–२ हस्त आदि शरीर अवयवों का कर्म इस अध्याय का प्रतिपाद्य है। यहाँ (२) कारिका अर्थ होगा इन अंगों का उपयोग या योजना जिससे हो वह 'विनियोग' कहलाता है। जैसे पताक हस्त का अग्निधारा (ज्वाला) के दर्शनार्थ प्रयोग करना। इसी प्रकार 'तत्वतः' शब्द का आशय है नाट्य-वस्तु के अनुसार या अनुरूप।

३. हस्त आदि कर्मों की पीठिका बतलाते हुए उनके ठीक उपयुक्त अभिनयादि का विवरण देने की मुनि उद्देश्य कथनार्थ सूचना देते हैं। अभिनवगुप्तपाद ने कारिकास्थ अभिनय की इति कर्तव्यता पर विचार किया। अभिनय की इस इतिकर्तव्यता के आरम्भ में दो प्रभेद होते हैं—लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी। इनमें प्रथम (लोकधर्मी) इतिकर्तव्यता के भी दो प्रभेद हो जाते हैं। जैसे निर्वेद प्रभृति चित्तवृत्तियों (भावों) को व्यक्त करने वाले अनुभावों की इतिकर्तव्यता—जैसे गर्व के अभिनय में पताक हस्त को ललाट पर उठाते हुए स्थित करना। दूसरी है केवल बाह्य-अवयव-गत इतिकर्तव्यता—जैसे पद्मकोश हस्त के द्वारा किसी पदार्थ को दिखलाने का कार्य। इन सभी का नाट्य में प्रयोग होता है। हस्तमुद्राओं के विषय में विस्तार से भरतमुनि ने सभी तथ्यों को दिखलाया है जिनका यथावसर आगे आशय स्पष्ट किया जाएगा।

४–७. आङ्गिक अभिनय में हस्ताभिनय का महत्व अतिशय एवं सर्वोपरि है। इसी कारण इस पर नाट्यशास्त्र में एक स्वतन्त्र अध्याय ही रखा गया है। यही वह माध्यम है जो आन्तरिक भावों को स्वरूप प्रदान कर उन्हें रसभूमि तक पहुँचाता है। अतएव प्रत्येक मुद्रा अपने मूल में भाव तथा रस की प्रेरणा लिये रहती है तथा हस्ताभिनय का विशिष्ट आधार लेकर प्रस्तुत नाट्य-प्रयोग को सफल बनाती है। इसी कारण भरतमुनि ने हस्तमुद्राओं का विशद विवरण दिया है। असंयुत हस्तों के चौबीस प्रभेद होते हैं जिनका भरतमुनि ने यहाँ उल्लेख किया। आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनय दर्पण में असंयुत हस्त मुद्राएँ २८ बतलाई हैं। इनके स्वरूप तथा इनकी योजना आदि के विशिष्ट तत्वों को यथास्थान हम यहाँ संक्षेप में देने का उद्योग करेंगे जहाँ

भरत मुनि से विशिष्ट या विभिन्न स्वरूप हों। [संक्षिप्त टिप्पणी पृष्ठ ३७, ३८ तथा ३९ पर दी ही जा चुकी है।]

८–१०. अञ्जलि आदि हस्त संयुत ही होते हैं परन्तु कभी कभी पताकादि का प्रयोग भी संयुतत्व युक्त रखा जाता है। आशय यह कि अञ्जलि आदि हस्तमुद्राएँ विना संयुत हुए अपने स्वरूप तथा अर्थ की ही बोधक नहीं हो सकतीं।

११–१६. अभिनय के उपयोगी संयुत तथा असंयुत हस्तों के साथ ही नृत्तहस्तों का भी विवरण अपेक्षित है। ये अभिनेय अर्थ में विश्रान्ति को अधिक फैलाकर प्रभावी वनाते हैं तथा शाखा एवं अंकुर के अभिनय की पूर्ति करते हैं। ये कभी संयुक्त रूप तथा कभी असंयुत रूप का उपजीवन रखते है तथा इनमें से किसी एक का भी प्रयोग किया जा सकता है। मोटे तौर पर इनका प्रयोग नृत्त में रहता है परन्तु मुनि ने इनकी नाट्य अभिनय में भी योजना रखने की सहमति दी है।

१७–१८. पताक (हस्त) :—कारिका में प्रयुक्त 'कुञ्चित' शब्द का यहाँ अंगूठे से सम्वन्ध है। कुञ्चित पाद का आगे लक्षण दिया गया है उसी की क्रिया के अनुसार अंगूठे को कुञ्चित अर्थात् तिरछा कर देना चाहिए। इस हस्त को 'पताक' इसी लिये कहा गया कि यह पताका (ध्वज) के आकार जैसा रहता है। जैसी अपेक्षा हो तदनुसार इनका विनियोग रखा जाता है। हस्तमुद्रा में प्रथम एवं महत्वपूर्ण यही पताक हस्त माना जाता है जिसका उपयोग व्यापक रूप में होता है। अभिनयदर्पण में 'पताक' के स्वरूप में अंगुलियाँ सटा कर रखते हुए फैलायी जाती है तथा अंगूठा मोड़ कर तर्जनी के मूल में लगाया जाता है

१९–२७. भरतमुनि ने 'पताक' हस्त की योजना का विशद विवरण दिया है। 'पताक' हस्त से सूचित शेष अर्थ एवं कार्य को चित्राभिनय' में (अध्याय २६) भी दर्शाया गया है। इतना होने पर भी इसके नाट्याचार्यों की परम्परा में अनेक स्थिति में विविध प्रयोग होते हैं। भरतमुनि ने इसके एक हाथ को तथा दोनों को शरीर के विभिन्न अवयवों के साथ रखते हुए तथा अन्य क्रियाओं के द्वारा अभिनेय वस्तु एवं अर्थों की सूचकता को दिखलाया। **अभिनयदर्पणकार** ने इसके द्वारा किये जाने वाले अभिनय से सूचित या अभिव्यक्ति वस्तु एवं कार्यों को विशदरूप में दिखलाया है। तदनुसार इसका उपयोग अभिनय-प्रयोग के आरम्भ में किया जाता है। इसके अतिरिक्त

जल से भरे मेघ, वन, वस्तु के निषेध, कुचस्थल, रात्रि, नदी, स्वर्गलोक, अश्व, वस्तु के विभाजन, वायु की गति, शयन, जाने के लिये प्रयत्न करना, साहस, प्रसन्नता, चाँदनी, कड़ीधूप, दरवाजा खोलना, लहरें, सातों विभक्तियों का संकेत, मार्गगमन, समानता, अंगराग का सेवन या रचना करना, आत्म-प्रकाश, शपथ-ग्रहण, चित्त को शान्तरूप में रखना, तालयन्त्र, ढाल, तरल वस्तु का स्पर्श करना, आशीर्वाद, राजरुचि का प्रदर्शन, 'यहाँ' 'वहाँ' का कथन, समुद्र, दान या पुण्य करना, सम्वोधन, आगे बढ़ना, तलवार रखना, सम्मार्जनी से सफाई करना तथा मास, दिन और वर्ष को दर्शाने जैसे भावों में भी 'पताक' हस्त का प्रयोग किया जाता है (अभि० द० ९४–१००)। **'नाट्यशास्त्रसंग्रह'** में पताक हस्त की योजना इस प्रकार है—किसी वस्तु के स्पर्श करने, किसी को चाँटा लगाने, ध्वज जैसी वस्तु को दिखलाने या ताली वजाकर (गीतादि की) ताल देने, ऊपर उठनेवाली ज्वालाओं को दिखलाने के लिये अंगुलियों को हिलाते हुए ऊपर उठा कर तथा इसी प्रकार उंगलियों को नीचे की ओर रख कर 'पताक' हस्त को आन्दोलित कर जलधारा या पानी की लहर या तरल पदार्थ को दिखलाया जाता है। कटिप्रदेश पर 'पताक' हस्त रख कर पक्षियों के पक्षों को दिखलाया जाता है, 'पताक' हस्त को ऊपर उठाकर किसी पदार्थ की ऊँचाई पर स्थिति दिखलाई जाती है तथा नीचे कर (एक दूसरे के सम्मुख) आन्दोलित करते हुए 'मृदंगवादन' दिखलाया जाता है, किसी पदार्थ के ऊपर उठाने या फेंकने को दर्शाने के लिये कटि प्रदेश से 'पताक' हस्त को ऊपर उठाया जाता है। अपने मुख के सामने पताक हस्त को सामने की वाजू से उठाकर रखते हुए किसी मनुष्य या पदार्थ को जो वक्ता का सामना कर रहा हो दिखलाया जाता है तथा पताक को एक ओर रखकर हिलाते हुए किसी वस्तु या कार्य का निषेध दिखलाया जाता है। पताक हस्तों को एक दूसरे से शीघ्रता से रगड़ते हुए रख कर तथा एक दूसरे के ऊपर रख कर किसी वस्तु का प्रक्षालन या धोना दर्शाया जाता है तथा सामने की ओर धीरे-धीरे घर्षण कर इसी मुद्रा के द्वारा किसी वस्तु का साफ करना या पीटना बतलाया जाता है। इसी प्रकार पताक हस्त को एक दूसरे के ठीक सामने रख कर फिर उन्हें दूर हटाकर किसी शिला के उखाड़ने या किसी भारी (वजनदार) वस्तु को उठाने का कार्य दिखलाया जाता है। इसी प्रकार पताक हस्त को ऊपर उठा कर अंगुलियों को हिलाते हुए रखकर इसके द्वारा वायु तथा लहरों के वेग को दिखलाया जाता है (द्रष्ट ना० शा० सं०-का० ९९–१०५)।

२७–३७. त्रिपताक (हस्त) :—इस हस्त का लक्षण सभी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रायः समान मिलता है। भरत मुनि ने इससे सूचित भाव तथा कार्यों को विस्तार से दर्शाये हैं। 'अभिनय-दर्पण' में त्रिपताक की योजना या विनियोग का विवरण अल्पमात्रा में प्राप्त है। यथा इस हस्त के उपयोग के द्वारा मुकुट, वृक्ष, वज्र, इन्द्रदेवता, केतकीपुष्प, दीपक, अग्नि की ज्वालाएँ, जम्हाई लेना, कपोत, पत्रलेखा, वाण तथा परिवर्तन (पीछे मुड़ने) के भावादि को दिखलाया जाता है। 'नाट्यशास्त्रसंग्रह' में भरतोक्त संकेतित पदार्थ तथा कार्यादि को दिखलाने के लिये त्रिपताक हस्त के प्रदेश एवं क्रियाओं का विवरण भी दिया गया है जो अधिकांश नाट्यशास्त्र के विवरण से समानता लिये हुए है। यथा—इस त्रिपताक हस्त से दधि तथा अन्य मांगलिक वस्तु का स्पर्श दिखलाया जाता है। इसी प्रकार किसी का बुलाना बतलाने के लिये त्रिपताक हस्त की दोनों अंगुलियों को पीछे हटा सिकुड़ा कर एक दूसरे के सम्मुख झुका देना चाहिए। किसी बात की उपेक्षा या विचार भेद दिखलाने के लिये या किसी पदार्थ को दूर फेंकने (के भाव को दिखलाने) की स्थिति में दोनों उगुलियों को सामने की ओर फेंक कर हस्त तल को एक ओर रखना चाहिए। किसी पूज्यजन को नमस्कार करने का भाव दिखलाने के लिये त्रिपताक हस्त के सामने की वाजू में एक दूसरे को सामने रख कर मस्तक पर रखा जाता है। किसी दूसरे के चेहरे को ऊपर उठाने में दोनों अंगुलियों को ऊपर फैला कर 'त्रिपताक' का प्रयोग किया जाता है। परन्तु दोनों अंगुलियों को क्रमशः झुका कर और ऊपर उठाते हुए 'सन्देह' दिखलाया जाता है। इसी प्रकार मस्तक पर पगड़ी या मुकुट के धारण करने में 'त्रिपताक' हस्त को मस्तक पर हस्ततलों को नीचे की ओर घुमाते हुए दिखलाया जाता है किन्तु मुकुट की स्थिति में केवल उसकी मस्तक पर स्थिति ही रखी जाती है। त्रिपताक हस्त को नासिका, मुख या कान पर रख कर क्रमशः अनिष्ट गन्ध, अनिष्ट वचन या अनिष्ट शब्द को दिखलाया जाता है। छोटे पक्षियों, वहती जलधारा तथा हवा को दिखलाने में त्रिपताक को कटि प्रदेश के वरावर ऊपर नीचे तथा वाजू में अंगुलियों को चलाते हुए रखना चाहिए। आँसुओं के निकलने और उन्हें पोछने में आँख के समीप त्रिपताक हस्त को लेजाकर नीचे की ओर जाती हुई अनामिका दिखलाई जाती है। मस्तक पर तिलक लगाने की स्थिति दिखलाने के लिये त्रिपताक हस्त को ललाट पर ला कर वहाँ अनामिका से स्पर्शकरवाया जाता

है तथा केशों के संस्कार को दिखलाने के भाव में त्रिपताक हस्त को केशस्थान पर अनामिका के साथ रखा जाता है।

३८-४१. **कर्तरीमुख (हस्त)**:—कर्तरीमुख के लक्षण में मूल कारिका में प्रयुक्त 'पृष्ठावलोकिनी शब्द का आशय है कि तर्जनी तथा मध्यमा अंगुलियाँ परस्पर संश्लिष्ट नहीं होना चाहिए तथा मध्यमा के पीछे तर्जनी दिखलाई पड़ना चाहिए। 'कर्तरीमुख' का कैंची के जैसा ही रूप अभिनय द्वारा दिखलाया जाता है। इसकी योजना के प्रसंग में आवश्यकतानुसार कर्तरीमुख को अधोगमन या नीचे मुँहवाला और पृष्ठावलोकनशील रख कर उसके चलन हलन को सूचित किया गया है। जैसे तर्जनी का मध्यमा के पीछे फैलाना पृष्ठावलोकन होता है, उसके विपरीत मध्यमा का तर्जनी के पीछे जाना रूप चलन भी और फिर अपने स्वरूप की प्राप्ति करना अर्थात् मध्यमा के पीछे तर्जनी का फैल जाना। यह क्रिया भी इसी के द्वारा अभिनीत की जा सकती है, परन्तु अर्थानुसार ही। आशय यही है कि युक्ति के द्वारा कभी मिलना, फिर दूर हटना, कभी उलटे हो जाना और कभी एक दो बार या तीन बार भी किसी 'हस्त का प्रयोग किया जा सकता है। 'अभिनयदर्पण' में कर्तरीमुख का लक्षण भिन्न है—तदनुसार त्रिपताक हस्त में कनिष्टिका को टेढ़ी झुका कर तर्जनी और कनिष्टिका को बाहर की ओर सीधे फैला दिया जाए तो कर्तरीमुख हस्त हो जाता है'। इसकी योजना स्त्री पुरुष के वियोग या विवाद, परिवर्तन या प्रतिकूलता, लूटखसोट, नेत्र का कोना, मृत्यु, भेदभाव, विजली की चमक, विरहावस्था में अकेले शयन, गिरना तथा लता आदि के भावों को दिखलाने में की जाती है। (अभि० द० १०५-१०७) नाट्यशास्त्र-संग्रह में 'कर्तरीमुख' का भरतोक्त लक्षण से थोड़ा मिलता हुआ लक्षण है। तदनुसार—महावर से पैरों को रंगने; किसी वस्तु के गिरने को दिखलाने के लिये इसी हस्त को तर्जनी के स्थान पर मध्यमा तथा मध्यमा के स्थान पर तर्जनी को रखते हुए की जाती है। इसके अतिरिक्त अधोगत हस्त को ऊपर की ओर उठा कर देखा जाए तो लेख, पत्र या किसी पुस्तक के पढ़ने का भाव दिखलाया जा सकता है। (ना० शा० सं० ११६-११७)

४२-४४. **अर्धचन्द्र (हस्त)** :—इसमें अंगूठा धनुष जैसा झुका हुआ रहता है किन्तु अंगूठा बाहर सीधा फैल जाने से उसका मिलकर छोटा रहना नहीं हो सकता। यहाँ योजना की कारिका ४३ में "मध्यौपस्य" शब्द है—

उसका अर्थ है कटिप्रदेश की कृशता। 'पीन' के स्थान पर कहीं 'पान' पाठ माना गया है। तब 'पान' का अर्थ होगा चषकादि पानपात्र। **'अभिनयदर्पण'** के अनुसार 'पताक हस्त मुद्रा में अंगूठे कों बाहर सीधे फैलाने पर 'अर्धचन्द्र' हस्त हो जाता है। इसके द्वारा कृष्णपक्ष की अष्टमी का अर्धचन्द्र, हाथ से किसी के गले को ढकेलना (गलहस्त), भाले से युद्ध करना, देवता का अभिषेक, भोजन, पान, उद्भव, कटि, चिन्ता, मननं, ध्यान, प्रार्थना, अंगस्पर्श तथा प्राकृतजन को नमस्कार का भाव प्रदर्शित किया जाता है। **नाट्यशास्त्रसंग्रह** में अर्धचन्द्र के स्वरूप को दूसरी शब्दावली में दिया है। तदनुसार—'यदि चारों अँगुलियाँ एक दूसरे के साथ मिली हों और अंगूठा दूसरी ओर गोलाकार बनाते हुए चन्द्रलेखा का आकार बना ले तो अर्धचन्द्र' हस्त हो जाता है'। इसकी योजना ऊपर स्थित 'बालचन्द्र' को दिखलाने में की जाए। यदि छोटे वृक्ष को बतलाना हो तो हाथ को ऊपर की ओर ले जाया जाय, खेद में इसी हस्त को कपोल पर रख कर तथा मध्यभाग की कृशता कों बतलाने में हस्तों को सामने की ओर मिला कर हटाते हुए दर्शाया जा सकता है। (ना. शा. सं. ११४–११५)।

४५–५१. अराल (हस्त)—कारिकास्थ "आद्य" शब्द का अर्थ है प्रथम या तर्जनी अँगुली। इसमें मध्यमा से लेकर शेष अँगुलियाँ पूर्व अंगुली के साथ पीछे लगी हुई रहती हैं। अराल का अर्थ है 'कुटिल' क्योंकि 'अराल-पक्ष्मणः' इत्यादि में अराल का अर्थ वक्र होता है। कारिकास्थ गांभीर्य वह पदार्थ है जिसके प्रभाव से हर्ष, शोक एवं भय प्रभृति भावों की दशा में भी आकार पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखती हो। अरालहस्त का हृदय, बाजू, आगे की ओर चंचलता से घूमते हुए आने या चलने का प्रयोग युक्ति के साथ (नाट्याचार्य के द्वारा) करवाया जाना चाहिए। संग्रह पद का अर्थ है केशों का बाँधना तथा उत्कर्ष का अर्थ है उन्हे खोलकर जमा देना। 'सर्वाङ्गिकं' शब्द से आशय है कि उसे उस बाजू से अपनी ओर लाना या प्रत्यागमन। 'सम्प्रयोग' का अर्थ है मात्र संश्लेष होना, जो अंगुलियों के अगले भाग में स्वस्तिक के योग से होता है। परिमण्डल = एक बाजू से दूसरी बाजू घूमते हुए वर्तुलाकार में भ्रमण। आह्वान में अंगुलियाँ नीचे गिरती हुई और निवारण में बाहर की ओर फेंकी जाने वाली रखनीं चाहिए। त्रिपताक हस्त से जो आवाहन, अवतरण आदि भाव अभिनीत होते हैं वे अराल हस्त से भी दिखलाये जा सकते हैं। जिस प्रयोग से जिन हस्तों या अंगों के द्वारा प्रयोग में सौन्दर्यसम्पत्ति

आती हो तो स्त्रियों के द्वारा उनकी वैसी योजना अवश्य करनी चाहिए। इसका आशय यह नहीं कि स्त्रियों के द्वारा प्रस्तुत अभिनय में त्रिपताक हस्त न हो और ऐसी दशा में अराल हस्त रहे। परन्तु परम्परा यह है कि पुरुषों के द्वारा प्रस्तुत अभिनय में त्रिपताक के स्थान पर सर्वत्र अराल हस्त के प्रयोग नहीं किये जाएँ। **अभिनयदर्पण** में अराल का अल्प विवरण ही प्राप्त होता है तदनुसार यदि पताकहस्त में तर्जनी मोड़ दी जाए तो अरालहस्त हो जाता है। जिसकी योजना विषपान, अमृत-पान, प्रचण्ड पवन के चलने जैसे भावों को प्रदर्शित करने में की जाती है। नाट्यशास्त्र संग्रह में तथा अन्यत्र विवरण भरत प्रदर्शित ही रखे गये हैं, विशेष कुछ भी नहीं।

५२—५३ शुकतुण्ड हस्त :—कारिका में स्थित 'तु' शब्द अरालहस्त की तर्जनी से इस हस्त की विशेषता दर्शाने की भावना से रखा गया है तथा दूसरी बार 'तु' का अर्थ 'अपि' होगा। 'न तुम न मैं' इत्यादि निषेध में इस हस्त का अभिनय होता नहीं है किन्तु अर्थना, ईर्ष्या, प्रणयकलह में जब 'तुम नहीं', मैं इसे 'नहीं' जैसे भाव को दर्शाना हो तो इस हस्त का प्रयोग होना चाहिए। सावज्ञ तिरस्कार या विसर्ग (विदाई) की दशा में प्रयोग के अनुसार एक या दो बार इस हस्त का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी निन्दा (आत्म धिक्कार) के अर्थ में भी इसी हस्त की योजना रखी जाती है। **अभिनयदर्पण** में इस हस्त की योजना बाण चलाने, बर्छी, भाला मारने अपने निवास स्थान का स्मरण. मार्मिक या रहस्य भरी बात कहने तथा उग्र भाव के प्रदर्शन में की जाती है। नाट्यशास्त्रसंग्रह के अनुसार नाट्यशास्त्र के विवरण का ही अनुमोदन है। केवल उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त द्यूत और अक्ष फेंकने में भी इसी हस्त की योजना का विशेष उल्लेख है।

५४—५५. मुष्टि हस्त :—लक्षण कारिका के 'संज्ञित शब्द से आशय यह है कि लोक में भी इसी प्रकार मुष्टि प्रसिद्ध है। व्यायाम पद के द्वारा कुश्ती के समय, खड्गयुद्ध के अवसर पर मुष्टि हस्त का प्रयोग किया जाता है। 'निर्गम' शब्द से गीली वस्तु या गीले कपड़े को निचोड़ने में, 'पीडन' अर्थात् गौ, महिषी जैसे पशुओं के दोहन में, असियष्टि शब्द का आशय तलवार आदि से लेकर छुरी आदि मूठवाले शस्त्र ग्रहण का इसी के द्वारा अभिनय किया जा सकता है। आदि शब्द से किसी के मारने या मार्जन (सफाई करने) में भी इसी हस्त का प्रयोग किया जाता है। नाट्यशास्त्र संग्रह में इस के द्वारा दौड़ना तथा विभिन्न युद्धों के करतब दिखलाने की

योजना का विशेष उल्लेख है। मल्लयुद्ध की स्थिति में दोनों हाथों के द्वारा मुष्टि हस्त का प्रयोग होना चाहिए।

५६–५७. शिखर हस्त :—धनुष की डोरी आदि धारण करने की स्थिति में इस उर्ध्वगामी हस्त को उत्तान और पार्श्वगामी हस्त को अधोमुख करते हुए या उत्तानं हस्त को ऊपर ले जाते हुए और अधोमुखं को वाजू में ले जाकर अभिनय किया जाए। 'आलक्तकोत्पीडने चैव' के अनुसार अर्थ हैं—महावर लगाने तथा उत्पीडन्त करने में। बालकों के कपोल को मुष्टि हस्त के हाथ के अंगूठे और तर्जनी से दवाने पर 'उत्पीडन' दर्शाया जा सकता है। (अभि० आ०) **'अभिनयदर्पण'** में इस हस्त की योजना—कामातुरता, धनुष, स्तम्भ, निश्चय, पितृकर्म, ओठ पर दाँत गड़ाने, शिव लिंग पूजन, निषेध वाक्य कथन, स्मरण, अभिनय कर्म की समाप्ति, करधनी खींचने; आलिङ्गन करने तथा घण्टानाद करने के भाव व्यक्त करने में—की जाती है। (अभि० द० ११८–१२१)

५८–५९. कपित्थ हस्त :—इस हस्त में अंगुष्ठ तथा तर्जनी का कार्य रहता है अभिनय प्रदर्शन में। कार्य पद से 'सत्कर्म' अर्थ लिया जा सकता है तथा चुटकी वजाने के कार्य भी इसी से सूचित होते हैं। अभिनयदर्पण में इसकी योजना—लक्ष्मी, सरस्वती, नटों द्वारा ताल धारण, गौदोहन, अंजन लगाना, क्रीडा कौतुकादि के अवसर पर पुष्पधारण, कंचुकी या आंचल पकड़ने, घूंघट निकालने और धूपदीप से अर्चन करने के भाव में—की जाती है। (अभि० द० १२१–१२४)

६०–६३. कटकामुख हस्त :—कारिका में प्रयुक्त 'सकनीयसी' पद का आशय है कि अनामिका और कनिष्ठिका में थोड़ी दूरी रहनी चाहिए, अर्थात् दोनों संश्लिष्ट न रहें। खट् कांक्षायाम् भ्वादिगणीय धातु है जिसमें भूख, तृपा या पिपासा अर्थ में वुन् प्रत्यय होकर 'खटक' (या कटक) शब्द बनता है। यह 'खटकामुख' हस्त की व्युत्पत्ति है। अग्नि में हव्य जिस पात्र से छोडते हैं उस स्रुक् स्रुवादि का अभिनय उत्तान हस्त के द्वारा किया जाता है। अभिमुख हस्त से हव्य, आज्य आदि का अभिनय होता है। लगाम खींचना अश्व की गति रोकने या नियंत्रण करने में उपयुक्त होती है और इसका अभिनय परिकर्षण या खींचने वाले इसी हस्त से किया जाता है तथा हिलते हुए हाथों को रखा जाता है। आदर्श का धारण सम्मुख रखे गये हस्त से होता है। नर्तकी इसके द्वारा 'मैं सुन्दर हूँ' इस प्रकार की आकृति

देखने का अभिनय करती है। चन्दन पीसने का अभिनय दोनों भागों में गोलाकार या चक्राकार हस्त को घुमाते हुए होता है। इस हस्त से विवाह में वधू के वस्त्र प्रान्त को सम्हालने या उसके आलम्बन का अभिनय किया जाता है। प्रायः कुपिता नायिका के प्रसादन में अनुसरण के समय इसी हस्त द्वारा उसके आंचल के कोने को पकड़ा जाता है। क्रीडाकाल में केश के आकर्षण का भी तथा पुरुषों के उत्तरीय थामने या पकड़ने का भी इसी हस्त के द्वारा अभिनय होता है, परन्तु स्त्रियों के उत्तरीय पकड़ने का अभिनय सहज होगा। इस प्रकार इस हस्त का चतुरस्र या सभी दशाओं में उपयुक्त अभिनय संयोजित हो सकता है। अभिनयदर्पण के अनुसार इसका लक्षण है— जिसमें उठी हुई तर्जनी और मध्यमा अंगूठे के अग्रभाग को छूती हो तो 'खटकामुख' हस्त होता है। इसकी योजना—फूल चुनने, मोतियों की या पुष्पों की माला धारण करने, धनुष को मध्य भाग से पकड़ कर खींचने, ताम्बूलादि प्रदान करने, कस्तूरी, चंदन आदि को पीसने, वस्तु को सुगन्धित करने, वोलने या देखने के भाव में की जाती है। (अभि० द० १२४–१२७)

६४–७७. **सूचीमुख हस्त** :—इस हस्त का मुख सूची के आकार का होने से 'सूचीमुख' नाम सार्थक है। प्रदेशिनी का अर्थ है 'तर्जनी'। इस की विविध दशाओं के कारण इसके अभिनय भी विविधता-सम्पन्न होते हैं। लोला का अर्थ है एक बाजू से दूसरी बाजू में जाने वाली। 'कम्पिता' वह है जो उसी स्थान पर हिलती हुई रहे। अभिनय के अनुसार चलने वाली 'चला' है। चक्र के अभिनय में प्रदेशिनी को ऊर्ध्वमुख रख एक वाजू से दूसरें वाजू तक चक्कर लेती हुई ले जाना चाहिए। मीन के अति बालोरग का उपादान यह सूचित करता है कि मीन तथा बाल सर्प की गति एक दूसरे से विलक्षण है। इसी प्रकार वल्ली, लता और मञ्जरी के अवान्तर भेदों की बारीकी भी ध्यान में रखी जाए। जैसे—ककडी, लौकी की वल्ली, अंगूर दाख आदि की लता, आम की मञ्जरी होती है। 'प्रणता' और 'उन्नता' का आशय है पहिले झुकी हुई और फिर ऊपर को जाती हुई तथा लम्बाई में ऊँची होने वाली। रोष दिखाने में और पसीना पोंछने में या मस्तक से पसीना हटाने में तर्जनी को फैलाई हुई रखते हैं। अहंकार के अभिनय में ललाट पर तर्जनी को करना चाहिए। प्रत्यक्ष शत्रु के निर्देश में तर्जनी अग्रभाग में नत रखी जाती है। शत्रु के अनुसन्धान या खोजने का अभिनय तीन अंगु-

लियों को हिलाकर किया जाता है। सामने और विरुद्ध दिशा में जाने वाली दोनों हाथों की तर्जनी से दिन की समाप्ति को दिखलाया जाता है। यह भी लोक में प्रचलन है कि मध्यमा से महेश्वर और शक्र का अभिनय किया जाए किन्तु इसको 'तर्जनी' से दिखलाना ही शास्त्रानुमोदित है। (अ० भा०) अभिनयदर्पण में सूचीमुखहस्त का विवरण भरत सदृश विस्तीर्ण नहीं है। इसके अनुसार सूचीमुख हस्त की योजना—एकार्थ वोध, परब्रह्म की भावना, शतार्थ वोध, सूर्य, नगरी, संसार, 'अच्छा है' कहना, 'जो' और 'वह' वतलाना, नीरवता, ताड़न, दुर्बलता, सलाई, शरीर, आश्चर्य, वेणी, छत्र, सामर्थ्य, दोनों हाथ, रोमावली, भेरी वाद्य वादन, कुम्भकार का चक्र, पहिया, विचार विवेचन तथा सन्ध्याकाल में—की जाती है। (अभि० द० १२७ से १३१)

७८–८१. **पद्मकोष हस्त** :—लक्षण कारिका में 'ऊर्ध्वा' का अर्थ होगा चारों अंगुलियाँ ऊपर की ओर उत्तान स्थिति में अलग-अलग हुई हों और सिकुड़ी हुई हों तथा पद्म की तरह जिसका अभ्यन्तर स्थान विनत हो। अर्थात् हथेली में गड्ढा वन जाए। विल्वादि के ग्रहण में वे ही अंगुलियाँ पर्व के अगले भाग में अतिशय कुञ्चित (सिकुड़ी हुई) रखी जाती हैं। पुष्पप्रकर का अर्थ होगा आगे आगे दो या तीन वार पुष्पों को विखेरना। **अभिनय-दर्पण** के अनुसार इस हस्त की योजना विल्वफल, युवतिजन के गोल उरोज, भँवर या घुमाव, गेंद, पतीली, भोजन, पुष्पकली, आम्रफल, पुष्पस्तवक, मंजरी, जपा पुष्प, घण्टा, वाँवी (वल्मीक), कमल तथा अण्डे आदि भाव प्रदर्शन में की जाती है। (अभि० द० १३४–१३७)

८२–८३. **सर्पशीर्ष हस्त** :—इसमें सभी अंगुलियाँ अंगूठे के साथ कुञ्चित या सिकुड़ी हुई रहती हैं और सामने की ओर रखी हथेली विनत या गड्ढेवाली गहरी रहती है, जिससे सर्प के फन जैसा हस्त का आकार वनता है। सर्प की गति के अभिनय में यह हस्त अधोमुख रखा जाता है। आस्फोटन का अर्थ है मल्लयुद्ध में ताल ठोंकना।

अभिनयदर्पण में इस हस्त की योजना चन्दन, सर्प, मन्द स्वर, जल छिड़कना, पोषण, (देवताओं को) तर्पण में जलाञ्जलि देना, हाथी के कुम्भ स्थल को थपथपाना या संचालन तथा मल्लों का ताल ठोंकना जैसे भाव प्रदर्शन में की गयी है। (अभि० द० १३७–१३९)

८४-८५. मृगशीर्ष हस्त :—कुट्टमित = स्त्रियों का एक चेष्टालंकार। इसका लक्षण है—'केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात्। आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम्' [केश, स्तन, अधर आदि के ग्रहण करने से हर्ष होने पर भी घबराहट के साथ मस्तक एवं हाथों का विशेष परिचालन 'कुट्टमित' भाव होता है।] **अभिनवदर्पण** के अनुसार इस हस्त की योजना—स्त्रियों के कपोलचक्र, सीमा, भय, कलह, नेपथ्य, आह्वान, त्रिपुण्ड, मृगमुख, वीणा, पाद संवाहन, धनापहरण, मिलन, छत्रधारण, संचरण, प्रियाह्वान तथा योनि के अर्थ प्रदर्शन में की जाती है। (अभि० द० १३९–१४२)

८६-८७. काङ्गुल हस्तः—कङ्गु का अर्थ है प्रियंगु लता, उसे जो लेता है वह 'काङ्गुल'। अन्य मत में कांगुल का अर्थ बिच्छू भी होता है। **अभिनयदर्पण** के अनुसार इस हस्त की योजना लकुचफल, बच्चों के पैरों के घुँघरू घंटियाँ, चकोर, सुपारी के वृक्ष, बाला के उरोज, श्वेतकमल, चातक तथा नारिकेल फल के अर्थ प्रदर्शन में की जाती है। (अभि० द० १४४–१४६)

८८-८९. अलपल्लव (अलपद्मक) **हस्त** :—'आत्मोपन्यास' का अन्य अर्थ है स्त्रियों के अपने उपन्यास अर्थात् विस्मय दिखलाने में। उपन्यास का अर्थ है विस्मय। इस स्थिति में इस हस्त का बार-बार अभिनय प्रस्तुत किया जाए। **अभिनयदर्पण** के अनुसार इस हस्त की योजना—विकसित कमल, कपित्थफल, चक्राकार पदार्थ, उरोज, वियोग, दर्पण, पूर्णचन्द्र, सौन्दर्य, कुसुमाचित वेणी, छत के ऊपर का कमरा (चन्द्रशाला), गाँव, ऊँचाई, क्रोध, सरोवर, गाड़ी, चक्रवाक पक्षी, कलकल ध्वनि तथा कीर्ति के भाव को प्रदर्शित करने में की जाती है। (अभि० दर्प० १४६–१७)

९०-९८. चतुर-हस्त :—चतुर शब्द की 'चतस्रोऽङ्गुलयोऽङ्गुष्ठश्लिष्टत्वेन सन्त्यस्मिन्' इस प्रकार अर्थ में 'अच्' प्रत्यय से निष्पन्न चतुर शब्द है। इसमें चार अंगुलियों का अभिनय रहने से 'चतुर' कहलाता है। विभव का एक बाजू से दूसरी बाजू में जाते हुए तथा अविभव का न जाते हुए बतला कर अभिनय किया जाये। दारा (गृह पत्नी) को संयुक्तहस्तों से और सम्मुखस्थ स्वस्तिक हस्त से दिखलाया जाये। इस प्रकार शरीर के वक्षः से शिरः पर्यन्त क्षेत्रविशेष में संयुत और असंयुत, चञ्चल और स्थिर, सम्मुख और पराङ्मुख उत्तान और अधोमुख, त्र्यस्त और चतुरस्र करते हुए चतुर हस्तों को युक्ति के अनुसार उत्प्रेक्षित कर विशिष्ट अभिनय प्रस्तुत करना चाहिए। **अभिनयदर्पण** के अनुसार इस हस्त की योजना—कस्तूरी,

अल्पार्थ, स्वर्ण, ताम्र, लौह, गीलापन, दुःख, रसास्वादन, नेत्र, वर्णभेद, प्रमाण, माधुर्य, मन्दगति, खण्ड खण्ड करना, मुख, घृत तथा तैल के भावों को प्रदर्शन करने में की जाती है। (अभि० द० १४६–१५२)

'नाट्यशास्त्र संग्रह' में चतुर का स्वरूप इस प्रकार है :—यदि सर्पशीर्ष हस्त में कनिष्ठिका अंगुली टेढ़ी होकर झुके तथा अंगूठे को मध्यमा के मूल में टेढ़ा कर स्पर्श करते हुए रखा जाए तो 'चतुर-हस्त' होता है। योजना—यदि नय या आदर व्यक्त करना हो तो मुख के सामने चतुर हस्त को रखा जाता है। इसी प्रकार कलाई में स्वस्तिक कर दो चतुर हस्त एक दूसरे को पार करते हैं तो उससे विनय या सहिष्णुता दिखलाई जाती है। किसी प्रश्न पर विचार दिखलाने के लिए एक बाजू चतुर हस्त को रखते हैं तथा किसी छानबीन या विकल्प युक्त विचार में इसी हस्त को हृदय के पास रखते हैं। लीला विलास में दोनों हस्त उद्वेष्टित दशा में रखे जाते हैं। ऊपर की ओर समतल चतुर हस्त से कैतव तथा अक्ष क्रीड़ा की प्रेरणा, मृदुता बतलाना हो तो अंगुष्ठ और मध्यमा के परस्पर मर्दन के द्वारा तथा चतुराई दिखलाने में दो चतुर हस्तों को मिला कर ऊपर जाते हुए रखा जाता है (ना० शा० सं—१४८–१५२)

९९–१०१. **भ्रमर-हस्त** :—सन्दष्ट का अर्थ है अग्रभाग से श्लिष्टता या संयोग रहना। इनकी भ्रमर जैसी आकृति रहने के कारण 'भ्रमर' नाम करण हुआ है। **अभिनयदर्पण** के अनुसार भ्रमर, शुक, पखना (पक्ष), सारस, कोकिल तथा अन्य ऐसे ही पक्षियों के भाव को व्यक्त करने में भ्रमर, हस्त की योजना रहती है (अभि० द० ५२–१४५) **'नाट्यशास्त्रसंग्रह'** के अनुसार इस हस्त की योजना—कमलनाल को ग्रहण करने में, पुण्य को लेने या कर्णपूर बनाने, तालपत्र लेने और कांटा निकालने में की जाती है (ना० शा० सं०—१६१–१६२)।

१०२–१०३. **हंसास्य-हस्त** :—तर्जनी, मध्यमा और अंगुष्ठ ये तीनों 'निरन्तर' अर्थात् अलग-अलग रहने का इसमें निषेध है। (अन्तर = व्यवधान या दूरी)। **अभिनयदर्पण'** में इस हस्त की योजना—मांगलिक कार्य, मंगल सूत्र या सूत्र बांधने, उपदेश, विवाद-निर्णय, रोमाञ्च, मौक्तिकादि माला, दीपक की वत्ती आगे सरकाने, कसौटी, चमेली, चित्र, चित्ररचना, दंशन और जल के बांध (जलबन्ध) को दर्शाने में की जाती है।

१०४–१०७. हंसपक्ष-हस्त :—प्रत्यक्ष और परोक्ष को स्वस्तिकाकार हाथों से अभिनीत करते है। आलिङ्गन और महास्तम्भ के अभिनय को संयुत हस्त द्वारा एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर हाथों को रख कर किया जाता है। 'यथारसम, का आशय है कि शृङ्गार, हास्य, अद्भुत तथा करुणादि में व्यभिचारी विशेष के योग से दृष्टिविशेष रूप जो अनुभाव हैं उनसे स्पष्ट होने वाले (ऐसे) हस्त प्रयोग विशेष स्वरूप के हस्तों से समझकर प्रस्तुत किये जाना चाहिए। यह ध्यान सभी हस्तों के प्रयोग के समय रखा जाना चाहिए। **'अभिनयदर्पण'** के अनुसार छः की संख्या, सेतुवन्ध, नखों से रेखा वनाने या कुरेदने या टँकने के भाव दिखलाने में भी इस हस्त की योजना की जाती है। (अभि० द० १५७–१५६)

१०८–११४ सन्दंश-हस्त :—पुष्पोंके चयन और छोटे कांटों के निकालने में अग्रसन्दंश का प्रयोग होता है। धनुष में जो गुण है उसमें संयुत करण केवल संश्लेष नहीं है वह दोनों हाथों का आधार मात्र है। यह दोनों वाजुओं में प्राप्य रूप में समझना चाहिए। पत्ररचना से अलंकृत व्यक्ति के ललाट पर पल्लवादि स्थापन में सन्दंश हस्त का प्रयोग करते हैं। अभिनयदर्पण के अनुसार इसकी योजना उदर, वलिदान, घाव, कीट, महाभय, पूजा तथा पांच की संख्या वतलाने में की जाती है। (अभि० द० १५६–१६१)

११५–११७. मुकुल-हस्त :—यह मुकुल के आकार का हस्त बन जाता है अतः 'मुकुल' है। 'विटचुम्वन' से आशय है कि विट का अपने ही मुकुल हस्त को चुम्बन देकर किसी प्रमदा को यह दर्शाना कि मैं तुम्हारा चुम्बन चाहता हूँ। अथवा कामसूत्र में वर्णित 'आच्छुरितक' यही है, जिसमें प्रमदा के उरोज एवं चिबुक को एक साथ पांचों अंगुलियों से नख-स्पर्श द्वारा कुरेदना या क्षत देना होता है। यही आच्छुरितक यहाँ विट चुम्बन द्वारा दर्शाया गया है। **'अभिनयदर्पण'** के अनुसार कुमुद, भोजन, कामदेव, मुद्राधारण, नाभि, कदली तथा कुसुम का भाव दर्शाने में इसी हस्त की योजना की जाती है। (अभि० द० १६१–१६३)

११८–११६. ऊर्णनाभ-हस्त :—ऊर्णनाभ का अर्थ है मकड़ी जो जाल बुनती है। चिबुक क्षेत्र में स्वस्तिक हाथ को ले जाकर सिंह व्याघ्र का अभिनय किया जाए। सिंह व्याघ्र आदि स्वस्तिकाकार हाथों को रख बैठते हैं जिससे आसन पर उनके नख रखे दिखाई देते हैं। प्रस्तर का अर्थ पाषाण भी तथा कसौटी का पत्थर भी होता है। अन्य विद्वान् प्रस्तर का दर्भच्छटा

भी अर्थ लेते हैं। **नाट्यशास्त्र-संग्रह** के अनुसार नाट्यशास्त्र के विवरण के अतिरिक्त भी चोरी को पड़कने तथा केशों को पकड़ने में इसी हस्त की योजना की जाती है।

१२०–१२४. ताम्रचूड-हस्त :—जिसकी मस्तक की शिखा खुली हुई या फैली हुई हो ऐसे कुक्कुट पक्षी के आकार का है रहने से हस्त ताम्रचूड कहलाता है। ताल संगीत में काल का मानक होती है। संज्ञित का अर्थ है नाम लेकर किसी वालक को वुलानः। ताम्रचूड का अन्य लक्षण भी है। जिसमें कनिष्ठिका फैली हो ऐसी मुष्टि इसका आशय है। क्षिप्रमुक्ताङ्गुलीभिः का अर्थ है शीघ्रता से खोली हुई या खुली हुई अंगुलियों के द्वारा। **अभिनयदर्पण** में इसकी योजना मुर्गा, वगुला, कौआ, ऊँट, वछडा और लेखनी का भाव दिखलाने में की जाती है। (द्र० अभि० द० १६३–१६४) नाट्यशास्त्र-संग्रह ने वतलाया कि शार्ङ्गदेव के मत में नाट्यशास्त्र के ताम्रचूड के अन्य लक्षण की लक्ष्य में प्राप्ति अधिक नहीं होने से इसका प्रथम लक्षण ही ग्राह्य (रखना) है।

१२५. असंयुत 'हस्त इतने ही नहीं और न ही ये ही असंयुत हस्त हैं क्योंकि कोहल आदि नाट्यशास्त्र के अन्य आचार्यों ने अन्य असंयुत हस्त भी संश्लेषण या योग से संयुत हस्त होते हैं। अतः उन्हें स्वयं समझ लेना चाहिए। ऐसे विशेष अभिनय आगे नाट्यशास्त्र के २६ वें अध्याय 'चित्राभिनयाध्याय में वतलाये जायेंगे। कुछ अभिनय इन्हीं हाथों के द्वारा अपने अनुभव तथा उत्प्रेक्षण के आधार पर भी होते हैं।

भरत के इन असंयुत हस्तों के अतिरिक्त अभिनयदर्पण में दिये हुए असंयुक्त गये हस्तो को भी यहाँ दिया जा रहा है। क्रमशः ये हैं—(१) अर्धपताक, (२) मयूर, (३) चन्द्रकला, (४) सिंहमुख, (५) त्रिशूल, (६) व्याघ्र, (७) अर्धसूची, (८) कटक तथा (९) पल्ली। इनके लक्षण का क्रमशः योजनादि विवरण इस प्रकार है :—

अर्धपताक :—

त्रिपताके कनिष्ठा चेद् वक्रितार्धपताकिका।

यदि त्रिपताक हस्त में कनिष्ठका अंगुली को टेढ़ी कर के झुका दिया जाए तो 'अर्धपताकिका' हस्त कहलाता है।

पल्लवे फलके तीरे उभयोरिति वाचके।
क्रकचे छुरिकायाञ्च ध्वजे गोपुरशृङ्गयोः।
युज्यतेऽर्धपताकोऽयं तत्तत्कर्मप्रयोगके॥ (१०३–१०४)

योजना—पल्लव, चित्रफलक, लेखन आधार, नदी तट, 'दोनों' के कथन के लिये, आरा, छुरी, गोपुर तथा शिखर का भाव दिखलाने में अर्धपताक हस्त की योजना की जाती है।

मयूर :—

अस्मिन्ननामिकांगुष्ठौ श्लिष्टौ चान्याः प्रसारिताः।
मयूरहस्तः कथितः करटीकाविचक्षणैः।

यदि (कर्तरीमुख की) अनामिका को अंगूठे से मिला कर शेष अङ्गुलियों को बाहर की ओर फैला दिया जाए तो उसे विद्वान् 'मयूर हस्त' कहते हैं।

मयूरास्ये लतायाञ्च शकुने वमने तथा।
अलकस्यापनयने ललाटतिलकेषु च।
नद्युदकस्य निक्षेपे शास्त्रवादे प्रसिद्धके।
एवमर्थेषु युज्यन्ते मयूरकरभावनाः॥ (१०८–११०)

योजना—मयूरमुख, लता, शकुन, वमन, केशों को फैलाने या उठाने, ललाट पर तिलक लगाने, नदी जल को उछालने, शास्त्रार्थ करने तथा प्रसिद्ध वस्तु के निर्देश करने में 'मयूरहस्त' की योजना की जाती है।

चन्द्रकला :—

सूच्यामङ्गुष्ठमोक्षे तु करश्चन्द्रकला भवेत्।

यदि सूचीहस्त में अंगूठे को खोल कर आगे तान दिया जाए तो उसे 'चन्द्रकला' हस्त कहते हैं।

चन्द्रे मुखे च प्रादेशे तन्मात्राकारवस्तुनि।
शिवस्य मुकुटे गङ्गानद्यां च लगुडेऽपि च।
एषा चन्द्रकला चैव विनियोज्या विधीयते॥
(१३२, १३३)

योजना—चन्द्र, मुख, हाथ की बालिश्त (प्रादेश), अर्धचन्द्राकार वस्तु, शिव का मुकुट, गङ्गा नदी और लकड़ी या डंडा आदि के निर्देश में 'चन्द्रकला-हस्त' की योजना की जाती है।

सिंहमुख :—

मध्यमानामिकाग्राभ्यामङ्गुष्ठो मिश्रितो यदि।
शेषौ प्रसारितौ यत्र स सिंहास्यकरो भवेत्॥

यदि मध्यमा और अनामिका दोनों उङ्गलियों के अग्रभागों को अङ्गूठे से मिला दिया जाए और शेष दोनों उङ्गलियों के अग्रभागों को सीधे ताना या फैला दिया जाए तो उसे 'सिंहमुख' हस्त कहते हैं।

होमे शशे गजे दर्भचलने पद्मदामनि।
सिंहासने वैद्यपाके शोधने सम्प्रयुज्यते ॥ (१४२–१४४)

योजना—हवनकर्म, खरहा, हाथी, लहराती कुशाएँ, कमल की माला, सिंह का मुख, वैद्य द्वारा निर्मित पाक तथा उसके शोधन को सिंहमुख हस्त के द्वारा दिखलाया जाता है।

त्रिशूल :—

निकुञ्चनयुताङ्गुष्ठकनिष्ठस्तु त्रिशूलकः।

यदि कनिष्ठा और अँगूठे को झुका कर मिला दिया जाए (और तीनों अँगुलियाँ अलग-अलग सीधी फैली हुई रहें) तो त्रिशूल हस्त कहलाता है।

बिल्वपत्रे त्रित्वयुक्ते त्रिशूलकर ईरितः। (१६५)

योजना—तीन पत्रों वाले बिल्वपत्र या तीन पदार्थों के निर्देश में त्रिशूल हस्त की योजना की जाती है।

व्याघ्र :—

कनिष्ठाङ्गुष्ठनमने मृगशीर्षकरे तथा।
व्याघ्रहस्तः स विज्ञेयो भरतागमकोविदैः ॥

यदि मृगशीर्ष हस्त में कनिष्ठा और अँगूठे को झुका लिया जाए तो वह 'व्याघ्रहस्त' कहलाता है।

व्याघ्रे भेके मर्कटे च शुक्तौ संयुज्यते करः। (१६६–१६७)

योजना—व्याघ्र, मेंढक, वन्दर, सीप (शुक्ति) के भाव को बतलाने में 'व्याघ्र-हस्त' की योजना की जाती है।

अर्धसूची :—

कपित्थे तर्जनी ऊर्ध्वसारणे त्वर्धसूचिकः।

यदि कपित्थहस्त में तर्जनी ऊपर सीधी फैला कर रखी जाए तो 'अर्धसूची' हस्त कहलाता है।

अङ्कुरे पक्षिशावादौ वृहत्कीटे नियुज्यते। (१६७–१६८ हुँ

योजना—बीज के अङ्कुर, चिड़ियो के वच्चे, वड़े कीड़े मकोड़े को बतलाने में 'अर्धसूची' हस्त की योजना की जाती है।

कटक :—

सन्दंशेऽप्यूर्ध्वभागे तु मध्यमानामिकान्वया ।
कटको हस्त उच्यते ॥

यदि सन्दंश हस्त में मध्यमा और अनामिका के अग्रभागों को अँगूठे से मिला दिया जाए तो 'कटकहस्त' हो जाता है ।

एतस्य विनियोगस्तु.........दर्शने ।
आह्वानभावचलने.................॥

योजना— देखने.........बुलाने तथा चलने आदि को दिखलाने में कटक हस्त की योजना की जाती है ।

पल्ली हस्त :—

मयूरे तर्जनीपृष्ठ मध्यमेन युतो यदि ।
पल्लिहस्तः स विज्ञेयः पल्यर्थे विनियुज्यते ॥

यदि मयूरहस्त में मध्यमा अङ्गुली को तर्जनी के पीछे मोड़ कर अगले भाग से लगाया जाए तो 'पल्ली हस्त' हो जाता है । इसकी योजना वस्ती, गाँव की झुग्गी-झोपड़ियों को दर्शाने में रखी जाती है ।

संयुत-हस्तमुद्राएँ :—

१२६–१२८. **अञ्जलिहस्तः**—यहाँ लक्षण में 'तु' शब्द के द्वारा अन्य हस्तों के संश्लेषण में नामान्तर के होने की स्थिति वन जाती है यह दिखलाया है जैसे सूचीमुख के सम्बन्धों का अभिनय करते हैं । मुद्राओं में असंयुतमुद्राओं का अधिक महत्त्व एवं उपयोग है क्योंकि इन्हीं से संयुत हस्तों का निर्माण भी होता है । जैसे संयुत हस्त अञ्जलि से नमस्कार दिखलाया जाता है, वही दो पताक हस्तों से मिला कर भी दिखलाया जा सकता है परन्तु व्यवहारोपयोगी होने से संयुतमुद्राओं का अलग से दिखलाना परमावश्यक है ।

१२९–१३१. **कपोतहस्तः**—कपोत शब्द की व्युत्पत्ति है 'कम्पते इति कपोतः' भीरुः पक्षी कांपता है इसलिये कपोत अर्थात् डरपोक पक्षी । इसी स्वभाव से अन्य भीरु भी प्रकृति से गृहीत होने से 'कपोत' नाम से भीरुता ली जाती है । इस हस्त की भीत व्यक्ति के अतिरिक्त कम्पित के अभिनय में भी योजना रहती है । स्त्रियों के उरोज कम्पन के भयजन्य होने से इसका प्रधानतः अभिनय रहता है । इसका कूर्मवत् आकार होने से इसे 'कूर्मक' भी समझा जा सकता है ।

१३२–१३३. कर्कट-हस्तः—केंकड़ों की दाढ़ के आकार में अँगुलियाँ एक दूसरे के सामने रहने से इसकी 'कर्कट' संज्ञा हुई। मदन के विकार में अङ्गों से अङ्गों के मर्दन या मरोड़ने के अभिनय में तथा सोकर उठने के समय या अन्य किसी समय आने वाली जम्भाई में इसी हस्त का उपयोग होता है। बृहदाकार देह के फैलाने में पेट पर हथेलियों को सामने कर इस हस्त को रखा जाता है। हनु के धारण में अँगुलियों पर हनु को रखा जाता है। अर्थतत्व अर्थात् अभिनेय वस्तु के तत्व को अभिनय काल में प्रयोग करने में समर्थ आचार्यों के द्वारा ऐसे हस्त के प्रयोग स्वविवेक पूर्वक किये जाएँ।

१३४–१३५. स्वनिक-हस्तः—स्वस्तिक दो प्रकार का होता है एक शुद्ध स्वस्तिक तथा दूसरा मुष्टिकास्वस्तिक रूप विशिष्टस्वस्तिक। जहाँ शुद्ध स्वस्तिक पद का उपादान होता है वहाँ ऐसा मणिवन्धन्यास सन्निवेश मानना चाहिए—जैसे चिन्ता के अभिनय में। अर्थ एवं प्रकरणादि के आधार पर अन्य प्रदेशों में भी यही प्रवृत्ति रखनी चाहिए। जैसे—'स्वस्तिकविच्युति' से पताक के साथ भी इस हस्त का प्रयोग किया जाता है। कलाई पर सामने की ओर रखना ही इसका लक्षण कुछ विद्वान् मानते हैं। स्वस्तिक के लक्षण तथा स्वरूप वाला होने से इसे 'स्वस्तिक' कहते भी हैं।

१३६. खटकावर्धमानक-हस्तः—जहाँ परस्पर अभिमुख दो खटक हो वह इसका रूप है। खटक पर खटक को रखने से खटकावर्धमानक। इसका खटक के चारों ओर योग या सम्वन्ध रहने से खटकावर्धमानक सार्थक नाम-करण समझना चाहिए। शृंगारार्थ अर्थात् शृंगार के प्रयोजन वाले कार्य जैसे ताम्बूल ग्रहण आदि में। जैसा कि आगे गतिप्रचार में कहा भी है—'खटकावर्धमानौ तु कृत्वा विटगतिं व्रजेत्' (१२-१२०) ['खटकावर्धमान हस्तों को रख कर विट की चाल में चले']। अपनी स्वामिनी को प्रसन्न करने के लिये प्रणाम करने में भी तथा ऐसे प्रयोजन के समय भी इसी हस्त का प्रयोग किया जाता है।

१३७–१३८. उत्सङ्ग-हस्तः—'विपर्यस्तत्व' का आशय है स्वस्तिकाकार। अर्थात् दाहिना हाथ बाँये कन्धे के दायरे में रखना, जिससे प्रकोष्ठ-स्वस्तिकत्व संकेतित होता है। अन्य के मत में स्वस्तिक की दक्षिण पार्श्व में स्थिति ही विपर्यस्तत्व है तथा अन्य इसे अधोमुखत्व भी मानते है। अभिनवगुप्त पाद ने इस पर युक्तियुक्तता से विचार रख वतलाया कि ऐसा प्रतीत होता है कि जब कूर्परों को स्वस्तिकाकार रख प्रवेश रहित स्थान से

अँगुलियाँ बाहर की ओर हों और हस्तों का पृष्ठभाग बहिर्मुह हो तो यही 'विपर्यस्तत्व' है। उत्सङ्ग में लेने की योग्यता के होने से इसका 'उत्सङ्ग' सार्थक नाम है। स्पर्शस्य अर्थात् जो परोक्षभूत वस्तु है उसके स्पर्श करने के अभिनय में ऐसे ही उत्सङ्ग हस्त का प्रयोग किया जाता है।

'निष्पीडितः पुनः' के स्थान पर 'सिंहावलोकिते' पाठ भी है। सिंहने देखा या सिंह को देखा इन दोनों अर्थों को यहाँ लिया जा सकता है। एक बार कर्त्ता में तथा दूसरी बार में षष्टी का विधान कर यहाँ अर्थ समझना चाहिए। **अभिनयदर्पण** के अनुसार—आलिंगन करने, लज्जा का अनुभव करने, भुजबन्ध को दिखलाने और बालकों को शिक्षण देने के अर्थ बतलाने में इस हस्त का प्रयोग किया जाता है। अभि० द० १८४–१८५)

१३९–१४१ निषध-हस्तः—कपित्थ हस्त से वेष्टित मुकुलहस्त का धारण करना 'निषध' है। 'निषण्णं धत्ते इति निषधः' यह इसकी व्युत्पत्ति है। संग्रह का अर्थ है शास्त्र का सम्यक् ग्रहण या समझना। संक्षिप्त के अभिनय से यह बतलाया कि संक्षेपवत् द्रव्य का अभिनय इसी हस्त के द्वारा किया जाए। अथवा संक्षिप्त का अर्थ है सम्यक् क्षिप्त अर्थात् ठीक से स्थापित। अभिनय-दर्पण में निषधहस्त का स्वरूप नहीं मिलता है।

१४२–१४३. दोलाहस्त :—हाथों के पूरे लम्बे करने पर ही कन्धों में शिथिलता होती है। या पताक हस्त की अँगुलियों के अवष्टम्भ के आधार को उद्धार या हटाने में अँगुलियों के शिथिल करने पर दोला के आकार का हस्त हो जाने से यह 'दोला' कहलाता है। भिन्न-भिन्न अभिनेय वस्तुओ में इस बाजू से उस बाजू में जाना, निपतन तथा स्तब्धत्व आदि को समझना चाहिए। अभिघात का अर्थ है शीत, वर्षा या आतप के चारो ओर से आने पर दोष या अकुलाहट होना। **अभिनयदर्पण** के अनुसार अभिनय के आरम्भ में इस हस्त का प्रयोग किया जाता है। (अभि० द० १८१–१८२)

१४४–१४५. पुष्पपुट हस्त :—सर्पशीर्ष हाथों के पुट से अर्थात् दोने के आकार (द्रोणाकार) में बनाए हस्तों से पुष्पों को लेना होने से इसे 'पुष्पपुट' कहा जाता है। 'अभिनयदर्पण' के अनुसार आरती उतारने, पानी या फल के ग्रहण करने, सन्ध्या करने, अर्घ्यदान करने तथा मन्त्रशक्ति युक्त पुष्प के अर्थ को प्रकट करने में इस हस्त की योजना की जाती है। (अभि० द० १८२–१८३)

१४६–१४७. मकरहस्त :—दोनों अँगूठों का मकर के कर्णों की तरह रहना होने के कारण इसका 'मकर' नाम है। अर्थयोगेन से आशय है कि आगे पीछे, अगल-बगल में, ऊपर-नीचे, ठहरने-चलने, उठने-बैठने जैसे अनेक कार्यों या प्रयोजन के अनुसार इसका प्रयोग किया जाए। 'नाट्य शा० सं०' के अनुसार नदी के पूर को दिखलाने में इस हस्त की योजना की जाती है। अभि० द० में इसका लक्षण नहीं मिलता।

१४८–१४९. गजदन्त हस्त :—इसमें वाम बाहु में दक्षिण तथा दक्षिण बाहु में वाम हस्त स्तम्भाकार वेष्टित होता है जो हाथी के दाँत के आकार के सम्बन्ध से गजदन्त कहलाता है। वधू तथा वर के विवाह मण्डप में ले जाने या शिला उखाड़ने जैसे अवसरों तथा कार्यों का इस हस्त को आते जाते रखकर अभिनय किया जाता है।

१५०–१५१. अवहित्थ हस्त :—आकार गोपन की सूचना देने के कारण इस हस्त का अवहित्थ नाम करण सार्थक है। अवहित्थ हस्त के प्रयोग से हृदय के आशय को दबा लेने या उसका भेदन नहीं होने देने को बतलाया जाता है।

१५२–१५३. वर्धमान हस्त :—दो हस्त पराङ् मुख हो स्वस्तिकता से रहित चलने से विस्तार युक्त हो जाते हैं अतः इनमें वर्धमानता रहती है जो इसकी व्युत्पत्ति में निमित्त होती है।

१५५. संक्षेप में बतलाने की भावना से यहाँ इनका निरूपण किया गया। 'तु' का आशय है—इन कथित अर्थों के अतिरिक्त अन्य अर्थों के अभिनय भी योग्यतावश हस्तों से किये जा सकते हैं। अभिनयदर्पण में संयुतहस्त २३ बतलाये गये हैं जब कि भरतमुनि ने तेरह ही बतलाये जिनमें अभिनयदर्पण में ९ ही समान नाम से मिलते हैं। ऐसे अतिरिक्त हस्त हैं—१. शिवलिङ्ग, २. कर्तरी-स्वस्तिक, ३. शकट, ४. शंख, ५. चक्र ६. सम्पुट, ७. पाश, ८. कीलक, ९. मत्स्य, १०. कूर्म, ११. वराह, १२. गरुड़, १३. नागबन्ध, १४. खट्वा तथा १५. भेरुण्ड। विस्तार भय से इनके स्वरूप को यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है। इसे अभिनयदर्पण में यथास्थान देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त देव-देवी-प्रतिमाओं के लिये हस्तमुद्राओं का प्रयोग भी इसी में तथा अन्यत्र (नासग्रन्थों में) मिलता है। इनमें—ब्रह्महस्त, ईश्वर(शिव)हस्त, विष्णुहस्त, सरस्वतीहस्त, पार्वतीहस्त, लक्ष्मीहस्त, विनायक(गणेश)हस्त, षण्मुखहस्त, मन्मथहस्त, इन्द्रहस्त, अग्निहस्त, यमहस्त, निर्ऋतिहस्त, वरुण-हस्त, वायुहस्त, कुबेरहस्त, मादि आते हैं। इनके अतिरिक्त दशावतारहस्त भी

है। यथा—१. मत्स्यावतारहस्त, २. कूर्मावतारहस्त, ३. वराहावतारहस्त, ४. नृसिंहावतारहस्त, ५. वामनावतारहस्त, ६. परशुरामावतारहस्त, ७. रामावतारहस्त, ८. बलरामावतारहस्त, ९. कृष्णावतारहस्त तथा १०. कल्कि अवतारहस्त। इसके अतिरिक्त विभिन्न जातियों एवं वर्णों की हस्तमुद्राओं का विवरण प्राप्त है। इनमें राक्षसहस्त, ब्राह्मणहस्त, वैश्यहस्त, शूद्रहस्त आते हैं। जातियों की उनके व्यवसाय, तथा विभिन्न देशों की परम्पराओं के अनुसार हस्तमुद्राएँ रहती हैं।

इसी क्रम में सम्बन्धिजन की हस्तमुद्राओं का भी विवरण मिलता है। तदनुसार दम्पत्तिहस्त, मातृहस्त, पितृहस्त, श्वश्रूहस्त, श्वशुरहस्त, भर्तृ-भ्रातृहस्त, ननान्दृहस्त, पुत्रहस्त, स्नुषाहस्त, तथा सपत्नीहस्त। इसके अतिरिक्त नवग्रहों के लिये भी हस्तमुद्राओं का स्वरूप इसी में दिया गया है। यथा—(१) सूर्यहस्त, (२) चन्द्रहस्त, (३) कुज-(भौम) हस्त, (४) बुधहस्त, (५) गुरुहस्त, (६) शुक्रहस्त, (७) शनिहस्त, (८) राहुहस्त तथा (९) केतु हस्त। इन सभी के लक्षण तथा योजना आदि अभिनयदर्पण में देखना चाहिए। 'नाट्यशास्त्रसंग्रह' में संयुक्त हस्तों के ६ अतिरिक्त प्रकार भी बतलाये गये हैं। यथा—(१) कर्तरीस्वस्तिकहस्त, (२) स्वस्तिकहस्त, (३) पताकस्वस्तिक, (४) कलश, (५) तिलक तथा (६) वैष्णव। इनके स्वरूपादि भी (कारिका संख्या २१८ से २२५ तक) नाट्यशास्त्रसंग्रह में देखना चाहिए।

१५५–१५६. बिना हस्त के कोई 'नाट्य' नहीं होता है। यहाँ नाट्य शब्द का अर्थ है 'नाट्य' के उपयोगी अभिनय में विभावादि, जिसका रूप जो दिखाई दिया है तथा जिसको बतलाया गया है 'वह'।

१५७. यहाँ 'अर्थ का आशय' शोभातिशय और अभिनय-सामर्थ्य है। छन्दतः = नाट्याचार्य की इच्छा के तथा अनुभव के अनुसार रहने वाले प्रयोग। लोकधर्मी इतिकर्तव्यता को दिखलाने वाले अभिनय, रस तथा भाव के सूचक जो 'हस्त' हो उन्हें।

१५८. देश = क्षेत्रविशेष। प्रयोग = सुकुमार एवं उद्धत रूपकविशेष-अर्थयुक्ति = अभिधेय (वाच्य) गौण (लाक्षणिक, लक्ष्य) तथा प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ की उपपत्ति। पुरुषों के आचार स्त्रियों की अपेक्षा सामान्य होते हैं अतः उनकी अपेक्षा स्त्रियों के विशेष रूप में हस्त प्रयुक्त किये जाएँ।

१५९–१६४. रस और भाव के अनुसार स्थायी एवं संचारी के भेद से तथा भिन्न-भिन्न विभाव भेद के कारण हस्तकर्म होते हैं। जैसे—विदूषक के

प्रति केशों का आकर्षण खटकामुखहस्त से, प्रिया के प्रति अरालहस्त से, क्रीडा और कलह की दशा में मुष्टिहस्त के द्वारा। इस प्रकार क्रियाओं की स्थिति रस, भाव के अनुसार स्वयं कल्पना कर योजना की जाए। इस प्रकार इन हस्तप्रचारों को नेत्र, मुखराग एवं भ्रुकुटि के साथ उनके भावों को व्यक्त करते हुए रखना चाहिए। परोक्ष अभिनय में दृष्टियों को हस्त के अनुगत रखना चाहिए, प्रत्यक्ष अभिनय में हस्तों का अनुगम नहीं होगा वहाँ इसके विपर्यय अर्थात् प्रतिकूल क्रम रहेगा।

१६५. करण का अर्थ है आवेष्टित आदि क्रियाएँ। कर्म = विधेय या कर्तव्य। स्थान—ललाट आदि प्रदेश तथा उत्तान, अधोमुख, ऊर्ध्वमुख जैसी स्थिति। प्रचार = स्वल्प, मध्य एवं अधिक प्रमाण में हस्तों का चालन। मुक्ति = अर्थ के विषय में गौण या मुख्य की उपपत्ति या बारीकी से विचार कर तदनुसारी अभिनय करना। यदि ब्राह्मण गौ है (बैल या मूर्ख है) तो उसके मृग (पशु) रूप अर्थ को स्वरूप मान कर कर्तरीमुख या मृगशीर्ष बहुल हरिण (पशु) का अभिनय उपयुक्त नहीं किन्तु ऐसे समय मूर्खता के अभिनय में चतुर, शुकतुण्ड, शिखर एवं निषध हस्तों का प्रयोग प्रायः उपयुक्त होता है। इसी प्रकार विशेषणविशेष्यभाव का विचार करना भी युक्ति कहलाता है। जैसे लम्बकर्ण में लम्बे कानों का या जिसके लम्बे कान हों उसका भी अभिनय किया जाता है। क्रिया यह तीन प्रकार की होती है, विधिरूपा, निषेधरूपा तथा अनुभयरूपा (विधि एवं निषेध से रहित)। 'जाओ मत जाओ' इत्यादि विधि में प्रत्ययार्थ का ही अभिनय होता है, निषेध में केवल नञर्थ का और अनुभय में केवल प्रकृत्यर्थ का ही अभिनय होता है। इन सभी का व्यापक कारण लोकोपचार (लोकव्यवहार) है।

१६६. हस्तों के निरूपण के बाद अब उनके 'स्थान' बतलाते हैं। स्थान अर्थात् करण तथा कर्म। यहाँ हस्तों के विभागपूर्वक वर्णन को दिया गया है कि—उत्तम पात्र का सन्निकृष्ट प्रदेश में, मध्यम पात्र का मध्यम प्रदेश में तथा अधम पात्र का विप्रकृष्ट प्रदेश में अभिनय किया जाए। यहाँ ललाटादि शब्द उपलक्षणार्थक हैं। इन क्षेत्रों में वर्तना के नियोजन के साथ-साथ उत्तमपात्र (राजा आदि) अपने स्वरूप के उपयुक्त स्थानों पर अभिनय करें। इससे यह भी सूचित किया गया है कि देव, गुरु, नृप आदि उत्तम पात्र ललाट क्षेत्रस्थ अञ्जलि हस्त से, अमात्य, विदूषक आदि मध्यमपात्र वक्षःस्थ चतुरादिहस्तों से तथा चर आदि अधमपात्र शुकतुण्ड आदि हस्तों से अपना अभिनय करें।

१६७. अभिनय के विषय में अन्य तथ्य भी बतलाते हैं—ज्येष्ठ इत्यादि से। ज्येष्ठ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के चतुर्वर्ग के उपदेश प्रदाता उत्तम नाटकादि के प्रयोग में प्रत्यक्ष की प्रधानता है अतः हस्त का स्वल्प अभिनय रहना चाहिए। भाण आदि हास्य प्रधान भाण प्रहसन आदि रूपकों के प्रयोग में मध्यम हस्त प्रयोग रखना चाहिये क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष की प्रधानता के साथ आकाशभाषितादि की भी बहुलता रहती है। नृत्त पिद्गकादि अधम में प्रकीर्ण हस्तों का अभिनय किया जाए।

१६८. लक्षण अर्थात् वर्तना के क्रम से योजित 'सौष्ठव' अर्थात् वर्णित स्वरूप के अनुगत। अधमपात्रों के हस्त लक्षणों के अनुगत नहीं रहते वे केवल लोक क्रिया के अनुगत रहते हैं।

१६९. अन्य आचार्यों के मत को अथवा के द्वारा यहाँ दिखलाया जा रहा है। जैसा समय हो—अर्थात् भय, जुगुप्सा, आदि में तथा शीत, वर्षा या आतप के योग में हस्तों की अस्फुट या अटपटी स्थिति ही सौष्ठव है। विपरीत या भिन्न स्वरूप का आशय है कि अवहित्थादि में सौष्ठव की योजना न करना ही सौष्ठव है (तथा यही वैपरीत्य है)।

१७०-१७३. विहस्त = हस्त में विकलता रहना। मद्यपान से युक्त 'मदमत्त' तथा प्रमाद करने वाला व्यक्ति 'उन्मत्त' कहलाता है। (परन्तु) जो हस्त आन्तरिक चित्तवृत्तियों को सूचित करे उनको अवश्य प्रस्तुत किया जाए। जैसे कपोतहस्त भय को, मदन हेतुक जृंभा (जंभाई) को कर्कटक-हस्त, कपोतहस्तजैसे शोक को और शुकतुण्डहस्त ईर्ष्या को सूचित करता है तो ऐसे हस्तों का अवश्य प्रयोग द्वारा किया जाए।

१७४. यहाँ हस्ताभिनय प्रयोग के सभी निषेध स्थल बतलाये गये हैं। जैसे सारथि के द्वारा घोड़ों की रस्सी सम्हालने के कारण दोनों हाथों के व्यस्त रहने की स्थिति में हस्ताभिनय संभव नहीं होता। विलोकनै पद से चित्तवृत्ति के मालूम हो जाने पर कि यह कैसा है इसे देखने से मुखराग आदि के द्वारा स्फुटरूप से अभिनय करे।

१७५. अब दिशाओं के भेद से हस्तप्रचार को कहते हैं—उत्ता। इत्यादि के द्वारा। जैसे 'पृथ्वी पर निर्माण किया' के अभिनय में किया जाने वाला पताकहस्त उत्तान रहता है या आगे की ओर जाने वाला त्रिपताक भी। पार्श्व में—जैसे धनुष चलाने के अभिनय में मुष्टि हस्त का प्रयोग। अधो-मुख—जैसे समुद्र के अभिनय में स्वस्तिक पताक हस्त का ललाटक्षेत्र गत प्रयोग करना।

१७६–१७७. हस्तों को व्यवस्थित रूप में निष्पादित कर (लक्षणानुसारी) प्रस्तुत करना ही अभिनय की 'वस्तु' है। इनमें अनुभावात्मक 'करण' होते हैं तथा इनका सञ्चय अङ्गहार हो जाता है जिनका विवरण ना० शा० ४ अध्याय में दिया जा चुका है। स्थान, चारी तथा नृत्तहस्तों में अब नृत्तहस्तों का निरूपण प्रसङ्ग प्राप्त हैं। इसके बाद क्रमशः स्थान एवं चारी का विवरण कहा जायगा।

नृतहस्त—

१७८. चतुरस्र नृत्तहस्त :—वक्षःस्थल से हटकर जो अष्टाङ्गुल प्रदेश हो उस पर रहने वाले दो हाथ। आशय यही है कि एक हाथ जब वक्षः पर हो और दूसरा हाथ आठ अंगुल से हटे हुए स्थान पर हो तो दोनों हाथों में आठ अंगुल का अन्तर रहेगा। इस प्रकार के अन्तर रहने से हाथों में चातुरस्र रहता है। प्राङ्मुख से आशय है कि प्रयोक्ता जिसके सम्मुख होगा उसी के सम्मुख चतुरस्र हस्त हों। कूर्पर तथा अंसों में तराजू की डंडी की तरह समता रखी जाए। इसका अभिनय आकर्षण विशेष में किया जाता है।

१७९. उद्वृत्तहस्त :—(आशय यही कि) 'हस्त पहिले चतुरस्र होकर बाद में उद्वेष्टित (व्यावृत्त) वर्त्तना प्रचार से हंसपक्ष कर दिये जाते हैं। आवर्त्तन के समय ऊपर की ओर आवर्तन करने से 'उद्धत्त' हैं। इसी की अन्य संज्ञा 'तालवृन्तक' भी है।

१८०. तलमुख हस्त :— यहाँ 'तथा' पद का अर्थ है कि व्यावृत्त तथा उद्वृत्त पूर्व में कर लिये जाएँ फिर इसको प्रस्तुत करे। इसमें समाप्ति के समय हंसपक्ष हस्त रखे जाए। इसके तलमुख नाम का हेतु है दोनों हथेलियों का एक दूसरे के सम्मुख हो जाना। मर्दल आदि अवनद्ध वाद्य वादन में इसकी योजना रखी जाती है।

१८१. स्वस्तिक तथा **विप्रकीर्णहस्त :**—तावेव = अर्थात् 'तलमुख' हस्त ही। 'स्वस्तिक' = स्वस्तिकाकार में। विप्रकीर्णहस्त पूर्व में कहे गये चारों नृत्तहस्तों का आधार लेकर प्रवृत्त होता है यही यहाँ समझना चाहिए।

१८२. अरालकटकामुखहस्त :—अराल के प्रचार द्वारा एक हस्त को अराल तथा द्वितीय को कटकामुख चातुरस्र के संस्थान के साथ प्रस्तुत किया जाता है। अन्य लक्षण से स्वस्तिक संस्थान से अराल एवं कटकामुख हस्तों को रखा जाए। इसका अभिनय वणिक् या सचिव पात्र के वितर्क में किया जाता है।

१८३. आविद्धवक्रहस्त :—इस हस्त की योजना भय से कम्पित होने तथा तिरछे होकर खिसकने में की जाती है।

१८४. सूचीमुखहस्त :—चतुरस्र स्थान स्थित दोनों सर्पशीर्ष हस्तों को जब तर्जनी के अग्र से तिरछा कर वगल में ले जाकर फैलाते हुए रखे और वाहर फैला कर क्रमशः प्रस्तुत करते रहें (पर्यायशः) तो वाहर की ओर फैलाने से इसका सूची सदृश आकार होने से 'सूचीमुख' है। अन्य पाठ के अनुसार—सूचीमुखहस्त वे होते हैं जिनके अंगूठे हथेली के मध्य में फैलाते हुए रहें अतः वे स्वस्तिक आकार में होने वाले सर्पशीर्ष होते हैं तो।

१८५. रेचितहस्त :—तेजी से घूमने वाले विना कुछ वदले हुए हंसपक्ष ही 'रेचित' होगें तथा हथेलियों को ऊपर फैला देने से विकृत हुए भी 'रेचित' कहलाएँगे। इसकी योजना नृसिंहावतार में दैत्य के वक्षःस्थल के फाड़ने जैसे कार्य में रखी जाती है।

१८६. अर्धरेचितहस्त :—रेचित हस्तों में एक को 'चतुरस्र' स्थिति में रखना 'अर्धरेचित' हो जाता है। इसे पर्यायशः भीं प्रस्तुत करना होता है।

१८७. उत्तानवञ्चितहस्त :—त्रिपताकहस्तों को अंस, कपोल तथा ललाट में से किसी एक स्थान में अंचन क्रिया से युक्त करते हुए परस्पर सामने और तिरछे करें तथा अंसों और कूर्परों में किञ्चित् चलन हो तो इस अंचन के समय उत्तानता की प्राप्ति होने पर पुनः अञ्चन में उद्गमन क्रिया का योग होता है अतः ये मृदु रूप में उत्तान तथा अञ्चित होने से 'उत्तान-वञ्चित' हैं।

१८८. पल्लव तथा नितम्बहस्त :—इसमें दो पताक हस्तों को ऊपर बाहुओं को फैलाकर व्यावर्तित तथा परिवर्तित क्रिया से स्वस्तिक आकार में रखे जाते हैं। ये पल्लव के आकार में होने से 'पल्लव' कहलाते हैं। अन्य आचार्य शिथिल त्रिपताक हस्त को यदि कलाई में घूमते हुए रखे जाए तो 'पल्लव' वतलाते हैं।

यदि दो पताक हस्त प्रथम कन्धों के वरावर रखते हुए तथा दोनों तलों को एक दूसरे के सामने रखते हुए अधोमुख किये जाए तथा नितम्ब प्रदेश तक ले जाए जाएँ जहाँ वे पर्यायशः अर्थात् क्रमशः रेचक को करते हों तो वे 'नितम्व हस्त' हैं।

१८९. केशबन्धहस्त :—पहिले एक बाजू से दूसरी बाजू में दो पताक हस्त परिवर्तन करते हुए ऊपर उठे हुए अर्थात् मस्तक के क्षेत्र को प्राप्त करते

वाले हों पुनः नितम्ब हस्त से क्रमशः आवर्तन प्रत्यावर्तनकारी होतें हों वे हस्त केशो के सम्बन्ध से 'केशबन्ध' कहलाते हैं। ये शोभाधायक होते हैं तथा आचार्य गण को अतिइष्ट होते हैं।

१६०. लताबन्धहस्त :—यदि दो पताक हस्त तिरछे फैलाते हुए नीचे बाजुओं में अर्थात् नितम्ब से लताहस्त पर्यन्त त्रिपताकों के रूप में अनुगमन करते हैं तो 'लताबन्ध' हस्त होता है।

१६१. करिहस्त-हस्त :—समुन्नत = अर्थात् जिस क्रम से संश्लेप किया उसी क्रम से ऊँचा उठाते हुए। विलोलित पद से दोला की तरह झुलाते रहने का संकेत मिलता है। यहाँ 'हस्त' पद का एकवचन में उपन्यास इसलिये किया है कि करी को एक ही हस्त (सूंड) होता है। अतः इसका चतुरस्र की तरह न तो सजातीय होकर आरम्भ होता है और न खटकामुख की तरह नृत्त के अभ्यास के व्यपदेश से विजातीय आरम्भ ही होता है। अतएव द्विवचन का यहाँ उपन्यास नहीं किया गया है। इसका आकार 'करिहस्त' का होने से यथार्थ नाम है।

१६२. पक्षवञ्चितक-हस्त :—यदि कटि के शीर्ष या नोक के आसपास बाजू में दो त्रिपताक हस्त रखे जाए तो इससे बाजू अञ्चित हो जाती है।

१६३. पक्षप्रद्योतक-हस्त :—इसमें बाजू में एक के सम्मुख दूसरा होकर अपने स्वरूप को द्योतित करते हैं। लक्षण में 'एव' पद से प्रतीत होता है कि इनके व्यामिश्रण या मिलान से प्रयोग में शोभा होती है।

गरुडपक्षहस्त :—यदि दो पताक हस्त नितम्ब क्षेत्र में अधोमुख होकर हथेली के झटके से ऊपर जाने वाले गरुडपक्ष के आकार को प्राप्त करें तो **'गरुडपक्ष'** हस्त होते हैं। यहाँ दोनों पताकहस्त ही इष्ट हैं क्योंकि त्रिपताक से बाधा मानी गयी है।

१६४. दण्डपक्ष-हस्त :—इसमें एक हंसपक्षहस्त वक्षःस्थल की एक बाजू से वर्तन या चालू हो तथा उसी समय द्वितीय हंसपक्ष का भुज के प्रसारण पर्यन्त वर्तन होता हो। फिर दूसरे अंग से दोनों ही भुजाएँ प्रसारित, व्यावर्तित तथा परिवर्तित होती हों। इसमें एक बाजू में बगल से या दूसरी बाजू से भुजाएँ दण्ड के आकार में रहती है अतः इसका नाम 'दण्डपक्ष' है। इसमें दोनों हाथों का एक साथ प्रसारण रहता है किन्तु व्यावर्तन एवं परिवर्तन क्रमशः रहते हैं।

१६५. ऊर्ध्वमण्डल-हस्त :—वक्षःस्थल से व्यावर्तित कर ललाट क्षेत्र के जरिये से उन्हें पार्श्वों में ले जाकर पुनः वहाँ से मण्डलाकार घुमाव देकर

फैला देने पर 'उर्ध्वमण्डल' हस्त हो जाते हैं। ललाट प्रदेश तक ऊपर ले जाना ही इसका मुख्यतः 'लक्षण' है।

पार्श्वमण्डल-हस्त :—ऊर्ध्वमण्डल हस्त ही जब पताका के आकार में (गोल घूमते हुए) परस्पर सम्मुख एक पार्श्वगत हो जाते हैं तो 'पार्श्वमण्डल' कहलाते हैं। अन्य आचार्यों का कहना है कि वक्षःस्थल के बराबर अपने ही बाजू या पक्ष में परस्पर आहत भुजों का ताल देकर घुमाते हुए वर्तना क्रम से प्रचार करना ही इस हस्त का स्वरूप है।

१६६. उरोमण्डलीहस्त :— इसमें उद्वेष्टित तथा अपवेष्टित हस्तों का एक साथ योग रखा जाता है तथा ये वक्षःस्थल के समीप या सामने से रहनेवाले होते हैं। इसमें हस्तक्रम ऐसा रखा जाता है कि एक के आगमन से दूसरे का गमन या गोल घुमाना बना रहे (ऐसी वर्तना रहती है) उद्वेष्टित तथा अपवेष्टित क्रिया 'पताक' हस्तों की होती है। अन्य आचार्यों के मत में यह 'हंसपक्ष' हस्त में रखे जाने की बात कहीं गयी है।

१६७. उरःपार्श्वार्धमण्डलहस्त :— इसमें वक्षःप्रदेश में उत्तान हस्त को ठहरा कर फिर अलपल्लव हस्त को व्यावर्तित करण से निकाले तथा बाजू में भुजा को फैला दे। यह एक हस्त की प्रक्रिया हुई। तब दूसरे हाथ की अंगुलियों को अराल हस्त में उद्वेष्टित कर लावे। इसके नाम का भी यहाँ यही कारण है कि इसमें एक हाथ से वक्षःस्थल के आधे भाग को और दूसरा हाथ पार्श्व (बाजू) में मण्डल की तरह क्रमशः गतागत करते हैं।

१६८. मुष्टिकस्वस्तिकहस्त :—इसमें कलाई के समीप में दोनों हाथों में से एक हस्त को अराल वर्तना से कुञ्चित रूप से तथा दूसरे हस्त को अलपल्लव वर्तना से अञ्चित रूप से बार बार आवागमन करवाने के पश्चात् खटकामुख हस्तों से स्वस्तिक करते हैं। इस प्रकार खटकामुखों की मुष्टि (हस्त) से उत्पत्ति होने के कारण इसका 'मुष्टिकस्वस्तिक' नामकरण सार्थक है।

१६९. नलिनीपद्मकोशहस्त :—इस हस्त का विभिन्न आचार्यों ने पृथक् २ वर्णन तथा स्वरूप बतलाया है। इसमें मुष्टिक युक्त स्वस्तिक के क्षेत्र में जब दोनों कलाइयों को व्यावर्तित करण से कनिष्ठिका अंगुली एवं अंगूठों का परिर्तन कर देते हैं तब दोनों कलाइयाँ परस्पर पराङ्मुख हो जाती हैं जिससे दो पद्मकोश बन जाते हैं। इस प्रकार इसके नाम के अनुरूप ही एक कमलिनी में अनेक कमलों की उत्पत्ति हो जाने से इसका 'नलिनीपद्म-कोश' नाम हो जाता है।

२००. अलपल्लव या अलपद्महस्त :—जब अलपल्लव हस्तों को वक्षः प्रदेश से उद्वेष्टित क्रिया में रख कर कन्धे के पास तक ऊपर ले जाकर फैला दिया जाए तो 'अलपल्लव' हस्त होता है। इसका अन्य नाम है 'अलपद्म'।

उल्बणहस्त :—इसमें दो अलपल्लव हस्तों को वक्षः क्षेत्र से उद्वेष्टित कर स्कन्ध के पास ऊपर फैलाए हुए एक हस्त से आविद्ध तथा दूसरे से पल्लव रूप को प्रदर्शित करे तो 'उल्वण' हस्त होता है। इसकी हर्षभरित मनोवस्था में योजना रखी जाती है।

२०१. ललितहस्त :—इसमें दो अलपल्लवहस्तों को मस्तक पर ले जाते हैं। इसमें चतुरस्र से अङ्गों का लालित्य दिखलाया जाता है। अतः इसका नाम भी 'ललित' है।

वलितहस्त :—इसमें कलाई प्रदेश पर लताहस्त स्वस्तिकाकार में वलित या घुमाव लेते हैं। इसमें बाहुओं का वलन होता है अतः इसका नाम 'वलित' है जो भिन्न-भिन्न वर्तनाओं का संकेत देता है। अन्य आचार्य मुष्टिक स्वस्तिकहस्त को मस्तक पर फैलाने को (घुमाने को) 'वलित' मानते हैं तथा कुछ अन्य दो कटकामुख हस्तों को एक दूसरे के साथ अग्र भाग लगाते हुए मिला कर ऊपर उठाते हैं जब तक कि वे पृष्ठ तक पहुँच कर कलाई पर झुकाये न जाएँ तो 'वलित' होता है।

नृतहस्तों की संख्या भरतमुनि ने तीस बतलाई है जो केवल उपलक्षण-मात्र हैं। इन नृतहस्तों के अतिरिक्त कुछ अन्य नृतहस्त भी प्राप्त हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. निकुञ्चकहस्त, २. द्विशिखरहस्त, ३. वरदाभयहस्त, ४. सूचीविद्धहस्त, ५. ज्ञानहस्त, ६. मुद्रहस्त तथा ७. प्रकीर्णहस्त। इनके लक्षण तथा योजना नाट्यशास्त्रसंग्रह में कारिका संख्या २८६ से २९५ तक देखना चाहिए। विस्तारभय से यहाँ नृतहस्तों के शेष विवरण भी नहीं दिये जा रहे हैं।

२०२–२०३. पताकहस्त सब हस्तों की प्रकृति या कारण माना जाता है अतः सभी वर्तनाओं में कार्य करने से 'पताक' सर्वसाधारण होता है तथा शब्द से भी रखता है। यहाँ नाट्यशब्द से अभिनयोपयोगी हस्त और नृत्त प्रमुखता नृत्त के उपयोगी हस्तों की सूचना दी गयी है।

२०४–२०६. जिस अंगुलितुलन रूप क्रिया से अभिनय विशेष का सम्पादन किया जाये उसे 'करण' कहते हैं। किन्तु जहाँ अभिनय की समाप्ति नहीं होती हो वहाँ 'वर्तना' की आंकाक्षा रहती है जिसका 'अंगत्रोटन' के नाम से बुधजन व्यवहार करते हैं।

२०७–२१०. अभ्यन्तरेण इत्यादि। अभ्यन्तर अर्थात् हथेली के सम्मुख बाह्यप्रदेश से लेकर वक्षःस्थल के क्षेत्र तक पहुँचना। इसकी अपेक्षा विपरीत वक्षःस्थल के क्षेत्र विरुद्ध दिशा में कनिष्ठादि का आवर्तन या घुमाव। बहिर्मुखत्व पद से वक्षःक्षेत्र से बहिर्गमन तथा अभ्यन्तरत्व से तलसम्मुखत्व समझना चाहिए। अभ्यन्तरत्व के विपर्यास से बाह्यता यहाँ समझना चाहिए।

२११. नृत्त तथा अभिनय में करणों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाना इष्ट है जो हाथों से होता है। क्योंकि उनसे ही वर्तना उत्पन्न की जाती है। नृत्त तथा नाट्य में उपयोगी हस्त-पाणि हैं। इन्हें मुख, नेत्र, भ्रुकुटि से युक्त या अनुगत ही रखा जाये इसका आशय यही कि जिधर वर्तना चले उधर ही मुखादि रहें। प्रश्न—जब नेत्र, मुखादि का राग वर्तना से व्यक्त होता हो तो उन्हें मुख, भ्रूनेत्र से युक्त कैसे रखें। उत्तर—अभिनय की पूर्ति के लिये यह वर्तना में रहने वाली प्रक्रिया है अतः इसमें पुनरुक्ति नहीं आती।

२१२–२१४. क्योंकि अंगुलियाँ बाहु से संलग्न हैं अतः उनकी क्रियाएँ भी बाहु से संलग्न होंगी ही जिनके प्रभेद का ज्ञान अपेक्षित होने से उन्हें बतलाते हैं। ये दस प्रभेद हैं। तिर्यक् का आशय है कि उसकी गति पार्श्व में रहती है। उर्ध्व = मस्तक के ऊपर जाता है। अधोमुख = पृथ्वी को छूने वाला। अश्वित = वक्षःस्थल से निकल कर ऊपर शिरःप्रदेश से लौटना। अपविद्ध = चक्राकार गति में चारों ओर घूमना। पृष्ठानुसारी = शरीर के पृष्ठभाग का अनुगमन करने वाला। उद्वेष्टित = जो मणिबन्ध (कलाई) से सम्बद्ध वर्तना से निष्क्रामण करे। प्रसारित = जो कलाई के अग्रदेश का अनुधावन करे। इस प्रकार के करणों में द्रुत, मध्य तथा विलम्बित के वैचित्र्य से तथा बाहुओं के पर्याय से उक्त करणों की जब योजना हो तो उसमें अनेक वर्तनाएँ अन्तर्निहित होती हैं। अतः करणों में होने वाली विशेषताओं को अवश्य जान लेना चाहिए। नित्य कहने से यही बात यहाँ संकेतित की गयी हैं क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई इसका प्रयोजन यहाँ नहीं है।



दशम अध्याय

(शारीराभिनय)

१. शारीराभिनय के क्रम में उरःकर्म बतलाये हैं जो पाँच हैं।

२–३. आभुग्नउर :— इसमें वक्षः उन्नत या तान कर निष्क्रान्त, शुद्ध या भुग्न अंस जिसमें रहें ऐसा रखा जाता है।

४–५. इस वक्षःस्थल की योजना अतिशय हर्ष में भाषण करने में भी होती है [द्र० ना० शा० संग्रह—४५९]

६–७. हिक्का = हिचकी लेना।

११–१५. पार्श्व (बाजू) के पाँच कर्म तथा उनकी योजना दी गई है।

१८. उदर के चौथे प्रभेद का प्रक्षिप्त पाठ के अनुसार 'सम' नाम है तथा अन्य मत के अनुसार 'रिक्त-पूर्ण' भी एक प्रभेद है जिसकी योजना श्वास-योग में की जाती है।

२१–२६. कटि-कर्म के पाँचप्रभेद स्वरूप तथा उनकी योजना को मुनि ने दिखलाया है जिसका है सभी पश्चाद् भावी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के द्वारा अनुसरण किया गया।

२७–३२. कटिकर्म के निरूपण के पश्चाद् मुनि ने ऊरू की पांच स्थितियाँ वर्णित की तथा उनकी योजना भी।

३३–३९. जंघा के विवरण के बाद मुनि ने जंघा के पाँच कर्म, स्वरूप तथा उनकी योजना को बतलाया।

४०–५४. पादकर्म का विवरण देते हुए मुनि ने इसके पांच प्रभेद बतलाकर उनका स्वरूप तथा योजना भी दिखलाई तथा अन्त में 'सूचीपाद' का स्वरूप बतला कर उसकी योजना का निरूपण किया।

५५–५७. नाभि, जंघा, उरु के करण रूप में दिखलाये गये कर्मों से भिन्न पादकर्म होते हैं। कटि आदि की गतियाँ मण्डल भेद से निष्पन्न होती है, अतः कटि आदि से पाद पर्यन्त कर्म को ही मिलाकर 'चारी' कही जाएगी क्योंकि वह समान करण से निष्पन्न होती है। इस प्रकार अङ्ग के विभिन्न प्रदेशों का विवरण इस अध्याय में देकर अभिनय के तत्त्वों को प्रस्तुत कर अगले अध्याय में चारी रूप व्यायाम को देने के सूत्रपात के द्वारा अध्याय समाप्ति को भी दिखलाया गया है।



एकादश अध्याय

(चारीविधान)

१–२. दशम अध्याय की समाप्ति पर 'चारी व्यायाम लक्षण' पद कहा गया था। यहाँ 'चारी' शव्द की व्युत्पत्ति पर विचार कर इस शव्द की व्याख्या उचित होगी। चर् धातु से औणादिक इन प्रत्यय से भिन्न 'इ' को ङीप् कर चारी शव्द निप्पन्न होता है। चारी द्वारा आकाश तथा पृथ्वी पर चलने का अभिनय किया जाता है अतः आकाश एवं भूमि की चारियाँ होती हैं। 'व्यायाम' शव्द का अर्थ है 'व्यायच्छते' इति अर्थात् अनुगत होना। इसमें परस्पर एक दूसरे से मिलती हैं। विधान शव्द का अर्थ है योजना। अतः परस्पर योजना से होने वाली चारियाँ व्यायाम शव्द का अर्थ होने से चारी ही व्यायाम है। ये चारियाँ किस से मिलती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यही व्यवस्था है कि पूर्व चारी पर में मिलती है किन्तु पर-चारी पूर्व में नहीं मिलती यह नियम हैं। यहाँ नियत स्थिति अर्थात् विधान या प्रक्रिया के कारण हस्त या पाद में से कोई अङ्ग प्रधान तथा अन्य अप्रधान हो जाता है अतः यहाँ प्रधानभूत अङ्ग के अनुरोध से अन्य अङ्ग प्रवर्तित होते हैं। जैसे जव किसी अभिनय में हस्त प्रधान हो या किन्हीं गतियों के अभिनय में पाद प्रधान हों तो उनके उपयोग में आनेवाली चारी प्रधानता को प्राप्त करती है। ऐसी स्थिति में प्रधान चारी के सम्पन्न होने पर पूर्वाचारी का आश्रयण परा चारी से किया जाता है। इस प्रकार परस्पर नियत रहनेवाली चारियाँ व्यायाम हो जाती हैं। यह व्यायाम संक्षिप्त, मध्यम तथा विस्तीर्ण भेद से तीन प्रकार का माना जाता है।

३. एक का अर्थ है एकार्का जिससे श्रोणीप्रदेश (कटि के पीछे का भाग) के प्रचार का भी संकेत समझना चाहिये तथा आदि शव्द से कटि को लिया जाता है। तव श्रोणी का स्पन्दन तथा जंघा का चलन प्रदर्शित किया जाता है। द्विपाद शव्द में पाद शव्द से उसका प्रचार या गति समझना चाहिए। यह करण दो पैरों के प्रचार से होता है तथा संक्षिप्त व्यायाम भी कहलाता है जिसका अभिनयों में प्रयोग किया जाता है।

४. कारिका के 'करणानां' इस वहुवचन पद से तीन करण ग्राह्य समझना चाहिए क्योंकि तीन में वहुत्व अपेक्षित है। यदि यहाँ चार या पांच कारण

का सहयोग रखें तो फिर नियमन नहीं हो पाएगा तथा खण्डों से मण्डलों का प्रविभाग भी नहीं बन पाएगा। आशय यही है कि चारी में एक पाद का, करण में दो पादों का, खण्ड में छः पादों का इस प्रकार पादवृत्तियों से एक के बाद बढ़नेवाले अभिनय बनते हैं, जिन्हें मध्यम व्यायाम समझना चाहिए। तीन या चार खण्डों से 'मण्डल' का आशय है कि केवल तीन या चार खण्डों से ही मण्डल बनता हो ऐसा नहीं समझना चाहिए; क्योंकि पाँच, छः या सात खण्डों से भी मण्डल बनाता है जिन्हें आगे कहा भी गया है।

५. चारी से अनेक कार्य साधे जाते हैं। यथा—शस्त्र का फेंकना, सुदर्शनादि चक्र का प्रक्षेप, कुन्त (भाले) का फेंकना, युद्ध में हनन तथा प्रतिहनन के अभिनय आदि जिनमें चारी का ही उपयोग होता है।

६. यहाँ 'यत्' शब्द से चारियों का परामर्श किया गया है जो नाट्य-प्रदेश की विस्तीर्णता का संकेत करता है। जो अभिनय मस्तक तथा हस्त जैसे अंगों द्वारा स्वतन्त्ररूप में प्रस्तुत किया जाता है पर इन सभी अङ्गों का पूर्वापरभाव के साथ चारी के साथ भी प्रयोग किया जाता है तथा चारी का भी इसी कारण पूर्वापरभाव से उपयुक्तता में ध्यान में रख कर (इनके साथ) प्रयोग रखा जाता है।

७. इस कारिका में चारी की योजना के प्रदेश दिखलाये गये हैं। इनमें नृत्त में करण तथा अङ्गहारों के अभिनयप्रदर्शन आदि में इनका योग रहता है। जिसे कहा जा चुका है तथा आगे भी विषयानुसार बतलाया जाएगा। युद्ध के विषय में इनकी योजना को न्याय के प्रसंग में आगे कहा जाएगा तथा गति के विषय में इनके प्रयोगादि का विवरण गतिप्रचार नामक १३ वे अध्याय में आगे दिया जाएगा। इस प्रकार तीन अध्यायों में प्रतिपाद्य अर्थ को यहाँ तीन शब्दों (नृत्ते, युद्धे, गतौ) के द्वारा सूचित किया गया है।

८–१३. भूमि में या उस पर सम्पन्न होने से इन्हें 'भौमीचारी' कहते हैं। इसी प्रकार ऊपर या आकाश में चलने वालों की आकाशिकी चारी होगी। प्रभेद चारियाँ सोलह हैं। इसी प्रकार आकाशिकी चारी के भी सोलह भौमी होते हैं। (क्रमशः विवरण आगे से आरम्भ होता है।)

१४. समपादाचारी :—क्योंकि पादादि के समानकरण होने पर चलना तो होगा ही, जो आगे या पीछे ऊपर या नीचे रहेगा तो ऐसी स्थिति में चारी भी और समपादा भी समता के कारण कैसे होगी ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता हैं कि जब अभिनेता किसी स्थान विशेष में पैरों को समान

रूप में रख कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जावे तो चलने से चारी होगी और पादों की समानरूपता से यह 'समपादा' भी कहलाएगी। यहाँ योग्यता अर्थात् स्थान के संश्रय के कारण ऐसा व्यवहार एवं नामकरण हुआ है ऐसा समझना चाहिए।

१५. स्थितावर्ता-चारी :—पैर के अगले भाग से संचार करने में भूमि पर पैर को घिसट या घिस कर रखते हुए चलना होता है ऐसी चलने की स्थिति अग्रतल संचर पाद को रखकर अभ्यन्तर मंडल बनावे अर्थात् द्वितीय बाजू की जानु को स्वस्तिक आकार में रखे तथा जंघ स्वस्तिक रूप में जानु संश्लिष्ट हो जाए तब दूसरी का उत्सारण किया जाए। एक के स्थान को ऊपर खींच कर ले जाये या ऊपर अपनी ओर खींचें। यही उत्सारण है।

१६. शकटास्या-चारी :—निषण्णाङ्ग अर्थात् शरीर के पूर्वीयाभाग को प्रयत्न से धारण किये हुए। जिस प्रकार शकट असनीय अर्थात् क्षेप्य हो उसी रूप में शरीर को लाना शकटास्या है।

१७. अध्यर्धिकाचारी :—दाहिने पैर को एडी की ओर पीछे रखा जाए तब उस दाहिने पैर की स्थिति उपसर्पण के समय आधी तिरछी होती है जो आधे ताल से अधिक अन्तर पर रखी जाती है। यह करणों की प्रधानता के कारण है तथा इस प्रक्रिया में वामचरण की स्थिति भी पृष्ठ या पीछे लगी हुई रहती है।

१८. चाषगति-चारी :—वैसे प्रायः सभी चारियों में दाहिने पैर का अपसर्पण होता है। यहाँ एक ताल के परिमाण से दाहिने पैर को आगे फैला कर उसी को दो ताल मात्रा में पीछे रखा जाता है। यहाँ बायें पैर का दाहिने के साथ अपसर्पण होता है। थोड़ा उछालने पर दाहिना पैर बायें से दूर हट कर फिर मिल जाता है। इस प्रकार भययुक्त अपसर्पण एवं श्लिष्टतायुक्त गति रखने से इसका नाम चाष (नीलकण्ठ पक्षी) गति हो गया है।

१९. विच्यवा-चारी :—यहाँ एकवचन में प्रयुक्त पाद शब्द का अर्थ दोनों पैरों के लिये समझना चाहिए।

२०. एलकाक्रीड़िता-चारी :—इसमें एक बार उछलकर पुनः एक बार उछाल लेना पड़ता है। जिसमें पाद, जंघा, सक्थि (जानु का ऊपरी भाग) तथा गुल्फ (घुटने) को साथ-साथ गतिशील बनाना होता है तथा यह पारी पारी से उत्प्लवन होता है। इसमें एलका (बकरी) की गति के समान उछाल लेने के कारण इस चारी का 'एलकाक्रीडिता' नाम भी है।

२१. बद्धा-चारी :—यहाँ ऊरुओं का वलन करना ही 'जंघास्वस्तिक' पद का आशय है। जंघाओं के सम्यक् बन्धन हो जाने के कारण इसका 'बद्धा' नामकरण किया गया है।

२२. ऊरुद्वृत्ताचारी :—इसमें अग्रतलसंचर पाद की एडी जब दूसरे पैर के पृष्ठभाग की ओर उन्मुख हो और जानुओं के झुकने से जंघा आकुञ्चित होकर दूसरी जंघा के सम्मुख वलन से उद्वृत्ता की स्थिति लेले तो 'ऊरूद्वृता' होती है। क्योंकि इसमें उरुओं के ऊपर विवर्तन या वलनक्रिया रखी जाती है। इसकी लज्जा या ईर्ष्या के भाव प्रकाशन में योजना रखी जाती है। अन्य आचार्यों के मत में एडी को द्वितीय अग्रतलसंचर पाद के वाहर की ओर रख कर इस चारी को प्रस्तुत किया जाता है।

२३. अड्डिता-चारी :—अड्डधातु अतिक्रमण तथा हिंसा अर्थ में पठित है इसमें इतच् प्रत्यय से अड्डिता शब्द निष्पन्न है। इसमें एक पाद समस्थित और दूसरा तलसञ्चर की स्थिति में आगे और पीछे क्रमशः श्लिष्ट होता है। इसमें पाद अपने स्थान से अतिक्रमण करता है अतः इसे 'अड्डिता' कहते हैं।

२४. उत्स्पन्दिता-चारी :—इसमें एक पैर की कनिष्ठिका अंगुली के वाहरी भाग और दूसरे पैर के भीतरी भाग से निवर्तन होता है। वह पैर का अपसारण रेचितपाद को अवधि कर करके रखा जाता है। चारी में शोभावृद्धि के लिये यह अपसारण रखा जाता है। यह क्रिया नदी के प्रत्यावर्तन रूप स्पन्दित के तुल्य रहने से इसका उत्स्पन्दिता नाम है। जिसमें रेचक नृत्तहस्त रहता है ऐसा अन्य आचार्यों का मत है।

२५. जनिता-चारी :—इसमें तलसञ्चरपाद से गमन किया जाता है। यह समस्त गतियों की जननी अर्थात् उत्पादिका होती है तथा इसी से गतियों का आरम्भ किया जाता है। यही इसकी व्युत्पत्ति भी है। इसमें मुष्टिकाकार हस्त का वक्षःस्थल पर विन्यास तथा अन्य हस्त का प्रसारण केवल इतिकर्तव्यता को दिखलाने के लिये रखा गया है।

२६. स्यन्दिता तथा अपस्यन्दिता-चारी :—इन दोनों चारियों का एक साथ विवरण दिया गया है। इसमें समस्थित एवं निषण्ण ऊरू वाले दाहिने पैर को पञ्च तालों के अन्तर से फैला दिया जाता है। इस फैलाने रूप धर्म के कारण इसका नाम भी 'स्यन्दिता' हो गया है। इसी के विपर्यय या विपरीत स्थिति से 'अपस्यन्दिता' चारी निर्मित हो जाती है। यहाँ प्रश्न होता है

कि स्यन्दिता का ही विपर्यय अपस्यन्दिता क्यों माना जाए, अपस्यन्दिता विपर्यय स्यन्दिता क्यों नहीं है ? इसके उत्तर में यही समझना चाहिए कि 'अपस्यन्दिता' शब्द में लगाया गया 'अप उपसर्ग' ही इस को विपर्यय में ला बैठाता है।

२७. समोत्सारित-मत्तलीचारी :—इसमें परस्पर जंघाओं के वेध से किये जाने वाले स्वस्तिक के बीच या जब एक तलसंचरपाद हो तब दूसरा तलसंचर उसी समय होता है और दोनों ऐसे घूर्णमान या घूमते हुए पादों का जो उपसर्पण है वही इस चारी को बनाता है। इस चारी में— एक सम या अविकल रूप में उत्सारित तथा दूसरी मत्तल्ली अर्थात् मद से विकल न होना या रक्षार्थ अन्यत्र पलायन करना—इस प्रकार की दो गतियाँ रहती हैं। इसकी मध्यममद के अभिनय में योजना की जाती है।

२८. मत्तल्लीचारी :—इसमें अग्रतलपाद भूमि में लगता या श्लिष्ट रहता है। यहाँ पैर जंघा स्वस्तिक के योग से अर्ध त्र्यश्र (आधा तिरछा) होने से तथा पैरों के घूर्णन और अपसर्पण करने के कारण यह 'मत्तल्ली' चारी होती है। इसकी प्रगाढ़मद में योजना रखी जाती है।

२९. इन चारियों का प्रयोग नियुद्ध या बाहुयुद्ध या मल्लयुद्ध में तथा इससे भी अधिक रूप में क्रमशः करण, अङ्गहार और नाटच के प्रस्तुतीकरण में रखा जाता है। आगे आकाशिकी चारी के क्रमशः लक्षण वर्णित हैं।

३०. अतिक्रान्ताचारी :—इसमें कुञ्चितपाद (१०।५३) को दूसरे पैर के घुटने के क्षेत्र में रख आगे की ओर फैलाया जावे और चतुस्ताल की दूरी तक (पैर को) ऊपर उठाकर भूमि पर गिराते हैं। गन्तव्य के अतिक्रमण करने के कारण इसका 'अतिक्रान्ता' नामकरण है।

३१. अपक्रान्ताचारी :—इसमें बद्धाचारी को पहिले सम्पादित कर फिर पैर को ऊपर उठाकर बाजू में क्षिप्त या अपक्रमणदशा में रखते हैं। अपक्रमण करने से इसे 'अपक्रान्ता' कहा गया है।

३२. पार्श्वक्रान्ताचारी :—इसमें कुञ्चित पाद को अपनी बगल से ऊपर की ओर ले जाकर भूमि पर एडी को गिराया जाता है। इसलिये कुञ्चितपाद के बल से एडी का उद्घट्टित होना यहाँ सूचित होता है। अन्य आचार्य कहते हैं कि द्वितीय पाद को उसके क्षेत्र तक उत्क्षिप्त रख कर उद्घट्टित कर भूमि पर पटका जाता है यही 'पार्श्वक्रान्ता' है।

३३. ऊर्ध्वजानुचारी :—यहाँ 'क्रमस्तब्ध' पद से पाद के उत्क्षेपण के बाद उसे निश्चल करना ही 'स्तब्धता' होती है।

३४. **सूचीचारी** :—जानु से ऊपर ऊरु तक जंघा को पूरी फैला कर अग्रभाग से भूमि पर गिरावे। इस प्रकार यह 'सूची' के आकार की होने से 'सूची' कहलाती है।

३५. **नूपुरपादिका-चारी** :—यहाँ 'पृष्ठतः' पद का भाव है कि 'अंचित'-पाद को पीछे की ओर एड़ी को छूते हुए अन्त तक ले जावे। वाजू में उस 'अग्रतल-संचर' पैर को पृथ्वी पर पटका जाए। ऐसा करने पर नूपुरों की झनझन आवाज निकलेगी जिससे शीघ्रता प्रकट होगी तथा नूपुरों की योजना भी। इसी आधार पर इसका नामकरण भी हुआ है।

३६. **दोलपादाचारी** :—यहाँ 'उत्क्षिप्य' पद से आशय है कि कुञ्चित-पाद को दक्षिणपाद के क्षेत्र तक वगल में ले जाए और फिर वहाँ दोला के आकार में स्पन्दित कर वाद में उसे एड़ी की वाजू में पृथ्वी पर पटके। यह 'दोलपादा' का स्वरूपानुसारी नाम है।

३७. **आक्षिप्ताचारी** :—यहाँ 'आक्षिप्त' पद से आशय है कि कुञ्चितपाद को आगे तीन ताल के अन्तर में ऊपर उछाल कर अंचित के अर्धमण्डल आकार में दूसरी वाजू में ले जावे और स्वस्तिक कर पृथ्वी पर पटके।

३८. **आविद्धा-चारी** :—विश्लिष्ट जंघावाले स्वस्तिक वने कुञ्चितपाद को फैलाया जाए और उसी 'आविद्ध' अर्थात् संश्लिष्ट उसी पाद को वाजू में द्वितीय पार्ष्णि (एड़ी) के क्षेत्र में तदनुसार पटके।

३९. **उद्वृत्ताचारी** :—यह चारी आविद्धा की शेषभूता मानी जाती है। इसमें आवेष्टन अर्थात् दूसरे ऊरु के क्षेत्र की पार्ष्णि तक उछाल लेकर 'भ्रमरक' की तरह एक पाद को पृथ्वी पर पटकना होता है; और फिर दूसरे पाद का इसी प्रकार ऊपर उद्वर्तन करना रहने से इसे 'उद्वृत्ता' (यथार्थ नामा) कहते हैं।

४०. **विद्युद्भ्रान्ता-चारी** :—'पृष्ठतः' अर्थात् पीछे की ओर ऊरु के मूल में घुमावे किन्तु इसका आशय सही यह है कि वाजू के पीछे वलन कर मस्तक को छू ले फिर इसी के अनुसार उस पैर को अगल वगल सभी ओर गोल चक्कर में घुमा कर फैला दिया जाए।

४१. **अलाता-चारी** :—इसमें पहिले पाद को को पीछे की ओर फैलाकर फिर घुमा कर भीतर लिया जाए, इसके वाद द्वितीय ऊरू पर अभिमुख तल कर उसे रखे तथा इस प्रकार करते हुए अपने पास वाली एड़ी के पास उसे पटके। यह अलातचक्र की आकृति में आने से 'अलाता' है।

४२. भुजङ्गत्रासिता-चारी :—कुञ्चितपाद को दूसरे ऊरू के क्षेत्र तक ऊपर उठा कटि के बराबर ले जाकर जानु की ओर लौटा ले तथा नितम्ब के सम्मुख तिकोनी या टेढ़ी एड़ी को उसी पर विवर्तित करे। इसके पश्चात् बगल की जानु पर एक पैर को उत्तानतल में स्थापित करे। पैर के समीप सर्प के आने पर भय से इधर उधर भागने वाले की तुलना से निर्मित यह 'चारी' नामानुरूप अपनी क्रिया के प्रदर्शन के कारण सार्थकनामा है।

४३. हरिणप्लुताचारी :—अतिक्रान्ता चारी के प्रकरण में कथित कुञ्चितपाद को उत्क्षिप्त कर (उछाल कर) उसे पृथ्वी पर पटके। फिर दूसरी जँघा के पृष्ठ भाग पर अञ्चित पैर रखे। इस प्रकार मृग की प्लुति (उछाल) के तुल्य यह चारी रहती है। इसकी विदूषक की गति में योजना रखी जाती है।

४४. दण्डपादा-चारी :—('नूपुरपाद' में कथित) अञ्चितपाद को दूसरे पैर की एड़ी पर ले जाकर शीघ्रता से फैलावे। इस प्रकार ऊरू, जानु एवं जंघा की स्तब्धता से पैर के दण्डाकार स्थिति में आने के कारण इसे 'दण्डपादा' चारी कहा गया।

४५. भ्रमरी-चारी :—अतिक्रान्ता चारी में कथित कुञ्चितपाद को ऊपर कर सांप से डरे हुए की तरह तिरछी ऊरू को विवर्तित करे और फिर द्वितीय पाद तल के घूमाने में त्रिक का भी एक घुमाव ले ले। इस प्रकार समग्र शरीर के घुमाव से नेमि की तरह चक्कर लगाने के सदृश स्थिति रखने के कारण इसका नाम 'भ्रमरी' है।

४६. अब इनकी योजना को दिखलाते हैं कि इन चारियों में अङ्गों की क्रिया का अभिनय सुन्दरतापूर्ण होना चाहिए और धनुष, वज्र आदि शस्त्रों के छोड़ने में इनका विनियोग रखना होता है।

४७. इन्हीं चारियों के विनियोग की व्यापक सीमा को दिखलाकर शरीर की शोभा में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान बतलाते हैं—'अग्रगौ' इत्यादि के द्वारा। इसका आशय यही है कि इनमें कभी गति की प्रधानता रखी जाती है तथा कभी हस्तों के व्यापार रूप अभिनय की और कभी दोनों की भी। इनमें प्रथमपक्ष में हस्तों को पादविक्षेप के अनुसार रहने वाले तथा पादविक्षेप के बाद व्यापृत रखना होता है। द्वितीय में हस्ताभिनय के अनुगत एवं उनके पीछे पैरों की गति रखी जाती है तथा तृतीयपक्ष में दोनों की प्रवृत्ति एवं व्यापार एक ही समय में विनियोग की अपेक्षा से रहेंगे। यहाँ कारिकास्थ योग शब्द भी इसी तथ्य को प्रकट करता है।

४८. उपाङ्ग = भ्रू, नेत्र आदि अवयव।

४६. पाद क्रिया के समय यदि हस्ताभिनय भी हो तो पाद की गति विश्रान्त हो जाती है अतः ऐसे समय हस्त की क्या दशा हो इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि पादचारी की समाप्ति पर हस्त को कटिप्रदेश में रखा जाता है।

५०. पैरों को पृथ्वी पर रखने पर पादचारी के समान होने पर काय का सन्निवेश वतलाने के लिये स्थानकों को वतलाना क्रम प्राप्त हो जाता है। 'स्थान' शब्द भाव, अधिकरण या करण अर्थ में व्युत्पन्न है (स्थीयन्ते इति स्थानाति, तिष्ठन्त्येषु इति स्थानानि, तिष्ठन्त्येभिरिति स्थानानि)। अतः इसके अनुसार चारी के द्वारा कायसन्निवेश भी होता है अर्थात् चारियाँ प्रथम गतिरूप होती हैं तथा वाद में जव स्थितिरूपा हो जाती हैं तो उन्हें स्थानक या स्थान कहा जाता है।

५१. छः स्थानकों के नाम दिखलाकर सर्व प्रथम वैष्णवस्थान का स्वरूप दिखलाते हैं।

५२–५४. वैष्णवस्थान:—पक्षःस्थित पद से अंगुलियों की वाजू में अभिमुख स्थिति तथा त्र्यस्र के द्वारा इनका किञ्चित् स्पर्श एवं पैर का तिरछा रहना दिखलाया गया है। यहाँ सौष्ठव तथा अङ्ग पद से यदि सौष्टव अप्रधान हो तो अङ्ग प्रधान (पुरस्कृत) तथा अंग के अप्रधान रहने पर सौष्ठव प्रधान (पुरस्कृत) रखा जाना सूचित किया है तथा 'स्वभावजः' पद से आवेश-रहित सौम्य। इस स्थान से पुरुषपात्र के (सूत्रधार के) प्रवेश को दिखलाया जाता है।

५५–५८. इस विवरण से प्रस्तुत स्थान की विभिन्न अवसरों तथा कार्यों में योजना वतलाई गई है।

५८–६१. समपाद-स्थान :—पद्य के 'विप्रमङ्गलधारण' पद से ब्राह्मणों के द्वारा किये जाने वाले मंगलपाठ आशीर्वचन आदि को धारण करने में (यजमान होकर) इसी स्थान में स्थित रहा जाता है। लिङ्गस्थ पद का अर्थ है शैव आदि संन्यासी तथा ऐसे व्रतधारी जो ऊर्ध्वकाय और फैले हुए अंग वाले हों।

६१–६५. वैशाखस्थान :—निषण्णोरूम् = जहाँ ऊरू सूची-चारी की अपेक्षा से विश्रान्त है। विशाख = कार्तिकेय स्कन्द। व्याप्य अर्थात् छोटे अङ्गों का युद्धादि में निर्गम और वेग ग्रहण अर्थ है किन्तु इस प्रक्रिया में पार्ष्णि की प्रेरणा से पादक्रमण होता है तथा उसका पूरा विन्यास नहीं किया जाता।

६५–६७. मण्डलस्थान :—घोड़ों तथा हाथियों के संचालन के समय वैशाखस्थानक का उपयोग होता है उनसे भी स्थूल वाहन गरुड़ पक्षी आदि है उसके निरूपण में मण्डलस्थान की योजना होती है।

६७–७० आलीढ़ स्थान :—आलीढ़ कहते हैं जिसमें चारों ओर से भूमि का स्पर्श होता हो। सम्फेट का अर्थ है संघर्षपूर्ण दशा।

७०–७२. प्रत्यालीढ़ स्थान :—इस स्थान में उत्तान तथा आकुञ्चित पाद रहता है जो प्रसारण के विपरीत है। स्थानों से शस्त्र विमोक्षण का विधान पूर्व में बतलाया गया है तथा इसी में सहायक होते हैं न्याय। अतः न्यायों के अनुसार वृत्तियों के विभाग में स्थान अंगभूत हो जाते हैं यही यहाँ समझाया है।

७२–७६. हन्तव्य के कटि, पाद, वक्षःस्थल एवं शिर स्थानों पर अतिक्रमण के लिये नाट्यशास्त्र में चार न्याय बतलाये गये हैं। अङ्गों के औचित्य से न्याय का आश्रय लिया जाता है। न्यायों से प्रवृत्त होकर ही अंगों के स्वरूप स्वाभाविक एवं उत्कृष्ट नियमन दर्शा सकते हैं। क्योंकि उन्हीं से क्रियायें होती भी है अतः इसकी 'न्याय' आख्या इसी कारण सार्थक है।

७६–८०. भारतन्याय :—परिवेष्टन करते हुए ले जाना यहाँ 'परिगम' है। उद्वेष्टित = चारों ओर से उद्वेलित किया हुआ। अतः कलाई में उद्वेष्टन करके शस्त्र का उद्‌बन्धन किया जाता है।

८१–८२. सात्वतन्याय :—पृष्ठतः = शरीर के पिछले भाग या पीछे से।

८२–८४. वार्षगण्यन्याय :—इसमें शस्त्र का घुमाना ऊपर ही से मस्तक का एक चक्कर लगाते हुए कराते हैं।

८४–८८. कैशिकन्याय :—इसमें शस्त्र को अन्त में मस्तक पर ले जाया जाता है। समग्र युद्ध का अभिनय सौष्ठवपूर्ण आंगिक व्यापारों के द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। युद्ध के प्रसंग में (ऐसे युद्ध के समय) छेदन भेदन भी पात्रों के अङ्ग का हो सकता है। अतः इस विषय में यह बात ध्यान में रखने की है कि रंगमञ्च या अभिनय के स्थल पर भेदन आदि नहीं होना चाहिए। यहाँ ऐसी चेष्टाएँ रखी जाये कि प्रेक्षक गण को केवल युद्ध का भान हो सके। ऐसे विषय या प्रसंग नाटक या प्रकरण में यदि रखे जायें तो युद्ध को केवल संज्ञा (इङ्गित या चेष्टायों) के द्वारा दिखलाया जाए। यही यहां उचित माना गया है। यहाँ 'अथवा' पद के द्वारा व्यवस्थितविकल्प की सूचना दी गयी है।

८८–९०. सौष्ठव :—अङ्गों के प्रसंग में पूर्व में जिस सौष्ठव को कहा

गया था उसकी अब परिकर सामग्री बतलाते हैं—'व्यायाम' इत्यादि से। यहाँ व्यायाम पद का अर्थ अंग विषयक प्रशिक्षण एवं अभ्यास के उपयुक्त काल है जिसके परिणाम स्वरूप द्रुत, मध्य एवं विलम्बित चच्चत्पुटादि ताल के अंग का (यहाँ) पठन किया गया है। (उसका अनुगमन कर के ही शारीर चेष्टाओं को युद्धादि प्रसंग में प्रदर्शित करना अभीष्ट है)।

६०–६१. सन्नगात्र = जिसका शरीर थक गया हो तथा विश्रान्ति ग्रहण कर रहा हो। कूर्परांसशिरः=कूर्पर (कोहनी), अंस (कन्धे) तथा शिर—ये सभी अंगों का प्राण्यङ्ग होने से यहाँ एकवद्भाव हुआ है।

६२–६३. चतुरस्रता :—जिसके लिये सौष्ठव का विधान किया जाता है। यहाँ कटिनाभिचरौ पद से आशय है कि कटि और नाभि पर हाथ क्रमशः तथा एक साथ भी स्थित रखे जायें।

६३–६५. खड्ग युद्ध में जिन न्यायों को बतलाया वे ही धनुर्युद्ध में भी होते हैं, अतः धनुर्युद्ध में करण अर्थात् कर्तव्यकर्म को भी प्रमार्जनम् इत्यादि के द्वारा दिखलाया गया है। आदि में धनुष का शोधन या तैयारी फिर धनुष पर बाण का सन्धान या चढ़ाना तथा अन्त में उसका मोक्षण या छोड़ना। यहाँ प्रसंग व्यायाम का था अतः व्यायाम के उपयोगी सौष्ठव का तथा इसी के प्रसंग से प्राप्त धनुष आदि के कर्म भी बतलाये गये हैं।

६६–६७. प्रयोगभूत आपेक्षिक व्यायाम का अब विवरण दिया जा रहा है—'तैलाभ्यक्तेन' इत्यादि से। आशय यही कि व्यायाम के समय शरीर पर तैल की मालिश करना आवश्यक है। तैलपद से यहाँ तिल का या अन्य तेल भी योग्यतानुसार अर्थ लिया जाता है। यवागू—मर्दन अर्थात् जौ के आटे का उबटन लगाना।

६७–६६. नस्य—नासिका द्वारा औषधि सेवन। वस्तिनिधि=आयुर्वेद शास्त्र में दिखलाई गयी एक विधि। इन विधियों को आवश्यकतानुसार देश, काल, प्रकृति, वय, अवस्था तथा पात्र के अनुसार घृत या तैल द्वारा सम्पन्न की जानी चाहिए। रसक = रस या तरल पदार्थ। पानक—पीने के योग्य पदार्थ जो स्निग्ध हों। प्राण आहार पर आश्रित है अतः उसकी शक्ति बनाए रखने के लिये अभिनेता का पुष्ट आहार रखा जाए।

६६–१००. गात्र की अशुद्धि अजीर्ण होने पर हो जाती है अतः वमन, विरेचन आदि क्रियाओं से शुद्ध शरीर वाले को ही व्यायाम करने का (में) अधिकार है। प्रक्लान्त = जो श्रम से थक गया हो। जिस व्यक्ति का व्यायाम

से शरीर दृढ़ है वह सुडोल आकार वाला भी होगा ही तथा ऐसे व्यक्ति को जिस कार्य में लगाया जाए उसमें उपयुक्त होने से नाट्य प्रयोग में सफलता प्राप्त होती है। गात्रों में माधुर्य का अर्थ है उनका सुन्दर या सुडोल दिखलाई देना।

१०१–१०२. अङ्गक्रिया = अङ्ग-सिद्धि। अङ्गों के अनुसार प्राप्त चारी की परम्परा से निर्मित स्वरूप वाले मण्डलों का विवरण अब दिया जा सकता है, इस तथ्य को चारी के निरूपण के उपरान्त ही बतला कर चालू अध्याय समाप्ति तथा अगले अध्याय में मण्डल के प्रतिपादन की बात को भी दिखलाया गया है।



द्वादश अध्याय

(मण्डल प्रचार)

१. शस्त्रों के मोक्षण के अभिनयगत सन्दर्भ में 'मण्डलों' को बतलाया गया है। 'मण्डल' का सामान्य लक्षण है—चारियों के संयोग या वर्ग से जो बनता है वही 'मण्डल' (कहलाता) है। यहाँ इह पद का आशय यही है कि इस अध्याय के श्रवण करने से ज्ञात पदार्थों के अनुसार (आगे भी) इसी प्रकार (इनके) स्वरूप समझना चाहिए।

२–६. आकाशगत दस मण्डल हो है तथा इतने ही भौमिक भी आकाशगत चारियों एवं भौमिकी चारियों की प्रचुरता के कारण उनसे निर्मित मंडलों की भी प्रचुरता हो जाती है। यहाँ यही तथ्य संख्या निर्देश द्वारा दिखलाया गया है।

७–१०. आद्य अर्थात् दाहिने पैर से। 'उद्वाहित' पद के द्वारा शकटास्याचारी को प्रदर्शित करने का संकेत है। त्रिकपरिवर्तन के द्वारा भ्रमरीचारी सम्पादित करना चाहिए। वाह्यभ्रमरक को वामचरण से सम्पादित किया जाए।

१०–१४. आस्पन्दित का आशय है वायें पैर से 'स्पन्दिता चारी' को दिखलाना। इसी को 'आस्कन्दिता' भी कहते हैं।

२१–२२. दण्डक्रम—अर्थात् दण्डपादाचारी। क्योंकि त्रिक परिवर्तन में भ्रमरी का आश्रय लेकर जो दण्डपाद मण्डल वताया गया है उसी से यहाँ सम्वन्ध है।

२३–२६. निकुट्टकपद से तलसञ्चरपाद का तथा उद्वृत्त से ऊरूद्वृत्ता चारी का संकेत किया गया है। 'समावर्त्य त्रिकं' का आशय है कि बाँये तथा दाहिने दोनों ही वाजू में भ्रमरी से घुमाव लिये जाएँ।

२७–२६. क्रमशः दो से छ वार एवं सात वार प्रयुक्त इन चारियों के परिमण्डल में चारों दिशाओं में घुमाव लेकर आन्तरालिक पाद-विक्षेपों के द्वारा गति को प्रस्तुत किया जाए यही इसका आशय है। छः या सात संख्या से यहाँ मण्डलों की अभ्यावृत्ति या दुहराने का कार्य अभीष्ट है।

३४–३७. ललित सञ्चार का यहाँ कार्य रहने से मण्डल का नाम 'ललित' है। ललित सञ्चार करना अतिक्रान्त नामक वायें पैर का विशेषण है।

५६–५८. आस्फोटन करना अर्थात् पैरों के तल से भूमि को पीटना। इसे ही युद्ध में 'आस्फालन' कहा जाता है।

६६—६७. परं चैव में 'च' पद का अर्थ 'अपि' लेना चाहिए। अर्थात् इसके वाद भी मण्डलों का प्रयोग किया जाय। कैसे किया जाए का—उत्तर है समचारी से। अर्थात् पारस्परिक योजनां से प्राप्त चारियों का (औचित्य या अपेक्षा के अनुसार) यहाँ वहाँ सर्वत्र प्रयोग करना चाहिए। आचार्येति– आचार्य की बुद्धि से प्रयोग किये जाए अपनी ऊहा से नहीं।

६८. खण्डों का भी मण्डलों के साथ रहने से प्राधान्य दिखलाया गया है। 'वाद्येन अनुगतानि' इससे यह वतलाया गया कि यहाँ चतुर्थ अध्याय में नृत्त के उपयोगी विपयों में प्रतिपादित गति से विपरीत या भिन्न नाटकीय गति में मण्डलों की प्रमुखता रखनी अभीष्ट है।

त्रयोदश अध्याय

(गतिप्रचार)

१. यहाँ 'मण्डलकल्पनं' पद से जो चारी के संयोग या मिश्रण से मण्डल निर्मित होते हों, उनके स्वरूप की कल्पना आचार्य के द्वारा नहीं वतलाने पर भी स्वयं लक्षणों को देख कर अपनी बुद्धि से समझ लिया जा सकता है। यहाँ एक प्रश्न फिर भी वना ही रहता है कि जव पिछले अध्याय में चारी के संयोग से निर्मित मण्डलों को तो वतलाया परन्तु आचार्य ने उन मंडलों की योजना या विधान क्यों नहीं वतलाया। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि चारीचण्डल का प्रसंग चित्तवृत्ति रूप नहीं है कि उन्हें रस एवं भाव की उपयोगिता में वतलाया जाए। अतः रस एवं भाव के अनुसार की जाने वाली गतियों के विनियोग वतलाये गये हैं तथा इसी कारण मुनि ने पृथक् से इस विषय पर (अलग से या स्वतन्त्र) एक अध्याय भी रखा है। यह गति प्रकृति या पात्र के दिव्य, अदिव्य एवं दिव्यादिव्य रूप (और) उसकी अवस्था और देशकाल की अपेक्षा को देख कर रखी जाती है। यह गति प्रत्येक पुरुष की भिन्न-भिन्न होती है जिसे आगे वतलाया भी जाएगा। अतः प्रथमतः उसकी प्रक्रिया दिखलायी गयी।

२-३. अभिनय के आरम्भ में नान्दी के उपक्रम के साथ प्रयोग के उपक्रम में कैसी गति रखी जाए। यही 'तत्रोपवहनं' से आरम्भ किया गया। उपवहन-विधि के उपरान्त मंच पर प्रविष्ट सूत्रधार तथा उनके सहयोगी, नट, नटी (आदि) के साथ जो अभिनेय-विषयक संवाद हों उनके वाद क्योंकि इस के पूर्व नान्दी हो चुकी रहती है। यहाँ यही तथ्य 'ध्रुवागीति' के हो जाने के द्वारा सूचित किया गया है। 'ध्रुवागीति' देश, रस तथा पात्र के अनुगत विषयों में उपनिवद्ध रहना चाहिए। पट या यवनिका के हटाने के उपरान्त पात्र प्रवेश के समय भी उपोहन क्रिया की जाए। जिसके वीच में नटी (पात्र) का प्रवेश अंगों के वलन क्रिया के सम्पादन के साथ रखा जाए। यद्यपि स्त्रीपात्र का प्रवेश शरीर के स्वाभाविक वलन कर्म के साथ ही होता है। अतः उसे शब्द से वतलाने की यद्यपि आवश्यकता नहीं है फिर भी कोहल आदि आचार्यों के मत में यहाँ ऐसी गति विहित या इष्ट है। इस समय शुष्काक्षर गान कर समुचित स्थान, दृष्टि एवं तत्काल उपयुक्त मुखरागादि से युक्त हो कर पात्र को प्रवेश करना चाहिए जिससे सामाजिकों को शीघ्र ही सम्वद्ध अर्थ या विषय की प्रतीति हो जाए। इस समय गीत भी उत्तम रखा जाए जिससे सामाजिक या दर्शक उत्सुक

हो जाए। यहाँ 'यथामार्गरसोपेतं' के स्थान पर 'यथामार्गकलोपेतम्' पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ है कि मार्ग अर्थात् चित्र आदि में जो दो, चार, आठ मात्राओं की कलाएँ होती हैं उनसे उपेत अर्थात् युक्त होना चाहिए।

४–५. विकृष्ट, त्र्यस्र एवं चतुरस्र इन तीन स्थानों में त्र्यस्र में वैष्णव स्थान जिसमें एक पक्ष या वाजू समान या वरावर और दूसरा समुन्नत रहता है। प्रसन्न—अर्थात् अपने प्रवेश के समय ही सन्न अर्थात् अचल। स्वस्थ मयूर सदृश सुन्दर सिर जिसनें हो उसी प्रकार ग्रीवा प्रदेश रखना चाहिए।

६–७. यहाँ 'नाभिसंस्थ' पद से चतुरस्र का संकेत है। अतः नाभिस्थित दक्षिण खटकामुखहस्त और कटिस्थित वाम अर्धचन्द्र हस्त (का प्रयोग) अभीष्ट है यह यहाँ दिखलाया गया है।

८–१०. गति के वाद क्रमप्राप्त एवं उचित होने से स्थान (स्थिति) को दिखलाने हेतु 'पादयोरन्तरम्' इत्यादि से पूर्व अध्याय ११।५२ में दर्शित स्थानक को प्रस्तुत करने के वाद गति का उपक्षेप किया गया है। इसे देश तथा काल को दिखलाने वाले लक्षणों के (जिन्हें इसी अधाय में कह रहे हैं) अनुरूप किया जाए। ताल-फैलाई गई अंगुलि और अंगूठे के बीच की लम्बाई या प्रदेश हो वह ताल कहलाता है, जिसे वालिश्त कहते हैं। (अर्थात् एक ताल = एक वालिश्त)। यह ताल अभिनेता के अपने हाथ के प्रमाण से रख लेना चाहिए। यह गति की स्थिति या डग रखने की पृथ्वी पर की दूरी (देश) चार, दो तथा एक काल की होती है। यहाँ उत्तमादि प्रकृति के अभिनय की अपेक्षा से क्रमशः ऐसी संख्या को लिया गया है। यह विनियोजना उतम प्रकृति के पात्रों की चार ताल, मध्य पात्रों की दो ताल तथा अधम पात्रों की एक ताल के प्रमाण पर की जाती है। इसे शोभाधायक या नाट्यधर्मी प्रकार से मंच पर प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उत्तमादि पात्रों में क्रमशः तालों का ह्रास स्वभावतः होता है।

११. देश के नियम के पश्चात् इसमें समय का मान भी नियत होता है। इसमें पैर को उठा कर रखने के समय में भी इसी प्रकार उतमप्रकृति के लिये चार कलाएँ तथा इनसे आधी-आधी मध्यम एवं अधमों के लिये नियत हैं। पाँच निमेष की एक मात्रा होती है, इस सामान्य लक्षण से यही सूचित होता है कि सर्वत्र ध्रुवक के प्रमाणानुसार पैर को रखने में चार कलाएँ आवश्यक हैं। कोहलाचार्य ने इस प्रसंग में उतमादि पात्रों के लिये द्विपदी आदि का भी विधान वतलाया है जिसे विस्तारभय से यहाँ नहीं दिया जा रहा है। यहाँ

मध्यमध्य में स्थान; फिर उनमें भिन्न-भिन्न क्रियाएँ या चेष्टाएँ तथा उनमें भी विश्राम की कल्पना के लिये विराम-स्वरूप मात्रा की कल्पना की गयी है। इसी मात्रा की कल्पना के आधार पर चतुष्कला आदि का विधान रहता है तथा यही तथ्य मुनि ने उपर्युक्त विवरण से सूचित भी किया है।

१२. यह समय के लय विषयक (मान का) नियम दिखलाने के लिये कहा गया है। स्थित = (अर्थात्) विलम्बित लय। इसे प्रकृति आदि के विभाग के अनुसार ठीक से विचार कर प्रयुक्त करे। यहाँ आदि पद से देश, काल, अपस्था तथा रस को ध्यान में रखना भी अपेक्षित है। जैसे—धीरता के कारण विलम्बित लय तथा इसके अभाव में कभी मध्य तथा कभी द्रुत लय का होना। क्योंकि यह भी देखा गया है कि उत्तम जाति होने पर भी उसका भाव अन्यथा रहता है अत यह प्रकृतिविभाजन है जात्यादि कृत विभाजन नहीं।

१३. लयत्रय का यह प्रयोग सत्व के कारण होता है। सत्व से आशय है चित्तवृत्ति। अतएव संग्राम आदि के अवसर पर उत्तमपात्र की भी द्रुतलय में गति रखी जाती है तथा शोकादि के अवसर पर अधमपात्र की भी विलम्बित लय में गति रहती है।

१४. देश, काल आदि के नियम के अनुसार पात्रों के गतिगत विशेषरूप या विचित्रता को दिखला कर अब विशिष्ट विवरण देने के भाव से मुनि उनको बतला रहे हैं जिन्हें पूर्व में सामान्यरूप से कहा था।

१५. यहाँ 'तु' शब्द विशेषता के द्योतक रूप में प्रयुक्त है। अतः मन्थर गति में चार ताल, स्वभावगति में तीन तथा दीप्तगति में पाँच ताल भी रखे जा सकते हैं—(यही इस "तु" के द्वारा सूचित किया गया है)।

१६–१७. पार्श्वक्रान्तैः इत्यादि से कुञ्चितपाद में पार्श्वक्रान्ताचारी के स्वरूप को दिखलाया गया है। (द्र० ना० शा० ११।३२) रंगकोण अर्थात् प्रेक्षागृह के (रंगस्थल के) उत्तर-पूर्व कोण में तथा द्वितीयकोण अर्थात् उत्तर-पश्चिम कोण में। तत परं=अन्य (शेष) दो कोणों में।

१८–१९. 'वामवेध' का अर्थ है पार्ष्णि क्षेत्र में एडी पर सूचीपाद का निपात या प्रक्षेप करना। पञ्चपदी गमन स्वाभाविक गति में होता है। गति की सिद्धि होने पर रंगकोणों में जाने के समय ब्रह्म स्थान का उलंघन नहीं किया जाए यह ध्यान देने की बात है। मूल में 'पादानामेक विंशतिम्' अर्थात् इक्कीस डग की जो बात कही है वह प्रत्येक कोण में पञ्चपदी गमन करने पर (४ × ५ = २०) बीस ही होते हैं इक्कीस नहीं। परन्तु इसे आचार्य की आज्ञा मान कर यहाँ यथाशक्य निर्वाह होगा संगति न बैठने से।

२०. यहाँ 'भरत' शब्द भरत से प्राप्त शास्त्र शिक्षा वाले एवं भरत की सन्तति से सम्बद्ध नट की सूचना देता है। परिमित दिशा में पञ्चपदी का नियम है अतः एक ही स्थान पर पादों के दो दो विक्षेप करना चाहिये। विकृष्ट में वार २ पञ्चपदी हो सकती है इस विषय में भिन्न प्रमाणों में दी गई गति की रीति या विवरण ही प्रमाण है।

२१. मिश्रगतियों के विषय में विशेष वात कहने की भावना से 'समगति' का उपसंहार किया गया है—'यः समं' इत्यादि से। तथैव–अर्थात् समानता से।

२२. मिश्रगति को वतलाते हैं--'अथ' इत्यादि से। परिवारितः = जो (उत्तमरूप आदि से) विवक्षित हों ऐसे पात्रों से युक्त। इस समय उत्तम की चार कलाएँ, मध्यम की दो तथा अधम पात्र की एक कला प्रमाण का पाद पात रहे।

२३. यहाँ कला के चतुस्तालादि विभाग को निश्चय करने के लिये विशेष कहा गया है—दैत्य दानव आदि।

२४. सभी अर्थात् देवदूत आदि उत्तम पात्र। उद्धत देवपात्र जैसे मातलि प्रभृति।

२८–२६. राजा भी देवांश से उत्पन्न होने वाला व्यक्ति है क्योंकि शास्त्र में इसे लोकपालों के अंशों से उद्भूत माना गया है। (द्रष्ट–'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः') इत्यादि (मनु०)। इसी कारण इनका प्राधान्य होता है। यही तथ्य गीता में भी—'राजविद्या राजगुह्यम्' इत्यादि से कहा है। अयं = चतुष्कल इत्यादि। स्वच्छन्द गमन = स्वस्थ स्थिति में गति। संभ्रम = आवेग। उत्पात = उन्माद जैसी मानसी दशा। इन दशाओं में निश्चयपूर्वक गति में कोई प्रमाण या मान नहीं होता है।

३०–३३. विशेष स्थिति या अवस्थाओं के बल से नियम में (भी) परिवर्तन हो जाता है। तव उतम पात्र की दों कलाऐं, मध्यम की एक तथा अधम की आधी कला गति का प्रमाण हो जाती है। यह श्वासादि की विश्रान्ति के साथ होता है तथा चार प्रकार से होता है और यहीं द्रुत उपयुक्त मानी जाती है।

३४–३५. भय से युक्त होने पर 'ऊरुस्तम्भ' हो जाता है। इसी प्रकार विस्मय और अवहित्था अर्थात् कृत्रिम धीरता के अवसर पर भी। ऐसे समय गति स्थित या विलम्बित लय वाली की जाए। आदर से विशिष्ट, औत्सुक्य से युक्त शृंगार के विप्रलम्भ नामक प्रकार में भी इसी प्रकार 'गति'

रहती है। स्वच्छन्दगमन = बिना किसी लक्ष्य के या कार्य के क्रीडा करते हुए चलना। पादपात भी जिस गति में जैसा कलान्तर का परिमाण वतलाया हो वैसा ही रहना चाहिए। यह वात आगे इसी अध्याय में कही भी जा रही है। अभिनय के दौरान स्त्री-पात्रों से छः या आठ कलाओं तक के पादपात नहीं करवाये जाने चाहिये क्योंकि देर तक ऐसा करने पर उन्हें थकावट (खेद) हो जाएगी। विषम संख्या के किसी विशेष परिमाण में पादों का उत्क्षेप तथा निपात का योग नहीं वनता अतः साम्य या सम संख्या ही आचार्यगण यहाँ उचित समझते हैं।

३६–३९. पूर्व में कलागत आधिक्य दिखलाया गया था। इसके विपरीत कलागत न्यूनता भी होती है—यह तथ्य अगली—**'अस्वस्थकामिते'** इत्यादि से कहा गया है। अस्वस्थ = प्रच्छन्न। कामित = कामुक। वान्धव आदि के अनिष्टश्रवण के वाद उनके समीप शीघ्र जाना अभीष्ट होता है, इसी तरह अद्‌भुत पदार्थ के दर्शन में भी (मन में) उतावलापन रहता है तव कलाओं में न्यूनता रखा जाना उचित हो जाता है। आत्ययिक = अवश्यकर्तव्य कार्य। शत्रु और अपराधी के ढूँढने या पकड़ने में भी इसी प्रकार विकला (जिसमें कला का चार से आधा परिणाम या कम हो) की योजना रखी जाती है। 'विकला' पाठ में अर्थ है अर्धकला रहित चतुर्थी कला। इसी कारण 'चतुरर्धकलं' कहा भी है (जो संभ्रम, उत्पात आदि के प्रसंग में कहा था।) कलाओ के परिमाण का यह विधान या नियम उपयोगी (होता) है तथा इसका उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों में प्रयोग भी किया जाता है। अतः नियम की व्याहारिकता भी है तथा महत्त्व भी।

४०–४४. इस प्रकार प्रकृतिभेद से गति का विवरण देकर रस में गति को दिखलाने की भावना से तथा पुरुषार्थ में उपयोगी रसों में श्रृंगाररस के प्रमुख होने से उसी की गति वतलाई जा रही है—**'गतिः श्रृङ्गारिणी'** इत्यादि से। स्वस्थकामित = प्रकट कामुक या प्रेमी। यहाँ 'सूचा' का पुनः कथन आकर्षक पदार्थ के अतिशय चमत्कारी होने से पर्यालोचन के निरूपणार्थ है अर्थात् श्रृङ्गार में 'सूचा' की योजना आवश्यक समझी जाए। (सूचाभिनय का स्वरूप ना० शा० २४।४४ पर है। जिसे टिप्पणी० पृ० १३६ पर दिया गया है।) उस सूचा से भी अन्तरङ्ग प्रकृत में गति निरूपण है इसलिये इसे यहाँ दिखलाया गया। यहाँ पर सौष्ठव से अङ्ग की चतुरस्रता तथा उससे युक्त लय, (विलम्बित आदि) ताल सभी सामान्यरूप में होना चाहिए।

४५–४८. प्रच्छन्नकामिता—छिप कर प्रिया से मिलने या सम्बन्ध रखने वाला। जैसे रत्नावली नाटिका में वत्सराज उदयन। इसके विपरीत सर्वलोक समक्ष कामिता जैसे पौलस्त्य की सीता में कामिता। इस समय किसी के देख लेने की आशंका होने से दीपक को बुझा दिया जाता है। वेलासदृश वस्त्र—समय के अनुरूप वस्त्र या वेषधारी। यहाँ वैसे ही आभूषण भी धारण करना उपलक्षण है। शब्दशङ्की पद से खण्डित कला की मिश्रित गति रखने की बात भी बतलाई गयी है तथा वेपमान-शरीर से कला के चौथाई भाग का काल भी संकेतित किया गया है।

४८–५४. विप्रलम्भशृङ्गार में संभोग शृङ्गार की तरह गति बतलाकर अब रसत्वेन समानरूप वाले रौद्ररस की गति बतलाते हैं—**'रसे रौद्रे'** इत्यादि से। दैत्य, दानव आदि में प्रयुक्त कहने का आशय यही है कि उनमें क्रोध के बिना भी रौद्रता रहती है। यह बात रसाध्याय में पूर्व में कही जा चुकी है क्योंकि इनमें एक ही रस (रौद्र) होता है। यहाँ ताल शब्द काल का प्रमाणवाची समझा जाए। 'तालान्तरपातित्व' से जितने समय उत्क्षेप हो उससे न्यून काल में पातन रहने का भी संकेत है। 'तद्विधा'–से भीमसेन सदृश व्यक्ति का ग्रहण है तथा युद्धवीर में भी ऐसे व्यक्ति की ऐसी ही गति रखने की बात की सूचना भी।

५५–५७. रौद्ररस की प्राणभूता 'उग्रता' को बतलाने के अवसर के बीच ही पुरुषार्थ के अनुसार प्राप्त बीभत्सगति का क्रम आगया था। जिसे—**'अहृद्या'** इत्यादि से बतलाते हैं। अहृद्या मही = स्मशान की भूमि या जहाँ युद्ध होने से कट-कट गिरने वाले नरदेह (कबन्ध आदि) के कारण भूमि स्मशान बन गयी हो।

५७–५९. वीररस की गति—**'अथ वीरे च'** इत्यादि से बतलाते हैं। 'पादविक्षेप' का अर्थ है विस्तार से क्षेप या पाद का स्थापन करना। इससे 'स्पन्दिता' तथा 'अपस्यन्दिता' चारी का ग्रहण सूचित होता है तथा इसमें गन्तव्य प्रदेश में शीघ्रता से आगे बढ़ कर स्थान प्राप्ति करना अभीप्ट होता है। वीर तथा रौद्र रस में आवेग नामक भाव का स्पर्श रहने से यहाँ कभी धीरे तथा कभी द्रुत प्रचार भी विहित माना गया है। आवेग की दशा में—कला गत प्रमाण वाले काल के अनुगत गतिशील पैरों के द्वारा तीन पादपात किये जाए। एक लघुपात एक दूसरे की ओर दो द्रुतपात तथा फिर एक कला का विश्राम। यह वीर तथा रौद्र दोनों रसों में 'गतिपरिक्रम' होता है।

मध्यमपात्रों की इसी क्रम में रहनेवाली गति में भी अनुकूल संचारी (आवेग आदि में) भाव में यही गति होती है। इसमें इधर उधर चलने में व्याकुल एवं द्रुत वहुल पादविक्षेप होते हैं। अद्भुतरसत्व को प्राप्त होनेवाले विस्मय स्थायी में उत्तमपात्र की स्वच्छन्द गति वतलाई जा चुकी है, परन्तु यहाँ वदन में राग लालिमा उत्पन्न हो जाना विशेष रूप में होता है। (तथा इस विस्मय में आवेग सदृश ही पाद विक्षेप द्वारा गति भी रखी जाती है)

६०–६१. स्मित से अतिहसित तक उत्तम हास्य है। इसमें उत्तम पात्र की गति स्वस्थ होती है किन्तु यहीं अपहसित एवं अतिहसित वाले मध्यम पात्र की गति विक्षिप्त रखी जाती है। 'अन्यच्च' पद से विदूषक की गति के विषय में आगे वतलाये जाने वाले विवरण का संकेत दिया गया है। यहाँ केवल प्रसङ्गवश हास्यगति द्रुत वतलायी गयी है।

६१–६४. अव करुणरस की गति—'पुनश्च करुणे' इत्यादि से वतलाते हैं। यद्यपि 'ज्वरार्त्ते' (ना० शा० १३।३५) इत्यादि से करुण में स्तोकगति को (इसी अध्याय में) वतलाया जा चुका है परन्तु कुछ अन्य वातें भी और हैं यह 'पुनः' शव्द से दिखलाया गया है जिन्हें आगे कहेंगे।

६५–६७. प्रहार लगने पर करुणरस में होनेवाली गति में 'चूर्णपद' का विधान है अर्थात् पैरों को ऊपर थोड़ा उठाये तथा वड़े जोर से नीचे पटके। इस क्रिया में 'अध्यर्धिका' से चूर्णपद में स्वतः अन्तर हो जाता है।

६७–७०. शीत या वर्षा से अभिभव होने पर अव गति को वतलाते हैं—'शीतेन' इत्यादि से। मध्यम तथा उत्तम पात्रों की शीतादि में होनेवाली गति अनुभावों से शून्य भावों के द्वारा सूचित की जाती है। 'च' पद से शरीर के अवयवों का कम्पन के अतिरिक्त संकोचन कार्य भी लिया जाए। 'एव' शव्द से यहाँ 'सौष्ठव तथा चतुरस्र' की योजना का निषेध किया गया है। 'करौ' से वे हाथ यहाँ अपेक्षित हैं जो कटि के ऊपर पटके जाएँ। इस स्थिति में शरीर को सिकोड़ कर और हाथों को छाती पर रख कर लोक प्रसिद्ध या प्रचलित गति का ही अभिनय किया जाए जिसमें ओठ, दांत और चिवुक का कम्पन एवं शरीर का कुञ्चन का भाव भी लोक प्रचलित रूप में ही प्रस्तुत होता हो।

७०–७६. शृङ्गार तथा करुणरस की गति के प्रसंग से शीत एवं वर्षा में होने वाली गति का भी निरूपण करके वाद में 'भयानकरस' में गति को वतलाते हैं—'तथा भयानके' इत्यादि से। सत्ववर्जिता = जिनको अपने

कुछ शील आदि के कारण उत्तम (स)त्व के औचित्य प्राप्त होने पर भी जो सत्वहीन अर्थात् प्राणरहित हैं—जैसे विराट का पुत्र उत्तर। 'द्रुतैः' इत्यादि से कोहल के द्वारा दिखलाई गई धारा-लयादि का संकेत है। अनुसरण = शत्रु का पीछे से आ जाना। जिनमें धैर्य या पराक्रम पुनः लाया जाए ऐसी गति। इसका फल यह है कि इसमें बीच में हलके और भारी पादपात भी होते हैं जिन्हें 'आसन्नपतितैः' इत्यादि से यहाँ कहा भी गया है।

७६–७६. धीरप्रशान्त प्रकृति के 'वणिक्' तथा 'सचिव' जैसे पात्र की गति को वतलाने के प्रसंग को उठा कर शान्त रस में होने वाली गति को भी वतलाते हैं—**'वणिजां'** इत्यादि से। 'धीरप्रशान्ताः वणिजः' इस वचन के अनुसार वणिक् जैसे पात्र के अन्तःकरण में संस्कार रूप में शान्तत्व स्थित है। इसी प्रकार शान्तरस प्रधान यति आदि के नाटक आदि में प्रसङ्ग आते हैं वहाँ भी उनकी गति को वतलाना अभीष्ट होता है जिसे इसी प्रकरण में दिखलाया गया है। वणिक्, सचिव आदि का हृदय शान्त होने से नियमन के योग्य होता है। स्वभावजा गति से गति के अनाविष्ट रूप को वतलाया गया है अर्थात् जिसकी गति आवेश रहित रखी जाए वही स्वाभाविक है।

७६–८६. नैष्ठिक यति आदि पात्रों की गति—**'यतीनाम्'** इत्यादि से वतलाते हैं। नैष्ठिकों की गति ब्रह्मचर्य से प्रवृत्त होती है। उपस्थितस्मृति = संस्कार के सर्वदा उद्‌बुद्ध रहने से जिसे सर्वदा स्मरण बना रहता हो वह। व्रतानुगा पद से व्रतों की अनुकूलगामिता स्पष्ट की गई हैं। उन्मत्तादि के आगमादि में जो व्रत दिखलाये हैं तदनुसार योग्य पादों से इसी प्रकार गति होती है। पाशुपत तथा नकुलीशपाशुपत—जो परमेश्वरव्रत को धारण करते हैं—उनका उन्मत्तव्रत होता है तथा इसी व्रत के कारण इनकी गति में भी उद्धतत्व रहता है। इसी प्रकार रसान्तरों की भी संगति कही गयी है।

८७. रसों के अनुसार गति को वतला कर अब देशों के अनुसार भी गति को वतलाते हैं—**'अन्धकारे'** इत्यादि से। अन्धकार में या अन्धा वन कर चलने में या अन्धे की तरह चलने में भूमि पर पैरों को घिसाते हुए चल कर मार्ग के अन्वेषण में तत्परता को दिखलाया जाए।

८८–६०. समपाद नामक स्थानक द्वारा रथ से जहाँ जाया जाता हो उसे प्रदर्शित किया जाता है या रथविशिष्ट की गति सामान्यतः यहाँ दिखलाई गयी है या फिर प्रकृति के विभागगत औचित्य से विचित्रता लिये हुए अश्व,

वृपभ, खर तथा उँट के चित्रपट भी इस कार्य में लिये जाएँ यह भी या फिर नट के पदों में ही ऐसा अनुकूलगमन रखा जाए जिससे यह मालूम होने लगे कि जैसे कोई रथ चल रहा है।

६१-६२. यही वात विमान में बैठे हुए पात्र की गति में भी समझना चाहिए। रथ में चढ़ने की दशा में गात्र को ऊपर ले जाये और इसके विपरीत उतरने की दशा में उसे नीचे ले जाकर अवरोहण करे।

६३-६५. अव विमान के प्रसंगवश आकाशगति को भी वतलाते हैं— 'अघोऽलोकनेन' इत्यादि से। यहाँ चक्करदार घुमाव में गति को रखे परन्तु यहाँ आकाशिकीचारी तथा मण्डलों की वार-वार आवृत्ति भी रखी जाती है। ऋजु=सरल एवं ललित जंघाओं के द्वारा और आयत अर्थात् चरणों को ऊपर ले जाकर गिराते हुए तथा कुटिल गति से घुमा कर। इसमें उत्क्षेपण के समय उन्नत और पात के समय नत रखा जाए। भ्रश्यतः—गिरने वाले की, जो कि अनजाने में नीचे आ रहा हो। अपविद्धभुज-जिसमें दोला के आकार में भुजा जल्दी २ गिरती हो।

९६-९८. अर्थवश=प्रयोजन के अनुकूल मान कर अवतरण किया जाए। इसमें नदी या जल में अवतरण (में उतर रहे हों) जैसा वर्णित क्रियाओं में अभिनय कर शरीर को ललित अंगक्रिया द्वारा उतारे।

१०१-१०३. तैरने की प्रक्रिया जल के प्रमाण की अपेक्षा से की जाए अर्थात् जव पानी थोड़ा हो तो वस्त्रों को ऊपर लेकर तथा अधिक जल में पाणि के द्वारा विचित्र रूप में जल को हटाते हुए गति रखे। इसमें पताक तथा सर्पशीर्ष हस्त से उपलक्षित गति रखी जाती है।

१०३-१०४. वैसे अपनी जानकारी या इच्छा में तैर कर मनुष्य चलते हैं किन्तु कभी कभी-कभी तेज प्रवाह में विना इच्छा के भी जल में वहते हुए चला जाता है या जल वहा कर ले जाए तो ऐसी स्थिति में गति दिखलाते हैं—'प्रसार्य' इत्यादि से। एकैकं—अर्थात् क्रमशः। ऐसी गति में सभी अंगों में आकुलता तथा मुख को तिरछा धुमा कर (आघूत) रखा जाता है। अन्य आचार्य पारी पारी से पार्श्व परिवर्तन के द्वारा भी इसे दिखलाने की वात कहते हैं परन्तु इसमें पार्श्वपरिवर्तन नहीं होता वह तो स्वेच्छा से जल में तैरने के समय ही सम्भव रहता है।

१०५-१०७. जल के प्रसंग में नौका की एवं नौका में बैठे हुए पात्र की गति भी—'नौस्थस्यापि' के द्वारा बतलाते हैं।

१०८–१०६. इस प्रकार देश की अपेक्षा से गति बतलाई गयी तथा नागादि के प्रसंग से सर्प-गति भी बतलाई।

११०–१११. अवस्थाभेद से गति निरूपण के प्रसंग में विट की गति बतलाते हैं—'विटस्यापि' इत्यादि से। सौष्ठव जो अपनी प्रकृति के उपयुक्त हो।

११२–११३. कञ्चुक के योग्य वृत्ति को जो अपने लिये चाह कर लेता है इस विग्रह से कञ्चुक पद से क्यच् तथा 'क्वचि+च' से ककार को ईकार युक्त कर कञ्चुकी शब्द निष्पन्न होता है। वय एवं अवस्था के विभाग को विचार कर यह विवरण दिया गया है जिसका अभिनय में प्रयोग किया जाता है।

११४–११७. विष्कम्भनकृतप्राण–विष्कम्भ अर्थात् स्थैर्य, वह जिसे हो या ऐसी दशा में यष्टि आदि से प्राण बल को जिसने समन्वित किया हो—ऐसी गति।

११८. विकूणन, सङ्कोचन, विमर्दन इत्यादि मिश्रित क्रियाओं को लिया जाए पथिक की गति में।

११६–१२०. स्थूल अर्थात् महाकाय या मोटे आकार का व्यक्ति जिसे थोडे से श्रम से थकावट आ जाए तथा पसीना आने लगे।

१२१–१३०. पैरों की विपर्यय गति के साथ चेष्टा के साथ तदनुकूल हाथों की गति, स्थिति भी रखी जाती है।

१३१–१३४. 'कुहक' शब्द का कुछ आचार्य अधम-लिङ्गी (नीच साधु) अर्थ करते हैं। 'कुहना' पाठ के अनुसार अर्थ होगा जो दम्भी या ईर्ष्यालु है। (मेदिनी कोष भी इसका—'कुहना दम्भचर्यायामीर्ष्यालौ कुहनस्त्रिषु' के द्वारा समर्थन करता है)। पैर में कांटा या क्षत हो जाए तो ऐसे (लंगड़े) पात्र की गति या पंगु की गति का 'अग्रतलसंचरपाद' से अभिनय दिखलावे। अन्य आचार्यों ने यहाँ नर्कुट की योजना भी दिखलाई है।

१३७–१४२. विदूषक की गति बतलाते हैं—'विदूषकस्यापि' इत्यादि से। असम्बद्ध प्रभाषण अर्थात् निरर्थक या अनुचित भाषण। जब ऐसा पात्र रंगमञ्च पर आता है तो अङ्गहास्य होता है। यहाँ प्रवेश पद से नाट्य में ही रस है, लोक में नहीं; यही दिखलाया गया है। इस प्रकार तीन हास्यों में में से कहीं पर एक प्रकार का, कहीं दो तथा कहीं तीनों प्रकारों का आश्रय लिया जाता है। इस क्रम में विदूषक को अपने स्वामी राजा, अमात्य या श्रेष्ठी की प्रकृति को समझते हुए विभागशः इसे

प्रस्तुत करना चाहिए परन्तु राजा आदि की अनुपस्थिति में इसका अश्लील भाषण करना अनुचित है।

१४३-१४६. इस प्रकार गति के उपयुक्त तथ्य को दिखला कर अव उसकी—'स्वभावजायाम्' इत्यादि से गति वतलाते हैं। इसमें विलम्वित लय, ताल में लघु, गुरु तथा प्लुत सभी रखे जाते हैं, जव कि अन्यत्र द्रुतलय के नहीं होने से तथा प्लुत के कालमान के प्राचुर्य से शोकादि के प्रसंग में भी स्वभावजा गति होती है। गति में गर्वात्मक विकृति भी अलाभलाभ पद से दिखलाई गयी है। भुक्त पद से उपयोग में लिये गये वस्त्र, भूषा आदि को संकेतित किया गया है। भयादि में परितः परिक्रम होता है।

१४८-१५१. अपने संभाषण व्यवहार में 'शकार' के अधिक प्रयोग करने वाला अभिनेता 'शकार' कहलाता है या फिर शकार से उपलक्षित शकादि जनपद का निवासी भी 'शकार' है। अन्य आचार्य शकार उसे मानते हैं जिसे उत्तम पद मिलने पर भी उसकी आशय या भावना सदा हीन वनी रहे। इस विषय में अध्वहार का एक प्रसिद्ध कथन इस प्रकार है :—

प्राकृतेऽपि शशकारस्य विभूतिर्न प्रसिद्धये।
तद्विभूतिरपभ्रंशे तापस्येव प्रकाशिता ॥

[शकार की विभूति प्राकृत भाषाओं में प्रसिद्धि की हेतु या उसका आधार नहीं होती परन्तु शकार की यह वहुलता अपभ्रंश भाषा में ताप की तरह (ही) प्रकाशित होती है। तात्पर्य यह कि अपभ्रष्ट पात्र होने से शकार अपभ्रंश भाषा के ही उपयुक्त होता है।]

इस प्रकार जो उच्च श्रेणी के व्यक्तियों के सम्पर्क एवं (धन) विद्या एवं वुद्धि शून्य पुरुष हो, वही शकार होता है। यह अपने वस्त्र, आभरण के स्पर्श एवं आलोकन में गर्व का अनुभव करता है तथा आर्यजाति का नहीं होता। म्लेच्छों की जातियों का वर्णन स्वतन्त्र रूप में आगे किया ही गया है।

१५३. रीछ तथा वानर जाति में जाम्ववान्, सुग्रीव, अङ्गद एवं हनुमान आदि की जो गति हो उसे स्वजाति के अनुसार रखना चाहिए। 'प्रभविष्णुना'—पद से नरसिंह आदि अवतार के प्राधान्य के अनुरूप गति को सूचित किया गया है। 'तस्यैव' पद से आलीढ़ स्थान के अनुगत शरोर के अवयवों द्वारा वायी ओर से गमन किया जाना चाहिए।

१७१–१७६. प्रकृति संस्थिताम्-यह सामान्य या सहज स्थिति में कहा गया है किन्तु प्राथम्य या प्राधान्यतः जब कोई गति हो तो उसे भी सम्पन्न किया जाए इसे 'कृत्वावहित्थम्', इत्यादि से भी कहा गया है। बाहर की ओर (अर्थात्) कनिष्ठिका अंगुलि के क्षेत्र में वामभुज को लताख्य दशा में रखे।

१७७–१७८. 'यो विधिः' इत्यादि। उसके पश्चात् 'वामवेध' को सम्पादित करे अर्थात् एडी के समीप सूची-पाद का निपातन हो। पूर्व में रस, प्रकृति, काल तथा देश की अपेक्षा से जो मनुष्यों की गति बतलाई गयी हैं वे सभी गति विलासादि से युक्त रख कर वैसे ही स्त्री पात्रों में भी संयोजित करना इष्ट है। इस सन्दर्भ में यह भी बतलाया जा चुका है कि स्त्रियों का पादपात चारकलाओं से अधिक परिमाण का नहीं रखना चाहिए। षट् या अष्टकल से यह भी यहाँ सूचित किया गया है कि इससे अधिक परिमाण पुरुषों के लिये भी न रखा जाए क्योंकि जब षट्कलाओं का ही निषेध किया गया है तो फिर अष्ट कलाओं की तो संगति ही नहीं बैठेगी।

१७९–१८१. यहाँ स्थानीया पद से मध्यम अवस्था वाली युवति का संकेत है अतः प्रकृत में मध्यम प्रकृति को उद्देश्य करके ही यह विधि दिखलायी है। आद्य अर्थात् दक्षिण पाद। इसे परिवाहित भी नहीं किया जाए।

१८२–१८३. विभाग के अनुसार अधमपात्रों की गति में प्रेष्याओं की गति उद्भ्रान्तगामिनी अर्थात् मद विकार से युक्त रखनी चाहिए। 'आविद्ध-भुज-विक्रमा' अर्थात् बाहुओं का क्रम वर्तना बहुल रहना चाहिए।

१८४–१८६. 'नार्या अर्धम्' नारी के आधे इस प्रकार भाग की विवक्षा में यहां 'अर्धं नपुंसकम्' से समास हुआ है। नारी की प्रकृति का आधा भाग ही यहाँ अनुकृत रहने से इसे (नपुंसक को) तृतीया प्रकृति भी कहा जाता है। तब पुरुषों की गति में उदात्तत्व तथा स्थियों की गति में ललितत्व या सौन्दर्य रहेगा। इनमें गति का परिमाण चार ताल तथा चार कलाएँ होता है। अनुत्तम स्त्रियों की गति का मान द्विताल तथा द्विकला है। इससे भी आधा प्रमाण कर्म-कर भृत्यों और अधम पुरुषों का अर्थात् एक ताल और एक कला प्रमाण रहता है। इस प्रकार अनुत्तम पुरुषादि पात्रों की गति को दिखला कर मध्यम तथा उत्तम पुरुषों की गति एवं चेष्टा कीं अनुगामी ही उत्तम, मध्यम एवं अधम स्त्रीपात्रों की तथा भृत्यों की गति में चेष्टाएँ रखी जाए इस तथा को 'उत्तम' पद से संकेतित किया गया है।

१८७–१८८. जहाँ उत्तमादि की स्थिति उद्भिन्न नहीं हुई ऐसे पात्रों को दिखलाकर विवरण का सर्वग्राहत्व दिखलाने की भावना से—बालानाम्, इत्यादि से 'बालकों' की गति बतलाई गयी है।

१८६–१६१. 'तद्भावगमनादिति'—जो पुरुष जिस रूप को ग्रहण करता है उसकी वैसी ही गति (स्वभाव के अनुरूप) रखी जाती है। परन्तु विपर्यय विशिष्ट-कारण या स्थितिवश होता है—जैसे व्याजादि से। व्याज = छल। किसी उदेश को सिद्ध करने के लिये छल का प्रयोग किया जाता है, इसे भ्रम उत्पन्न करने के लिये, क्रीड़ा में तथा वञ्चना के लिये प्रयुक्त करते हैं। अपिच पद से स्त्री और पुरुष का नपुंसक से तथा नपुंसक का स्त्री या पुरुष से विपर्यय हो जाता है यह दिखलाया गया है। इसी विपर्यय दशा में गति के विपर्यय में सञ्चारी तथा सात्विक भावों के तथा उपाङ्गादि अभिनयों में होने वाले विपर्यय भी—'धैर्योदार्येण' इत्यादि से बतलाये गये हैं। यहां सामान्य अभिनय में उक्त धैर्य एवं औदार्य का ग्रहण समझना चाहिए तथा इनसे अन्य भावों का (भी उपलक्षण है यह भी। यथा 'बुध्यापद से—स्थायी भाव का, सत्व से सात्विक भाव का, कर्म से स्थानकादि विषयक अनुभावों का, वेष से आहार्य (वेष भूषा के) प्रकार का, वाक्य से संस्कृतादि भाषाओं के वाचिक प्रकार का चेष्टित से त्रिपताक आदि शारीर का उपलक्षण से ग्रहण समझना चाहिए।

१६६–१६८. जैसे स्थानक गमन आगे पीछे होता है वैसे ही उपवेशनात्मा आसन में भी पूर्व-पश्चाद्-भाविता रहने से उसे भी बतलाया जा रहा है—'अथासन' इत्यादि से। तथैव—अर्थात् जैसे गति में पूर्व पश्चाद् भाव है वैसे ही शयन और तदाश्रय, आसन आदि में भी। विष्कम्भ अर्थात् वैशाख-स्थानक के उचित प्रसार से अञ्चित अर्थात् सुन्दर पाद, अतः यहाँ अञ्चितपाद का लक्षणानुसारी स्वरूप इष्ट नहीं है। स्वस्थ पुरुष के आसन पर बैठने पर त्रिक उन्नत रहती ही है। यहाँ दोनों हाथ कटि तथा ऊरू पर 'कर्कटमुद्रा में रखे जाएँ।

१६६–२०० संप्रणष्ट विशेषण केवल इन्द्रियमात्र से सम्बद्ध है, उसे मन के साथ लगा कर 'आकुल' अर्थ करते हैं। शोक की दशा में 'आकुल-मन' से बैठा जाए। अपायाश्रयाश्रितः—अपने आश्रित का या किसी वस्तु का सहारा लेकर रहना। उपवेशयेत्—यहाँ स्वार्थ मे णिच् है अतः कर्ता मात्र यहाँ विवक्षित है। अन्य आचार्य कहते हैं कि जब वह इस स्थिति मे अपने बाहुओं को फैला दे तो उसे विश्राम हेतु बिठवा दे।

२०१–२०२. अंगो के पिण्डीकृतत्व में जानुओं के विश्लेप से घुटनों और शरीर के अपरी भाग का मेल हो गया होता है तथा उसे विघटित कर देने पर घुटने अलग होकर ऊर्ध्वकाय टेड़ा हो जाएगा। ऐसी स्थिति उत्कटिक स्थान कहलाती है। इसमें घुटनों का विरलत्व और स्फिक् का भूमि से स्पर्श रहता है। पूर्व पिण्डितांग दशा से यह भिन्नता ही यहाँ वैलक्षण्य दिखाता है। निवाप = पितरों का तर्पण। सन्ध्या शब्द से सन्ध्या के योग्य जप तथा ध्यान का ग्रहण है।

२०३–२०६. विष्कम्भितम्—एक जानु को भूमि पर फैलाकर दूसरे को यथास्थित रखना। होमादि के करने में मन्त्रादि का उच्चारण भी किया जाए। शोके च तथा नीचानां—का प्रकृत में सभी स्थान पर सम्वन्ध समझना चाहिए।

२०६–२१४. आसन सन्निवेश के प्रसंग में सभी के लिये आसन विधान वतलाया जाए अतः इसे—'**तथासन**' इत्यादि से दिखलाते हैं। बाह्य-सभी व्यक्तियों के उपयुक्त तथा आभ्यन्तर–राजा के योग्य इनका विधान। मुण्डासन–गोलाकार चतुरतापूर्ण रचना का आसन। मसूरक–आराम से वैठने लायक आसन। काष्ठासन–पट्टासन या लकड़ी का पीठक (या स्टूल जैसी कुरसी)। एवं पद का अभिप्राय है राजा की सन्निधि में। यह आभ्यन्तर विधि है। अन्यकालों में इच्छानुसार आसन रखे जा सकते हैं इसी तथ्य को 'स्वगृहवार्तायाम्' इत्यादि से कहा है। तथा पद से सेनापति का अमात्य के घर जाना जैसी व्यक्तिगत सम्वन्ध की स्थिति दर्शायी गयी है।

२१५–२२०. अपेक्षित नियमादि से युक्त मुनिजन के रहने के कारण उनके नियत आसन पर ही वैठने का विधान है जो उनके व्रतादि को ध्यान में रखकर रखा जाता है। स्थानीय अर्थात् आश्रमादि (स्थान) में निवास करने वाले वृद्ध या पूज्यजन। आसनसत्कार—आसन पर वैठने का निवेदन कार्य। आसन के विषय में, विभाग की अन्य बात भी–'समे' इत्यादि कारि० से कही है। सम—जो जाति एवं विद्या में तुल्यता रखता हो। आसन चार प्रकार के होते हैं—सम, मध्य, उच्च या अतिरिक्त तथा भूमि। मध्यम—कुछ कम या आसन के प्रमाण में थोड़ा न्यून। हीन—अपनी अपेक्षा से अधम। भूम्यासन—यहाँ वैठो कह कर निर्देश्य भूमि को वैठने हेतु दिखलाना यह हीन या अधम जैसे पात्रों के लिये उपवेशन स्थान है।

२२१–२२७. अब आगे शयन के विभाग पूर्वक सन्निवेश को दिखलाते हैं—'आकुञ्चित' इत्यादि से। वह स्थिति जो अपने शरीर के तिरछे रखने पर रहे। पूर्वकाय अर्थात् शरीर के ऊपरी भाग के पास किसी इष्ट जन के बैठने पर बाहुओं के फैलाने में 'विक्षेप' होता है तथा शयन पर अन्य जन के बैठ जाने पर भी 'विक्षेप' होता है। शरीर का तिरछा रखना ही 'आकुञ्चित' है। इसी प्रकार आगे सभी स्थितियों का स्पष्ट विवरण है।

२२८. अर्थवशेन—व्यवहार के आधार पर तदनुरूप। इस अध्याय के उपसंहार के साथ अगले अध्याय के प्रारम्भ की संगति के लिये कहते हैं—'अतः परम्' इत्यादि से। रंग में घूमने का निरूपण गत्यध्याय में किया था उसका कक्ष्याविशेष के विभाग में विशेष उपयोग को अगले अध्याय में कहेंगे। इति शिवम्।

चतुर्दश अध्याय

(कक्ष्या, परिधि तथा लोकधर्मी निरूपण)

१. 'तु' शब्द से द्वितीयाध्याय में पूर्व में (वहुत पहिले) कहीं वात को पुनः संकेतित किया गया है। मण्डप के विशिष्ट भाग रंगपीठ को विभाग पूर्वक समझ कर (विज्ञाय) कक्ष्या एवं गति के उपयोगी विशिष्ट स्थानों का प्रयोग किया जाता है। नाटकीय प्रदेशानुसार प्रकोष्ठ को छोड़ते हुए जो स्थान वचता है उसी में चतुरस्र योजना की जाती है। अतः कक्ष्या के वाम तथा दक्षिण (वाजू के) भाग में कुतपों (आर्केस्ट्रा) की स्थापना की जाती है तथा शेष भाग में कक्ष्या का विभाग रखते हैं।

२. रंगमण्डप के कौन (से) विभाग में कक्ष्या हो इसके उत्तर में कहते हैं—**'यो नेपथ्य'** इत्यादि से। नेपथ्यगृह और उसका द्वार आदि द्वितीयाध्याय में कहे हैं। आतोद्य के बिठलाने पर जो प्रदेश बचा रहता है उसी रंगपीठ के प्रदेश में पात्रों के निष्क्रम एवं प्रवेश के लिए गति के उपयोगी स्थान विभाग का निर्देश करना चाहिए।

३. स्थान विभाग कहाँ हो इसके उत्तर में वतलाते हैं कि जिससे प्रवेश हो उसे 'परिक्रम' कहते हैं। जहाँ चारी आदि का सन्निवेश हो उस रंगपीठ के स्थान को (स्थान भेद से) छोड़ा नहीं जाता है (अर्थात् यही कक्ष्या-प्रदेश होता है)। परिक्रम से स्थान भेद हो जाता है—जैसे ऊपर चढ़ने के गात्र को सम्हालना, अतिक्रान्त पद से गति रखना—जैसे स्थलों में इसी स्थान भेद से आरोहणीय स्थल की प्रासाद या पर्वत रूप स्थिति को दिखलाया जाता है।

४–६. रङ्गपीठ पर क्रम विशेष एवं स्थान भेद की कल्पना से कक्ष्या-विभाग के विशिष्ट देश में भिन्न स्थानों की रचना मान ली जाती है, उन्हें रचनाकार आदि को स्मरणार्थ (ही) उपलक्षण द्वारा वतलाया (लिखा) गया है। यद्यपि पृथ्वी आदि सभी स्थानों को एक ही शब्द 'त्रैलोक्यम्' से कहा ही गया है फिर भी स्वर्ग, पृथ्वी तथा पाताल के भेद से गृह, प्रासाद, पर्वत का कथन वर्णनोद्देश्य के लिये पृथक्-पृथक् वर्णित हुआ है।

७. इसी त्रैलोक्यवर्ती देशों के पृथक् वर्णन को दिखलाने के लिये—**'नगरे'** इत्यादि से यहाँ कहते हैं। यहाँ अटवी पद से ग्राह्य उद्यान, आराम,

सरिता, आश्रम आदि को साक्षात् बोधक पदों से नहीं कहा हो तो वे 'वा' शब्द की वीप्सा से द्योतित हो जाते हैं।

८. इतिवृत्त या प्रस्तुत रूपकादि में विद्यमान या प्राप्त वृत्तान्त के मध्यवर्ती प्रदेश ही रङ्गपीठ पर कक्ष्या में विभाग पूर्वक दिखलाये जाए—इसी भाव से रंगपीठ के विशिष्ट देश को—'बाह्यं वा' इत्यादि से बतलाते हैं। रङ्गपीठ के अभिनेय-स्थल पर देशादि की कल्पना के साथ प्रदेश के दूर या सामीप्य के आधार पर या अभिनय के अल्पत्व एवं आधिक्य के कारण भिन्नता को लिये हुए परिक्रम से ही (दूर आदि भेदों की) कल्पना की जाए।

९. ये वाह्य आदि भेद—'पूर्वं प्रविष्टा' इत्यादि से निरूपित करते हैं। यहाँ पूर्व पद का अर्थ दो तरह से होता है एक पूर्व अर्थात् प्रधानभूत। अतः प्रधान होने से जिनका प्रवेश पहिले हुआ था, वे आभ्यन्तर तथा उनसे अधिष्ठित देश विशेष को आभ्यन्तरकक्ष्या कहते हैं। इसी प्रकार पीछे प्रवेश करने वाला वाह्य तथा उसके द्वारा अधिष्ठित वाह्यकक्ष्या-स्थान विशेष के द्वारा पूर्वप्रविष्ट का उपसर्पण या अनुगमन करने वाले का स्थानविशेष मध्यमकक्ष्या कहलाता है। पूर्व प्रविष्ट भी यदि अप्रधान (पात्र) है तो प्रधान के प्रवेश के वाद भी वह अपनी कक्ष्या के अन्त में ही स्थित रहता है। यही कल्पना यहाँ की गयी है।

१०. पात्रों के रङ्गपीठ पर प्रवेश के साथ एकत्र हो जाने या मिल जाने पर उनके द्वारा करने योग्य (सम्पाद्य) कार्य दिखलाने के लिये—'तेषान्तु' इत्यादि से विधान वतलाते हैं। तेषां—अर्थात् जो पूर्व में प्रविष्ट हैं उन। यहाँ 'तु' शब्द से पूर्वप्रविष्ट पात्र तथा उनसे वाद में मिल जाने वाले पात्रों के क्रिया-कलाप का 'वाह्य' कक्ष्य में विधान सूचित किया गया है। इसी प्रकार 'अथ' शब्द से पूर्वप्रविष्ट पात्रों का दक्षिणादि से क्रम है तो वाद में प्रविष्ट पात्रों का उसके (सामने होने से) विपरीत क्रम स्पष्ट (ही) समझा जा सकता है, (यहाँ यही क्रम 'अथ' पद से दिखलाया है) पूर्वप्रविष्ट पात्रों की प्रवृत्ति के लिये ही दक्षिणाभिमुख आदि क्रम विहित है (यही आशय है)।

११. रंगपीठ पर कौन (सा प्रदेश) पूर्व दिशा हैं?—उत्तर—जिसकी अपेक्षा से या जिस ओर आतोद्यादि वाद्ययन्त्र रखे हों तथा वादक बैठे हो वही पूर्वदिशा होती है। प्रश्न—केवल भाण्ड के मुख को ही प्रमाण क्यों माने? उत्तर—इसी लिये 'द्वार' को भी कहा गया है कि द्वार को प्रमाण मान कर। क्योंकि वह विधानानुसार ही निर्मित होता है। इसी प्रकार नेपथ्य पद के

गहण से भी यही स्पष्ट है कि नेपथ्यगृह का द्वार पूर्वाभिमुख होता है। अतः वही पूर्व दिशा है। भाण्ड पद तो उसकी प्रतियोजना रहने पर प्रमुखता के साथ पूर्वदिशा को सूचित करता है यही समझ कर प्रयुक्त है।

१२. 'तेनैव' का अर्थ है कि पूर्व में प्रविष्ट पात्र के अनन्तर प्रविष्ट दूसरे पात्र के सम्बन्ध द्वारा।

१७. पूर्वकथित बाह्य, मध्य तथा आभ्यन्तर तथा दूर, मध्य एवं सन्निकृष्ट के विभाग को कहते हैं—**'सैव भूमि'** इत्यादि से।

१८–१९. **'नगरे वा'** इत्यादि से भूमि के विकृष्टत्व, मध्यत्व एवं सन्निकृष्टत्व को उसके बहुत्वं एवं अल्पत्व के कारण ही नहीं परन्तु परिक्रम की विचित्रता के कारण भी मानना होता है यही दिखलाया गया है। प्रयोग = जो नाट्य में किया जाए। दिव्य = पिशाच से लेकर सभी दैवयोनियाँ। इनका नगर, दीप आदि में गमन आकाश से, आकाशगामी विमान या अन्तर्हित करने वाली माया से अथवा विविध प्रयोजनों वाली बलाद् आहरण करने वाली क्रियाओं से दिखलाया या सम्पन्न करवाया जाए।

२०–२१. दिव्यों के लिये केवल यही उपर्युक्त विधान नहीं है। ऐसे अन्य प्रकार भी हैं उन्हें दिखलाने के लिये—**'नाटके'** इत्यादि से पुनः कहते हैं। छन्नवेष पद से यह दिखता है कि वरदान आदि या अनुग्रह करने के कारण देवताओं का भी अपने स्वरूप को छिपा कर मनुष्य के रूप में दर्शन हो जाता है। ऐसी दशा में दिव्य पात्र का भूमि पर संचार होगा ही क्योंकि जहाँ घूमना है वहाँ तो भूमि रहेगी ही।

२२. (यहाँ) देवताओं का साधारण प्रकार दिखलाते हैं—**'दिव्यानाम्'** इत्यादि से। पुराणों में सामान्यतः इसे बतलाया भी है। यह भारतवर्ष में ही न कि इलावृत आदि खण्डों में।

२७–३२. वर्षों में हरिवर्ष, किम्पुरुष आनि स्थानों में प्रचार कहते हैं—**'हिमवत्'** इत्यादि से। हिमवान् में इनकी गति अर्थात् प्रचार है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। नील पद अद्रि का विशेषण है तथा इसी का विशेषण वैडूर्यमय है। यह विवरण कविशिक्षा के लिये (भी) दिया गया है। दिव्यजन के ये ही आवास होते हैं।

३२–३६. तेषाम्' इत्यादि से वर्षान्तरों में होने वाले (दिव्य पर्वतों पर सम्भव एवं उचित) गमन प्रदेश के तथा कार्य आदि विषय में यहाँ बतलाया

गया है। 'कक्ष्याविभागश्च' में उपात्त 'च' को 'इव' अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिए। जम्बूद्वीप की तरह दिव्य पर्वतों को भी कक्ष्याविभाग में लिया जाकर दिव्यपात्रों की गति स्थानविशेष से उपलक्षित करनी होती है। 'परिच्छदविशेष' पाठके अनुसार उन देवताओं के विशिष्ट उपकरणों को चारों ओर नहीं रखा जाता है। 'परिच्छेद' पाठ को यहाँ मूल में लिया गया है। तदनुसार अर्थ है—दूरस्थ पदार्थ को जान लेना और व्यवधान में स्थित पदार्थ को जान लेने जैसे कार्य (यहाँ) नहीं दिखलाने चाहिए। प्रश्न—यदि देवगण के ऐसे रूप को न दिखलाये तो फिर कैसा रूप रखा जाए? उत्तर—इनमें भी मनुष्यों के भाव ही दिखलाने अभीष्ट हैं जिन्हें मनुष्यों की तरह दिखलाना चाहिए। अंशावतार श्री—रामादि नायकों का जो उत्कृष्ट एवं अतिशय विशिष्ट चरित है वह भी मानुषोचित ही हैं। इसी प्रकार जिन २ अवतारों में दिव्यभाव की स्थिति हो उनके भी चरित मनुष्यवत् ही दिखाना चाहिए। ऐसी स्थिति में देवगण के पलक न गिराने जैसे शास्त्र वर्णित रूप को यहाँ नहीं दिखलाना चाहिए।

इसका अन्य कारण यह है कि इस लोक में भाव, संचारी और स्थायी सभी दृष्टि के द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त सूचा-अभिनय भी भाव के योग से ही प्रस्फुटित होता है। इसलिये इन सभी कारणों से देवपात्रों की (भी) उनकी अपनी मूल प्रकृति मंच पर प्रस्तुत नहीं की जाए किन्तु मनुष्यवत् ही उनकी चेष्टाएँ रखी जाए।

३६. प्रवृत्तियों का उद्देश्यक्रम से चतुर्विधत्व दिखलाने के लिये—**'चतुर्विधा'** इत्यादि से स्वरूपादि विवरण आरम्भ करते हैं।

प्रश्न—इन्हें क्यो प्रवृत्ति कहते हैं, इनके मानने में हेतु क्या है, किस आधार पर ये प्रवृत्तियाँ है तथा इन प्रवृत्तियों का किससे उद्भव हुआ है। ये चार प्रश्न यहाँ वनते हैं जिनका आचार्य ने विवेचन किया है। इनमें प्रथम प्रवृत्ति के विषय को कहा गया कि वह कैसे हुई। देशविशेष के वेष, भाषा, आचार एवं वार्ता के वैचित्र्य की प्रसिद्धि को 'प्रवृत्ति' कहते हैं। इसमें ऐसी योजना है—जिन २ देशों में जो वेपभूषा है, जो भाषाप्रवाह है, जो लौकिक एवं शास्त्रीय रूप में प्रचलित आचार है तथा जो कृषि-पालन एवं वाणिज्यादि जीविका रूप वार्ता है उनको प्रख्यापन करने या पृथिवी-मण्डल पर स्थित विद्या की प्रसिद्धि की आधायिका भी **'प्रवृति'** कहलाती है। 'प्रवृत्ति',

शब्द बाह्य अर्थ के निवेदन अर्थात् निःशेष वेदन या बतलाने के ज्ञान रूप अर्थ में यहाँ प्रयुक्त है।

प्रवृत्तियों के चतुर्विधत्व (तथा) संख्या के विषय में और भी बतलाते हैं 'यथा' इत्यादि से 'देशाः' तक। देशों के नानात्व को मान कर मुनि ने 'चारप्रवृत्तियाँ' ऐसा कहा है अतएव देश भी चार ही हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए। इसका आशय यह नहीं कि इतनी ही कहीं गयी हैं तथा अन्य का परित्याग कर दिया हो। ये सभी आशंकाएँ हैं। वस्तुतः इनके चार प्रभेद (प्रयोगों में) लक्षणों की समानता के आधार पर रखे गये हैं। प्रयोग अर्थात् नाट्य-प्रयोग। इन चारों की लक्षणगत समानता से साधारण स्वभाव वाले प्रयोगों का व्यवहार होता है। प्रवृत्ति सदा लोक के अनुगुण (अनुकूल) अनुसरण को ही कहा जाता है। क्योंकि लोक का—दक्षिण, पूर्व, पश्चिम तथा उत्तरभूमि इस प्रकार—चतुर्धाविभाग है और यह विभाग बिना किसी कारण के नहीं है।

'तथाहि' इत्यादि से दाक्षिणात्यों में शृङ्गार की प्रचुरता होने से कैशिकी वृत्ति का होना संभव है, पश्चिम में आवन्ती का संग्रह तो है परन्तु कैशिकी भी है, इसके अतिरिक्त धर्म की प्रमुखता होने से सात्वती भी है। प्राच्यों में विशिष्ट वागाडम्वर की प्रमुखता रहने से भारती एवं आरभटी का योग रहता है।

उत्तर में यद्यपि भारती एवं आरभटी का ही प्रमुखतः योग होता है फिर भी कैशिकी के आंशिक सम्वन्ध रहने से जनता शृङ्गारमय प्रयोग की सहिष्णु रुचि रखती है। इस प्रकार विभिन्न चित्तवृत्तियों के सादृश्य को चार प्रभेदों में दिखलाया गया। यद्यपि लोक अनेक प्रकार के वेष, भाषा तथा आचार आदि से युक्त होता है परन्तु नाट्य में चित्तवृत्तियों की चार प्रमुखता के अनुकूल ही ये चार प्रभेद कर लिये गये हैं।

३७–४०. यहाँ भिन्न-भिन्न कुछ देशादि का प्रतिपद पाठ कवि एवं अध्येतृगण को उन उनकी रुचि एवं देश का ज्ञान करवाने के उद्देश्य से दिया गया है।

४१–४२. 'नित्यमेव तु'—देशभेद से होने वाली चित्तवृत्तियों का क्रम अनादि है क्योंकि देशभेद के औचित्य से प्राप्त स्वभावभेद वेषभूषा पर स्पष्ट दिखाई देता है। यह स्वभावभेद ही वेष की प्रक्रिया को देशगत भिन्नता में बदल देता है।

४३-४५. पूर्वदेश की सीमा होने से दक्षिण में उड्र है तथा समुद्र के निकट उत्तर में मागधी है अतः इन देशों के मध्य के प्रदेश में 'उड्रमागधी' है। यहाँ इसीलिये अंग, वंग, एवं कलिंगों में उभयोपजीविता के आशय से उन्हें दो वृत्तियों के मध्य में परिगमन किया गया।

४६. यहाँ 'पुराणे' शब्द के द्वारा यह विषय आगम सिद्ध है. यह भी संकेत दिया गया है।

४७-४९. यहाँ अल्पगीतार्थं कथन से लेशतः कैशिकी की सहमति मुनि ने दिखलायी है।

५०-५२. दक्षिण तथा उत्तर को छोड़ कर परिक्रमण नहीं किया जाता है। इसीलिये निकट की दो वृत्तियों को मिला कर प्रयोग करने का विधान वतलाया गया है। इस प्रयोग के समय दाक्षिणात्य उत्तरद्वार से प्रवेश कर पश्चिम दिशा में परिक्रमण करे और घूम कर उसी दिशा में आत्मनिवेदन करे। जैसा कि पूर्व में कहा भी है—'दक्षिणाभिमुख हो आत्मनिवेदन करें' (ना० शा० १४।१०)। निष्क्रमण में भी उत्तर से पूर्व को तथा फिर दक्षिण तथा पश्चिम की ओर जाते हुए उत्तर दिशा से निष्क्रमण किया जाय। इसी प्रकार सात्वती आदि से विपरीत क्रम पाञ्चाली में रहता है। दक्षिण द्वार से किया जाने वाला प्रवेश भी आभ्यन्तर कक्ष्या में स्थित पात्र के निकट ही होता है। यही प्रक्रिया अपसव्य प्रवेश में भी होती है।

५३. अन्य विशेषताएँ भी वतलाते हैं—'एकीभूता' इत्यादि से। देश, काल एवं स्थितिवश पात्रों की समीक्षा से जो वैचित्र्यकृत प्राधान्य दिखे उसी के अनुसार नियम में सांकर्य भी किया जा सकता है। इसी कारण मूल में 'एकीभूताः' कहा गया। अर्थात् प्रधान का अनुगमन सर्वत्र किया जाए।

५४. इसी प्रकार प्रयोक्ता का परिक्रम दिखला कर अव प्रवृत्तियों का उपयोग वतलाते हैं—'येषु' इत्यादि से। जिन देशों में जो प्रवृत्ति हो उसी के अनुरूप रूपकों में वृत्तियाँ भी रहे। अर्थात् उसी देश के नायक के प्राधान्य द्वारा वे ही रूपक कवि के द्वारा निवन्धनीय एवं अभिनेता के द्वारा प्रयोज्य भी होना चाहिए।

५८-५९. आविद्धाङ्गहारं = आविद्ध अर्थात् उत्कट अंगों का हरण जहाँ हो वह। आहव = संग्राम, जहाँ वीर एक दूसरे को चुनौती देते हों (आह्वयन्ते इति आहवः—व्युत्पत्ति के अनुसार)। मणि, मन्त्र या औषधि के प्रयोग से रूप का परिवर्तन 'माया' (कहलाता) है। सादृश्य के आधार पर हस्तलाघव द्वारा रूपान्तरण 'इन्द्रजाल' होता है। पुस्त = लकड़ी या मिट्टी

आदि से निर्मित आकृति या मूर्तियाँ। आविद्ध = स्त्रियों के कर्म तथा रूपों को दिखलाने वाला होता है जिसे आगे वतलाएँगें।

६०. 'डिमादि' चार रूपक उद्धत माने गये हैं ये भिन्न-भिन्न तो है ही; किन्तु इनका वर्ग वना कर विभाजन कर दिया गया है। इसी प्रकार शेष नाटकादि छः सुकुमार समझना चाहिए। नाट्य के अन्तरंग एवं उपकारक कक्ष्याओं के आधार पर उद्धत तथा सुकुमार नाट्य-प्रयोग होते हैं।

६८. देश का प्रवृत्ति के क्रम से विवरण देकर अव उसी को आङ्गिक अभिनय के अंग रूप में दिखलाने के उद्देश्य से 'धर्मी' का विवरण देना आवश्यक मान कर यहीं मुनि ने 'धर्मी' का भी निरूपण किया। यह धर्मी दो प्रकार का होता है (जिसका ना० शा० षष्ठ अध्याय ६।१० उद्देश्यक्रम में उल्लेख हैं) लोक विषयक एवं नाट्यविषयक होने से द्विविध धर्मी हो जाता है। यह धर्मी नाट्यप्रयोग की भित्ति या आधार होता है।

यद्यपि लौकिक धर्म के अतिरिक्त नाट्य में धर्म नही होता। तथापि वह लौकिक प्रक्रिया में रञ्जनाधिक्य की प्रमुखता के आधार पर प्रयुक्त होने पर प्रयोग-व्यापारगत विचित्रता को लाता है इसी कारण ये लोक नाट्यधर्मी दोनों प्रभेद माने भी जाते हैं।

६९-७०. जो जिसका स्वाभाविक भाव है—स्थायी या संचारी उनसे युक्त। स्त्री तथा पुरुष नाना हैं फिर भी जब (भूमिका) स्त्री प्रयोज्य हो तो उसकी प्रयोजिका स्त्री मानी जाएगी और पुरुषों में पुरुष। इस प्रकार का अभ्यास एवं चेष्टित (काय-व्यापार) जहाँ हो उसे 'लोकधर्मी' कहेंगे क्योंकि उसमें लोक के धर्मों का व्यपदेश है। लोकवार्ता = लोकप्रसिद्धि। इसमें जो क्रिया (या) व्यवहार है उससे युक्त जो नाट्य है वह भी 'लोकधर्मी। धर्म तथा धर्मवान् में अभेदोपचार (भी) होता है। काव्य के एवं नाट्यप्रयोग के भाग का लोकधर्म पर आश्रय लेना या आधारितरूप 'लोकधर्मी' समझना चाहिए जिसमें वैचित्र्य का योग या उद्भावना होती हो।

७१-७२. अव नाट्यधर्मी का क्रमप्राप्त विवरण देते हैं—'अतिवाक्य' इत्यादि से। अतिवाक्य-क्रियोपेतम् = इसमें प्रयुक्त 'क्रिया' शब्द का अर्थ है कि इतिहास की यथावृत्त घटना का अतिक्रमण कर जो कथावस्तु के उपयुक्त इतिवृत्त की कल्पना की गयी है वही यहाँ 'क्रिया' है। सत्व = स्वभाव, भाव = चित्तवृत्ति। इनका अतिक्रमण करके जो कवि-कल्पित चित्तवृत्तियाँ। जैसे स्वभाव का अतिक्रमण कर महारानी द्वारा संस्कृत में भाषण करना। यह

अभिनेय में नाट्यधर्मी हो गया है। लीलाप्रधान एवं मनोहर अंगहारों की प्रमुखता वाले अभिनय से युक्त नाट्य की लक्षणानुसारिता भी नाट्यधर्मी है। जहाँ पुरुष अपने (सहज) रूप में न रह कर स्त्रीभाव का आश्रय ले ले तो भी नाट्यधर्मी हो जाता है। यहाँ 'भवेत्' क्रिया के द्वारा ग्रन्थकार ने संभावना में लिङ् का प्रयोग किया है जो समयनिष्ठता को दर्शाता है। यह सम्भावना रञ्जन के तथा कथावस्तु के लिये भी उपयोगी रहना चाहिए।

७४. आसन्नवचन के अश्रवण तथा दूसरों के अश्रूयमाण का श्रवण आदि केवल यहाँ धर्मतः सम्भव है तथा सौन्दर्याधायक भी होते हैं। अनुक्त को आकाशभाषित के रूप में केवल अभिनेता मात्र श्रवण करता है।

७५. नाट्यधर्मी की इसी वहुलता तथा व्यापक क्षेत्र को अनेक उदाहरणों तथा विवरणों से दिखलाने के लिये यह विस्तार दिया गया है। शैल आदि पदार्थों का आवश्यकतानुसार अभिनेता जो प्रयोग करते हैं यह प्रयोग भी 'नाट्यधर्मी' होता है।

७८. 'नृत्यतेऽवगम्यते' में नृत्त सदृश 'विशाखागति' का प्रयोग सूचित किया गया है। यहाँ ललित अर्थात् आवेष्टितादि करण से गृहीत वर्तना तथा उत्क्षिप्त पद से चतुस्तालादि के द्वारा काल-विभाग भी सूचित होता हैं।

८१. नाट्यधर्मी के व्यापकत्व को दिखला कर उपसंहार में कहते हैं— 'नाट्यधर्मी' इत्यादि। नाट्यधर्मी में जो गति है उसमें हेतु है अंग अर्थात् गीत, आतोद्य आदि तथा अभिनय। यहाँ अङ्गाभिनय पद में समाहार द्वन्द्व के कारण एकवचन का प्रयोग हुआ है। राग = सामाजिक की प्रीति।

८२-८३. अध्यायार्थ का उपसंहार करते हैं—'एवम्' इत्यादि से। यहाँ दो धर्मियों के रहने से यद्यपि द्विवचन होना चाहिये फिर भी 'धर्मी' पद में एकवचन के प्रयोग के द्वारा अभिनय में नाट्यधर्मी की प्रमुखता को दिखलाया गया है, क्योंकि लोकधर्मी इसी में समाविष्ट (हो सकता) है। युक्तयः = प्रवृत्तियाँ। अवशिष्ट अभिनय को सात्विक भावों के अभिनय तथा सामान्या-भिनय के प्रसंग में आगे कहा जायगा। (ना० शा० भाग ३, :अध्याय २४ में) अव जो 'वाक्य' वचा तथा जो तत्वतः धर्मी भी है उसके स्वरूप का अगले अध्याय में निरूपण किया जायगा इस कथन से यहाँ आङ्गिक अभिनय का उपसंहार करते हुए अध्याय समाप्ति को (भी) किया गया है।

———

पञ्चदश अध्याय

(वाचिकाभिनय)

१. आङ्गिक अभिनय के अनन्तर वाचिक का विशेष निरूपण आवश्यक है क्योंकि आङ्गिक के विषय को प्रस्तुत करने या समर्पण में आधारभूत यही वाचिक अभिनय होता है। वागभिनय—यहाँ 'वाचामभिनयः' से षष्ठी तत्पुरुष समास है ही नहीं किन्तु 'वागेवाभिनयः' विग्रह से कर्मधारय समास ही है। क्योंकि वाणी ही अभिनय है अर्थात् रंगस्थल पर अभिनेता जो संवादादि बोलता है वही अभिनय। षष्ठ अध्याय में जिसका नाम मात्र उल्लेख हुआ था अब यहाँ उसी का स्वरूप विशेषतः प्रस्तुत करना है। अतः यहाँ लक्षणत्वेन अभिधान के कारण इसी का प्राधान्य समझना चाहिए।

२. वाचिक के लक्षण में कारण बतलाने के लिये कहते हैं—'वाचि' इत्यादि से। क्योंकि वाणी नाट्यप्रयोग के अभिनय की तनु=आधारभूमि है। सकल प्रयोगों की आधार, गाने बजाने के लिये अनुग्राहक तथा स्वयं अभिनय स्वरूपा वाणी ही होती है। इसलिये जब वाणी से अभिनय होता है, तब ये अङ्गादि भी (वाक् सहित होकर) अपने-अपने अर्थ को व्यक्त करते हैं।

३. वाणी उपयोगिनी होकर विश्व की कारण है इसे 'वाङ्मयानि' इत्यादि से भी कहते हैं। यह वाणी 'चतुर्थगोपाय' अर्थात् चौथे भाग में (पुरुषार्थ) के रहने वाले मोक्ष की उपायभूता होती है। इस तथ्य का भी संकेतित मिलता है। वाङ्निष्ठानि—अर्थात् फलरूपा वाणी में जिसकी निष्ठा अवस्थान है। इस प्रकार वाणी ही संसार की अवभासिका है तथा सभी की कारण है और वही निर्वाहिका (भी) है। 'वाणी ही सम्पूर्ण भूत हैं' (वाग् वै विश्वा भुवनानि) इस श्रुति के अनुसार वाणी ही समग्र जगत् का कारण है क्योंकि विश्व शब्द का विवर्त है तथा यह वाणी ही अर्थ के रूप में विवर्तित होती है। इसी तथ्य को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में विस्तार से दिया है। (इसके उद्धरणात्मक अंश १।१२१, १२४ तथा १२६ को पाद टिप्पणी में देखना चाहिये। द्र० ना० शा०, भाग २ पृष्ठ २०१)। यह सर्वाकार है इसी कारण इतिवृत्त को नाट्य का शरीर भी आगे कहा जायगा (द्र० ना० शा० अध्याय २१।१) क्योंकि इतिवृत्त भी वाङ्मय (रूप वाला) होता है।

४. इस वाचिक के अंग (विभिन्न) शास्त्रों में प्रसिद्ध नामाख्यातादि हैं जिनका अगली कारिका से शिक्षार्थ विवरण आरम्भ करते हैं—'नामाख्यातादि'। यह शास्त्र योग अर्थों के द्वारा तथा शब्दरूपसौन्दर्य से होता है, जिसके विभाग युक्त (अंग) हैं ये ही नामादि। **नाम**—जैसे 'मदनरिपु' शब्द यह संज्ञावाचक है किन्तु श्रृंगार के प्रसंग में इसका प्रयोग वर्ज्य है। क्योंकि जो मदन का रिपु हो श्रृङ्गारी कैसे होगा। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से यहाँ अनौचित्य है। नाम की तरह आख्यात–(क्रिया) का भी वैचित्र्याधान की स्थिति में ही प्रयोग इष्ट है। यथा कुमारसम्भव में—'स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम्' (कु० ४।८)।

यहाँ 'स्मरसि' पद वैचित्र्य का आधायक है। उपसर्ग भी प्रकृत अर्थ से योग रखे तो प्रयोज्य होता है अन्यथा होने पर नहीं। यथा—'अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे' (मेघदूत २०।४२) यहाँ 'उपचितैः' में 'उप' उपसर्ग के कारण अर्थाधिक्य द्योतित होता है। इसी प्रकार उपसर्ग पद से ही कर्मप्रवचनीय का भी उपलक्षण समझना चाहिए। निपात का उदाहरण—'ह हा हा देवि धीरा भव' इत्यादि पद्य जहाँ 'ह हा' हा' से तीव्र खेद की अभिव्यक्ति को साधा गया है। तद्धित का उदाहरण हैं रघुवंश का पद्य 'शात्रवञ्च पपुर्यशः' (४।४२) यहाँ अण् प्रत्यय से ग्रासी कृत या गुणीकृत यश को ग्रहण करना व्यक्त किया गया है। समास का उदाहरण है—'मध्ये गङ्गायमुनम् अनु' यहाँ समास के कारण एकार्थीभावगत वैशिष्ट दिखलाया गया है। सन्धि का उदाहरश है—'भवतोया' यहाँ भवतो+या सन्धि है जिसकी एकपद सी प्रतीति होती है। विभक्ति सुप् तथा तिङ् हैं जिनसे कारक शक्ति और लिङ्ग आदि का उपग्रह उपलक्षित होता है। यथा—'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः' (विद्ध० भ० २।२१) इसमें शरीर को मज्जनक्रिया का कर्त्ता वतलाया है तथा उस कर्तृत्व के अधीन शरीर पाण्डुत्व का आधार हो गया है यह द्योतन अतीव रंजनकारी है। क्रिया का उदाहरण है—'ग्रस्तं कुलात्तं जगत्' यहाँ ग्रस्तं पद का उपन्यास है न कि भुक्तं का। यद्यपि ग्रसति पद से भक्षण मात्र परिभाषित किया है तथापि यह ग्रास्तातिशय है कुलान्त के विषय में। इस प्रकार कविता के वाचक शब्द को—जो काव्यरूप होते हैं—विभक्त करके यहाँ इस प्रकार दिखलाया गया है।

२७. छन्द नियत अक्षरों वाला होता है जिसमें अक्षरों (या मात्राओं) का नियम रहता है (अर्थात् गुरु, लघु आदि का नियम होता हैं) इसके

विपरीत चूर्णपद होता है जहाँ अक्षर एवं संख्या का नियम नहीं हो। अर्थ की अर्थात् शृंगार या वीरादि उनकी अपेक्षा से जहाँ अक्षर निवद्ध हों, यह पाठ्य होता है, अतः गद्य कहलाता है।

३८. यति = विराम तथा छेद = यति के द्वारा किये गये पद विभाग इनसे युक्त। प्रमाणनियतात्मकम्—पाद की संख्या के प्रमाण के अनुसार जिसका स्वरूप नियत = निवद्ध है ऐसा पद 'निवद्धपद' कहलाता है।

३९. छन्द का लक्षण आरम्भ करने के लिये उसके स्वरूप को वतलाते हैं—'एवम्' इत्यादि से। वर्ण गुरुत्व से एवं लघुत्व से युक्त विशिष्ट वर्णरूप जो चार पादों से युक्त हो—पद्य है। यह पद्य पादों से निर्मित होता है। गद्य तथा पद्य दोनों ही निगदनीय अर्थात् उच्चारणीय होते हैं तथापि गद्य ही इस नाम से व्यवहार में प्रचलित है।

४३–४९. एक अक्षर से आरम्भ कर २६ अक्षरों तक के पाद वाले उक्ता से उत्कृति तक 'छन्द होते हैं। जिनके चारों पाद तुल्य लक्षण वाले हो वे 'सम' कहलाते हैं तथा जो प्रथम एवं तृतीय या द्वितीय एवं चतुर्थ पादो में सम हों वे 'अर्धसम' तथा चारों पादों में अतुल्य लक्षण वाले पाद हों तो उन्हे 'विषम' छन्द कहते हैं।

५०. ये छन्द हैं तथा इनके ये आगे भेद हैं। प्रश्न-इनके ये भेद कैसे हो जाते हैं? उत्तर-प्रस्तार में जो योग-युक्ति है उससे भेद वनते हैं जिसे आगे वतलाया जाएगा।

५१. यद्यपि एकाक्षर से आरम्भ होने वाले पादों के छन्द होते हैं किन्तु भरतमुनि ने उन्हें छोड़ कर छः अक्षरों वाले पाद छन्दः से ही विवरण आरम्भ किया है तथा प्रस्तरभेद भी दिये हैं। इसका कारण है काव्यों में तथा शास्त्र ग्रन्थों में इन्हीं छन्दों की प्रयोग बहुलता तथा प्रयोग योग्यता रहना। दूसरा कारण है इनके लक्ष्य में प्रयोग या उदाहरण की विरलता, फिर भी शास्त्रज्ञान की पूर्णता के लिये निरूपयेगी भी इन प्रकारों का उध्ययन वेद की तरह किया जाना उचित है।

५२. 'वृत्तानि' इत्यादि के द्वारा भरत मुनि संख्या आदि को स्वकण्ठ से पढ़ते है।

● नाट्यशास्त्र में पद्य १०१ के पश्चात् प्राप्त अधिक एवं प्रक्षिप्त पद्यों को मूल तथा हिन्दी व्याख्या सहित यहाँ दिया जा रहा है। सौकर्य के लिये इनमें क्रम संख्या लगाई गयी है जो अन्य संस्करणों में भी (मिलती) हैं।

[1]एतेषां छन्दसां भूयः प्रसारविधिसंश्रयम्।
लक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि [2]नष्टमुद्दिष्टमेव च ॥ [१]
प्रस्तारोऽक्षरनिर्दिष्टो मात्रोक्तश्च [3]तथैवहि।
द्विकौ ग्लाविति वर्णोक्तौ मिश्रौ चेत्यपि [4]मात्रिकौ ॥ [२]
[5]गुरोरधस्तायाद्यस्य प्रस्तारे लघु विन्यसेत्।
अग्रतस्तु सम्पदेया गुरुवः पृष्ठतस्तथा ॥ [३]

अब मैं इन्हीं छन्दों की प्रस्तारविधि का अनुसरण कर नष्ट और उद्दिष्ट के लक्षणों को बतलाता हूँ। [१]

प्रस्तार दो प्रकार का (से) होता है (एक) अक्षरों के निर्देश से होने वाला (वार्णिक प्रस्तार) तथा (दो) मात्राओं से उक्त (या मात्रिक प्रस्तार)। इसका उदाहरण है-वर्णों की संख्या आदि के नियम से जो द्वित्व संख्या के परिमाण वाले (द्विकौ) गुरु तथा लघु (ग्लौ) हैं वे मात्रिक हैं

प्रथमं गुरुभिर्वर्णैर्लघुभिरस्त्ववसानजम्।
वृत्तन्तु सर्वच्छन्दस्सु[6] प्रस्तारविधिरेव तु ॥ [४]
गुर्वधस्ताल्लघु न्यस्य तथा द्विद्विः यथोदितम्।
न्यस्येत् प्रस्तारमार्गोऽयमक्षरोक्तस्तु नित्यशः ॥ [५]
मात्रासंख्या विनिर्दिष्टो गणो मात्राविकल्पितः।
मिश्रौ ग्लाविति विज्ञेयौ पृथक् लक्ष्यविभागतः[7] ॥ [६]
[8]मात्रागणो गुरुश्चैव [9]लघुनी चैव लक्षिते[10]।
आर्याणां तु[11] चतुर्मात्रा प्रस्तारः परिकल्पितः ॥ [७]

(अर्थात् मात्राओं की गणना में उपयुक्त हैं।) ये ही एक दूसरे को मिला कर अधिकृत हो तो मिश्र हो जाते हैं। [२]

प्रस्तार के उपाय की स्थिति इस प्रकार है कि प्रस्तार के समय आद्य गुरु के नीचे लघु का विन्यास करे फिर उसके आगे गुरु रखे इसके नीचे लघु रख कर आगे और पीछे गुरु रखे। इन अक्षरों तथा मात्राओं के प्रस्तार में प्रथम

---

१. एवं तु—क०। २. नष्टोद्दिष्टं तथैव च—क०। ३. समानोक्तं तथैव च—क., समात्रोक्तस्तथैव च—क (ड)। ४. मातृका—क०। ५. इमौ श्लोकौ न दृश्येते—क० पुस्तके।

६. छन्दस्य—क०। ७. विभागशः—क०। ८. मात्रे द्वे गुरु विज्ञेयं लघ्वेका तु प्रकीर्तिता—क (भ०)। ९. लघुनीति च—क० (प.)। १०. विलक्षितैः—क० (प०) ११. स चतुमत्रि प्रस्तारे गण इष्यते—क०।

भेद सर्व गुरु का और अवसानज अर्थात् अन्तिम भेद सर्वलघु का हो जाता है। यही सभी छन्दों की अक्षरों से होने वाली प्रस्तार-विधि है आशय यही कि प्रथम भेद सर्व गुरु का होगा तथा गुरु एवं लघु के विन्यास का क्रम तब तक आगे करता चले जब तक सर्व लघु का पाद न बन जाए। [३—५]

मात्रिक छन्दों में मात्राओं की संख्या के अनुसार गण का निर्देश रहता है। अतः इसमें मात्राओं की कल्पना करके अलग-अलग लक्ष्यों के विभागों से 'द्विकौ ग्लौ एवं मिश्रौ ग्लौ' सूत्र का उपयोग करे। क्योंकि मात्रा गण एक गुरु या दो मात्रा और दो लघु या दो मात्राओं से लक्षित होता है। आर्याओं में प्रस्तार चार मात्रा का होता है। [६—७]

[1]गीतकप्रभृतीनान्तु पञ्चमात्रो[2] गणः स्मृतः।
वैतालीयं पुरस्कृत्य षण्मात्राद्यास्तथैव च॥ [८]
[3]त्र्यक्षरास्तु त्रिका ज्ञेया लघुगुर्वक्षरान्विताः[4]।
मात्रागणविभागस्तु गुरुलघ्वक्षराश्रयः॥ [९]
[5]अन्त्याद् द्विगुणिताद् रूपाद् [6]द्विर्द्विरेकं गुरोर्हरेत्[7]।
द्विगुणाश्च लघोः कृत्वा संख्यां पिण्डेन [8]योजयेत्॥ [१०]
आद्यं सर्वगुरु ज्ञेयं वृत्तन्तु समसंज्ञितम्[9]।
[10]कोशे तु सर्वलघ्वन्त्यं मिश्ररूपाणि सर्वतः॥ [११]
वृत्तानां तु समानानां संख्यां संयोज्य तावतीम्।
राश्यूनामर्धविषमां समासादभिनिर्दिशेत्[11]॥ [१२]

गीति आदि में प्रस्तार पांच मात्राओं का होता है और वैतालीय आदि छन्द में छः मात्राओं का होता है। लघु एवं गुरु अक्षरों से युक्त तीन-तीन अक्षरों के वर्ग को 'त्रिक्' समझना चाहिये। [यह त्रिकादि व्यवस्था छब्बीस अक्षरों तक के पाद वाले वर्णिक छन्दों में रखी जाती है] इसी प्रकार गुरु एवं लघु अक्षरों के आधार पर मात्रिक छन्दों का (भी) गणविभाग होता है। [८—९]

---

१. गीतिका—क (भ०)। २. पञ्चमात्रस्तथेष्यते—क०। ३. त्र्यक्षरस्तु-क (न०)। ४. राश्रयाः—क (न०),। ५. आद्यात्—क (भ०)। ६. ऊर्ध्वं—क (उ),। ७. भवेत्—क० (ड),। ८. निर्दिशेत्—क०। ९. संश्रितम्—क (ङ),। १०. कोशं—क०। ११. समासादपि निर्दिशेत्—क (भ०), समासादिति निर्दिशेत्—क (ड)।

संख्या को द्विगुणित करे तथा द्विगुणित करने के पश्चात् उस संख्या के अन्तिम द्विगुणित रूप वाले गुरु से एक निकाल दे। इसके पश्चात् लघुस्थ द्विगुणित संख्या को पिण्ड रूप में (महायोग के रूप में) एकत्र कर जोड़ दें। [यही उद्दिष्ट क्रिया है।] [१०]

सम संख्या के सम संज्ञक वृत्त को आदि पाद को सर्व गुरु से युक्त और अन्तिम को सर्व लघु वाला समझना चाहिए। कोश अर्थात् मध्यवर्ती सभी पादों में मिश्र रूप रहता है अर्थात् सर्वादि और सर्वान्त पादों के मध्यवर्ती पादों में गुरु लघु मिश्रित रूप में होते हैं। [११]

समान (संख्या वाले) वृत्तों की समास अर्थात् जोड़ी गयी संख्या को उतने प्रकार से जोड़ लें। इसी तरह समान जोड़ी हुई संख्याओं में अर्धविषम संख्या वाले छन्दों में एक राशि को घटा कर बतलावे। [१२]

एकादिकां तथा संख्यां छन्दसो विनिवेश्य तु[1]।
यावत् पूर्णन्तु पूर्णेन पूरयेदुत्तरं[2] गणम् ॥ [१३]
[3]समानां विषमाणां च संगुणय्य तथा स्फुटम्[4]।
राश्यूनामभिजानीयाद्विषमाणां[5] समासतः ॥ [१४]
एवं [6]कृत्वा तु सर्वेषां परेषां पूर्वपूरणम्[7]।
[8]क्रमान्नैधनमेकैकं [9]प्रतिलोमं विसर्जयेत् ॥ [१५]
सर्वेषां छन्दसामेवं[10] लध्वक्षरविनिश्चयम्।
जानीत समवृत्तानां [11]संख्यां सङ्क्षेपतस्तथा ॥ [१६]

संख्या के ज्ञान के उपाय को दिखलाते हुए कहते हैं कि—छन्द की एकादिक संख्या का क्रमशः निवेश कर के जब तक पूरा नहीं हो तब तक पूर्व पूर्व गण से उत्तरवर्ती (उत्तर) गण को पूर्ण करे। [१३]

इस प्रकार सम एवं विषम मात्राओं की संख्या को स्पष्ट रूप से गुणन कर समास अर्थात् जोड़ लगाने के पश्चात् विषम वृत्तों की राशि को घटा दे

---

१. च—क०। २. तावतोऽन्तरं—क (च०)। ३. समार्ध—क. (न०); ताश्चार्धविषमाणां तु—क (भ०)। ४. संख्यां कृत्वा तु तावतीम्-क (न०); संख्यां संयोज्य तावतीम्—क (ढ०)। ५. मभिजानीत—क (न०), मभिजानीते—क (ढ़)। ६. कुर्यात् तु सर्वेषां—क (ड),। ७. पूर्वं पूर्वस्य पूरणम्—क (ड),। ८. नैधनादेक्रमेकं तु—क०। ९. प्रतिलोम्यक्रियात्मकम्—क०। १०. छन्दसां न्यस्य—क०। ११. व्याससङ्क्षेपतस्तथा—क (भ०); संख्या चाङ्गं समासतः—क०।

तो भेद संख्या प्राप्त हो जाती है। [इसे (छन्द के भेद में) कितने भेद है इसे जानने की विधि या 'एक द्वयादि लगक्रिया' कहते हैं]। [१४]

इस प्रकार सभी स्थानों पर उत्तरवर्ती संख्या को पूर्ववर्ती संख्या से पूरण कर क्रमशः अन्तिम संख्या में एक-एक को विपरीत प्रक्रिया के द्वारा विसर्जित कर हटा दें। [१५]

इस प्रकार समवृत्त नामक सभी छन्दों के लघु अक्षरों को तथा उनकी भेद संख्या को संक्षेप में ठीक से समझा जा सकता है [१६]

[1]वृत्तस्य परिमाणन्तु छित्वाऽर्धेन यथाक्रमम् ।
न्यसेल्लघु तथा सैकमक्षरङ्गुरु चात्यथ[2] ॥ [१७]
एवं विन्यस्य वृत्तानां नष्टोद्दिष्टविभागतः ।
[3]गुरुलघ्वक्षराणीह सर्वच्छन्दसु दर्शयेत् ॥ [१८]

नष्ट को दिखलाते हैं—वृत्त के परिमाण अर्थात् सम्पूर्ण भेदों को आधा कर क्रमशः एक लघु तथा एक गुरु को रखे। इस तरह-विन्यास कर नष्ट एवं उद्दिष्ट प्रक्रिया के द्वारा सभी छन्दों में गुरु एवं लघु अक्षरों को दिखला दें। [१७–१८]



१. वृत्तार्धं—क०; वृत्ताक्षरनिर्माणं—क. (द०); वृत्ताङ्ग—क (ङ)।
२. छित्वार्धेन गुरुं न्यसेत्—क (ङ)।
३. लघ्वादीनि गुरूण्यस्मिन्नक्षराणि नियोजयेत्—क०; गुरुलघ्वक्षरानिह सर्वं छन्दसु दर्शयेत्—क (ङ०)।

षोडश अध्याय

(वृत्तविधान)

१. जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया है कि—'अक्षराणि निवेशयेत्' इत्यादि। उसी अक्षर-निवेश को श्रव्यता के लिये रसायन बनाने के उद्देश्य से छन्दों के विभाग को दिखलाने का उपक्रम करते हैं—'छन्दाँस्येवम्' इत्यादि के द्वारा। इन छन्दों से (जिन्हें पूर्व अध्याय में दिखलाया था) बने हुए वृत्तों का—जिनका नाट्य में प्रयोग अभीष्ट है—लक्षण बतलाता हूँ। ये वृत्त कौन है? जिनमें गुरु तथा लघु के नियम के कारण श्रव्यता का आधान हों ऐसे वृत्तों को। 'वृत्त' पद में अधिकरण में 'क्त' प्रत्यय हुआ है। [अतः जो सुनने या सुनाने के योग्य हों वे 'वृत्त' होते हैं]

२. अब छः अक्षरों वाले छन्द से आरम्भ कर २६ अक्षरों वाले उत्कृति पर्यन्त छन्दों का (जो प्रयोग योग्य हों। इस तथ्य को पिछले अध्याय में दिखलाया जा चुका है अतः अब उसी) का उपक्रम करते हैं। 'गायत्र' = गायत्र्या एव गायत्रम्। यहाँ 'तेन निर्वृत्तम्' से अण् प्रत्यय किया गया है। अतः गायत्री से जो सम्पन्न है वह गायत्र है। इस अध्याय में भरतमुनि ने त्रिक (या तीन गुरु लघु) के अनुसारी कुछ छन्दों के लक्षण कहे हैं तथा अन्य आचार्यों ने गण के आधार पर लक्षण कहे थे। अतः यहाँ दोनों ही प्रकार का पाठ विचारार्थ के लिया गया है। (जब कि अर्थ उनका एक ही है)। [यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पिङ्गलाचार्य के पूर्व छन्दो लक्षण गुरु, लघु की गणना के निर्देश पर प्रचलित था, गणों के आधार पर नहीं। इस प्रकार यहाँ दोनों ही रूप में प्राप्त लक्षण हमारे द्वारा भी पाठान्तर आदि के साथ संगृहीत कर लिये गये हैं]

१५. सिंहलेखं वृत्तम् = सिंह के नखों से कुरेदने के समान घट रही है या सिंहलेख वृत्त (छन्द) सी हो गयी है।

२६. मयूरसारणी—मयूरीभिः सारी गतिविशेषो यस्यास्तादृशी। यद्वा मयूरवद् सारो व्याकोचमस्याः॥

अर्थात् मयूरी के सदृश गति या मयूर के समान विकसित या फैला हुआ स्वरूप जिसका रहे ऐसा छन्द।

२८. दोधकवृत्तम्—दोधकेन मन्दं मन्दं गीयमानं वृत्तम् दोधकवृत्तम्। अर्थात् दूध दुहने की तरह मन्द मन्द जो गाया जाए ऐसा छन्द।

३४. उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्र का वज्र जिसमें उपमान हो वह। यहाँ मत्वर्थीय अच् प्रत्यय कर उपेन्द्रवज्रम् पद बना। उपेन्द्रवज्रम् में उपमित समास है। (नायिका के स्मित एवं कान्ति से) इन्द्रधनुष सदृश वर्णों का वैचित्र्य (सम्मिश्रण भी) जहाँ हो ऐसी। इन्द्र धनुष में (भी) वर्णों का वैचित्र्य है तथा नायिका में (स्वयं के) वर्ण की विचित्रता है ही।

४३. तोटकवृत्तम् = तोटक = छेदक का वृत्त चेष्टित तथा तोटक नामक वृत्त (छन्द)।

७४. नान्दीमुखी—नान्दी पाठ के समय बजाए जाने वाले दन्दुभि वाद्य की तरह जिसका (विस्तीर्ण या बकवासी) मुख हो ऐसी॥

१२०. यहाँ 'नानावृत्त-समुद्भवाः' कहने का उद्देश्य (आशय) यह है कि समवृत्त छन्द के पद्यों के लक्षण की पृथक् पाद में पृथक् कर समता या विषमता का विद्वान् स्वयं 'ऊह' या तर्कना करें।

१२१. दो सम = प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ ये दो पाद सम रहें। प्रथम द्वितीय तथा तृतीय चतुर्थ ये दोनों पाद विषम रहे। यहाँ द्वौ पद वीप्सागर्भ है अर्थात् दो दो बार कहना इष्ट है।

१२३. सिद्धम् = अर्थात् लक्षित या जिसका लक्षण किया गया है। सार्वपादिकम् = सम्पूर्ण पाद में यह लक्षण रहना चाहिए। छेद = पादों का विभाग या यति।

१३७. सगुर्वन्तः = गुरु जिसके अन्त में रहे ऐसा गण अर्थात् सगण तथा सर्वलघु अर्थात् नगण या त्रिक के अन्त स्थित गुरु वर्ण। प्रथम अक्षर के पश्चाद्वर्ती चतुर्थ अक्षर से आगे वाला या पूर्व में लघु यकार भी इष्ट नहीं होता अर्थात् इनका प्रयोग नहीं रहना चाहिए।

१५४. हतशोभानि = काव्यों में प्रयुक्त नहीं होते, व्यर्थ या शोभाहीन होने के कारण। अर्थात् पाठ्य काव्यों में गीत का प्रयोग नहीं होता।

१५५. गीतों में पठ्यमानता का अभाव होता है तथा वृत्तों में श्रव्यता की अपेक्षा नहीं होती। गीत में केवल लय एवं तालों की योजना के लिये अर्थ-साम्य का विधान होता है, अतएव गीतों में मात्रा एवं वर्णों के नियम का आश्रय या अनुसरण किया जाता है। अतः गीतों में ही ऐसे वृत्तों की योजना की जाए तो पाठ्य के उपयुक्त 'वृत्त' न हों।

१७७. मात्रावृत्तों की संख्या ज्ञान के लिये बतलाते हैं—'सर्वेषमित्यादि से। विकल्प के द्वारा पूर्व में जो संख्याभेद किया था उसका उत्तरवर्ती संख्या के साथ गुणन करने पर जो पिण्डीभूत संख्या हो उसे दिखलाये। इनमें समसंख्या के पांच और विषम के चार भेद होते हैं। षष्ठ के दो तथा द्वितीयार्ध में एक भेद, अष्टम में भी एक ही भेद होगा। इस प्रकार यहाँ पूर्व अङ्क से उत्तर अङ्क का गुणन करे तथा उससे अन्य अंक का तो इस प्रकार सोलह भेद हो जाते हैं। जैसे चार का पांच से गुणन करने पर २० तथा वीस को चार से गुणन करने पर (२०×४=८०) अस्सी होते हैं। फिर अस्सी में चार का गुणा करने पर (८०×४=३२०) तीन सौ वीस हो जाते हैं इसी प्रकार आगे भी ये वढ़कर ३२ लाख ८ हजार २० कुल हो जाते है इसका संकलन निम्न श्लोक में इस प्रकार हैः—

"आर्या शतसहस्राणि ज्ञेया ह्येकान्नविंशतिः।"
अष्टौ सहस्राणि तथा विंशतिश्च प्रमाणतः॥

१७९. 'काव्यवन्धाः' इत्यादि के द्वारा वृत्तों का उपसंहार करते हुए अग्रिम अध्याय गत लक्षण, गुण आदि का संकेत किया गया है। यहाँ काव्य को एक निर्माण वस्तु दिखाला कर यह दिखलाया गया है कि यदि प्रासाद का निर्माण करना हो तो प्रथम उसमें भूमि की अपेक्षा होगी इसी प्रकार काव्य के निर्माण में आधारभूत छन्दों की (भूमि की तरह) विधि होती है। यह काव्य में आधार होने से भित्ति स्थानीय माना जाता है, तव इस भित्ति पर लक्षणादि की योजना एवं गुणादि का निवेश चित्र कर्म तथा पच्चीकारी के समान होता है। इसके वाद इस काव्य प्रासाद में झरोंखों के समान दशरूपक का विभाग, प्रयोग के निरूपण के तुल्य काकु, स्वर आदि वाचिक का स्वरूप कहा जा रहा है। इस वाचिक अभिनय के क्रम में वृत्तों का विधान यहाँ दिखलाया गया। यद्यपि रूपक निर्माण की वेला में परिपक्व प्रज्ञा के सहृदय को क्रम प्रतिभास नहीं होता फिर भी अपोद्धार वृद्धि से उसकी कल्पना की जाती है। प्रवन्धनिर्माण के समय युक्त या उचित अभ्यास की सम्पत्ति अर्थात् अभिनय के लिये आधार तैयार करना। इसी को 'क्रम' कहा गया है। इस क्रम का उल्लंघन कर नाटकादि का निर्माण करने पर वड़ी हानि या प्रमाद या स्वाच्छन्द्य हो जाता है—क्योंकि सभी रूपक रचयिता जन कालिदास की तरह नहीं होते। इसके अतिरिक्त इनका प्रतिभा के अंगभूत ज्ञानातिशय को भी पूर्वजन्म में किये गये

अभ्यास से उत्पन्न संस्कार पाटव से ही उत्पन्न समझना चाहिए। आचार्य ने कहा भी है कि—

महाकवीनां पदवीमुपात्तामारुरुक्षताम्।
नासंस्मृत्य पदस्पर्शान्सम्पत्सोपानपद्धतिः॥

"काव्य निर्माण से उपात्त महाकवियों की पदवी पर आरोहण करने की भावना रखने वाले व्यक्ति जब तक पदों का स्पर्श नहीं करेंगें तब तक 'सोपानपद्धति' पर आरोहण का क्रम सम्भव कैसे होगा या सम्पन्न नहीं होगा।'

सप्तदश अध्याय

(काव्यलक्षणादि)

१–५. पूर्व अध्याय में छत्तीस लक्षणों से युक्त 'काव्य रचना' की बात (अध्याय समाप्ति के साथ) कही गयी थी। यहाँ यह प्रश्न है कि गुण, अलंकार तथा रीति का काव्य में आधान प्रसिद्ध है, किन्तु काव्य में 'लक्षण' भी होते हैं यह (अति) प्रसिद्ध नहीं। व्यवहारों से तो 'पुरुष' को लक्षण, गुण एवं अलंकारों से सम्पन्न होना उपयुक्त माना गया है परन्तु पुरुष की तरह काव्य में लक्षणादि का व्यवहार समुचित नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष शरीरधारी होता है, अतः शुभाशुभ लक्षण शरीर में होते हैं तथा अलंकारों से उसकी शोभा बढ़ती है। किन्तु काव्य के निर्माण या अनुभूति के समय लक्षण की गणना नहीं की जाती। दण्डी ने भी (इसी कारण) काव्य की शोभा संवर्धक धर्मों को 'अलङ्कार' कहा है तथा गुणों के मध्य प्रसाद आदि को बतलाते हुए यह सूचित किया कि गुण एवं अलङ्कारों का विभाग करना कठिन ही है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि गुण चिन्मय आत्मरूप होकर श्रृङ्गारादि रसों में अवस्थित होने के कारण श्रृङ्गार में उन्हें लक्षित करना पड़ता है। जो पद काव्य के शब्द एवं अर्थ गत शरीर में पृथक् सिद्ध हो वही लक्षण है। प्रकृत में अलंकारों से युक्त काव्य भी लक्षणों के बिना शोभित नहीं होता। इस प्रकार यह स्पस्ष्ट है कि गुण, अलंकार तथा लक्षण में भेद निश्चित है। इस भेद का प्रतिपादन विश्लेपणात्मक पद्धति से न्यस्त प्रक्रिया के द्वारा किया है जिससे कवि प्रतिभा में भासमान वस्तु भाषा में प्रकट की जाती है तथा उसका काव्य के पाठक या सहृदय दर्शक को बोध होता है। परन्तु लक्षण एवं अलंकारों में भेद के प्रतिपादन का उद्देश्य काव्यरचना एवं काव्यगत रस के आस्वादन को सर्वगम्य या सरल बनाना है।

लक्षण वह अर्थ है जो कविव्यापार की प्रकटीकरण प्रक्रिया से ऐसे विलक्षण आनन्दप्रद रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है कि वही अर्थ अपने सामान्य रूप से भिन्न ज्ञात होकर (अपने) विलक्षणरूप में रस का विधायक अंश बन रसानुभव को उत्पन्न करने में सहायक होता है। लक्षण ही रसात्मक काव्य को अरसात्मक काव्य से पृथक् या भिन्न बनाता है।

इसे इस प्रकार समझें कि—गुण तथा अलंकार दोनों ही शब्दार्थ से सम्बद्ध होते हैं परन्तु लक्षण पूर्णतः कवि व्यापार से संलग्न होता है, क्योंकि कवि के प्रयत्न से (ही) काव्य में शब्दार्थगत वैचित्र्य का आधान होता है। यह जिस प्रयत्न से होता है वह समग्र प्रयत्न 'लक्षण' ही है। इसी के कारण काव्य कविकर्म कहा जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे एक उदाहरण देकर समझाया कि 'पुष्टता' शरीर का गुण है परन्तु जब यही सुन्दरी के स्तनों में रहे तो वह स्तन का लक्षण बन जाता है और वही कटि में रहे तो सुन्दरी का कुलक्षण बन जाता है। इसी तरह एक प्रकार से कही जाने वाली वस्तु उसी क्रम में रसोचित विभाव के रूप में प्रकट हुई तो वह 'लक्षण' है। इसी कारण गुण एवं अलंकार ऐसे लक्षण से स्वतः भिन्न हो जाते हैं।

इसी प्रकार कवि व्यापार के बल से लौकिक वस्तु का भी काव्य में अलौकिक स्वभाव में प्रकट होना 'लक्षण' कहलाता है। इसीलिये लक्षणों के आश्रयण के बिना काव्य में अलङ्कारों को स्थान नहीं मिल सकता। इस प्रकार अर्थालंकारों के बीजभूत एवं कथा शरीरमें विचित्रता (को) प्रदान करने वाले वक्रोक्ति-रूप सम्पन्न समस्त चमत्कारों का 'लक्षण' शब्द से व्यवहार किया जाता है। लक्षण गुण एवं अलङ्कारों की अपेक्षा न रख कर स्वयं अपनी ही महिमा से प्रोद्भासित होते हैं तथा महापुरुष के शरीर में विद्यमान पद्मादि रेखाओं से सुलक्षण की तरह काव्य में सौन्दर्य का आधान करते हैं। रत्नखचित आभरण से जैसे नायकादि का सौन्दर्य शोभित नहीं होता वही स्थिति अलंकारों के बिना की है कि जिससे काव्य की सौन्दर्य शोभा हो सके। गुण भी धैर्यादि की प्रवृत्ति से द्योतित होकर शोभित होता है। इसी प्रकार (गुण भी) काव्य गत शब्द तथा अर्थ की रचना के आश्रय में स्थित रहता है। परन्तु जैसे लक्षणहीन पुरुष सुन्दर शब्द से अभिहित नहीं होते, ठीक उसी तरह प्रौढ़काव्य अपने कथा शरीर, गुण एवं अलङ्कारों से प्रोज्वक होकर भी नीरसता की स्थिति में प्राप्त होकर अभिधान के योग्य नहीं होता है (इसका कारण है लक्षण का न होना)। कथाशरीर से मण्डित (दृश्य) काव्य में लक्षणों का सम्पादन अवश्य किया जाता है (अल्प प्रसार के कारण) मुक्तकादि खण्डकाव्यों में नहीं। इसीलिये भरत मुनि ने मुक्तकादि से भेद दिखलाने के लिये ही 'काव्यबन्धास्तु कर्तव्या' (१६। १७९) कहा भी है। यद्यपि लक्षण असंख्येय हो सकते हैं किन्तु चमत्कार विशेष से गरिष्ट छत्तीस लक्षणोंको ही भरत ने निदर्शित किया है। मुनि के शिष्य कोहलादि आचार्यों ने जिन अन्य बातों को अतिरिक्त रूप में कहा भी था उनमें से कुछ अतिरिक्त लक्षण के रूप में प्रसिद्ध हो गये तथा

काल प्रवाह से (कारण) भरत के ग्रन्थ में ही पाठान्तर के रूप में प्रविष्ट या समायोजित कर दिये गये। ऐसे सभी लक्षणों का यथा स्थान विवरणादि यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

६. **भूषण :**—जहाँ भरतोक्त उपमा आदि अलंकारों तथा श्लेष आदि गुणों से कथा-शरीर की रचना समुल्लसित होती हो-वह 'भूषण' है। यहाँ 'चित्रार्थैः' पद के द्वारा-विभावादि रूप सामग्री के प्रत्यायक होने के कारण उसके उद्योतक अर्थ विशेषों के द्वारा या वक्रोक्ति से कथा शरीर का समुल्लास किया जाना-सूचित किया गया है। यथा—

रत्नावली नाटिका में प्रथमाङ्क में यौगन्धरायण का निम्न वचन—

'विश्रान्त विग्रह-कथो रतिमाञ्जनस्य चित्ते वसन् प्रियवसन्तक एव साक्षात्।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ॥ (र० १।८)

[जिसकी शासन पद्धति में विग्रह की वात नहीं होती, जिन पर प्रजाजन का अनुराग है, जो सब के चित्त में बसते हैं, जिन्हें वसन्तक अति प्रिय है वही यह वत्सराज उदयन साक्षात् अशरीरी मदन होकर साथ में रति को लिये हुए प्रजाजन के चित्त में निवास करने वाले मदन सा महोत्सव को देखने के लिये यहाँ आ रहा है।]

यह भूषण की ही अतिशयिता है जिसमें सामान्य बात से काव्य का पार्थक्य स्पष्टतः दिखलाई देता है। अतः जहाँ गुण एवं अलङ्कारों के द्वारा कथारूप वक्रोक्ति अतिशयित हो जाती या की जाती हो वहाँ 'भूषण' समझना चाहिए यह स्पष्ट है।

७. **अक्षरसङ्घात :**—यहाँ विविध श्लेषमयी उक्तियों से या अक्षरों के विपर्यासादि से उक्ति प्रत्युक्ति में विचित्रता आये तो 'अक्षर-संघात' है। जैसे उभयाभिसारिका में—

विट :—भगवति, वैशिकाचलोऽहमभिवादये।
परिव्राजिका—न वैशिकाचलेन प्रयोजनं न च वैशेषिकाचलेन।
विट :—अस्येतत् कारणम् ?
परिव्राजिका—षट्पदार्थबहिष्कृतैः सह सम्भाषणमस्मद्गुरुभिर्निरुद्धम्।
[विट—भगवति मैं वैशिकाचल आपका अभिवादन करता हूँ।
परिव्राजिका—मुझे न वैशिकाचल से कुछ काम है न वैशेषिकाचल से।
विट—इसका कारण।
परिव्राजिका—छः पदार्थों का बहिष्कार करने वालों से संभाषण न करना हमारे गुरुजी ने बतलाया है।] इत्यादि।

अथवा—"अभिज्ञानशाकुन्तल" के सप्तमांक में—'शकुन्तलावण्यं पश्य' में 'शकुन्तला' पद से शकुन्त के लावण्य तथा शकुन्तला को सूचित करना।

८. शोभा :—जहाँ सिद्ध प्रयोजनों से असिद्ध का चमत्कारी अर्थ निर्णय करता या सूचना देता है और वह भी शुभ संघटना, श्लेष, वक्रोक्ति या ध्वनि की महिमा द्वारा तो वह 'शोभा' होती है। कई लोक-स्वभाव के प्रकटन को 'शोभा' बतलाते हैं। अन्य जन युवक एवं युवतियों के सहज मनोभावों का प्रकटन 'शोभा' मानते हैं। यह अर्थ प्रधान वस्तु में परम शोभा प्राप्त करती है। जैसे रत्नावली के प्रथम अंक में यौगन्धरायण—'द्वीपादन्यस्मादित्यादि' (र० १ । ६) के बाद कहता है कि—

प्रारब्धेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ
दैवेनेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।
सिद्धे भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि
स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः॥ (रत्ना० १ । ७)

[स्वामी के अभ्युदयार्थ जो कार्यारम्भ किया गया है उसी में भाग्य के द्वारा इस प्रकार सहारा दे दिया है कि अब उसकी सिद्धि में सन्देह नहीं रहा है, परन्तु फिर भी यह सभी मैंने अपने ही मन से किया इसलिये अपने स्वामी से भयभीत मैं अवश्य हूँ।]

कथाशरीर की संघटना रूप शोभा के आधार पर ही यहाँ मधुरता की प्रसक्ति है।

९. उदाहरण:—जहाँ दूसरों के (शत्रु आदि जन के) परम रहस्य पूर्ण या दुर्भेद्य अर्थ को तुल्यार्थक वाक्य से दूसरों के लिये निपुण जन प्रकाशित कर दें तो—'उदाहरण' है। जैसे देवीचन्द्रगुप्त नाटक में प्रावेशिकी ध्रुवा से संशयाकुल चित्त वाले चन्द्रगुप्त के प्रवेश सूचक अर्थ को द्योतित करना। जैसे—

एसो सिअकर-वित्थर-पणासिआसेसवेरितिमिरोहो।
णिअविहवरोणचदो गअणगिहं लंघिऊँ विसई॥—
एषः शीतकरविस्तरप्रणाशिताशेषवैरितिमिरौघः।
निजविभववरश्चन्द्रो गगनगृहं लङ्घितुं विशति॥

[यह चन्द्र अपने शीतल करों के फैलाव से समग्र शत्रुभूत अन्धकार को नष्ट करते हुए अपने ही आकाश रूप गृह को पार करने की इच्छा के लिये वहाँ प्रवेश कर रहा है।]

१०. हेतु :— जो वचन फल को सिद्ध करने का सामर्थ्य लिये हो, जिसमें शब्द एवं अर्थ परिमित रहे तथा जो विचित्र शैली में कहे जाएँ तो—" 'हेतु'। जैसे तापसवत्सराज के षष्ठ अंक में मरण का निश्चय करने वाली वासवदत्ता को समझाने के लिये यौगन्धरायण का यह कथन:—

आसृष्टेः प्रतिपार्थिवं युवतयो जाताः मनोवल्लभाः
मग्नास्ते व्यसनार्णवे च बहवस्ताभिः सहैवेश्वराः।
देव्या यत्तु कृतं तदाविकलतामुत्सृज्य लोकोत्तरं
तस्यैषा कृपणोचितेन विधिना किं ग्लानिरुत्पद्यते॥

[जब से इस सृष्टि का आरम्भ हुआ है तभी से प्रत्येक राजा को उसकी मनोनुकूल युवतियाँ प्रिय होती रही है। ये प्रेयसियाँ घोर शङ्का में निमग्न रही और उनके समर्थ एवं ईश्वर पति भी इसी में डूब गये। किन्तु महादेवी ने जो उस समय (भी) विकलता को छोड़ कर लोकोत्तर कार्य कर डाला उसके विषय में अब यह दीनता से ग्लानि क्यों उत्पन्न हो रही है।]

यहाँ देवी ने जो किया वह इष्टार्थ साधक है तथा उससे शीघ्र ही आप स्वयं शुभफल का अनुभव करेंगी।" इत्यादि में हेतु है।

११. संशय :—वाक्य के पूर्णतः समाप्त न होने से साध्यविषय के स्वरूप या अवस्था में सन्दिग्धता आना 'संशय' है। इसका अर्थ एवं काम प्रधान रूपकों में निपुणता के साथ प्रयोग रखा जाता है। जैसे—कुन्दमाला के षष्ठ अंक में रामायण कथा के वाचक लव तथा कुश कहते हैं:—

सीतां निर्जनसम्पाते चण्डश्वापदसङ्कुले।
परित्यज्य महारण्ये लक्ष्मणोऽपि न्यवर्तत॥
ततः प्राणैः परित्यक्ता निराशा जनकात्मजा।
(इति तूष्णीं भवतः)
अप्रियाख्यानभीतेन कविना संहृता कथा॥
किमितः कल्याणमावेदयति। एवं तावदनुयोक्ष्ये। (इति पृच्छतः)

[निर्जन तथा भयंकर हिंसक प्राणियों से व्याप्त महारण्य में सीता का परित्याग कर (जल्द) लक्ष्मण जी वापस चले गये तब प्राणों से भी प्रिय एवं प्रियजन के द्वारा छोडी गयी निराश सीता ने—

(इतना कहकर चुप हो जाते हैं)

(तब राम और लक्ष्मण कहते हैं कि)—सम्भव है अप्रिय सत्य के कहने से डर कर कवि ने यहीं कथा का उपसंहार कर डाला हो।]

यहाँ संशय है। संशयालङ्कार का चमत्कार संशय नामक इस लक्षण से भिन्न होता है।

१२. दृष्टान्त :—धर्म के अविरोध से सभी जन के मन का आकर्षक ऐसा वचन जो सकारण तथा निदर्शन युक्त हो 'दृष्टान्त' कहलाता है। जैसे 'धूर्तविट' में 'स्त्रीपु प्रसङ्गो न कर्तव्यः इस विषम में भाव का क्या मत है? यह पूछे जाने पर विट-भोः उपदेशमात्रं खल्वेतत्। तमहं न पश्यामि यः स्त्रीषु प्रसङ्गं न गच्छेत्। श्रूयन्ते हि महेन्द्रादयोऽप्यहल्यासु विकृतिमापन्नाः' इत्यादि कथन में दृष्टान्त है।

१३. प्राप्ति :—इसका उदाहरण कुन्दमाला के तृतीय अङ्क में वालुका पर पद चिन्हों को देखकर लक्ष्मण ने राम के प्रति कहा—

विलासभोगेन परिश्रमेण वा स्वभावतो वा निभृतानि मन्थरम्।
पदानि कस्याश्चिदिमानि सैकते प्रयान्ति तुल्यं कलहंसविभ्रमम्॥

रामः (निर्वर्ण्य सहर्षम्) किमुच्यते कस्याश्चिदिति। ननु वक्तव्यं सीतायाः पदानीति। पश्य—

समानं संस्थानं निभृतललिता सैव रचना
तदेवैतद्रेखा कमलरचितं चारुतिलकम्।
यथा चेयं दृष्ट्वा हरति हृदयं शोकविधुरं
तथा ह्यस्मिन् देव्या सपदि पदपङ्क्तिर्विनिहिता॥

[—क्रीड़ा करते हुए, परिश्रम से भागते हुए या स्वभावतः मन्थरता से वालुका में धंसे हुए ये किसी के पैर कलहंस के विभ्रम की श्रृङ्गांर मयी चेष्टाओं की समता कर रहे हैं।

राजा राम—(ध्यान से देखकर प्रसन्न हो) अरे ये किसी के पैर हैं ऐसा क्यों कहते हो। अरे भैया, ये तो सीता के ही पैर हैं। देखो—पैरों का विन्यास समानरूप वाला है, वही निभृत (विनीत) एवं ललित रचना है, यही वह रेखा है जिनसे तिलक एवं कमल वड़े ही सुन्दर रूप में बन गये है। देखने पर यह पदपंक्ति शोक से विधुर विकल हृदय को आकृष्ट कर रही है। जिससे प्रतीत होता है कि यहाँ (सीता) देवी ने अपने पैरों को अभी तत्काल ही रखा है।]

यहाँ प्राप्ति है।

१४. अभिप्रायः— अभूतपूर्व अर्थात् अद्‌भुत या असत् अर्थ जो केवल कल्पित है। अन्य आचार्य अभूतपूर्व पद का अर्थ आस्वाद्य पदार्थ में अपूर्वता

का अभिमान करते हैं परन्तु यह भावविलक्षणता से शून्य होने पर आचार्य तौत के मत में अनुपयुक्त है। जैसे तापसवत्सराज के चतुर्थ अंक में साङ्कृत्यायनी यौगन्धरायण के उद्योग को देखकर सोच कर चर से कहती है—

दूरमुदीर्णे रिपौ वेषमकिञ्चित् करे च विजिगीषौ।
भवता तु नयगुणशतैः सोऽयमसूत्रः पटः क्रियते॥

[शत्रु अपनी जवरदस्त शक्ति के साथ वडे जोर से उठ खड़ा हुआ है विजिगिषु महाराज इस समय कुछ भी करने की स्थिति में नही है और आप सैकड़ो नीतिरूपी उपायों से विना सूत्र के ही अपना कपड़ा बुन रहे हैं।]

१५. निदर्शन :—प्रसिद्धानां अर्थात् देवताओं का, परापेक्षा = साध्याकांक्षा से व्युदासार्थं = हटाने या दूर करने के लिये। जैसेः—उभयाभिसारिका में—

शान्ति याति शनैर्महोषधिवलादाशीविषानां विषं
शक्यो मोचयितुं मदोत्कटकटादात्मा गजेन्द्राद्वने।
ग्राहस्यापि मुखान्महार्णवजले मोक्षः कदाचिद् भवेद्
वेशस्त्रीवडवामुखानलगतो नैवोत्थितो दृश्यते॥

[औषधियों के प्रभाव से सर्पों का विष शान्त हो जाता है, अरण्य में प्राप्त मदोन्मत्त हाथी से अपने आपको छुड़ाया जा सकता है, मदोत्कट ग्राह से भी महासमुद्र में मोक्ष हो सकता है परन्तु वेशस्त्री रूप वडवा की मुखाग्नि में पड़ा हुआ व्यक्ति कभी नहीं निकला और उसे किसी ने भी आज तक उठते हुए नहीं देखा।]

इसी कारण इसका दृष्टान्त से स्वतः भेद हो जाता है।

१६. निरुक्तः —पूर्वोक्तार्थ = पूर्व में जो किसी वाह्य अर्थ का सम्वन्धी कोई अर्थ कह दिया गया है उसकी प्रसिद्धि के लिये अनवद्य भाव का वाचक जो शब्द कहा जाए वह निरुक्त है। अतः इससे अन्यथा करने पर अर्थ निरर्थक हो ही जाएगा। जैसे वत्सराजचरित के प्रथम अंक में भरतरोहक राजा से कहता है—

भरतरोहकः—प्रसह्य हरणे केवलं प्रमादिताख्यातिः।
राजा—किमेतत्!
भरतरोहकः—सदोषेषु कार्येषु यदल्पदोषं तत् प्रारब्धव्यम्।
वसुवर्मा—स्वामिन्, तत्राप्यहं वाच्यदोषं न पश्यामि। कुतः—
नीता वलात् प्रकृति भद्रतरा सुभद्रा यद्वासुभद्रभगिनी कपिकेतनेन।
देवस्य तेन समभूद्वचनीयता किं तेजःप्रकाशयशसां यदुदन्तिनां वा॥

शालं—साधु निरुक्तमभिहितं वसुवर्मणा ॥

[भरतरोहक—बलात् हरण करने में प्रमादी होने की केवल ख्याति मात्र होती है।

राजा—यह क्या कहते हो।

भरतरोहक—सदोष कार्य के रहने पर भी जिसमें दोष कम रहे ऐसे कार्य का आरम्भ कर दिया जाता है।

वसुवर्मा—स्वामिन्, मैं तो इसमें कोई उल्लेखनीय दोष नहीं देख रहा हूँ, क्योंकि स्वभावतः कल्याणमयी श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा को वलात् अर्जुन ने हरण कर लिया तो क्या इससे अर्जुन की निन्दा हुई या अपने तेज की तरह चमकने वाले हाथियों की निन्दा हो गयी।

शालङ्कायन—अच्छा। वसुवर्मा ने तो यह वैदिक पदों का निरुक्त ही कह डाला।]

१७. सिद्धि :—प्रधानानाम् अर्थात् जो स्पृहणीय एवं अतर्कितोपनत या काकतालीय न्याय से प्राप्त हो ऐसे प्रधान प्रयत्नों का कीर्तन 'सिद्धि' है। जैसे—कौमुदीमहोत्सव के चतुर्थ अङ्क में मन्त्रगुप्त का वचन—

सङ्गतिश्चिरमचिन्तितपूर्वा निर्वृतप्रणयिनीमिथुनानाम्।
आधिराज्यमधिरोहति तस्याः षोडशीमपि कलां न मघोनः॥

[—जिसका पूर्व में चिन्तन नहीं किया था ऐसा इन (दोनों) का या हम दोनों का यह मिलन है। युग्म या मिथुनों की संगति आनन्ददायी होती है जिसकी सोलहवीं कला को इन्द्र का परमैश्वर्य भी प्राप्त नहीं कर सकता।]

१८. विशेषण :—जैसे तापसवत्सराज में तृतीय अङ्क में राजा विदूषक से कहता है कि—

राजा—अयि मूढ,

वृत्तिर्मूलफलादिभिः क्षितितले शय्या जटा धारणं
वासो वल्कलमीदृशं कृतमिदं सामान्यमन्यैरपि।
संवेगाभिभवे विगूढमनसा यन्नानुयाता प्रिया
तन्मिथ्या परिबोधितेन न कृतं स्नेहानुरूपं मया॥

[कन्दमूल फल आदि से वृत्ति या निर्वाह, भूमि पर शयन, जटाओं का धारण तथा वल्कल का वस्त्र रूप में धारण, ऐसा आचरण तो सामान्य जन ने भी किया है किन्तु संवेगों के दबाने में विमूढ़ मैंने जो प्रिया का अनुनय नहीं किया यह मैंने अपने मिथ्या ज्ञान के कारण स्नेह के अनुरूप नहीं किया।]

१६. गुणातिपात :—जैसे धूर्तविट में विट का यह कथन—

विटः—

जात्यन्धां सुरतेषु दीनवदनामन्तर्मुखाभाषिणीं
हृष्टस्यापि जनस्य शोकजननीं लज्जापटेनावृताम् ।
निर्व्याजं स्वयमप्यदृष्टजघनां स्त्रीरूपबद्धां पशुं
कर्तव्यं खलु नैव भोः कुलवधूकारां प्रवेष्टुं मनः ॥

यहाँ कुलाङ्गनाओं के योग्य विनय, लज्जा आदि गुणों की विपरीत अर्थ में योजना करने से 'गुणातिपात' है ।

२०. अतिशय :—जैसे कुरुराज दुर्योधन के लज्जित होने पर धृतराष्ट्र के प्रति भीष्म की यह उक्ति :—

एतत्ते हृदयं स्पृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः
सम्प्रत्येव तु गोग्रहे यदभवत्तत्तावदाकर्ण्यताम् ।
एकः पूर्वमुदायुधैः स बहुभिर्दृष्टस्ततोऽनन्तरं
यावन्तो वयमाहवप्रणयिनस्तावन्त एवार्जुनाः ॥ इति ।

२१. तुल्यतर्क :—जैसे वत्सराज-चरित के अष्टम अंक में राजा का यह कथन :—

नवार्कभापल्लवितामलोदरे सुगन्धिरेणूत्करकेसरोज्ज्वले ।
रसामृतज्ञो भ्रमरः सरोरुहे किमर्कपुष्पे प्रणयं करिष्यति ॥

[जिसका निर्मल उदर सूर्य की किरणों से पल्लवित है तथा जो सुगन्धित रेणुओं के समुदाय एवं केशरों से उज्ज्वल है, ऐसे सरोज के रसामृत का मर्मज्ञ भ्रमर क्या अर्क पुष्प में प्रणय रखेगा ।]

२२. पदोच्चय :—जैसे वत्सराजचरित के षष्ठ अंक में राजा सचिव की उत्तमता का वर्णन करते हुये कहते हैं ।

राजा— खङ्गो रक्षान्धकारे रविररितिमिरे कार्यभारेषु धुर्यः
दीपो मन्त्रान्धकारे सुरगुरुरनये सङ्क्रमो व्यापदोघे ।
उत्कण्ठायां सभागी गतिरनवसरे चन्दनं शोकतापे
सङ्क्षेपान्मानुषाभो हितशिवसुखदो भव्यचिन्तामणिर्मे ॥

[रक्षा रूप अन्धकार में खङ्ग की तरह शक्ति रखने वाले, शत्रु रूप तिमिर को नष्ट करने में सूर्य, कार्यभार को वहन करने में धुर्य (वृष) हो धरा को धारण करने में समर्थ, मन्त्रणा के समय आने वाली कठिनाइयों में दीपक की तरह प्रकाशक, अनीति के आने पर बृहस्पति की तरह विपत्तियों को दूर करने वाला, उत्कण्ठा के समय साझीदार, अनवसर में गति की तरह

मार्ग दर्शक, शोक रूपी ताप को हटाने में चन्दन जैसा शीतल होने से संक्षेप में इतना ही समझना चाहिये कि मनुष्य के रूप में हित एवं मङ्गल को देने वाला यह अमात्य एक उत्तम चिन्तामणि ही होता है।

२३. दिष्ट (दृष्ट) :—जैसे मालविकाग्निमित्र में नायिका वर्णन—

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामा विटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम्॥

[इस नायिका का वामहस्त वलय सन्धियों में निश्चल होकर नितम्ब पर स्थापित है तथा दूसरा हाथ श्याम विटप वाली लता के सदृश खुला छोड़ दिया गया है। पैरों के अंगूठे से कुसुम को ठुकराती दृष्टि को फर्श पर टिका कर रखे हुए यह कान्त, ऋजु तथा विस्तीर्ण नेत्र वाला नृत्त इस समय अतिशय सुन्दर हो पड़ा है।]

यह प्रत्यक्ष दृष्ट का उदाहरण है। परोक्ष दृष्ट का उदाहरण जैसे पातताडितक में मदनसेना का यह वर्णन—

उत्क्षिप्तालकमीक्षणान्तगलितं कोपाचितान्तभ्रुवा
दष्टार्धोष्ठमधीरदन्तकिरणं प्रोत्कम्पयन्त्या मुखम्।
शिञ्जन्नूपुरया विकृष्य विगलद्रक्तांशुकं पाणिना
मूर्धन्यस्य सनूपुरः समदया पादोऽर्पितः कान्तया॥

[जिसमें कोप के कारण भ्रुकुटियाँ तनी हुई हैं, नेत्रों के समीप लटके हुए अलकों को ऊपर उठाये हुए है, आधा ओठ दाँतों से दबाया हुआ है, स्वच्छ दन्त किरणें अधीर मुख को कम्पित कर रही हैं, नुपूर ध्वनि कर रहे हैं ऐसी मदयुक्त कान्ता ने नीचे खिसकते हुए अपने रक्त वस्त्र को विकर्षण कर (ऊपर हटाते हुए) इसके मस्तक पर नूपुर युक्त पैर को रख दिया।]

२४. उपदिष्ट :—जैसे अविमारक के प्रथमांक में—

राजा—धर्मः प्रागेव चिन्त्यः सचिवमतिगतिः प्रेक्षितव्या स्वबुद्ध्या
प्रच्छाद्यौ रागदोषौ मृदुपुरुषगुणौ कालयोगेन कार्यौ।
ज्ञेयं लोकानुवृत्तं परचरनयनैर्मण्डलं प्रेक्षितव्यं
रक्ष्यो यत्नादिहात्मा रणशिरसि पुनः सोऽपि नावेक्षितव्यः॥

[सर्व प्रथन धर्म का विचार करे फिर सचिवों की मति की गति को अपनी बुद्धि से देखे, राग एवं द्वेष को छिपावे तथा समय समय पर पुरुष के

मार्दव एवं कठोरता को दिखलाने का कार्य करे, उत्तम चरों के नेत्रों से लोकानुवृत्त समझे तथा मण्डलों को भी। इस प्रकार प्रयत्न से आत्मा की रक्षा करे परन्तु युद्धस्थल में आत्मरक्षा को परवाह न करे।]

२४. विचार :—प्रवृत्त अर्थ का अनुगामी, परोक्ष अर्थ का साधक एवं अनेक उपाय एवं उपाधियों का दर्शक वाक्य 'विचार' है। यथा मुद्राराक्षस के पञ्चम अंक में राक्षस का यह कथन :—

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तश्च विपक्षतो भवति यत्तत्साधनं सिद्धये।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धश्च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥

[जो साधन अन्वय से घटित एवं साध्य में निश्चित रहता है, सपक्ष में जिसकी स्थिति है तथा विपक्ष से जो व्यावृत्त हो तो ऐसा साधन (ही) साध्य की सिद्धि करने में समर्थ होता है। परन्तु जो स्वयं साध्य में अनुकूल एवं प्रतिकूल होने से तुल्य हो तथा पक्ष के विरुद्ध रहे तो उसको स्वीकार करने से वादी के निग्रह की तरह स्वामी भी निगृहीत हो जाता है।]

२६. विपर्यय :—जैसे रावण के प्रति सचिव की यह उक्ति—

सचिव :—उदर्कसिद्धिमिच्छद्भिः सद्भिर्न खलु दृश्यते।
चतुर्थी चन्द्रलेखेव परस्त्रीफालपट्टिका ॥

[परिणाम में उत्तम फल की सिद्धि चाहने वाले सज्जन भाद्रपद की चतुर्थी के चन्द्र की तरह अन्य स्त्री के भाल पट्ट को नहीं देखते हैं]

रावण :—परस्त्रीकुचकुम्भेषु कुम्भेषु वरदन्तिनाम्।
निपतन्ति न भीरूणां दृष्टयः शरवृष्टयः ॥

[भीरुओं की दृष्टि न परस्त्री के कुचों पर पड़ती है और न उत्तम हाथियों की कुम्भस्थल पर शरवर्षण ही भीरुओं से हो सकता है।]

२७. भ्रंश :—जैसे वेणीसंहार के द्वितीय अंक में दुर्योधन कञ्चुकी से कहता है :—

दुर्योधन—सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥

कञ्चुकी—(कर्णौ पिधाय सभयं) शान्तं पापम्। प्रतिहतममङ्गलम्। इति।

[दुर्यो—भाई, बन्धु, पुत्र एवं भृत्यों के साथ शीघ्र ही सुयोधन को यह पाण्डुपुत्र अपनी शक्ति या सेना के द्वारा युद्ध में मार देगा।

कञ्चुकी—(कानों को वन्द कर, भय युक्तहोते हुए) अमंगल शान्त हों, अनर्थ शान्त हों ।

२८. अनुनय :—जैसे रामाभ्युदय के द्वितीय अङ्क में राम के पराक्रम की स्तुति करने में व्यग्र मारीच को रावण कहता है—

रावणः—आः प्रतिपक्षपातिन्, क्षुद्र, राक्षसापसद । किं बहुना—

तवैव रुधिराम्बुभिः क्षतकठोरकण्ठस्तुतैः
रिपुस्तुतिभवो मम प्रशममेतु कोपानलः ।
सुरद्विपशिरस्थलीदलन-दष्टमुक्ताफलः
स्वसुः परिभवोचितं पुनरसौ विधास्यत्यसिः ॥
(इति खङ्गमाकर्षति तदा उभयोर्मध्ये निपत्य प्रहस्तः)

प्रहस्तः—प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः, नेदमनुरूपं स्वामिनः । देव,

लोकत्रयक्षयोद्धृत्त-प्रकोपाग्रेसरस्य ते ।
ईदृशः चन्द्रहासस्य भृत्येष्वनुचितः क्रमः ॥ इति ।

[रावण—अरे शत्रुओं के पक्षपाती क्षुद्र राक्षस ! अब अधिक क्या कहूँ । तुम्हारे द्वारा की गयी शत्रुओं की स्तुति से उत्पन्न होने वाला मेरा कोपानल अब तुम्हारे ही कण्ठ के कठोर घाव से चूने वाले रुधिरजल से पहिले शान्त होगा और इन्द्र के ऐरावत के शिरस्थ मौक्तिक को खण्डित करने वाली यह मेरी चन्द्रहास नामक तलवार बाद में अपनी बहिन के तिरस्कार को दूर या निराकरण करने के कार्य को बाद में करेगा ।

(इतना कह कर तलवार खींच लेता है तभी प्रहस्त दोनों के बीच में आकर कहता है ।

प्रहस्त्र—प्रसन्न होइये महाराज, यह कार्य आपके लिए उपयुक्त नहीं । हे देव, लोकत्रय के क्षय के लिये उठने वाला तथा क्रोध में अग्रेसर रहने वाला आपका यह चन्द्रहास नामक खङ्ग भृत्यों पर चलाने के उपयुक्त नहीं है ।)

२९. माला :—जैसे तापसवत्सराज में—

राजा—दृष्टा यूयं निर्जिता विद्विषन्तः प्राप्ता देवी भूत-धात्री च भूयः ।
सम्बन्धोऽभूद्दर्शकेनापि सार्धं किं दुष्प्रापं यन्न लब्धं भवद्भ्यः ॥

[आप सभी ने शत्रुओं को पराजित होते हुए देख लिया, देवी को प्राप्त किया तथा पृथ्वी का राज्य पुनः पाया । इसके अतिरिक्त दर्शक से सम्बन्ध हुआ अतः अब शेष दुष्प्राप्य ऐसी वस्तु क्या है जो आप को नहीं मिली हो]

३०. दाक्षिण्य :—जैसे रत्नावली के द्वितीय अंक में शिरोवेदना के बहाने चले जाने के लिये उद्यत देवी वासवदता को वत्सराज उदयन जब आंचल पकड़

कर रोकता है तथा—'प्रिये, तुम प्रसन्न हो जाओ' इत्यादि कहता है परन्तु इतना होने पर भी जब वहाँ से देवी निकल कर चली जाती है तो 'अरण्यरोदन व्यर्थ है'; ऐसा समझाने वाले अपने मित्र विदूषक को राजा कहता है कि—'तुमने महारानी के क्रोध को नहीं देखा। अतः देवी को प्रसन्न करने के सिवाय अब अन्य कोई उपाय नहीं दिखलाई देता। इसलिये चलो, भीतर चलें और महारानी को प्रसन्न करें।

यहाँ विदूषक के द्वारा राजा का अनुवर्तन करना 'दाक्षिण्य' है।

३१. गर्हण :—दोष को गुण कर लेना 'गर्हण' है। अन्य मत से क्रोध या अभिमान या मात्सर्य से किसी की कुत्सा करना 'गर्हण' होती है। जैसे—धूर्तविट में—

प्रणष्टा न व्यक्तिर्भवति वचसा सैव मृदुता
न रागो नेत्राब्जे त्यजति न च लज्जा व्यपगता।
स्मृतिः प्रत्यायाता परिहृषितमद्यापि च मुखं
मदो दोषाँस्त्यक्त्वा त्वयि परिणतस्तिष्ठति गुणैः॥

[मदिरा पान से होने वाले नशे (मद) से वचन की सफाई नहीं नष्ट हुई किन्तु उसमें अधिक मृदुता आ गयी है, राग आँखों को नहीं छोड़ रहा है; लज्जा भी दूर नहीं हुई, स्मृति भी लौट आयी और आज भी (अभी भी) मुख प्रसन्न दीख रहा है। अतः यह मद आप में रहने पर भी अपने दोषों को छोड़ कर गुणों में परिणत होकर स्थित है (ऐसा प्रतीत हो रहा है।)]

इसी प्रकार गुणों के अतिपात में भी 'गर्हण' होता है। जैसे वत्सराज-चरित्र के द्वितीय अंक में विष्णुत्रात का यह कथन :—

नृपाः प्रभुत्वात् प्रतिषेध-वामा जिह्मो विधिस्तद्वशवर्ति कार्यम्।
साचिव्यतो नापरमस्ति पुंसां विषाददुःखायशसां निदानम्॥

[राजा अपनी प्रभुता के कारण वाम-स्वभाव से प्रतिषेध करने वाले रहते है, विधि भी कुटिल होता है तथा सभी कार्य इसी के वश में रहते हैं। इसलिये पुरुषों के लिये राजा का मन्त्रित्व करने के अतिरिक्त विषाद, दुःख एवं अयश के निवारण का अन्य कोई निदान (ही) नहीं है।]

३२. अर्थापत्ति :—जैसे धूर्तविट में—

आदष्टस्फुरिताधरे भवति यो वक्त्रारविन्दे रसः
प्रीतिर्या च हृतांशुके च जघने काञ्चीप्रभोद्योतिते।
लक्ष्मीर्या च नखक्षताङ्कुरधरे पीने कपोले स्त्रियो
रक्तं तेन विरज्यते न हृदयं जात्यन्तरेऽपि ध्रुवम्॥

[सुरतकाल में अधर दंशन कर लेने पर अधर फड़कने लगता है ऐसे मुखकमल में जो रस होता है, वस्त्र खींच कर हरण कर लेने पर करधनी की प्रभा से आकर्षक जघन में जो प्रीति होती है, स्त्रियों के नखक्षत के अंकुर को धारण करने वाले पीन पयोधर में जो शोभा होती है तो ऐसी भावना से यदि राग सम्पन्न हृदय हो तो फिर वह जन्मान्तर में भी विरक्त नहीं होता है, यह निश्चित समझिये ।]

यहाँ जन्मान्तर में भी रस, प्रीति एवं अनुराग के अनुवर्तन के कथन से जन्मान्तर में भी हृदय में वैराग्य होना सम्भव नहीं है । अतः संसार के बन्धन से छुटकारा असंभव है । ऐसे अर्थ का बोध होने से यहाँ 'अर्थापत्ति' नामक लक्षण स्पष्ट है ।

३३. **प्रसिद्धि :**—प्रसाधक = प्रकृष्ट साधक, प्रसिद्ध = पूर्व से ही जो सिद्ध है । जैसे गदायुद्ध में पराभूत दुर्योधन से श्री बलदेव ने कहा—

बल०—भीमसेन, इदानीं तव युद्धवञ्चनामुत्थाय स्थास्यति ।
दुर्यो०—न चाहं भीमसेनेन वञ्चितः ।
बल०—अथ केन भवानेवंविधः कृतः ।
दुर्यो०—श्रूयताम्—

येनेन्द्रस्य च पारिजातकतरुर्मानेन तुल्यं हृतो
दिव्यं वर्षसहस्रमर्णवजले सुप्तश्च यो लीलया ।
दीप्त्या भीमगदां प्रविश्य सहसा निर्व्याजियुद्धप्रियः
तेनाहं जगतां प्रियेण हरिणा मृत्योः प्रतिग्राहितः ॥

[बल—भीमसेन अब तुम्हे युद्ध में वञ्चित कर स्थिर हो गया है ।

दुर्यो—मुझे भीमसेन ने नहीं ठगा है ।

बल—तब फिर तुम्हें ऐसा किसने कर डाला;

दुर्यो—अच्छा तो सुनिये—जिसने इन्द्र के अभिमान के साथ पारिजात का हरण किया था, जिसने दिव्य सहस्त्रों वर्षोंतक समुद्र के जल में लीला पूर्वक शयन किया, उस संसार के प्रिय एवं निर्व्याज छली श्री कृष्ण (हरि) ने अकस्मात् अपनी दीप्ति द्वारा गदा में प्रवेश कर दुर्योधन को मृत्यु के लिये प्रतिगृहीत करवा डाला है]

यहाँ श्रीविष्णु के शयन आदि कार्य ही वाक्यार्थ के साधक है । अन्य आचार्य—यहाँ अलंकार युक्त पदार्थों को वाक्यार्थ के प्रसाधक मानते हैं ।

३४. पृच्छा :—शोक, मोह आदि के कारण पराधीन हो जाने से स्वयं अपने को या दूसरे को सम्बोधित कर प्रश्न करने की-सी दशा में कथन-करना 'पृच्छा' है। अतः जहाँ उत्तर की अपेक्षा न हो वहाँ यह प्रश्न एवं कथन ही प्रत्यायक है। जैसे रामचरित में हनुमान सीता को देख कर कहते हैं :—

स्थानेऽवसीदसि रघूद्वह किं विधातः अस्यास्त्वयेक्षितमलक्षणमङ्गकेषु।
अद्यापि जीवसि दशानन हे हनूमन् केयं तवाभिमुखवर्तिरिपोः प्रतीक्षा॥

[हे रघुनाथ, आप दुःखी होते हों यह उचित ही है। हे विधाता, तुमने इस भगवती सीता के अंगों पर कौन से अलक्षण या दुर्लक्षण देखे जिन्हें देख कर इसके ललाट पर विधिना का ऐसा लेख लिखा था। अरे दशमुख; तुम इस बेचारी को इतना कष्ट देकर आज भी जी रहे हो। और हे हनुमन्, अपने सामने शत्रु को पाकर भी तुम अब कैसी या किसकी प्रतीक्षा कर रहे हो।]

३५. सारूप्य :—यहाँ कथनादि में आदि पद के द्वारा दर्शन, श्रवण एवं अनुभवन का उपलक्षण है। यहाँ रूप की विशिष्ट भ्रान्ति से क्षोभ को उत्पन्न कर देने में ही लक्षण का चमत्कार नहीं। जैसे छलितराम में लक्ष्मण के द्वारा बाँध कर लाये गये लव ने श्रीराम की यज्ञशाला में स्थित हिरण्यमयी सीता को देख कर कहा—'अये कथमियमम्बा राजद्वारमागता' (अरे माँ आज कैसे (सहसा) राजद्वार में आ गयी!) और सहसा खड़ा होकर प्रणाम कर एवं ध्यान से देख कर 'अरे यह तो हिरण्यमयी हैं—ऐसा अनुभव कर देख कर, समीप जाकर फिर दूर हट कर बैठ गया। या वेणीसंहार में दुर्योधन का वध कर के लौटने वाले भीमसेन को चार्वाक के कथन से भ्रान्त युधिष्ठिर द्वारा दृढ़ता से पकड़ कर यह कहना—'आशैशवादनुदिनम्' इत्यादि।

३६. मनोरथ :—जैसे विकटनितम्बा के प्रहसन में विकटनितम्बा कहती है कि—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले बालां कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥

[अरे भौरे, रतिकालीन उपमर्द का सहन करनेवाली दूसरी पुष्प-लताओं से अपना मन बहलाओ। तुम इन मुग्धा (नग्निका) एवं अनतंवा कली वाली नवमालिका को क्यों व्यर्थ ही कदर्थित कर रहे हो।]

यहाँ विकटनितम्बा ने स्वयं अपने को ही सुमनोलता के बहाने रखकर यह कहा है।

३७. लेश :—जैसे अविमारक के द्वितीय अंक में धात्री नायक को कहती है :

धात्री अय्य, किं चिंतीअदि । [आर्य, किं चिन्त्यते ?]

अवि—भवति, शास्त्रं चिन्त्यते ।

धात्री—किं णाम एदं रमणीअं सत्थं चित्तीअदि । [किं नामैतत् रमणीयं शास्त्रं चिन्त्यते ।]

अवि—भवति, योगशास्त्रं चिन्त्यते ।

धात्री—(सस्मितम्) पडिग्गहिदं मंगलवअणं । ओअ-सत्थं एव भोदु ।

[प्रतिगृहीतं मङ्गलवचनम् । योगशास्त्रमेव भवतु]

अवि—को नु खलु वाक्यार्थः । अन्यदप्यभिलाषवशादन्यथा सङ्कल्पयामि । इत्यादि ।

[आर्य, क्या विचार कर रहे हो ?]

अवि—भवति, मैं शास्त्र की चिन्ता कर रहा हूँ ।

धात्री—यह सुन्दर शास्त्र किस नाम का है ।

अवि—भवति, (इस) योगशास्त्र की चिन्ता की जा रही है ।

धात्री—मैंने मंगलवचन स्वीकार किया । यह योग का शास्त्र हो जाए । अवि—तव वाक्यार्थ क्या रहेगा । और भी अभिलाष के कारण सोचता हूँ जो अन्यथा संकल्प करना है । इत्यादि]

अन्य आचार्य जन लेश को लेख पढ़ कर इङ्गितज्ञान को समझ लेना इसका लक्षण करते हैं ।

३८. क्षोभ :—जैसे रत्नावली के तृतीय अंक में सागरिका समझ कर वासवदत्ता का उपलालन करनेवाले उदयन को वासवदत्ता द्वारा अपने घूंघट को हटा कर लज्जित कर देने के बाद राजा का यह कथन—

राजा—(अज्जलिं बद्धा) प्रिये वासवदत्ते, प्रसीद प्रसीद ।

वास—(अश्रु निपातयन्ती) मा एव्वं भण । अण्णगदाइं एदाइ अक्खराणि-[मैवं भण । अन्यगतान्येतान्यक्षराणि ।]

विदू—भोदि, महाणुभाआ क्खु तुमं । क्खमीअदु दाव एक्को अवराहो पिअवअस्सस्स । [भवति, महानुभावा खलु त्वम् । तत् क्षम्यताम् तावदेकोऽपराधो प्रियवयस्यस्य ।]

वास—णं पढमसंगमे विग्घं करंतीए मए जेव्व एदस्स अवरद्धं ण अज्जउत्तस्स । [ननु प्रथमसङ्गम एव विघ्नं कुर्वंत्या मयैवैतस्यापराद्धं नार्यपुत्रस्य]

[राजा प्रिये, वासवदत्ते, तुम प्रसन्न हो जाओ ।

वास—(आसु गिरा कर) आप ऐसा क्यों कहते हैं । ये अक्षर तो दूसरों के लिये हैं ।

विदूषक—भवति, आप महानुभावा हैं, अतः प्रियवयस्य के एक अपराध को क्षमा कर दो।

वास—अरे, इस प्रथम मिलन में विघ्न डाल कर तो अपराध मैंने ही किया है आपके इन प्रियमित्र ने नहीं।]

अन्य आचार्य इसका 'आत्मन्यभूततद्भावभावनम्' (अपने में अभूत जैसी भावना रखना,) लक्षण करते है। इसके अतिरिक्त अन्य इसे 'अन्यगते हेतावस्मिन् कार्यकल्पनम्' (अन्यगत कारण से भिन्न में कार्य की कल्पना करना) लक्षण करते हैं।

३६. **गुणकीर्तन** :—जैसे वत्सराजचरित के चतुर्थ अङ्क में शालङ्कायन कहते हैं—

शालङ्कायनः—नीलनागव्यपदेशेन समन्ततः शस्त्रप्रभाभासुरैरस्मद्योधैः परीतेन महति भयस्थाने विगतसम्भ्रमं—

तेन प्रोक्तं धैर्यगाम्भीर्यशौर्यप्रज्ञातेजो-नीति-दाक्षिण्यगर्भम्।
वाक्यं सामाद्यं सोर्जितं श्रोत्ररम्यं शास्त्रीकर्तव्यं तद्बुधैः स्वार्थकामैः॥

भरतरोहकः—एषः सङ्क्षिप्तविस्तरो नाम।

राजा—ततस्ततः।

शालङ्कायनः—देव, यस्तस्य युद्धे महति प्रवृत्ते पराक्रमः साहसलाञ्छनः सः।
प्रद्युम्नरामार्जुनभीमकर्णं—साम्बाभिमन्युष्वविचिन्त्य एव॥

राजा—अहोनु खलु स्वभावसिद्धानां गुणानामव्यभिचारिता। कुतः—

अविदित इति नैकधा प्रयत्नाद् वहुदिवसं बहुधा परीक्षमाणः।
द्विगुणमभिविराजते गुणैः स्वैर्मणिरिव जातिविशेषवान् महार्हः॥

[—शालङ्कायन—काले सर्प के बहाने से चारों ओर शस्त्रों की प्रभा से दीप्त हमारे योद्धाओं से घिरे हुए उसने भय के स्थान होने पर भी सम्भ्रम को त्याग कर—धैर्य, गाम्भीर्य, शौर्य, प्रज्ञा, तेज, नीति तथा दाक्षिण्य से युक्त सामप्रधान एवं ऊर्जस्वी होकर भी कर्णसुखद वाक्य को कहा—बुधजन अपने प्रयोजन के लिये इसे शास्त्रवचन के रूप में ग्रहण करें।

भरतरोहक—यह संक्षिप्त है तथा विस्तीर्ण भी।

राजा—अच्छा, इसके वाद।

शाल—महाराज, तब महान् युद्ध के आरम्भ हो जाने पर उसने जो पराक्रम दिखलाया वह साहस ही कहना चाहिए, क्योंकि ऐसे साहस को प्रद्युम्न, बलराम, अर्जुन, भीम, कर्ण, साम्ब तथा अभिमन्यु के विषय में भी सोचा नहीं जा सकता था।

राजा—अरे, जो गुण सहज होते हैं वे अव्यभिचारी भी होते हैं। क्योंकि—जान? पहिचाना नहीं है ऐसा कह कर या जानकर एक वार नहीं अनेक वार बहुत दिनों तक प्रयत्नपूर्वक परीक्षा लेने पर यह जातिविशेष या बहुमूल्य मणि जैसा अपने गुणों से दूने रूप में शोभित हो रहा है।]

४०. अनुक्तसिद्धि :—जैसे तापसवत्सराज में यौगन्धरायण ने अस्थिरचित्त वासवदत्ता से कहा—

यौग—कौशाम्बीं परिभूय नः कृपणकैर्विद्वेषिभिः स्वीकृतां
जानास्येव तथा प्रमादपरतां पत्युर्नयद्वेषिणः।
स्त्रीणाञ्च प्रिय-विप्रयोगविधुरं चेतः सदैवात्र मे
वक्तुं नोत्सहते मनः परमतो जानातु देवी स्वयम् ॥

[हम लोगों को दबा कर इन तुच्छ (कृपणक) शत्रुओं ने कौशाम्बी को ले लिया। इस प्रकार नीति से अनुसार चलने में रुचि न लेने वाले अपने स्वामी की प्रमादपरता को आप स्वयं ही जानती हैं तथा स्त्रियों का चित्त सदा ही प्रिय के वियोग में विधुर रहता है। अतएव इस विषय में कुछ भी कहने में मेरा उत्साह नहीं होता। इसके बाद के कर्तव्य को देवी स्वयं समझ लें।]

४१. प्रियोक्ति :—जैसे तापसवत्सराज में सप्तम अङ्क में भरतरोहक वासवदत्ता को वीणा का शिक्षण देने के लिये अर्पण करने की इच्छा से वत्सराज को देख कर कहता है :—

या शेते कौस्तुभस्य द्युतिकिसलयिते शारदव्योमनीले
विष्णोर्वक्षस्युदारे रजनिकरकराकारहारोपहारे।
साभ्येत्यालिङ्गतु त्वां प्रशिथिलगलितेनोत्तरीयेण लक्ष्मी-
र्हर्षादापीडयन्ती नवकमलरजोरोचनाभ्यां स्तनाभ्याम् ॥

[जिसमें कौस्तुभमणि की कान्ति किसलय के सदृश है, जो शरदकालीन आकाश जैसा नीलवर्ण है एवं चन्द्र की किरणों से निर्मल हार से विभूषित है, ऐसे उदार श्रीविष्णु के वक्षःस्थल पर जो शयन करती है वही शिथिल एवं गलित उत्तरीय वाली श्री लक्ष्मी स्वयं आकर अपने नूतन कमल के पराग से शोभित उरोजों से आपीडन करने के साथ ही आपका आलिङ्गन करे।]

४२. दृश्य एवं पाठ्य काव्यों की तरह श्रव्यप्रबन्धों में भी कथाशरीर के संविधान, सम्भाषण और वैदग्ध्यरूप इन (लक्षण नामक) कविव्यापार को इसी प्रकार समझना चाहिए।

४३. शरीर कल्प इसी लक्षण के शब्द तथा अर्थ गत अलङ्कारों का निरूपण करने के लिये उनका नामतः उद्देश्य कथन करते हैं—'उपमा' इत्यादि से। काव्य में लक्षण शरीर स्थानीय होता है उसके अर्थभाग में रहने वाले उपमा आदि तीन अलंकार होते हैं। जैसे हार से रमणी विभूषित होती है उसी प्रकार जहाँ पृथक् सिद्ध उपमान से प्रकृत वर्णनीय (मुखादि) को सुन्दर किया जाता हो वे ही अलङ्कार हैं।

प्रश्न—जिस हारादि अलङ्कार से कामिनी की सुन्दरता वृद्धिगत होती है वह रमणी से पृथक् सिद्ध है पर रमणी भी उससे पृथक् सिद्ध है। परन्तु ये उपमादि अलङ्कार काव्य से पृथक् सिद्ध नहीं, क्योंकि उनमें शब्द तथा अर्थ—जो काव्य के शरीरभूत हैं—उन्हें ही किसी भङ्गिमा से कहने पर अलङ्कार बन जाता है। उत्तर—यह ठीक है परन्तु ये शब्द और अर्थ कवि की बुद्धि में चञ्चलता से परिवर्तित होते रहते हैं जिनमें परिवर्तन ही पृथक् है तथा शरीर पृथक्। (अतः अलङ्कार पृथक् सिद्ध हो ही जाते हैं)।

इस अलङ्कार की स्थिति तीन प्रकार से है। एक स्थिति वह है जहाँ उपमानोपमेयभाव सम्पूर्ण या स्फुट हो क्योंकि वहाँ (उपमा में) वर्णनीय उपमान तथा उपमेय के द्योतक इवादि एवं साधारण धर्म की सन्निधि रहती है। दूसरी स्थिति वह है जहाँ उपमानोपमेयभाव निलीन (या अभिन्न) रहता है तथा जिसके कारण उपमानोपमेय एक कर दिये जाते हैं (या उनमें अभेद हो जाता है) तब यहाँ रूपक अलंकार का व्यवहार होता है। ऐसे स्थल पर पदार्थ को बतलाने के लिये प्रयुज्मान शब्द इवाद्यर्थ को गर्भित कर लेता सा प्रतीत होता है, यह न्यायसिद्ध (सिद्धान्त) है।

तीसरी है वह जहाँ कहीं पर तो धर्मियों के एक प्रघट्टक में रहने के सामर्थ्य या बल के कारण उपमा की गति होती है या उपमा का बोध होता है। जैसे—दीपक अलङ्कार में। यह भिन्न विचित्रताओं का उपलक्षण मात्र है अर्थात् ऐसी अनेक विचित्रताएँ होती हैं।

श्री भट्ट तोत का मत है कि लक्षण के बल से अलङ्कारों में विलक्षणता या वैचित्र्य (का आना) होता है। जैसे पूर्ववर्णित लक्षणों में गुणानुवाद नामक लक्षण के योग से प्रशंसोपमालङ्कार होता है, अतिशय के योग से अतिशयोक्ति, मनोरथ के योग से अप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसाय के योग से अपह्नुति तथा सिद्धि के योग से तुल्ययोगिता होती है। इसी प्रकार अनेक विलक्षणताओं की उत्प्रेक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त पारस्परिक विचित्रताओं से भी इनके अनन्त प्रकार हो जाते हैं। जैसे प्रतिषेध एवं मनोरथ के

मिश्रण से आक्षेप बनता है। यह समग्र अलंकार वर्ग उपमा का ही प्रपञ्च होता है, ऐसा भी विद्वज्जन मानते हैं।

४४. अब उपमा का लक्षण करते हैं—'यत् किञ्चित्' इत्यादि से। काव्यबन्धेषु—काव्यप्रबन्धों में। काव्यलक्षणों के रहने पर यहाँ यह दिखलाया कि 'गौरिव गवयः' में उपमा नहीं है। यहाँ बन्ध का अर्थ है गुम्फ, भणिति एवं कवि व्यापार। लक्षण अलंकार शून्य होता है किन्तु निरर्थक नहीं (इस विषय में उदाहरणों से दिखलाया जा चुका है) परन्तु गुण शून्य काव्य नहीं होता। काव्य में गुणों का अहेयत्व दिखलाने के लिये ही प्रसादादि में गुण शब्द को योजित कर व्यवहार रखा जाता है, क्योंकि उनके विना काव्यरूपता सम्भव ही नहीं। सुन्दरास्पद तो लक्षण रूप शरीर है ही जिसे पूर्व में कहा जा चुका है। उपमादि के विना काव्य होता है इसे बतलाने के लिये उपमादि में अलंकार का व्यवहार दिखलाया है। अतः स्पष्ट है कि लोकवत् यहाँ काव्य में अलङ्कारों की पृथक् सिद्धि नहीं हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी ने 'काव्य के शोभाधायक धर्म' को अलङ्कार कहा है भी।

४५–४८. अब उपमा के उदाहरणों को क्रमशः दिखलाते हैं—'एकस्येति' इत्यादि से। इसमें उपमा के लक्षण की योजना को 'तुल्यं ते' इत्यादि से दिखलाते हैं।

४९–५१. उपमान एवं उपमेय की संख्या के भेद से उपमा के प्रभेदों को दिखला कर अब तद्गत शरीर के भेदों को 'प्रशंसा चैव' इत्यादि से दिखलाते हैं। उपमान के प्राशस्त्य से प्रशंसोपमा होती है तथा उपमान की निन्दनीयता से निन्दोपमा। यही आगे भी समझना चाहिए।

५२–५३. इसी प्रकार सदृश के साथ सदृश कल्पित हो तो 'कल्पिता'। उदाहरण में जंगम पर्वतों की उपमानत्वेन कल्पना की गयी है क्योंकि अन्य से सादृश्य नहीं बनता। अन्य आचार्य सदृशी के स्थान पर कल्पितासदृशी पद में अकार का प्रश्लेष मान कर असदृशी पाठ मान कर उसकी व्याख्या करतें है कि यहाँ सदृश पद उपमेय को भी बतलाता है।

५४. जहाँ सादृश्य का गमक कोई स्फुट पद नहीं हो तथा न ही सर्वात्मना रूपक की तरह वस्तुद्वय का मीलन ही अतः समास से व्यक्त या निर्मित उपमा को किञ्चित्सदृशी कहा गया है तथा उदाहरण है—'सम्पूर्णचन्द्रवदना' इत्यादि।

५५. इसकी अन्य मत से व्याख्या है—इस ग्रन्थ में जिन्हें नहीं बतलाया उन्हें लोक या काव्य से ग्रहण किया जाए।

५६–५७ दीपक :—अब **'नानाधिकरणार्थानाम्'** इत्यादि से 'दीपक' अलङ्कार बतलाते हैं। नाना जो वाक्यरूप या पदरूप भिन्न-भिन्न शब्द हैं उनके अधिकरण में अर्थात् जिनकी वे साकांक्ष शब्द तथा उनका सम्यक् जो दीपक है अर्थात् आकांक्षापूरक गुण या जात्यादि जहाँ हो वह दीपक है। क्योंकि एक अवान्तर वाक्य के द्वारा असंयुक्त वाक्य भी संयुक्त की तरह कर दिया जाता है अतः देहली में जलाया हुआ दीपक जैसे बाहर और अन्दर प्रकाश करता है वैसा ही दीपक प्रकृति होने से यह 'दीपक' अलङ्कार है।

५८. रूपक—अब रूपक अलङ्कार को बतलाते हैं **'स्वविकल्पेन'** इत्यादि से। अपने विकल्प अर्थात् विशिष्ट कल्पना से वदन को चन्द्र रूप में रूपित करना अर्थात् दूसरे को अपने रूप से युक्त करना ही 'रूपक' है। यह दो प्रकार से होता है। एक वह—जहाँ तुल्य अवयव वाले अवयवियों को अन्य के रूप से युक्त करना तथा दूसरा किञ्चित् सादृश्य से युक्त रूप वाले बनाना। यहाँ कुछ एक दूसरे के रूप के सदृश रूप से युक्त अर्थात् रूपान्तर के द्वारा रूपित करना होता है तथा ऐसे स्थल पर एकदेशविवर्ति नामक द्रव्यादि रूपक हो जाता है यह प्रसिद्ध है।

अन्य **'नानाद्रव्यादि'** के अनुसार रूपक का पाठ लेते हैं। तदनुसार यह रूपक शब्द के अनुगत अर्थत्व का आख्यान करता है। इसमें औपम्य का गुण (गौण) रूप से अर्थात् अप्रधान रूप से संश्रयण करता है। इसके कारण रूप की जो किसी अन्य के रूप से निश्चय पूर्वक वर्णना है वही 'रूपक' है।

५६. यहाँ (पद्माननस्ताः' में) ''हंसकुलैः'' में अरूपित भी नर्मसचिवत्व व्यक्त होता है। इतना अंश 'यदि वा किञ्चिद्' के अनुसार द्वितीय भेद का उदाहरण है। यहाँ 'अन्योन्यमिव' पाठ ठीक नहीं है क्योंकि इव घटित पाठ में उपमा या उत्प्रेक्षा की आशंका होगी अतः 'अन्योन्यमिह' ऐसा पाठ उपयुक्त है।

६०. यमक :—यहाँ शब्दाभ्यास में शब्द पद से वाक्य, पद, पदैकदेश तथा वर्ण सभी का ग्रहण होता है। फलतः लाटानुप्रास आदि का भी इसी से ग्रहण समझ लिया जाना चाहिए। 'यम' उसे कहते हैं जहाँ दो बालक एक साथ (एक जैसे भी) उत्पन्न हों अतः तत्प्रकृतिक या उसी स्वभाव के कारण इसे 'यमक' कहा जाता है। यह वाक्य, पद एवं वर्ण के सदृश सान्तर या निरन्तर (रूप) में प्रयुक्त हुआ द्वितीय वाक्य, पद एवं वर्ण शोभा का आधायक हो जाने से अलङ्कार बन जाता है। पादादि में विकल्प कहने से मध्य एवं अन्त में स्थापन का नियम नहीं है अर्थात् इस विकल्प से लाटानुप्रास

का भी संग्रह कर लिया गया है। विशेष दर्शन का अर्थ है उद्देश्य एवं लक्षणों का दर्शन।

६१–६३. अक्षर पद से एक अक्षर तथा अनेक अक्षरों को लिया जाता है।

६५. संहृत :—संहृत है रश्मियों का मण्डल अर्थात् समुदाय या ओघ जिसका। तपनीयमण्डल पद का अर्थ है सौवर्णचक्र।

६७. जनीनाम् = युवतियों के साथ सम्वन्ध रखनेवाली। रामा पद सभी स्त्रियों का वाचक है। 'यामं यामं' यहाँ वीप्सा से सभी प्रहरों का ग्रहण किया गया है। पुष्प खिल रहे हैं और भौंरे उन पर मंडरा रहे हैं जिन्हें देखकर ये हँसती हैं तथा पुष्पों के खिलने पर भी जब भौंरे नहीं आकर मंडराते तो विस्मय करती हैं।

६९. प्रवरक अर्थात् श्रेष्ठ है आनन जिसका ऐसा हाथी। इसी प्रकार केतकी के पुष्प ही पीले दाँत जिसके हैं ऐसे हस्ति से युक्त प्रवर = श्रेष्ठ कानन = अरण्य शोभित हो रहा है।

७१. द्विश्रृंग = जिसके दो शिखर हों या दो उन्नत दाँतों की विशिष्टता से युक्त या दाँतों की विकलता या राहित्य से युक्त जिसके शिखर हैं।

७४. सञ्चिताः = युद्ध में एकत्र हो गये हैं। अनुपुङ्खगैः—पुङ्ख तक मग्न होने वाले। चित = व्याप्त। अन्य प्रकार से अर्थ में जैसे निहतास्तलैः को यदि निहतों के अस्त मरण को ला प्रदान करते हैं ऐसा हो तो यह क्लिष्ट कल्पना है।

८२. यह शरद् ऋतु वारण पुष्पों के विकास का समय है। इसी प्रकार वारण = हाथियों के अनामय अर्थात् स्वस्थ रहने का यही समय है। वारणों= शत्रुओ का यह काल = मृत्यु होता है। रणों = युद्धों का कालक्षेप अर्थात् समय का बिताना या चिन्ता का प्रवर्तक है।

८६. लक्षणों की प्रमुखता को संकेतित करते हुए उपसंहार करते हैं— **'एभिरर्थै'** इत्यादि से। अर्थक्रियायुक्तैः = अर्थ की क्रिया में रस-चर्वणा में युक्त योग है जिनका ऐसे। यह दोष विवरण कई प्राचीन पुस्तकों के अध्यायान्त में मिलता है फिर भी यही सर्वत्र मिलने के कारण इसकी व्याख्या की गयी। अतः परमपद से वक्तव्यान्तर संकेतित किया गया है। अतः अब दोष का ही आगे विवरण देगें।

८७-८८. गूढ़ार्थं आदि।—**"पर्याय"** इति। पद, वाक्य या अर्थ को पर्याय शब्द से कहना 'गूढ़ार्थं' दोष है। वास्तव में यदृच्छा शब्द या द्रव्य शब्दों को पर्याय वाचक नहीं बनाया जाता अतः दोष है।

९३. जहाँ दो वर्णों या पदों में नैरन्तर्य है अर्थात् अव्यवधान है, जहाँ विचार या सम्बन्ध है तथा जहाँ अन्य का अन्य में लय होता है। इस प्रकार सन्धान या सन्धि तीन प्रकार से होती है। जहाँ शब्द अयुक्त या युक्तिरहित अथवा पारुष्य का उद्भावक हो जाए तो 'विसन्धि' दोष हो जाएगा। यह दोष व्याकरणशास्त्र के अनुसार लागू होगा। ये दोष उत्तरोत्तर स्थूल हैं तथा कभी कभी गुण भी हो जाते हैं। (द्रष्टव्य ना० शा० द्वितीय भाग टिप्पणी पृ० ३००)।

९४. अब गुणों के विषय में प्रतिज्ञा करते हैं—'गुणाः विपर्ययाद्' इत्यादि से। इसका आशय है कि दोषों के विघात में ही गुण होते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि दोषों के विपर्यय में गुण सामान्यतः होते हैं या विशेष रूप से। इसका उत्तर यही है कि ये विशेष प्रकार से ही होते हैं, सामान्यतः नहीं। भरत के इस विचार का समर्थन उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी किया जिसका संकेत मात्र नाट्यशात्र में था। इस मान्यता का विकास विपर्यय या दोषों की अनित्यता में हो गया। दोषाभाव होने पर निर्दुष्ट काव्य सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। आगे भोज तथा मम्भट और हेमचन्द्र जैसे आचार्यों ने दोषहान तथा अदोषता शब्दों से इसी तथ्य को अधिक स्पष्टता प्रदान की क्योंकि दस दोष दस गुणों के विपर्यय मात्र नहीं होते हैं।

१०६. काव्यगुणों का लक्षण सहित विवरण भी भरत ने सर्वप्रथम दिया है परन्तु यह सभी पूर्व लक्ष्य लक्षणादि के आधार पर है यह स्पष्ट है। इस दृष्टि से वाल्मीकिरामायण, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा जैनागम उपजीव्य ग्रन्थ विशेषरूप से उल्लेख योग्य हैं। रामायण में रामकथा के सन्दर्भ में उदार मधुर तथा असन्दिग्ध, अविस्तर, संस्कारक्रमसम्पन्न तथा हृदयहारी गुणों का विशेषण के रूप में उल्लेख था। इसी प्रकार महाभारत में विचित्र-पदत्व श्रुतिसुख, मधुर और अर्थवत् आदि गुणों का उल्लेख है। अर्थशास्त्र में अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुरी, उदारता तथा स्पष्टत्व जैसे गुणों का वर्णन मिलता है। औदार्य तथा माधुर्य गुणों की स्थिति भरत के अनुरूप है। जैनागम के अनुयोगद्वार सूत्र में निर्दोष, सारवत् हेतुमत्, अलंकृत, उपनीत; सोपचार, मित, तथा मधुर—ये आठ गुण दिखलाये। गये हैं अन्य जैनागम रायप्रसेणीयसुत्त में (राजप्रश्नीय) में सत्यवचन के पैंतीस अवशेषों में संस्कार-वत्व, उदात्तत्व, उपचारोपेतत्व जैसे शब्दगुण तथा महार्थ, अव्याहत, पौर्वापर्य, असन्दिग्ध, देशकालयुक्त, अतिस्निग्धमधुर, उदार तथा ओजस्वी अर्थ गुण हैं जिनकी भरत के गुणों से भावनामूलक समानता प्राप्त होती है।

भरत मुनि के निरूपित गुणों के विवरण से स्पष्ट है कि उनकी चिन्तनधारा काव्यएवं नाट्योन्मुखी थी तथा शब्द एवं अर्थगत गुणों की अस्पष्ट रेखा भी इनके लक्षणों में प्राप्त रही। इनमें सौकुमार्य तथा अर्थव्यक्ति के लक्षण में प्रयोज्य तथा प्रयोग का उल्लेख नाट्योन्मुखी तथा समता, श्लेष एवं उदारता जैसे गुणों काव्योन्मुखी प्रवृत्ति को स्पष्ट निर्दशित करता है। इनके दस गुणों में कुछ अर्थगुण एवं कुछ उभयात्मक हैं। यद्यपि भरत ने गुणों की कोई विभाजक रेखा नहीं दी है परन्तु उसका ऐसा वर्गीकरण लक्षणों को लेकर सरलता से किया जा सकता है।

भरत के उत्तरवर्ती काल में आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकारते हुए गुण को उसके अंग के रूप में प्रतिपादित किया तथा आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रस को काव्य (नाट्य) की आत्मा मानकर रसाश्रित गुण का सिद्धान्त दिखलाया।

वामन के अनुसार गुण शब्दार्थमय काव्यशरीर के अविनाभूत अंग हैं जिनके बिना काव्य की शोभा की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः काव्य-रचना के लिये गुण सर्वस्व तुल्य ही हैं। आचार्य वामन ने भरतोक्त दस गुणों के स्थान पर शब्द तथा अर्थगत बीस गुणों को निरूपित किया। दस शब्द गुण तथा दस अर्थगुण। भोज ने वामन का ही अनुसरण कर कुछ परिवर्धन कर चौवीस गुणों को दिखलाया। जयदेव ने चन्द्रालोक में वामनप्रवर्तित गुणों का ही अनुसरण किया।

गुणसिद्धान्त की अन्य धारा में आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित परम्परा अधिक युक्ति सम्मत तथा व्यावहारिक रही। इसका प्रवर्तन आचार्य आनन्द-वर्धन नेकिया अवश्य किन्तु संवर्द्धन एवं परिवर्द्धन आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ महापात्र जैसे आचार्यो ने किया था। इसमें रस रूप काव्यात्मा के ओज, प्रसाद तथा माधुर्य नित्य धर्म हैं तथा अलंकार अनित्य धर्म माने गये तथा गुण दस या बीस नहीं तीन ही हैं तथा इन्हीं तीन गुणों में शेष गुणों का अन्तर्भाव होता है तथा कुछ गुणदोषा भाव रूप हैं। आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में आत्मा कीशूरता जैसे नित्य धर्मों की तरह ओज आदि गुण नित्य धर्म हैं तथा अलंकार कटक-केयूरों की तरह अंगों के माध्यम से आत्मरूप रस के उपकारक। इसी विचारसरणि के प्रकाश में मम्मट ने काव्य के लक्षण में अनलंकृत काव्य को भी काव्य मानने का विचार रखा तथा विश्वनाथ भी इसी मत को स्वीकार करते थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने भरत के रससिद्धान्त को पुनः नवीन रूप प्रदान किया था। आनन्दवर्धन की मान्यता में तीन गुणों में सभी का

अन्तर्भाव करने की प्रवृत्ति का आधार कदाचित भामह का गुणनिरूपण रहा था जिसके स्रोत का ज्ञान नहीं होता न और संकेत ही मिलता है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि भरत के द्वारा किया गया दोषाभावरूप गुण का संकेत गुणों की संख्या को कम करने के विचार के लिये पर्याप्त आधार बन गया। बात भी ठीक है कि गुण दोषाभावरूप होते हैं और हैं भी परन्तु तीन गुणों की कल्पना एक विशिष्ट विचार धारा के साथ आयी थी जो गुण के विकास क्रम में आज भी ज्योति स्तम्भ सी दीपित है, यह स्पष्ट है।

१०७. जहाँ तनुवाही (सूक्ष्म वाही) चित्त का परिस्पन्द नहीं रहे तो वहाँ वीर आदि में उपमा एवं रूपक जैसे अलंकारों में लघु अक्षर प्रधान 'वृत्त' रहते हैं।

११८. औदार्य अर्थगुण है जो प्रधानतया दीप्त रसों में रहता है। यह शब्द गुण भी है अतः दीप्तत्व के प्रकाशक वर्णों में स्थित रहता है। उसी का अनुयायी माधुर्य गुण है। ये गुण अपने अनुगत (अनुयायी) गुणों से अनुस्यूत मसृण रसों में स्थित रहते हैं।

११९. अर्थगुण योग्यता का अनिक्रमण किये विना सर्वत्र रहते हैं। इसे ही 'प्रमदाभिधेयान्' पद से कहा गया है। प्रमद अर्थात् हर्ष या हर्ष को उत्पन्न करने वाला सकल गुणों से समन्वित अभिधेय अर्थ जिन शब्दों का हो वे उदार एवं मधुर शब्द ही हैं।

१२१. ललित सुकुमार जो प्रयोग हैं वे ही नटों के द्वारा प्रयुक्त होने योग्य हैं इस तथ्य को दिखलाया है—'मृदुललित' इत्यादि से मुनि ने।



सप्तदश-अध्याय अनुबन्ध

१–४. शब्दों का शब्दों के साथ, अर्थों का अर्थों के साथ तथा शब्दों का अर्थों के साथ विचित्र संघटन करवाने वाली अभिधा विशिष्टा उक्ति ही निर्माण धुरा पर आरूढ़ करवाने पर 'लक्षण' वन जाती है। इसलिये लक्षण ही प्रधान है तथा गुण एवं अलङ्कार उसी के प्रसंग से प्राप्त होते हैं, यह बात लक्षणों के स्वरूप तथा व्याख्यान से स्पष्ट है। अब उद्देश्य कथनार्थं—**'विभूषणम्'** इत्यादि ४ पद्य कहते हैं। तदनुसार जो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों के वाचक शब्द हैं तथा जो उनके अर्थ हैं वे स्थायी भाव को रस रूप में परिणत करने रूप प्रयोजनान्तर को प्राप्त करते हैं तथा अभिधा व्यापर से उपसंक्रान्त होने वालेजो उद्यानादि अर्थ हैं वे लक्षण है। इसीलिये उनका काव्य में सम्यक् प्रयोग अभीष्ट है।

५. विभूषण :—इन लक्षणों में प्रथम विभूषण का लक्षण वतलाते है—**अलङ्कारै** 'इत्यादि से। कंकण जैसे अलंकार को पृथक् कर किस स्थान पर, किस समय, किस दशा में किस पुरुष को धारण करना चाहिए ऐसा विचार कर धारण किये गये अलंकार तथा गुण के द्वारा जो अलंकरण हो वह **'भूषण'** नामक लक्षण होगा। इसके विन्यास में कवि का व्यापार होता है और कवि के द्वारा शब्द और अर्थ का (भी) व्यापार (होता) है।

स्थान में निवेश का उदाहरण है—'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवान्त-र्निखातेव च प्रोत्कीर्णेव च वज्रलेपघटितेव (माल० मा०) इत्यादि। प्रस्तुत पद्य में विप्रलम्भ की अवस्थाओं को माधुर्य, प्रसाद आदि गुणों से युक्त काव्य में रखा गया है। यह विप्रलम्भ समस्त अलङ्कारवर्ग का अनुग्राहक कवि व्यापार रूप है, और इसी के कारण शब्द एवं अर्थ के व्यापार को स्पर्श करने वाला यह 'विभूषण' लक्षण हो रहा है।

६. अक्षरसंहति :—अब अक्षरसंहति को दिखलाते हैं—**'यत्राल्पैरक्षरै'** इत्यादि से। यहाँ अक्षर शब्द से यदृच्छा शब्दों की प्रमुखता बतलाई गयी है क्योंकि यदृच्छाशब्दों में स्वरूप को ही प्रवृत्ति निमित्त माना गया है। अतः श्लेष युक्त स्वल्प अक्षरों के द्वारा प्रवृत्तिनिमित्त स्वरूप से उपलक्षित होने के कारण विचित्र अतएव प्रकृत रस के योग्य विभावादि भाव को प्राप्त होने वाले अर्थ का

वर्णन किया जाता है। वह जिस अर्थ के विषय में श्रोताओं के हृदयों में उपसंक्रांत करने के लिये कविगण का व्यापार होता है वह अक्षरसंघात ही उस व्यापार के करने में कारण (बनता) है। अतः अक्षरों का संघात ही इसमें प्रधान है। इनमें यदृच्छा शब्द की प्रधानता का यह उदाहरण है :—

विस्तम्भादुत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तुः
कृत्वोत्सङ्गे सलीलं त्वचि कनकमृगस्याङ्गमाधाय शेषम्।
वाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनादरात्तीक्ष्णमक्ष्णोः
कोणेनोद्वीक्ष्यमाणस्त्वदनुजवदने दत्तकर्णोऽयमास्ते॥

[वानर सेनापति सुग्रीव के उत्सङ्ग में विश्वास पूर्वक अपने मस्तक को, अक्षहन्ता हनुमान के उत्सङ्ग में चरण को तथा कनकमृग की त्वचा पर शेष अंगों को स्थापित कर राक्षसों के विनाश करने के लिये अनुज लक्ष्मण के द्वारा प्रगुणित तीक्ष्य बाणों को आँखों के कोने से देखते हुए तथा हे रावण, तुम्हारे बन्धु विभीषण के मुख की ओर अपने कानों को लगा कर ये (यहाँ) श्रीरामचन्द्र विद्यमान हैं।]

यहाँ अलङ्कारों की योजना के बिना ही (शब्द की योजना की प्रमुखता के कारण से) जो अर्थों की सुन्दरता है वह 'अक्षरसंहति' है।

७. शोभा :—अब शोभा को कहते हैं—**'सिद्धैरर्थैः'** इत्यादि से।

जैसे—मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुत॥ (अभि०२।५)

[इसमें मेद के कम हो जाने के कारण उदर कृश हो जाता है इसलिये शरीर हलका और उठने योग्य हो जाता है। प्राणियों के भी भय एवं क्रोध की स्थिति में रहने वाले चित्त के भाव दिखलाई पड़ते हैं और फिर यह तो धनुर्धारियों का उत्कर्ष माना जाता है कि उनके निशाने चल लक्ष्य पर भी ठीक बैठ जाएँ। अतः ऐसी लाभदायक मृगया को व्यर्थ ही लोग व्यसन कहते है क्योंकि इतना विनोद अन्यत्र कहाँ प्राप्त हो सकता है।]

यहाँ मृगया रूप अर्थ का अविकल निरूपण किया गया है जिससे यहाँ जो अनुचित या अप्रसिद्ध अर्थ हैं वे ही उचित एवं विचित्र प्रतीत होते हैं। यहाँ अशोभन अर्थ भी इस प्रकार शोभित होने से 'शोभा' नामक लक्षण है।

७. अभिमान :—'**धार्यमाणस्तु**' इत्यादि से 'अभिमान' बतलाते हैं।

जैसे :—शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
सम्प्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससन्धुक्षिताः।
किं प्राणान् न हरन्त्युत प्रियतमा-संजल्पमन्त्राक्षरैः
वार्यन्ते किमु यद्विमोहविवशात् सन्तापतन्त्रा स्थितिः॥

[यदि चन्द्र की किरणें अमृतमयी है तो फिर ये मेरे मन को अतिशय क्यों सन्तप्त कर रही हैं। यदि कहें कि ये किरणें कालकूट विष के साथ वास करने से विषाक्त हो गयी है तो फिर ये प्राणों का हरण क्यों नहीं करतीं। ये प्राणों को हर लेती पर प्रिया के संभाषण रूप मन्त्राक्षरों से इस विष के प्रभाव को निवारण कर दिया गया है और जब ऐसा हो तो फिर से विष के प्रभाव से जन्य मोह के कारण सन्तापमयी स्थिति क्यों बना रहीं हैं।]

यहाँ एक अर्थ के साथ दूसरे अर्थ की योजना (घटना) इस प्रकार रखी गई है जिसमें फल की योजनाओं से धारण किया जाने वाला अर्थ हृदय में अवस्थित नहीं हो पाता है वहीं पर बँध जाता है। इस प्रकार अर्थ अलौकिक होने से विलक्षण एवं उपेय है। अतः यह अभिमान नामक लक्षण है।

९. गुणकीर्तन :—अब गुणकीतन का स्वरूप—'**कीर्त्यमानै**' इत्यादि से दिखलाते हैं। जैसे:—

पृथुरसि गुणैः मूर्त्या रामो नलो भरतो भवान्
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं तथा जनकः स्थितौ।
इति सुचरितैर्मूर्तिं बिभ्रच्चिरन्तनभूभृतां
कथमसि न मान्धाता देवस्त्रिलोकविजय्यपि॥

[हे राजन्, आप गुणों से पृथु या विशाल गुणशाली हैं, मूर्ति या आकार से आप श्रीराम, नल तथा भरत हैं, युद्ध में शत्रुओं के संहर्ता शत्रुघ्न हैं तथा पालन करने में आप जनक हैं। इस प्रकार उत्तम चरित्रों में चिरन्तन राजगण के स्वरूप को धारण करते हुए भी आप त्रिलोकजयी मान्धाता क्यों नहीं (अर्थात् मुझे पालित करने वाले) हो रहे हैं। (अवश्य होंगें)]

यहाँ गुणों के उल्लेख द्वारा प्रकृत की चारुता से 'गुणकीर्तन' नामक लक्षण है। यहाँ यद्यपि श्लेष भी अनुग्राहक के रूप में उपस्थित है परन्तु लक्षण अलङ्कारों में भी वैचित्र्याधायक होता है (अतः प्रमुख यहाँ लक्षण (ही) है।)

१०. प्रोत्साहन :—अब 'प्रोत्साहन' को—'**उत्साहजननै**' इत्यादि से

बतलाते हैं। औपम्य का अर्थात् उपमा का जहाँ संश्रय अर्थात् यत्नपूर्वक अन्वेषण हो ऐसे। जैसे भट्टेन्दुराज के इस पद्य में—

हरवृषभ तवेव तस्य माता जयति जगत्यसमानसूतिरेका।
निवसति परमेश्वरोऽपि यस्मिन् सहतनयः सगणः सहावरोधः॥

[हे नन्दीश्वर, संसार में एक मात्र असदृश एवं तुम्हारे सदृश जन को प्रसव करनेवाली तुम्हारे जैसी ही माता की जय हो। जिसका अन्वेषण कर परमेश शिव भी अपने पुत्रों एवं गणों को साथ लेकर अपनी सहधर्मिणी के साथ प्रसन्नता से निवास कर रहे है।]

यद्यपि यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है तथापि वैचित्र्य यहाँ लक्षण का ही है। इसे ही अन्यत्र पाठ में प्रियवचन या प्रियोक्ति कहा गया है।

११. **उदाहरण** :—अब उदाहरण को—**'यत्रैकस्यापि'** इत्यादि से कहते हैं।

जैसे :—वल्मीकात् किमुतोद्धृतो गिरिरयं कस्य स्पृशेदाशयं
त्रैलोक्यं तपसा जितं यदि सखे दोष्णा किमेतावता।
सर्वं साध्वथवा रुणत्सि विरहक्षामस्य रामस्य चेत्
त्वद्दन्ताङ्कितवालि-कक्षरुधिरक्लिन्नाग्रपुङ्खं शरम्॥

[यह वल्मीक से उखाड़ा हुआ पर्वत है यह बात किस के मन को स्पर्श करेगी अर्थात् इसे कौन स्वीकार कर सकेगा। परन्तु हे मित्र, तुमने तप के द्वारा भुजाओं में बल प्राप्त कर त्रैलोक्य को जीता तो इससे क्या हो गया। हाँ, ये सभी तभी साधु या ठीक होगी जब तुम विरह से क्षीणगात्र वाले श्रीराम के उस शर को सह सको जिसके पुंख का अग्रभाग तुम्हारे दांतों के घाव से अङ्कित वालि की कोख के रुधिर से आर्द्र हो गया है।]

यहाँ वालि के कक्ष के रावण के द्वारा काटने पर उसकी प्रतीकार करने की असमर्थता को दिखला कर फिर भी घमण्ड रखने की उसी की स्वकीय प्रकृति का ध्वनन होता है। यहाँ तुम्हारे दांतों से इस रूप में उसके धिक्कार का कथन करने से 'उदाहरण' है।

१२. **निरुक्त** :—निरुक्त दो प्रकार का होता है। एक सिद्धि अर्थात् जिसे लक्षण की स्वीकृति से सिद्ध किया जाए वह तथ्य तथा जो लक्षण से सिद्ध न हो वह अतथ्य। इसका उदाहरण अभिनवगुप्तपाद का यह पद्य :—

वीरोत्सवे सङ्गरसीम्नि मूढं यः प्रापयत् सत्यपथं कथञ्चित्।
स चार्जुनः सोऽपि च नाम कृष्णः प्रसिद्धिरित्थं वितथैव सर्वा॥

[वीरजन के लिये उत्सव रूप युद्ध स्थल में मूढ़ व्यक्ति को जिसने अपने उद्बोधन से सत्यपथ पर पहुँचा दिया वह पहुँचाने वाला तो कृष्ण (काला) और पहुँचने वाला अर्जुन (शुक्ल) है ऐसी यह सभी प्रसिद्धि वितथ (मिथ्या) ही समझना चाहिए ।]

यहाँ कृष्ण तथा अर्जुन के नामों से परस्पर अन्यत्र स्थल में सत्यता तथा अपने विषय में उनमें असत्यता है। यहाँ अर्थश्लेप नहीं हो सकता क्योंकि वह तुल्यसंख्या के पदार्थ में रहता है जब कि यहाँ एक का दूसरे में संकेत किया गया है। अर्थात् जो मूढ़ हो उसे कृष्ण (या काला) होना चाहिए किन्तु यहाँ वह अर्जुन है तथा जिसने सत्पथ पर पहुँचाया उसे अर्जुन होना चाहिए किन्तु वह कृष्ण है। इस प्रकार एक ही में दोनों का व्यवहार हो रहा है (यह तथ्य और अतथ्यभूत 'निरुक्त' है)।

१३. गुणानुवाद :—गुणों का अनुवाद अर्थात् अनुकथन करना। परिमित या परिच्छिन्न वस्तु की आपादित या कल्पित उत्कृष्ट गुण से उपमा के द्वारा जो गुणों का उत्सेक हो वही 'गुणानुवाद'। जैसे:—

'पालिता द्यौरिवेन्द्रेण त्वया राजन् वसुन्धरा।'

[हे राजन्, जैसे इन्द्र ने स्वर्ग का पालन किया था वैसा ही आपने इस पृथ्वी का पालन किया] यहाँ एक पृथ्वी पर स्थित मनुष्य राजा की इन्द्र से तुलना कर उसमें गुणों का उत्सेक सिद्ध किया गया है।

अतिशय :—उत्तम अर्थ अर्थात् कहे गये अर्थ से जो विशेष अर्थ है। जैसे भट्टेन्दुराज के इस पद्य में—

याचन्त्येव पदान्यलीकपिशुनैरालीजनैः शिक्षिता
तावन्त्येव कृतागसो द्रुततरं व्याहृत्य पत्युः पुरः।
प्रारब्धं परतो यथा मनसिजस्येच्छा तथा वर्तितुं
प्रेम्णो मौग्ध्यविभूषितस्य सहजः कोऽप्येष कान्तः क्रमः ॥

[उस मुग्धा को झूठी चुगली लगाने नाली उसकी सखियों ने जितने अक्षर (या वाक्य ; सिखलाये उतने ही अक्षरों को उसने (अविवेकवश) अपने अपराधी पति के सम्मुख वैसे ही कह दिया तथा फिर काम की भावना के अनुरूप रति भी की। यह तो भोलेपन से अधिक सुन्दर बन पड़ने वाले प्रेम का एक विलक्षण एवं सहज सुन्दर (एवं अतिरिक्त) प्रक्रम हो गया।]

यहाँ पर प्रेम में ईर्ष्यात्मा अर्थ जो हो सकता है उससे विशेष बात कही गयी है तथा प्रत्येक पद में जो अभिप्राय है वह भी सुन्दरता से देखने योग्य

रखा गया है अतः यहाँ 'अतिशय' है, क्योंकि यहाँ अर्थ सम्भाव्यमान है अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार नहीं है।

१४. हेतु :—अब हेतु या सहेतु को बतलाते हैं—**'बहूनाम्'** इत्यादि के द्वारा। अनेक बोलने वालों का अनादर कर किसी एक असाधारण अर्थ के निर्णय का कर्तव्य रूप में अवलम्बन कर सिद्ध प्रमाणभूत उपमान का प्रक्षेप या कथन हो (अर्थात् मुझे ऐसा प्रतिभात होता है)—तो उसे 'हेतु' समझना चाहिए। जैसे **भट्टेन्दुराज** के इस पद्य में—

एके वारिनिधिप्रवेशमपरे लोकान्तरालोकनं
केचित् पावकयोगितां निजगदुः क्षीणेऽह्नि चन्द्रार्चिषाम्।
मिथ्या चैतदसाक्षिकं प्रियसखि प्रत्यक्षतीव्रातपो
मन्येऽहं पुनरध्वनीन-रमणीचेतोऽधिशेते रविः॥

[दिन के क्षीण होने पर कुछ कहते हैं कि चन्द्र की किरणों का जलनिधि में प्रवेश हो जाता है, अन्य कहते हैं कि इसका अग्नि (में प्रवेश या) योग होता है किन्तु हे सखि, ये सभी बातें मिथ्या हैं, क्योंकि इनका साक्षी कोई नहीं है। परन्तु प्रत्यक्ष में जो इसका तीव्र आतप अनुभव किया जा रहा है उससे मैं तो यह मानती हूँ कि यह पथिक विरहियों के विरह से जलने वाली विरहिणियों के चित्त में सोया हुआ सूर्य है, चन्द्र नहीं]।

यहाँ असाधारण अर्थ का कथन होने से 'हेतु' है।

१५. सारूप्य :—अनुकरण से उत्पन्न होने से अपदेश जहाँ परोक्ष है तो 'सारूप्य'।

इसका उदाहरण आचार्य **अभिनवगुप्त** पाद का यह पद्यः—

सैन्दूरीकृतसान्द्रकुङ्कुमरसप्रच्छायमालोच्यते
यत् प्राच्यां दिशि वक्रिमास्पदमिदं दृग्द्वन्द्वलेह्यं महः।
तत्तेजो जरठांशुतां कलयता भाविप्रवासावधि
सन्ध्यामुग्धवधूकपोलफलके कीर्णो नखाग्राङ्कुरः॥

[जो पूर्व दिशा में टेढ़ा तथा दोनों नेत्रों से देखने योग्य सिन्दूर से गाढ़े कुङ्कुम रस सदृश यह दिखलाई दे रहा है। यह उस तेज की जरठांशुता को प्रवास की भावी अवधि की सूचना देनेवाले विधाता ने सन्ध्यारूपी मुग्धवधू के कपोल पर अङ्कित अभिनव नखाग्राङ्कुर है।]

यहाँ यत् पद से निर्देश्य जो वस्तु है वह परोक्ष है क्योंकि यहाँ तत्त्व का पूर्ण परिज्ञान नहीं है। आलोच्यते से उसकी छाया मात्र अपदेश्य है। यहाँ सैन्दूरीकृत इत्यादि से जिसकी दर्शन क्रिया बतलाई वह प्रमाण सहित वस्तु

है अतः यहाँ 'सारूप्य' लक्षण है। यहाँ उपमालङ्कार नहीं है क्योंकि उपमेय शब्दोपात्त नहीं है पर पूर्वार्ध से उपमेय को सूचित किया जाना अवश्य मिलता है।

१६. **मिथ्याध्यवसाय :**—अब मिथ्याध्वसाय को कहते हैं—**अभूतपूर्वैः** इत्यादि से। वास्तविकता से रहित अर्थों के द्वारा तत्तुल्य अवस्तुभूत अर्थान्तर का वक्ता के व्यापार या बोलने पर निश्चय होना 'मिथ्याध्यवसाय' है। जैसा अभिनवगुप्तपाद के इस पद्य में :—

यो दुर्जनाद्वाञ्छितसिद्धिमीहते स नूनमुत्क्रामति तं सुखैधिनम्।
जुह्वज्ज्वलाग्नौ विगतार्थमण्डलं प्रसह्य षष्ठं विषयं प्रसाधयेत्॥

[जो दुर्जन से वाञ्छित अर्थ की सिद्धि चाहता है वह अवश्य ही उस बढ़ने वाले सुख का उल्लंघन करता है और जलती अग्नि में हवन करते हुए हठात् ही अर्थ या प्रयोजन रूप षष्ठ विषय को सिद्ध करने का उद्योग करता है।]

यहाँ छठी इन्द्रिय के अभाव में उसके विषय की जैसे कोई स्थिति नहीं उसी प्रकार दुर्जन से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। यह काव्यलक्षण हैं ऐसा कहने का आशय यही है कि काव्य में लोक का विपर्यास थोड़ा या अधिक होता (ही) है। इसे अन्य पाठ में 'विपर्यय' बतलाया गया है।

१७. **सिद्धि :**—अब सिद्धि बतलाते हैं—**'बहूनाम्'** इत्यादि से। अनेक प्रसिद्ध पदार्थों में से किसी एक अप्रसिद्ध नाम को कहते हैं। यह उस अप्रसिद्ध की असाधारण सम्पत्ति के लिये कहा जाता है। अतएव उसमें जिसका निवेश कर वैसा कहते है यह सिद्धि का हेतु होने से 'सिद्धि' कहा गया है। जैसे :—

भद्रेश्वरः सुरसरित् स भवानहञ्च त्रैलोक्यसारमिह सम्प्रति जीवलोके।
भद्रेश्वरः सुरवरेषु सरित्सु गङ्गा त्वं पार्थिवेष्वहमतीव सुदुःखितेषु॥

यहाँ आप और मैं—इन अप्रसिद्धों का प्रसिद्धों के बीच में उपादान-असाधारण्य को दिखला कर 'सिद्धि' का विधान करता है।

१८. **पदोच्चय :**—अब पदोच्चय को **'गुणैर्बहुभिः'** से कहते हैं। एक तात्पर्य के विषयीभूत अर्थों के प्रतिपादक शब्दों के वाच्यरूप में स्वीकृत जो धर्म हैं उनका उपलक्षण कर जो वस्तु का प्रशंसन है वह पदोच्चय। क्योंकि अर्थों की उपलब्धि काव्य में स्थित पदों से ही होती है। अतः इन पदों का उच्चय अर्थात् बाहुल्य जहाँ हो वह 'पदोच्चय' है।

जैसे—असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं जननयननिर्माणमफलम् ।
अदर्पं कन्दर्पं मरणशरणं बान्धवजनं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः । (मालतीमाधवे ।)

[संसार को असार, त्रैलोक्य को रत्नरहित, संसार को प्रकाश हीन, लोकनेत्रों के निर्माणभूत सौंदर्य को निष्फल, काम को दर्प से विकल, वान्धवों को मरण की शरण लेने वाले तथा जगत् को जीर्ण अरण्य वनाने के लिये ऐसा व्यवसाय क्यों कर रहे हो (कि तुम मालती को मेरे ही सम्मुख समाप्त करना चाहते हो)]

यहाँ अवन्तर अर्थों के वोधक अवान्तर वाक्य रूप पदों का तात्पर्य एक ही है, किन्तु उन पदों का अपना वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न है । यहाँ पदोच्चय पद में पद का अर्थ है पाद या भाग । अन्य आचार्यों के मत में पूर्व से या आरम्भ से जो अर्थ चलता हो उसी अर्थ का अन्त तक चलना एकार्थ तात्पर्यक होता है अतः 'पदोच्चय' है ।

१६. आक्रन्द :—अव आक्रन्द को **'आत्मभावम्'** इत्यादि से कहते हैं । यहाँ एक अर्थ कटु या कठोर रहने से साक्षात् या सीधे नहीं कहा जाता है इसीलिये ऐसे अर्थ को सादृश्य के द्वारा आरम्भ में रख कर आगे स्फुट कर प्रतिपाद्य भाव को प्रधानता से रखते हैं, अतः यह 'आक्रन्द' है । जैसे **आचार्य अभिनवगुप्त** का यह पद्य :—

किं पान्थ त्वरसे विलोकय निशां या ह्युन्मुखी पाण्डुरा
चन्द्रं चुम्बितुमीहते प्रकटयन्त्यग्रे सरागां स्थितिम् ।
यद्वा नागर-भोगदुर्ललितकैर्न्यस्तापि न ज्ञायते
ग्रामेऽग्राम्यजनोपभोगसुभगं निर्व्याजरम्यं सुखम् ।।

[—अरे पथिक, तुम क्यों इतनी शीघ्रता कर रहे हो, जरा इस रात्रि को तो देखो जो उन्मुखी अर्थात् अपने प्रिय की प्रतीक्षा में ऊपर मुँह किये हुए तथा विरह से पाण्डुर (पीली) हो गयी है तथा जो आरम्भ में ही अपनी राग-मयी ऐसी स्थिति को दिखला रही है या फिर नागरिक पदार्थों के भोग दुलारों से उपेक्षित कर दी गयी है जिसे वह नहीं जानती परन्तु यह समझ रखिये कि इस ग्राम में भी नागरजन के उपभोग की सुभग, निश्छल एवं रमणीय सुख की स्थिति वन सकती है ।]

यहाँ उत्तरार्ध में संकेतित ग्रामीण भोग को नायिका स्वाभिप्राय के रूप

में सीधे न कह कर अरोचक एवं रोचक सुख के उपन्यास से दोनों प्रकार के तत्त्वों को वतलाते हुए निशाकर के वृत्तान्त की समानता से अपने अभिप्राय को प्रकट करती है अतः 'आक्रन्द' है। यहाँ प्रथमार्ध से पर सादृश्य तथा उत्तरार्ध द्वारा अप्रत्यक्ष भाव की ज्ञापना या संकेत भी दिया गया है।

२०. मनोरथ :—अव मनोरथ को **'हृदयस्थस्य'** इत्यादि से कहते हैं।

जैसे :—णिग्गंध-दुरारोहिं पुत्तअ मा पाडलिं समारूढ़।
आरूढणिपडिआ के इमिए ण कआ इह गामे॥

[निर्गन्धदुरारोहां पुत्रक पाटलिं मा समारोह।
आरूढ़निपतिताः के ऽनया न कृता इह ग्रामे॥—छाया]

[नासमझ वेटे, गन्धशून्य एवं कण्टकाकीर्ण रहने से आरोहण के अनुपयुक्त इस पाटली पर तुम आरोहण मत करो, क्योंकि इस ग्राम में इसने किसे ऊपर नहीं उठाया और फिर नीचे गिराया है।]

यहाँ वृक्ष पर आरोहण करने के व्याज से किसी पुंश्चली के इच्छुक व्यक्ति को कोई वृद्धा अपने अभिप्राय को दिखला कर समझा रही है। यह अन्य को कह कर उसके अन्तर्गत (अर्थात् अन्यापदेश में रहने से) प्रस्तुत ही है अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है ही, परन्तु यह लक्षणीय रहने से 'लक्षण' ही हैं; क्योंकि अलङ्कार में अलङ्कार्यत्व असत् है यह कोई युक्ति नहीं हो सकती।

२१. आख्यान :—अव आख्यान को—**अपृष्टै'** इत्यादि से कहते हैं। जहाँ प्रश्नों के द्वारा अनेक पदार्थों का निश्चय होता है। जैसे—'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं' इत्यादि (अम० शत०) पद्य की उक्ति प्रत्युक्तियों में। या फिर विना ही प्रश्न किये प्रश्न जैसे वाक्यों से शक्य या अशक्य वस्तुओं के कथन से जहाँ निश्चय हो ऐसे प्रदेश में जैसे 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः' इत्यादि पद्य में है। यह नाटकाश्रय लक्षण होता है अतः बार-बार प्रयोग के योग्य होता है, यह दिखलाया गया है।

२२. याञ्चा :—अव याञ्चा को **'आदौ यत्'** इत्यादि से कहते है। इसमें प्रथमार्ध से हित या इष्ट को दिखलाया (गया) है, जिससे यह आशय प्रकट होता है कि प्रथम अर्थात् आपालतः वह परुष होता है किन्तु परिणाम में वही वस्तु सम्यक् फल वाली हो जाती है, अतः प्रिय है तथा हितावह होने से भी प्रिय है ऐसी समझाने की बुद्धि से याञ्चा करना ही 'याञ्चा' है। जैसे **आचार्य अभिनवगुप्त** के निम्न पद्य में :—

भूमिः कण्टकिनी पुरो विटपिनः प्रायो वहूपद्रवाः
भूयश्चैव दिवाकरो मृगयते सन्ध्याङ्गनासङ्गमम् ।
तद्विश्रम्य जनोऽयमत्र सदने ग्राम्योचितां सेवतां
प्रातः पान्थ विचार्य चेतसि चिरं स्थातासि गन्तासि वा ।।

[यह भूमि कांटों से युक्त है, सामने वाले वृक्षों में उपद्रव भरा है तथा इधर यह सूर्य भी अपनी सन्ध्यावधू के साथ मिलन को खोज रहा है। इसी कारण इस समय घर में विश्राम लेकर ग्राम्योचित क्रिया का उपभोग करना उचित है और प्रातः होने पर विचार करना कि आगे जाना ही है या ठहरना है।]

(इसे ही अन्य पाठ में 'दाक्षिण्य' माना है तथा इसका जो अन्य लक्षण भी मिलता है उसे यथा स्थान देखना चाहिए)

२३. प्रतिषेध :—अब प्रतिषेध का निरूपण करते हैं—**'कार्येषु'** इत्यादि से। जैसे **अमरूक** के इस पद्य में :—

लग्ना नांशुकपल्लवे भुजलता न द्वारदेशेऽर्पिता
नो वा पादयुगे तथा निपतितं तिष्ठेति नोक्तं वचः ।
काले केवलमम्बुदालिमलिने गन्तुं प्रवृत्तः शठः
तन्व्या वाष्पजलोपकल्पितनदीपूरेण रुद्धः प्रियः ।।

[वह पुरुष जब अम्बुराशि से मलिन मेघों वाले समय में दूर देश जाने को उद्यत हुआ तो उसे रोकने के लिये उस वाला ने न तो कपड़े को पकड़ा, न द्वार देश पर अर्गला सी भुजलता को फैलायी, न उसके चरणों में गिरी और न ठहरने के लिये शब्द ही कहे किन्तु वह विरह में रोने लगी तो उसके आँसुओं की नदी वहने से वह शठ उसके प्रवाह से मार्ग अवरुद्ध हो जाने से आगे नहीं जा सका।]

इस पद्य के तृतीयपाद से नायक के विपरीत कार्य की प्रवृत्ति दिखलाई गयी है और पद्यार्ध से नायिका की। यद्यपि कर्तव्य विमूढ़ता की स्थिति यहाँ ही सामने आती है परन्तु अन्तिम कार्य से उसने प्रिय की यात्रा का निवारण कर ही डाला। यह वात) चतुर्थपादगत कविचातुर्य से दिखलाई गयी अतः यहाँ 'प्रतिषेध' है।

२४. पृच्छा :—अब पृच्छा का निरूपण करते हैं—**'यत्राकारोद्भवैः'** इत्यादि से। जैसे वेणीसंहार में—

किं भीमाद् गुरुदक्षिणां गुरुगदाद् भीमप्रियः प्राप्तवान्' (वे० सं० ६।)

[क्या उन ने भयंकर गदाधारी तथा प्रिय भीम से गुरुदक्षिणा प्राप्त की ?]

यहाँ आकार एवं अभिप्राय सूचक काक्वादि से उद्धृत शक्ति के द्योतक वाक्य के कारण 'पृच्छा' है।

२५. दृष्टान्त :—अब 'दृष्टान्त' कहते हैं—**'विद्वान्'** इत्यादि से। जैसे **अभिनवगुप्तपाद** के इस पद्य में :—

हा हालाहल लेहने हतमतिः सोऽयं समुत्कण्ठितो
गाढ़ाङ्गारगरिम्णि चैष जडधीर्देहं निविक्षेप्यसि।
ग्राम्योऽप्याजगरीं गुरुं गलगुहां मोहादयं धावति
व्याधूयेतरसङ्गतानि यदयं सार्धं खलैः खेलति॥

[अरे यह कैसा दुर्बुद्धि है जो अति भीषण विष को चाटने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है, यह धधकते अंगारों वाली अग्नि में अपने शरीर को पटकना चाहता है, यह गँवार पुरुष मोहवश अजगर की गले रूपी गुहा में घुसने के लिये दौड़ लगा रहा है, क्योंकि यह उत्कृष्ट संगति को छोड़ कर दुष्टों के साथ खेलना चाहता है।]

यहाँ जिस हालाहल के साथ साम्य दिखलाया है यही दृष्टान्त है। प्रश्न—साम्य जब किया जाए तो उपमा होती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि यहाँ निदर्शन की प्रक्रिया से दृष्टान्त द्वारा साम्य किया गया है। इसलिये यह ऐसा करने को उद्यत हुआ है या हो गया है।

२६. निर्भासन :—अब निर्भासन कहते हैं—**'अनेकयुक्ति'** इत्यादि के द्वारा। जैसे वेणीसंहार में—'कर्त्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी' (वे० ५।२६) [द्यूत के द्वारा छल से लाख के घर में आग लगाने वाला वह अभिमानी] इत्यादि। इससे प्रकृत में क्रोधादि का भास होता है अतः निर्भासन है।

२७. संशय :—अब संशय का लक्षण कहते हैं—**'अपरिज्ञात'** इत्यादि से। जैसे विक्रमोर्वशीय में—

तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेत् मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्तः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥ (वि० व० ४।२)

[मेरे ऊपर कोप रख अपने दिव्य प्रभाव से वह अन्तर्धान हो गई हो। परंतु वह बहुत देर तक तो कुपित नहीं रहा करती। कदाचित् स्वर्ग को उड़ गयी हो, परन्तु उसका मन तो मुझमें पूर्ण अनुरक्त है। सम्भव है कोई शत्रु

उड़ा ले गया हो। नहीं—मेरे सामने साधारण शत्रु तो क्या देवशत्रु राक्षस भी उसे हरण नहीं कर सकते हैं। वह फिर भी आँखो से वह कैसे एकदम ओझल हो गयी, यह कैसा व्यवहार है।]

यहाँ आद्यभाग संशय का उदाहरण है तथा शेष भाग उपपत्ति का है।

२८. आशी :—अब आशीः को बतलाते हैं—**'यथा शास्त्रार्थ'** इत्यादि से। जैसे रत्नावली में—'पादाग्रस्थितया' (१।१) इत्यादि। प्रश्न—यह आशीः अलंकार लक्षण कैसे हो गया। उत्तर—क्योंकि यहाँ वर्णनीय स्तुति ही है।

२९. प्रियवचन :—अब प्रियवचन को बतलाते हैं—**'आदौ यत्'** इत्यादि से। जैसे :—

> किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थः
> तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।
> गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्यां
> उन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः॥

[दूसरों के घर की बात से हमें क्या वास्ता किन्तु मैं चुप रहने में समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव ही है कि वे स्वभाव से ही वाचाल होते हैं। अच्छा, वह दूसरों के घर की बात क्या है, तो कहता हूँ कि आपकी वल्लभा कीर्ति घरों, बाजारों, चौराहों और मद्यशाला तक में उन्मत्त हुई सी घूम रही है। (अर्थात् आपकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो रही है।]

यहाँ आपकी वल्लभा घूम रही है यह कथन आरम्भ में क्रोध का जनक होकर भी 'हन्त कीर्तिः' कहने पर हर्ष का भी उत्पादक है, अतः 'प्रियवचन' है। यहाँ व्याजस्तुति नहीं है क्योंकि जहाँ निन्दा का अंश है वहाँ स्तुति नहीं है और पूरी तरह से नहीं निन्दा है।

३०. कपटसङ्घात :—अब कपट-संघात को बतलाते हैं—**'छलयुक्त्या'** इत्यादि से। यहाँ छल के प्रयोग या बहाने से वञ्चना करने वाला कथन या अर्थ को अन्यथा ग्रहण करना कपट है तथा उसका संघात 'लक्षण' बनता है। यह कपट वस्तुक्रम से या दैव से या शत्रु के प्रयोग से उद्भूत होता है। इनमें वस्तुक्रम से उद्भूत जैसे—मालतीमाधव में मकरन्द का मालतीवेषधारण करना। दैवोद्भूत जैसे—नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन का शंखचूड को छलना। शत्रु के प्रयोग से उद्भूत जैसे छलितराम नाटक में लवणासुर द्वारा प्रेषित राक्षसों के द्वारा मन्थरा और कैकेयी का वेष धारण कर गर्भवती सीता को निर्वासित करवाना। इसके अतिरिक्त अन्य भी हैं—जैसे कृत्यारावण के प्रथम

अंक में सीता के वेष को धारण करने वाली शूर्पणखा के द्वारा लक्ष्मण को वञ्चित एवं तिरस्कृत करना । 'ता सव्वहा अण्ण एव्व दे अणिवंद्धं अभिप्पाअं लक्खेभि' [तत् सर्वथा अन्यमेव तेऽनिर्बन्धमभिप्रायं लक्षयामि] इत्यादि से ।

३१. क्षमा :—अब क्षमा को बतलाते है—'दुर्जनोदाहृतै' इत्यादि से । दुर्जन के क्रोध उत्पन्न करने वाले कथनों से सभी के समक्ष सभा में तिरस्कृत होकर भी जो पुरुष क्रोध नहीं करता वह क्षमावान् है । ऐसे उस पुरुष के वर्णन योग्य कवि व्यापार को 'क्षमा' लक्षण समझना चाहिए । इससे यह भी सूचित होता है कि औचित्य के अनुरूप भिन्न वृत्तियों का विभावादि के उपयुक्त सञ्चय काव्यलक्षण के रूप में संग्रह के योग्य होगा । इसका उदाहरण जैसे आचार्य अभिनवगुप्तपाद का यह पद्य :—

श्रोत्राय दुष्टवचनं प्रति किं न कोपः क्षोभं करोति हृदये ननु कोप एव ।
मित्रं ममैष तु निजात्मनि योऽपकारं कृत्वा ममाशुभकलङ्क-विघातहेतुः ॥

[क्या कानों को बुरे वचन सुन कर क्रोध नहीं होता परन्तु जो हृदय में क्षोभ उत्पन्न करे वह तो कोप है ही परन्तु जो अपकार करके भी मेरे अशुभ कलंक को दूर करने में कारण बनता हो वह तो मेरा मित्र ही होगा यह निश्चय ही कहा जा सकता है ।]

३२. प्राप्ति :—अब प्राप्ति को दिखलाते है—'दृष्ट्वैवावयवं' इत्यादि से । जैसे शाकुन्तल में—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढ़ा जघनगौरवात् पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥ (अ० शा० ३।५)

[पीली रेत से युक्त इस लतामंडप के द्वार पर आगे की ओर उठा हुआ तथा कटि भार के कारण पीछे की ओर गहरा होने वाला यह नवीन पदचिह्न दिखाई पड़ रहा है ।]

इस लक्षण (पद पंक्ति रूप अंश) को देख कर वह यहाँ होगी ऐसा शकुन्तला के सद्भाव का उन्नयन 'प्राप्ति' है ।

३३. अब पश्चात्ताप को दिखलाते हैं—'अकार्यं सहसा' इत्यादि से । सहसा का अर्थ है विना विचार के किसी न करने योग्य कार्य को करके ।

जैसे—'मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः ।
कथमप्युन्नमितं न चुम्बितन्तु ॥ (शाकु० ३ । २२)

[उस मनोहरनेत्रों वाली का कन्धे की ओर मुड़ा हुआ मुँह किसी प्रकार उठाया तो परन्तु मैं चूम न सका ।]

३४. अनुवृत्ति :—अब अनुवृत्ति को बतलाते है—'प्रश्रयेणार्थ' इत्यादि के द्वारा। जैसे भट्टेन्दुराज का पद्य है :—

राज्ञा यद्यनुरुद्धचसे यदि भवेद्वाच्यं पुरा मादृशां
तत् सङ्क्रन्दनगोप किञ्चन मनाक् पृच्छत्यधीरो जनः।
अग्रे रोहणचारिणां सरभसं सञ्चूर्यमाणश्चिरं
कम्प्रत्याययितुं प्रयासरसिको यत्नेन रत्नायसे॥

[राजा यदि अनुरोध या आग्रह करें और वह भी यदि मेरे जैसे व्यक्ति को कहने योग्य हो तो हे इन्द्रकीट, यह अधीरजन पूछता है कि रोहण पर्वत पर सञ्चार करते समय सहसा आगे आने पर बलात् चूर-चूर किये जाने भी प्रयास करने में रसिक तुम किसे विश्वास देकर समझाने के लिये अपने को बड़े यत्न से अपने को रत्न के समान मान रहे हो, यह तो बतलाओ।]

यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा के होने पर भी अप्रस्तुत का जो स्वरूप या शरीर-गत वैचित्र्य है वह लक्षण के द्वारा ही हो रहा है, क्योंकि लक्षण शरीर भूत है यह पहिले कहा जा चुका है।

३५. उपपत्ति :—अब उपपत्ति बतलाते है—'प्राप्तानाम्' इत्यादि से। यहाँ 'प्राप्तानाम्' में वीप्सागर्भ निर्देश है अर्थात् जो जो प्राप्त होते हों। दोषाणाम् अर्थात् अवस्तुभूत क्योंकि उन अर्थों में उपपत्ति का कोई योग या सम्बन्ध नहीं दिखलाई देता है। जैसे विक्र० के पद्य 'तिष्ठे कोपवशात्' इत्यादि में। (इसे सम्पूर्ण दिखाया जा चुका है, पृ० ४९३ पर)। अथवा

जैसे :—क्वाकार्यं शशलक्ष्मण, क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥ (विक्र०)

[अप्सरः कन्या में आसक्ति रूप अकार्य कहाँ और कहाँ चन्द्र का उन्नत वंश। यह कार्य कुलमर्यादा के विपरीत है। क्या वह फिर कभी दिखाई पड़ेगी। अरे! दोषों की शान्ति के लिये हमारा शास्त्र ज्ञान होता है। अरे। कोप में भी उसका मुख नितना मनोहर है। निष्पाप एवं पूज्यजन क्या कहेंगे ऐसे सदाचार कें परित्याग करने पर। पर अब तो वह स्वप्न में भी मिलना दुर्लभ है। अरे मेरे मन, तुम धैर्य एवं स्वस्थता रखो। कौन युवक धन्य होकर उसके अधर का आस्वादन करेगा।]

३६. युक्ति :—अब युक्ति का लक्षण करते हैं—'साध्यते' इत्यादि से।

जैसे :—लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलकाण्डमृणालदण्डाः ॥

[यह कोई अन्य ही लावण्य सरिता है जहाँ चन्द्र के साथ कमल भी तैर रहे हैं, जिसमें हाथियों की कुम्भतटी उन्मग्न हो रही है और कदलकाण्ड तथा मृणालदण्ड भी बह रहे हैं ।]

यहाँ स्पृहणीय उत्कृष्ट नेत्र, मुख आदि का परस्पर शोभात्मक तथा आनुकूल्य से उपलक्षित समवाय हैं उससे उपपन्न सरिता रूप अपूर्व अर्थ को सिद्ध करने वाली अर्थ योजना के कारण यह 'युक्ति' है ।

३७. कार्य :—अब कार्य को बतलाते हैं—'यत्रापसारयन्' इत्यादि से । दोष को दूर कर गुण का तत्काल वाच्छनीय अर्थ में नियोजन करें या गुण को हटा कर दोषों की किसी प्रकृत अर्थनीय पदार्थ में योजना करें तो 'कार्य' होता है । इसका प्रथम स्थिति में यह उदाहरण है :—

'तावत् स्वात्मनि संश्रितद्रुमलताश्लेषोऽध्वगैर्वर्जनम्' इत्यादि ।

[पथिकजन मार्गस्थित द्रुम के साथ लता के संश्लेष को भी कामोत्तेजक होने से देखने की इच्छा छोड़ कर त्याग देते हैं, क्योंकि वैसा वे अपने लिये ठीक नहीं मानते ।] इत्यादि ।

द्वितीय का उदाहरण है अभिनवगुप्तपाद का यह पद्य :—

विश्वप्रभो वितरतां कमलां किमन्यत् भूयात् स कोऽपि घटितो भवतोपकारः ।
दूराध्वगेषु पुनरम्बु तथा विकीर्णमन्ते यथा त्रिभुवने प्रसृतं यशस्ते ॥

[हे विश्व के नियन्ता, कमला को हमें प्रदान कीजिये, अन्य बात से हमें क्या प्रयोजन ! कमला के देने से आपके द्वारा हमारा महान् उपकार हो जाएगा । दूरस्थ पथिकों के लिये ऐसा जल प्रदान दीजिये जिससे त्रिभुवन में आपका यश फैल जाए क्योंकि यही अन्तिम कार्य है जो करने योग्य है ।]

यहाँ आपने इसका महान् उपकार किया तथा पथिकों के लिये अतिशय जल को तृष्णा निवारणार्थ प्रदान किया परन्तु इसके साथ विश्वप्रभो इस अर्थ की पर्यालोचना से 'कार्य' रूप अर्थ की प्राप्ति हो जाती है ।

३८. अनुनीति :—अब अनुनीनि का लक्षण बतलाते हैं—'अपूर्व' इत्यादि के द्वारा । अपूर्व अर्थात् अतिशय तीव्र क्रोध को उत्पन्न करने के लिये जो अपराध हो उसे दूर करना 'अनुनीति । जैसे रत्नावली में 'प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते' (र० २ । १९) [आप प्रसन्न हों ऐसा यदि कहता हूँ तो यह कथन आपके क्रोध के बिना बनता नहीं है (इत्यादि).

अर्थात् यह तभी कहा जा सकता है। जब आप कुपित हों जब कि आपके कुपित होने का कोई अँदेशा ही नहीं है।

३६. परिदेवन :—अब परिदेवन का स्वरूप बतलाते हैं—'दोषैर्यदन्य' इत्यादि से। जैसे बालरामायण में दशरथ के नाम से जो राम को निर्वासन देने आदि में दोष कहे गये थे उन प्रसिद्ध दोषों का राक्षसों के साथ सम्बन्ध जोड़ना उचित है, दशरथ के साथ नहीं। ऐसे युक्तियुक्त वाक्यों का प्रयोग करना 'परिदेवन' समझना चाहिये। जैसे—नरेन्द्रे वृद्धे स्त्रीवशः यत्नमयशः' (राजा ने बुढ़ापे में स्त्री के वश होकर अयश में अपने को डाल दिया) इसके अतिरिक्त किसी प्रयोजन से अन्य के नाम पर अभिहित जो अर्थ है उनका प्रसिद्ध अर्थों (दोषों) के साथ सम्वाद अर्थात् अन्य के मन में स्थित दोषों का सम्वन्ध वतला देना, जो वस्तुतः किसी अन्य के साथ होना उचित हो तो ऐसे वाक्यों का कथन भी 'परिदेवन' होता है। जैसे इस पद्य में :—

एनां पश्य पुरस्तटीमिह किल क्रीडाकिरातो हरो
गाण्डीवेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते—
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डनम् ॥

[इस सामने की तटी को तो देखो, यहाँ कीड़ा के बहाने से किरात वेषधारी भगवान् शिव के चूडान्तर पर (मस्तक पर) अर्जुन ने गाण्डीव धनुष का बड़े वेग से शक्तिशाली प्रहार किया था। ऐसी सुभद्रापति (अर्जुन) के शौर्य की अद्भुत कथा को सुन कर जिसने अपने भुजाओं को मन्द मन्द मण्डलाकार किया या भुजाओं में मण्डन किया।]

यहाँ तट के विलोकन के उद्देश्य से जो धनञ्जय का व्यापार बतलाया गया उसने किसी राजा के मन में दोषों का सम्बन्ध उत्पन्न कर डाला अर्थात् उसे ईर्ष्या हो गयी कि मेरे मनुष्य होने तथा अर्जुन के भी मनुष्य रहने पर मेरी अर्जुन के सदृश पराक्रम करने की सामर्थ्य कहाँ (अर्थात् उससे मैं न्यून हो रहा हूँ)। अतएव इस मण्डन से अधिकार स्थित लोगों को क्या मद होगा। इस प्रकार उस विषय में परम औचित्य का ख्यापन रूप प्रयोजन 'परिदेवन' है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि के व्यापार के बल से प्राप्त अर्थ जो लौकिक एवं स्वाभाविक कारण जहाँ विद्यमान हो वहीं 'लक्षण' होता है। यह इन उदाहरणों से तथा लक्षणों से व्याख्यात हुआ।



अष्टादश अध्याय

(भाषा-विधान)

१. शास्त्रों में प्रसिद्ध संस्कृत भाषा के विपरीत प्राकृत भाषा के प्रसंग से संस्कृत से जिनका रूप विपरीत है तथा जिनका विधान नहीं किया गया है ऐसे शब्दों के भाग रूप का निरूपण तथा नाट्य के अनुरूप व्यवहार में आने वाले मारिष आदि नामीसमूह के पठनधर्म क्या प्राकृत में भी संस्कृत जैसे ही होना चाहिए या अन्यथा, इस विचार या आशंका के कारण प्रसंगतः कर्तव्य दशरूपकों के स्वरूप का भी निरूपण प्रभावित होता है। इसी प्रकार पूर्व अध्याय के अन्त में पाठ्य का उपसंहार करने से सम्प्रति 'प्राकृत-पाठ्य' का विवरण आवश्यक है।

२. अपभ्रंश के विषय में विधान को दर्शाने के लिये—**'नाना'** इत्यादि से कहा गया है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है—नाना अर्थात् भिन्न-भिन्न जो अवस्थाएँ देश विशेष से हैं उनमें आत्मा अर्थात् नियतस्वभाव जिसमे हो; अर्थात् प्रसिद्धि के कारण जो देशविशेष में नियत की गई हो ऐसी भाषाएँ। इससे यह भी प्राप्त हुआ कि संस्कृत भाषा के शब्द ही वाचक हैं अन्य अर्थात् प्राकृत भाषा के जो शब्द हैं वे अनुमानतः वाचक होंगे। इसीलिये कहा गया है कि अन्यत्वेन प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। प्रश्न—अवस्था शब्द का यहाँ देशविशेष अर्थ कैसे हुआ। उत्तर—क्योंकि जिसमें लोक निवास करते हैं अतः देश विशेष अवस्था ही है और फिर देशविशेष में ही लोक निवास भी होता है।

३. संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में प्रातिपदिक शब्द समान होने पर भी विभक्ति में स्वर के कारण विपर्यास होना आवश्यक रहता है। देशी पद का भी प्रयोगदशा में स्वरगत सम्बध से ही यहाँ उपयोग किया जाता है अतः वह भी प्राकृत ही है। अन्य आचार्य के मत में प्राकृत वह है जिसमें व्युत्पन्न नहीं की गई प्रकृति से प्राप्त तथा अव्युत्पन्न जन से जो शब्द प्रयोज्य है तो वही प्राकृत। इसके तीन प्रभेद यहाँ उद्देश्य क्रम में दिखलाये हैं।

४–५ जो शब्द संस्कृत तथा प्राकृत में समान है उन्हें दिखलाते हैं—**'कमलामल'** इत्यादि से। प्राकृत में विभक्तियों में लिङ्गगत स्वातन्त्र होता है अतः संस्कृत प्राकृत में (परस्पर) भेद रहना स्वाभाविक है। इसीलिये कहा कि—**'संस्कृतेष्वपि'** अर्थात् संस्कृत भाषा भी योग को प्राप्त करती है।

भाषा-श्लेष तथा पताका-स्थानक आदि में इनके प्रयोग कहे गये हैं। यहाँ अपि शब्द से यह भी कहा गया है कि प्राकृत में प्रयुक्त शब्दों में समास होने पर उन शब्दों में संस्कृत की समानता नहीं होती जैसे कमल, अमल, इन्द्र इत्यादि में।

६–७. अब विभ्रष्ट को—'ये वर्णाः' इत्यादि से दिखलाते हैं तथा पुनः इसी को आगे—'एओआर' इत्यादि कारिका से भी दिखलाते हैं।

१७. अपरस्पर निष्पन्नाः=एक दूसरे से संश्लिष्ट नहीं होने वाले अर्थात् असंयोग वाले या असंयोगरूप वर्ण। अब जहाँ वर्ण संयुक्त हैं उनके विषय में (संयुक्तानाम्) भी।

१८. संयुक्त वर्णों के क्रमशः उदाहरण देते हैं—'श्चप्सत्सथ्याः' इत्यादि से। 'वच्छों' में वत्स के त्स को छ हो जाता है।

२२–२३. ब्रह्मा शब्द में म प्रथम और ह बाद में आ गया तथा 'ब्र' का अन्तर्वर्ती रेफ का लोप हो गया है। इसी प्रकार रेफ का सर्वत्र लोप हो जाता है वह चाहे ऊपर हो या नीचे—जैसे शक्र तथा अर्क में या कभी दोनों में जैसे 'निर्ह्रदि' शब्द में है।

२५–२७. संस्कृत एवं प्राकृत भाषा ही वक्तृभेद से चार प्रकार की हो जाती है—इसको दिखलाते हैं—'भाषा' इत्यादि से। संस्कृतभाषा ही संस्कृत है। इसमें स्वरभेद आदि समस्त संस्कार प्राप्त होने से यह 'संस्कृत' कहलाती है। भाषाओं के भेद में इसे बतलाने का आशय यही है कि यह भाषा वह है जिसमें वैदिक शब्दों का बाहुल्य है परन्तु जो आर्यभाषा से विलक्षण है।

२८–२९. 'म्लेच्छशब्दोपचारा' में उपचार पद का अर्थ है व्यवहार। पशुपक्षी आदि के शब्दों को भी नाट्य में किसी प्रयोग के अवसर पर सुनाना संभावित है। एतदर्थ कहते हैं—'नाट्यधर्मी' इत्यादि से।

३२. कारणव्यपदेशेन=अर्थात् किसी कारण के बहाने से या अवस्था आदि के वश होकर।

३३. ऐश्वर्येण प्रमत्त पद के द्वारा यहाँ वेदशास्त्रादि के अध्ययन से हीन हो जाने की स्थिति संकेतित की गयी है।

५९–६०. गङ्गासागरमध्य—पद से पूर्व दिशा के देशों के निवासी जन को दिखलाया गया है। विन्ध्यसागरपद से दक्षिण सौराष्ट्र का ग्रहण किया गया है। सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु से पश्चिम सौराष्ट्र तथा वेत्रवती (बेतवा) नदी से उत्तरवर्त्ती प्रदेश में स्थित प्रदेश को यहाँ लिया जाता है।

एकोनविंश अध्याय

(सम्बोधन तथा काकुस्वरव्यञ्जन)

१. वाक्यविधानं तु—यहाँ 'वाक्यविधानं' पद से भाषा को लिया जाता है क्योंकि भाषा वाक्य के आश्रित होती है तथा वाक्य का प्रयोग किसी संवाद के ही लिये नाट्य में किया जाता है। इस प्रकार वाक्य तथा भाषा में अन्योन्य-रूपता का आनयन किया जाता है तथा इसी आशय से वाक्यग्रहण पद विधान भी हो जाता है।

३. देवानां देवाः—अर्थात् जो देवताओं से स्तुत्य हैं या उनके भी आदर-पात्र हैं। तथा-पद से यदि स्त्री हो तो उन्हें 'भगवती' पद से सम्बोधित करना चाहिए।

४–६. नानाश्रुतधराः अर्थात् जो बहुश्रुत हैं। क्षाम्यम् = इस कथन को स्वीकार किया जाए।

७–८. सचिव = मन्त्री, राजा का सहायक एवं परामर्शदाता। सपरि-वारम् = आशय यही है कि हीन पात्र जब राजा को सम्बोधित करें तो अपना नाम लेकर करें तथा उत्तमपात्र सम्बोध्य का भी नाम लेवे।

१३. कर्म अर्थात् कार्य जैसे पाकादि का विज्ञाता या व्यवसायी। विद्या = त्रयी आदि वेदविद्या। जाति = गोत्र अथवा देश।

१५. शाक्य = बौद्धभिक्षु। निर्ग्रन्थ = क्षपणक। पाषण्ड = पाशुपत सम्प्रदाय के साधु। स्वसमय = जैसे पाशुपतों के अपने आचारानुसार भासर्वज्ञ इत्यादि पद से किये गये सम्बोधन।

१६. यौवन में पति को स्त्रियाँ आर्यपुत्र कह कर सम्भाषण करें परन्तु यौवन से भिन्न दशा में श्वसुर के वंश या उसमें अपत्यप्रत्यय के साथ ही शब्दप्रयोग किया जाए। जैसे—हे महाराज। यहाँ यौवनपद का आशय है कि शृङ्गार के उपयुक्त स्थिति में ही।

२२. स्थानीया = पूज्य तथा अवस्था में जो थोड़ी भी बड़ी हों, ऐसी पारिवारिक स्त्रियाँ।

२६. पत्नी को भार्या शब्द से सम्बोधित करे। इसी कारण नाट्यवेद के महासत्र में दीक्षित सूत्रधार अपनी नटी पत्नी को 'आर्ये' कह कर बुलाता

भी है या पिता के नाम से भी—'जैसे 'हे माठरपुत्रि; इत्यादि, या पुत्र के नाम से भी—जैसे—'हे सोमशर्मजननि इत्यादि।

२६. पुरोहित आदि उत्तम पात्र भी राजा की तरह भार्या को 'आर्ये' पद से सम्वोधित करें, परन्तु यौवनावस्था में।

३०. औत्पत्तिकानि = स्वकल्पित अतएव जो अप्रख्यात है। तल्लिङ्गार्थानि = प्रकृत अर्थ की सूचना करने वाले।

३१. इसी को निदर्शन के द्वारा स्पष्ट करते हैं—'ब्रह्मक्षत्रस्य' इत्यादि से। प्रश्न—नाम तो संज्ञा मात्र होता है उसे जैसा चाहे रख सकते हैं। उत्तर—नाम के अनुरूप कर्म होना चाहिए अतः नाम रखते समय कर्म का भी ध्यान रखना चाहिए। नाम का अक्षर ग्रहों के अभिचार एवं यन्त्र, मन्त्र एवं तन्त्र के अनुसार अनुष्ठित कर्मादि के द्वारा होता है अतः जव पीड़ित हो जाते हैं तो उनका इन्हीं से शान्तिक या पौष्टिक कर्म द्वारा उपचार भी किया जाता है तथा पुरुष को फल प्राप्ति भी अपने नाम के अनुरूप ही होती है।

३७. नट स्वयं कवि भी होता है तथा कवित्व युक्त भी। इसी अभिप्राय को ध्यान में रख कर भाषाविधान को समझकर पाठ्य के प्रयोग का विधान वतलाया गया है अर्थात् परिज्ञान पूर्वक काव्य का निर्माण हो तथा अवसर आने पर पाठ्य का प्रयोग भी रहे। यदि अन्य कवि हो तो पाठ्य की संज्ञा प्रयोग का मूलभूत तत्त्व हो जाता है। अतः तदनुसार ही प्रयोक्ताओं को इसका व्यवहार समझ कर करना चाहिए। षडलङ्कार है—(१) स्वर, (२) स्थान, (३) वर्ण, (४) काकु, (५) अलंकार तथा (६) अङ्ग। इनसे भूषित काव्य ही पाठ्य कहलाता है।

पाठ्य स्वर आदि छः अलंकारों के अधीन होता है अतः पाठ्य के गुणों को वतलाने की वात कही गयी है। गुण अर्थात् जो उपकारक है तथा जिनसे काव्य उपकृत होकर पाठ्य होता है।

अब गुणों का उद्देशक्रम से व्याख्यान करते हैं—'तत्र' इत्यादि से। इनमें प्रथम स्वर है जिसके विषय में जो भी वक्तव्य है वह आगे गेयाधिकार प्रकरण में (ना० शा० अध्याय २८ में) दिखलाया जाएगा। स्वर ही काकु में भी उपयोगी होता है तथा स्थानादि उसके परिकर होते हैं। यहाँ स्थान शब्द के द्वारा काकुओं के अपने रूप की निष्पत्ति हेतु आश्रय दिखलाया गया है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित नाम से शास्त्र में स्वर प्रसिद्ध हैं,

इनमें जो अनुरणनमय रक्ति या अनुरंजना की प्रक्रिया है उसे छोड़ देना चाहिए (क्योंकि वह गीत में रहेगी)। इसे छोड़ कर शेष जो केवल उच्च, नीच तथा मध्यवर्ती स्थान का स्पर्श होता है वही पाठ्य में उपयोगी है। यदि पाठ्य में स्वरगत रक्ति का प्रधानतः आश्रय लेगें तो फिर यह गानक्रिया होगी पाठ्य नहीं। यहाँ गान क्रिया में उच्च आदि स्थानों का स्पर्श ही प्रधान है इसी बात को प्रकृत में वर्णों का उपादान कर वतलाया गया है।

चित्तवृत्ति के समर्पण द्वारा अभिनय क्रिया की अनुभावरूपता के लाभ के लिये रसों के भेद से काकुविधान रखा जाता है। इसी कारण काकुओं का सर्वत्र अनुगत रूप होता है जिसका स्वर की अतिशयिता में उपयोग (किया जाता) है। इसका आगे भी मुनि ने काकुशब्द के द्वारा उच्च, दीप्त आदि अलङ्कारों में व्यवहार वतलाया है क्योंकि पूर्णता को प्राप्त अलङ्कार आदि काकुओं के ही उपकारक या सम्पादक होंगे। क्योंकि काकु अर्थों में अभि-नेयता लाता है अतः काकु ही प्रधान होता है। अन्यथा यदि काकु प्रधान नहीं होता तो जिसका अंगों के मध्य पाठ किया गया उस मध्यगत अंग का उपसंहार और अन्य अंगों का निरूपण आदि सभी असमञ्जस हो जाता। इस कारण प्रकृत में पाठ्य में काकु ही प्रधान होता है यही सिद्धान्त मान्य है।

अव इन स्वरों के आश्रम को दिखलाते हैं—त्रीणि स्थानानि के द्वारा। यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वर किसी स्थान विशेष से ही उद्भूत होते हैं अतः स्वर ग्रहण से ही स्थान भेद प्राप्त हो जाएगा पुनः स्थान का ग्रहण क्यों किया गया? इसका उत्तर यही है कि यहाँ स्थानपद का ग्रहण ६६ प्रकार के स्थान भेदों की निवृत्ति करने के लिये है। ये छाछठ (६६) प्रकार किस प्रकार?—उत्तर—उरः प्रदेश में २२—जहाँ श्रुतियाँ तथा स्वर हैं। इसी प्रकार कण्ठ तथा मूर्धा में होकर ये छाछठ (२२ × ३ = ६६) हो जाते हैं। इन स्थानों के स्पर्श होने पर गान ही होता है पाठ्य नहीं। इसीलिये पाठ्यगुणान् पद में पाठ्य को गुण अर्थात् उपकरण वाचक मान कर व्याख्यान किया जाता है।

"शारीर्यामथ वीणायाम्" इत्यादि। वीणा दो प्रकार की होती है जिनमें एक शरीर रूपी वीणा है जिसमें उरः, शिर तथा कण्ट स्थान हैं। यह वीणा बिम्ब स्थानीय होती है। दूसरी वीणा तुम्वी घटिता है। दण्डरूपा वीणा बाह्य वीणा है तथा यह प्रतिबिम्ब स्थानीया है। इस बाह्य बीणा में काकु की सम्पत्ति विद्यमान होती है जो रंजनात्मक स्वर स्वरूप है। शारीरी के साथ वीणा शब्द के कहने का आशय यही है कि यह शरीर के मध्य में विवृत हृदयाकाश

के परिग्रहण हेतु है। क्योंकि बिना आकाश के शरीर मात्र में स्वर की निष्पत्ति नहीं हो सकती, वह यदि होगी तो उस आकाश में ही होगी।

दूसरी जो दण्ड वीणा (तुम्बी घटिता) हैं, वह उत्तरोत्तर चिह्नित स्थान से विशिष्ट रहकर बाह्य वीणा कहलाती है तथा इसमें भी स्वरों के निष्पत्ति स्थान होते हैं। शारीरी वीणा में उरः, कण्ठ तथा शिरः ये तीन स्थान (नियत) हैं। इसी प्रकार बाह्य वीणा में भी तारों के स्थान बने हैं, वे इसमें सोपान पंक्ति की तरह क्रमिक हैं। अतएव इनसे काकुस्वर लक्षित होता है तथा इसी के आधार पर इसका लक्षण हुआ है। काकु जिह्वा के व्यापार से सम्पाद्य होने से यह 'काकु' कहलाती है।

४१. इस प्रकार इन तीनों स्थानोंके रूपोंका विभाग कर उनका विषयभेद दिखलाने के लिये बतलाते हैं—'आभाषणञ्च' इत्यादि के द्वारा। शिरसा = शिरो निष्पन्न तार से। इसका उपयोग दूरस्थ संभाषण में किया जाता है। कण्ठेन = मध्यनाद से। इसका उपयोग नातिदूर स्थल के सम्भाषण में होता है। उरसा = मन्द्र नाद से। इसका उपयोग समीप के सम्भाषण में किया जाता है।

४२–४३. इस प्रकार इन तीन स्थानों का पृथक् २ उपयोग दिखला कर अब इन्हीं का एक साथ उपयोग भी दिखलाते है—'उरसोदाहृतम्' इत्यादि के द्वारा। इसका आशय यही है कि पाठ्यका आरम्भ मन्द्र स्वरसे करते हुए उसे तार स्वर तक ले जाकर फिर मन्द्र पर समाप्त कर देना चाहिए। जब न तो दीप्त रूप क्रोधादि भाव से और न मन्द्र शोकादि से हृदय आविष्ट रहे तो वक्तव्य वस्तु के विषय गत उत्साह के विस्फारण (व्यक्ति) से स्वर को तार तक ले जाकर उपसंहार के समय मध्य में विश्राम करे, यही सामान्यतः पाठ्य का धर्म या विधान होता है।

४३. स्थान भेद को दिखला कर अब वर्णों के स्वरूप को दिखलाते हैं—'उदात्तश्च' इत्यादि से। उच्च, नीच तथा मध्यम एवं उच्च, नीच रूप अवलम्बन से स्वरों के चार धर्म हो जाते हैं। पाठ विशेष की क्रिया का विस्तार करने वाले वर्ण 'गुण' होते हैं अथवा स्वार्थ विशेष को विवृत या प्रकटन करने वाले वर्ण 'गुण' हैं। यहाँ तपोधनाः (कहने) सम्बोधन का आशय यह है कि आप सूक्ष्मवेदी है अतः इस विषय के विचार के अधिकारी हैं।

अब गद्य भाग द्वारा वर्णों के विषय दिखलाते हैं—'हास्यशृङ्गारयोः' इत्यादि से। हास्य तथा शृङ्गाररस में मध्यम तथा पञ्चम इत्यादि रूप में जिस

क्रम से पाठ है उसी रूप में योजना अभीष्ट नहीं है। अतः हास्य में मध्यमा या पञ्चमी जाति के स्वरों का ग्रहण कर उसी अवसर पर उच्च मध्यम स्थान का स्पर्श कर पाठ किया जाता है। इसी प्रकार शृङ्गार, हास्य तथा वीर इन तीनों में षड्जा तथा आर्षभी के अंश को लेकर उसी में उदात्त एवं कम्पित वर्णो से पाठ किया जाता है। बीभत्स में धैवती के अंश स्वर का आश्रम लेकर स्वरित वर्ण से पाठ किया जाए, भयानक में उसी धैवतीयांश स्वर का आश्रय लेकर कम्पित वर्णों से पाठ होता है। इस प्रकार आगे की जातियों के विनियोग के अनुसारी स्वरों के अनुवाद द्वारा उदात्तादि वर्णो में न कि स्वरों में तात्पर्य लिया जाए क्योंकि उनका अन्तरालाप ग्रहण ही प्रयोजन है।

४४. इस प्रकार काकु की उत्पत्ति का प्रतिपादन कर उसके अर्थ के विषय में व्यापार दिखलाते हुए उद्देश्य क्रम का अनुसरण कर उसके प्रभेद दिखलाते है—'द्विविधा काकु' इत्यादि के द्वारा। वाक्य जहाँ साकाङ्क्ष है वहाँ साकाङ्क्ष काकु होगी। वक्तृगत आकाङ्क्षा का वाक्य में उपचार रहता है। उस आकाङ्क्षा का निश्चय प्रकरणादि के बल से तथा आकांक्षा की विशिष्ट-विषयता का अवगम प्रकरण के बल से होता है। यही बात यहाँ कारिका के द्वारा कही गयी है। 'अनियुक्तार्थकं वाक्यम्' में इसी अंश को बतलाया है। वाक्य के सङ्केत-बल के आधार पर जैसा न्यून या अधिक अर्थ प्रतीत हो वैसा ही प्रमाण बल से निर्णय के योग्य वाक्य हो तो वह निराकांक्ष तथा इसके विपरीत अर्थवाला हो तो साकाङ्क्ष वाक्य होगा।

वाक्य में स्थित काकु का अब आगे अभिधान करते हैं—तत्र साकाङ्क्षम्' इत्यादि गद्य भाग से। जिसका अर्थ नियुक्त नहीं होता वह अनियुक्तार्थ है जिसे साकाङ्क्ष बतलाया गया है—उसकी मन्द्र स्वर से उपक्रम कर तार स्वर से समाप्ति करते हुए पाठ किया जाता है। यहाँ (सब) क्रिथा विशेषण कितने आते हैं—इसे भी बतलाने के लिये कहते हैं कि कण्ठ एवं उरः स्थान में हैं। उदात्तादि वर्ण उच्च, नीच, दीप्त आदि अलंकार जहाँ अपरिसमाप्त दशा में (अर्धस्पष्ट रूप में) छोड़ना क्रिया विशेषण है तथा इस क्रियाविशेषण के रूप में पठ्यमान वाक्य में ध्वनिगत धर्मविशेष या विकार विशेष (ही) काकु है। यह काकु आकांक्षा के अन्त में या अर्थ की परिसमाप्ति पर अथवा उस अर्थ में नहीं अथवा अर्थ विशेष में रहती है अथवा विशेषार्थ के न होने पर भी होती है। अतः कोई निश्चय नहीं होने से इसके (काकु के) अनेक स्थल होते हैं।

४५. जो अलं अर्थात् पर्याप्त रूप में काकु के स्वरूप का सम्पादन करता है वह 'अलङ्कार' है। तीनों स्थानों में प्रत्येक की ऊर्ध्व, अधः तथा मध्य की कल्पना के द्वारा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित के निर्वाह के द्वारा इसका स्वरूप निष्पन्न होता है। इनमें आवेश के अभाव के कारण सभी स्थानों में मध्यम भाग में यह विद्यमान होता है किन्तु उर्ध्व तथा अधः भाग में यह आवेश की स्थिति या भाव में होता है। इस प्रकार तीनों स्थानों में प्रत्येक का अवलम्बन करने से छः अलङ्कार वन जाते हैं।

गद्यभाग—उच्चो नाम इत्यादि। इनमें शिरके अधोभागमें दूरस्थ व्यक्ति के साथ भाषण करने में 'तार' वतलाया गया है जो स्वर काकु का विषय है। विस्मय के ज्ञान होने पर वही रस काकु तथा दूसरों को भयभीत करने पर वही अभिनय से विभाव काकु हो जाता है। स्वर काकु से ही श्रुति काकु होता है जो भिन्न होता है। यह श्रुति काकु आक्षेप के अवसर पर ऊर्ध्व अर्थात् तारतम होता है जिसका होता स्थान शिर ही है। यहाँ तार शब्द प्रकर्ष का उपलक्षण है। इन आक्षेपादि में अवस्थाओं के अनुसार श्रुति, विभाव एवं रस भेद से तीन रूप में काकुओं का विभाग हो जाता है। जो उर के उर्ध्वभाग में है वह मन्द्र है तथा उसी उरः के नीचे भाग में अत्यन्त मन्द्र नीच काकु है। दीनता की अवस्था में वही काकु दो रूपों को ग्रहण करती है। अपनी चित्त-वृत्ति के अर्पण करने से रस काकु तथा पररूप में उत्पादन करने पर विभाव काकु होती है। यहाँ प्रधानतया दोनों का आदर किया गया है और स्थानों से इन दोनों का आदर नहीं किया जाता किन्तु जो प्रधान है उसी के अंश का व्यपदेश होता है। स्वाभाविक भाषण वहाँ होता है जहाँ वक्ता आवृत्त-कंठ स्वर वाला हो। आवृत्तकण्ठ स्वर का अर्थ है संवृत स्वर से युक्त कंठ वाला व्यक्ति। त्रास के भय से गिर जाने वाला त्रस्त पतित। त्रास के समय काकु दीप्त ही होती है। कण्ठ स्थान में ऊर्ध्व भाग निष्पन्न होती है, इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि स्थान भेद ही अलङ्कारता का प्रयोजक है।

५६. अब सभी का संग्रह कर कहते हैं—'यानि सौम्यार्थे' इत्यादि से। सौम्य=जो सोम की तरह आह्लादक हो। सुखभाव—=यहाँ सुख के हेतु तथा कार्य दोनों का सुखभावकृत् शब्द से समासभेद से संग्रह किया गया है।

५७. नाना—नाना आश्रयों से उपेत अर्थात् युक्त का अनेक स्थानों में निवेश करते हुए पाठ्य का प्रयोग या विधान रखना चाहिए। काकुओं को पर्याप्त या परिसीमित करने में कारण होता है उनके आश्रयों या स्थानों का भेद।

अङ्गानि इत्यादि के द्वारा काकु की ही प्रधानता है इसका उपसंहार करते हैं—'अथाङ्गानि' इत्यादि गद्यभाग से। वाक्य का जो न्यास, त्यजन या अनादरण है वह नाद का ही है। अतः भाव एवं अभाव, उपचय तथा अपचय और आरोह तथा अवरोह इनके कारण नाद छः प्रकार हो जाता है। स्वर के रूप में विहित अन्तराल विशिष्ट श्रुतियों में जो वैस्वर्य है, वह ध्वनिगत विसंवाद से होता है यह (ऐसे स्थानों पर) सर्वत्र समझना चाहिए।

शृङ्गार में (जो) उदात एवं स्वरित को अर्पण एवं विच्छेद आदि अङ्गों को तथा विलम्बित को अलङ्कार कहा गया वह दूरस्थ पुरुष के साथ आभाषण में कर्तव्य है। शिरः स्थान में षड्ज या पञ्चम में से किसी एक के स्थायी स्वर के आश्रय के द्वारा अंश स्वर के विभाग से चार चार को मिला कर किया जाता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो फिर दूरस्थ के साथ आभाषण आदि सभी कथन पुनरुक्त हो जाएगा। दीपन तथा प्रशमन के विषय में यह विधि है कि मन्द्र करने के वाद तार नहीं किया जाता है, इसी प्रकार मन्द्रतार से तार तर को और तारतर से मन्द्र को भी नहीं करना चाहिए।

समग्रतः काल-तत्त्व की भावना अशक्य है अतः उद्देश्य ग्रन्थ से ही लय और विराम कहे जाते है तथा जिनमें उद्देश्य कुछ भी नहीं होता। विच्छेद से लय को स्वीकार किया गया है। विच्छेद का अर्थ है विराम। यह विराम कितने समय वाला हो इसी प्रश्न से लय भी मान लिया जाएगा। इस प्रकार यह विच्छेद की भी परीक्षा हो गयी।

अर्थ की समाप्ति के लिये विराम किया जाता है। अर्थ = अवान्तर वाक्य का अर्थ। केवल छन्द की अपेक्षा से विराम नहीं किया जाता क्योंकि कवि प्रयोग के अधीन (परतन्त्र) रहता है और जब कवि (ही) परतन्त्र है तो फिर उसे विराम वाले छन्दों में विराम के लिये प्रयत्न करना (ही) चाहिए। प्रयोग कवि के आधीन नहीं है इसीलिये कहा भी गया कि विराम अर्थ की अपेक्षा या अधीनता के कारण किये जाते हैं। एक, दो या तीन आदि संख्याओं का यहाँ जो निर्देश किया गया है वह (इसी) नियम का उपलक्षण समझना चाहिये। जैसे :—'किं गच्छ' इत्यादि पद्य में है।

प्रश्न—अवान्तर वाक्य के अर्थ में विराम का विधान है तो फिर एक वाक्यता न रखना (या मीमांसाशास्त्र के अनुसार वाक्यभेद करना) दूषण होता है। उत्तर—कभी-कभी एकवाक्यताभाव दूषण नहीं भूषण भी हो जाता

है। इसके उपपादन में यही कहा जा सकता है कि किसी वस्तु की सूचना देने में या अंकुरगत अर्थ (मूलभूत अर्थ) को कहने में उपचार में अल्पाक्षर वाले पद की काव्य में (या पद्य में) स्थिति रहनी चाहिये। काव्य अनेक विध सूचाभिनय तथा अंकुर के प्रकारों से युक्त होता है यदि यही स्वल्पाक्षर वाले असमस्त पद वाला भी हो तो। क्योंकि अनेक या बहुअक्षर वाले पदों के बीच सूचा तथा अंकुर की उपपत्ति नहीं होती है।

६१. विराम के होने पर (ही) अभिनयस्थ पदार्थ को विषयानुरूप प्रयोग में दिखलाया जा सकता है, वह पदार्थ विराम से अवगत होता है तथा कार्य की अवधि या समाप्ति में विराम रखना होता है। तब समापनीय पदार्थ का स्वरूप उसकी विरामावस्था में प्रतीत हो जाता है इसीलिये कहा गया है कि विराम होने पर अभिनय अर्थ को दर्शाता है तथा विराम के अभाव में यही असमञ्जस हो सकता है या यही कि अभिनय के अर्थ का वहन विराम ही करता है।

६२–६६. इसी तथ्य को बतलाते हैं—'यत्र व्यग्रा' इत्यादि से भी। इस प्रकार इसी बात को पहिले दृष्टि की प्रमुखता के तात्पर्य से बतलायी थी अब यहाँ दृष्टि समन्वित हस्तों की प्रधानता से बतलाने से पुनरुक्ति नहीं होती है। इसी की व्यापकता को दिखलाई है 'प्रायः वीर, रौद्र आदि में करना चाहिये' इत्यादि कथनों से। कुञ्चितौ = संकोच युक्त। अलङ्कार यहाँ उच्च, दीप्त इत्यादि होंगे जिन्हें वृत्त के विराम स्थल में रखना चाहिए। जैसे— 'यो यः शस्त्रं विभर्त्ति (वे० सं० ३।) में है भी।

उच्च दीप्त 'काकु' को पद के अन्त में नहीं रखा जाए। वीर तथा रौद्र रस में भी स्रग्धरा प्रभृति लम्बे वृत्तों में अर्ध या आदि में विराम नहीं रखना चाहिए किन्तु पद के अन्त में ही। जैसा कि कहा भी है—'प्राणवशेन वा'। अर्थात् आरम्भ में आधे में प्रायः प्राण वायु का संवेग नहीं होता। आशय यही कि पद के अन्त में ही विच्छेद किया जाए। अथवा 'प्राणवशेन में' प्राणशब्द का अर्थ है रस भावादि। अतः रस एवं भावादि के औचित्य से यहाँ विच्छेद किया जा सकता है तथा यह विच्छेद पाद का आरम्भक या आदि में भी हो सकता है। इससे यह भी दिखलाया गया है कि अनुबन्ध (आरम्भ) भी विच्छेद में उपयोगी होता है। 'शेषम्' इत्यादि। जहाँ चित्तवृत्ति की प्रधानता नहीं हो किन्तु विभावादि की हो तो वहाँ अर्थ के अनुरोध पर विराम रखे जाते हैं। कृष्याक्षर अर्थात् सन्ध्यक्षर। कला के प्रमाण वाला जो काल है तदनुसार

विलम्बित लय से पाठ करना चाहिए। इस प्रकार विच्छेद ही प्रमाण है, यह तथ्य दिखलाया गया।

७०–७१. शेषाणाम्—इत्यादि। यहाँ शेषाणाम् का अर्थ है ह्रस्व अक्षरों का। अर्थयोगेन पद से का आशय है कि जैसे अर्थ की स्फुट प्रतीति हो उसी प्रकार विच्छेद करना चाहिये न कि अतिविलम्बित लय से पाठ करे। इस पर यहाँ प्रश्न होता है कि कला का प्रमाण कितना रहे ? तो इसके उत्तर में यही समझना चाहिए कि विलम्बित एक, दो, तीन, चार तथा पाँच कलाओं तक (का) रहता है। गुर्वक्षर अर्थात् क्रुष्याक्षर।

७२. अथवा में वा शब्द से अधिक के लिये भी सहमति या अनुज्ञा देने का संकेत किया गया है। कारणोपेतम् में कारण का अर्थ है चिन्तन आदि से दीर्घकाल तक स्मरण होना।

७३. वृत्तविराम से अर्थविराम प्राथमिकता पाता है यही बात 'ये विरामाः' इत्यदि से दिखलाते है। तज्ज्ञैः में तत् पद का अर्थ है विरामात्मक वृत्तगत पदार्थ। उत्क्रम्यापि का आशय है कि यद्यपि उपक्रम विशेष का था किन्तु उपसंहार सामान्य में है। अतएव इस प्रकार विराम को पढ़ा जाए कि जिससे विवक्षित अर्थ की प्रतीति हो सके।

७४–७५. भिन्नवृत्तम् इत्यादि। वृत्त को तोड़कर नहीं पढ़ना चाहिए। ऐसा विच्छेद न करे कि जिससे प्रकृत में कोई दूसरा ही वृत्त प्रतीत होने लगे जिससे भ्रान्ति उत्पन्न हो। अपशब्द एवं भिन्नवृत्त दोषों के कहने से पुनरुक्ति नहीं समझना चाहिए क्योंकि वस्तुतः उसके अभाव में भी विच्छेद के वश से उसकी प्रतीति हो जाती है। इसीलिये यह कहा गया कि जहाँ विराम का स्थल नहीं हो वहाँ विश्राम नहीं किया जाता है। विराम की इस प्रकार व्यापकता बतलाकर न्यूना या दीप्ता को दिखलाने के लिए कहा कि—'दीन स्थिति में काकु को दीप्त न करे'। इससे यहाँ बतलाया गया कि शोकादि में मग्न चित्तवृत्ति को छोड़कर अन्य प्रसंगों में सर्वत्र काकु का दीपन शोभाधायक होता है।

इस प्रकार स्वर, उसके तीन स्थान या आश्रय, उनके उपयोगी उदात्त आदि वर्ण एवं उनके स्वरूप, स्वरूप के पूर्ति कारण अलङ्कार और इतिकर्तव्यता रूप सभी अंगों को यहाँ कहा गया। (यह ध्यान रहे कि) स्वरभेद से काकु का भेद होता है। स्वरभेद तब होगा जब काकु की विवक्षा होगी और जब उसी काकु की विवक्षा करेंगे तो रस, भाव आदि धर्मान्तरों की उत्पत्ति या

उदय भी होगा। स्वरों के स्थानों का भेद अलङ्कारों एवं अङ्गों के कारण नहीं होता है। यहाँ 'वर्जितं काव्यदोषैः' पदों से यह भी दिखलाया कि पूर्व अध्याय के विवरण से इस अध्याय के अर्थ की संगति है।

७६. इस कारिका से-संस्कृत भाषा के लिये दिखलाये गये काकुविधान का प्रकृत अध्याय के पूर्व प्रतिपादित प्राकृत भाषा में भी अतिदेश है—यह दिखलाया गया है।

७७. प्रकृत अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हुए यहाँ अग्रिम अध्याय के अर्थ का सूत्रपात—'दशरूप' इत्यादि से किया गया है। वक्ष्यमाण या अग्रिम अध्याय में जिनका विवरण दिया जा रहा है उन दशरूपकों के विधान में जो उपयुक्त पाठ्य (कहने योग्य या संवाद) है उसकी योजना इन्हीं (प्रकृत अध्याय में दर्शित) प्रकारों से की जाए।

७८. यहाँ 'तु' शब्द से व्युत्क्रम की सूचना दी गयी है। इस प्रकार प्रसङ्ग या क्रमप्राप्त जो काकुविधान नहीं था उसे भी अपेक्षावश वतला दिया गया है। 'अनुपूर्वशः' का आशय है कि अब जो क्रमप्राप्त दशरूपकों का विधान विवरण है उसको विभागादि विवरणों के सहित पूर्णतः अगले अध्याय में कहूँगा ।। शिवम् ।।

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के श्री बाबूलाल शुक्ल, शास्त्रि प्रणीत
प्रदीप हिन्दी व्याख्यान की अतिरिक्त टिप्पणियों का
द्वितीय-भाग सम्पूर्ण ॥ शिवम् ॥



परिशिष्ट २

पद्यार्धानुक्रमणिका

च

छ

ज

ध

न

र

आधार एवं सन्दर्भ ग्रन्थसूची

(आकर ग्रन्थ)

अभिनयदर्पण । नन्दिकेश्वर । म० मो० घोष । कलकत्ता ।
अभिनवभारती-(नाट्यशास्त्र व्याख्या) गा० ओ० सि० बडौदा ।
अर्थशास्त्र । कौटिल्य । चौखम्बा, वाराणसी ।
काव्यादर्श । दण्डी । चौखम्बा, वाराणसी ।
काव्यालङ्कारसूत्र । वामन । चौखम्बा-वाराणसी ।
काव्यालङ्कारसूत्र । भामह । चौखम्बा-वाराणसी ।
काव्यालङ्कारसूत्र । उद्भट । बडौदा तथा बम्बई ।
काव्यप्रकाश । मम्मट । वामनाचार्य झलकीकर । पूना ।
काव्येन्दु प्रकाश । कामराज दीक्षित । चौखम्बा वाराणसी ।
दशरूपक । धनिक तथा धनञ्जय । निर्णयसागर, बम्बई ।
नाटकचन्द्रिका श्री रूपगोस्वामि । चौखम्बा वाराणसी ।
नाटकलक्षणरत्नकोश । सागरनन्दी । चौखम्बा वाराणसी ।
नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । जे-ग्रासे संस्करण-पेरिस ।
नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । काव्यमाला संस्करण बम्बई ।
नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । काशी संस्करण-चौखम्बा वाराणसी ।
नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । अभिनवगुप्त व्याख्या सहित । बडौदा ।
नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । अंग्रेजी अनुवाद सहित । म० म० घोष । कलकत्ता ।
नाट्यसर्वस्वदीपिका । हस्त० प्रति । पूना ।
नाट्यशास्त्रसंग्रह । मद्रास । भाग १ तथा २ ।
नारदीयशिक्षा । मैसूर ।
नृत्तरत्नकोश । कुम्भ नृपति । भाग-१-२ । राजस्थान पुरातत्व ग्रन्थमाला ।
नृत्तरत्नावलि । जाय सेनापति ।
पाणिनीय शिक्षा । चौखम्बा-वाराणसी ।
भरतकोष । रामकृष्ण कवि । पूना ।
भरतार्णव । नन्दिकेश्वर । मद्रास ।
भरतभाष्य । नान्यदेवभूपति । भाग १ तथा २ । खैरागढ़ संगीत विश्व वि० ।
भावप्रकाशन । शारदातनय । बडौदा ।
मानसार शिल्पशास्त्र । डॉ० पी० के० आचार्य ।
रस-कौमुदी । श्रीकण्ठ कवि । बडौदा ।
रसार्णवसुधाकरः । सिंहभूपाल । त्रिवेन्द्रम् ।
राजतरङ्गिणी । कल्हण, जोनराज तथा श्रीवर ।
शृङ्गारप्रकाश । भोजनृपति । ज्योश्यार सम्पा० भाग १-४ ।
सरस्वतीकण्ठाभरण । भोज । कलकत्ता, बम्बई तथा चौखम्बा वाराणसी संस्करण ।

साहित्यदर्पण । विश्वनाथ कविराज । चौखम्बा, वाराणसी ।
सङ्गीतमकरन्द । नारद । बडौदा ।
सङ्गीतरत्नाकर । शार्ङ्गदेव । अड्यार मद्रास, खण्ड १-४ ।

अंग्रेजी ग्रन्थ

(समालोचनात्मक)

1 Ancient Indian Theatre. D. R. Mankad
2 Bharata's Nāṭya and Costume. Dr. G. S. Ghurye
3 Bibliography of Sanskrit Drama. Schuler
4 Classical Sanskrit Literature. A. B. Keith
5 Classical Indian Dance in Literature and Arts. Dr. Kapila Vatsyayana
6 Comparative Aesthetics. Vol. I. (Indian), Dr. K. C. Pandeya
7 Contribution to the History of the Hindu Drama. Dr. M. M. Ghosh
8 Dictionary of Hindu Architecture. P. K. Acharya
9 Drama in Sanskrit Literature. R. V. Jahagirdar
10 History of Indian Literature. I, III A. M. Winternitz
11 History of Classical Sanskrit Literature. Krishnamachariar
12 History of Sanskrit Classical Literature. Dr. S. K. De and S. N. Dasgupta
13 History of Sanskrit Literature. A. B. Keith
14 History of Sanskrit Poetics. Dr. S. K. De
15 History of Sanskrit Poetics. Dr. P. V. Kane
16 Indian Theatre. C. B. Gupta
17 Laws and Practice of Sanskrit Drama. Late Dr. S. N. Shastri
18 Number of Rasas. Dr. V. Raghavan
19 Select Specimen of the Hindu Theatre. (I-II vols.). H. H. Wilson
20 The Types of Sanskrit Drama. D. R. Mankad
21 Tandava Lakshaṇam. V. V. Narayan Swami Naidu
22 Abhinava Gupta. (A Historical & Philosophical Study) Dr. K. C. Pandey
23 Sanskrit Drama: Its Origin and Decline. Dr. Indushekhar

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	३१	(स० र० ७-३७, ३८)	(स० र० ७-३५, ३६)
११	७	स्निग्धा दृष्टा च	स्निग्धा हृष्टा च
११	९	दीना, दृप्ता	दीना, क्रुद्धा, दृप्ता
१६	४	दृष्टिःप्रकीर्तिता ॥६५॥	दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ६४ ॥
२५	२४	ललिताद्रुत्क्षेपाद्	ललिताद्रुत्क्षेपात्
२८	२१	प्राकृतमुच्येते ॥१३६॥	प्राकृतमुच्यते ॥ १३६ ॥
३०	९	विसर्गो रञ्जने तथा ॥१४३॥	विसर्गे रञ्जने तथा ॥ १४२ ॥
३२	४	मुद्राह्याक्षिप्तमेव	मुद्राह्यारक्षिप्तमेव
३२	२७	१. क्रोधकृतेत—ग० ।	१. क्रोधकृतेन—ग० ।
३३	५	तथा साची भेद	तथा साची आदि जो भेद
४०	१५	पल्लवा च तथा	पल्लवौ च तथा
४१	१	(११) उत्तानवञ्चित,	(११) उत्तानवञ्चित;
४१	८	चतुष्पष्ठिकरा	चतुष्षष्ठिकरा
४२	२३	महाजनप्रांशुपुष्कर०	महाजनं प्रांशुपुष्कर०
४८	१०	एक थोल घुमाव	एक गोल घुमाव
४८	२२	मुद्रा द्वारा (जिन कार्यों का	मुद्रा द्वारा जिन कार्यों को
४९	१४	सारी अंगुलिय हथेली	सारी अंगुलियाँ हथेली में
५०	१३	द्व्यङ्गुष्ठक निपीडिता	द्व्यङ्गुष्ठकनिपीडिता
५३	२७	उससे रात्रि की समाप्ति	उससे दिन और रात्रि की समाप्ति
५६	२	का इस मुद्रा से	आदि का इस मुद्रा से
५७	१०	पार्श्वागत-विकीर्णाश्च	पार्श्वागता विकीर्णाश्च
५८	२४	बालातुरशव्यकैतवार्थेषु-ग० ।	बालातुरशाठ्यकैतवार्थेषु—ग० ।
५९	२६	तो डाटना (निर्भर्त्सन)	तो डाँटना (नर्भर्त्सनं)
६०	४	अग्रभाग पर हो तथा	अग्रभाग पर एक दूसरे से सटी हुई हो तथा
६४	३१	५. अधुना—ख०	५. अधुना—ख०,
६५	२४	हस्तमुद्राएँ सामानन्यतः	हस्तमुद्राएँ सामान्यतः
६६	२२	स्वस्तिकःपरिकीर्तित ॥१३४॥	स्वस्तिकः परिकीर्तितः ॥ १३४ ॥
७०	२४	प्रयोक्तव्यो बिघाटने ॥१५२॥	प्रयोक्तव्यो विघाटने ॥ १५२ ॥
७७	१४	कंपित करते हुए बदलना ।	कम्पित करते हुए बदलना ॥ १८३ ॥
७९	१९	भ्रूरोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥१९६॥	भ्रुरोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥ १९६ ॥

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७९	२५	उरःपार्श्वमण्डल—	उरःपार्श्वार्धमण्डल—
८२	२७	पृष्ठगश्वेतिचोदिदः	पृष्ठगश्चेति चोदितः।
८४	१५	निर्भुग्नांस समुन्नतम्।	निर्भुग्नांसं समुन्नतम्।
८४	१७	विस्मयदृष्टे च	विस्मयदृष्टे च
८६	२६	परिवृत्ते विवतितम् ॥ १६ ॥	परिवृत्ते विवर्त्तितम् ॥ १६ ॥
८९	२७	मपवृत्तश्रियात्मकम्·ख०, ग०	मपवृत्तक्रियात्मकम्—ख०, ग०।
९८	२	पद्दैर्निरन्तरकृतै०	पादैर्निरन्तर कृतै०
९९	१५	उरूद्वृत्ता—	ऊरूद्वृत्ता—
१००	१२	समोत्सारितमत्तल्ली	समोत्सारितमत्तल्ली
१०७	१२	समुत्कर्ष·व्यायामकृत०	समुत्कर्पव्यायामकृत०
१०७	२०	धनुर्व्रजाणि शस्त्राणि	धनुर्वज्रादिशस्त्राणि
१०९	२१	शिरः परिगमश्चापि	शिरःपरिगमश्चापि
१०९	२४	कर्तव्यः·शिरःपरि०	कर्तव्यः शिरः परि०
१११	९	कार्यो न चापि	कार्यं न चापि
१११	२१	नहि सौष्ठवहीनाङ्गाः	नहि सौष्ठवहीनाङ्गः
११३	११	कारयेत् श्रीमान्	कारयेद् धीमान्
११४	१९	एकादशोऽध्याय ससाप्त	एकादशोऽध्याय समाप्त।
११५	१०	आकाशगानिह।	आकाशगानि च।
११७	१	स्पन्दिताचारी (आस्यन्दिता)	स्कन्दिता चारी (आस्कन्दिता)
१२०	७	दण्डपादश्च दक्षिणः ॥ ३१ ॥	दण्डपादश्च दक्षिणम् ॥ ३१ ॥
१२०	१०	पार्श्वक्रान्तश्च दक्षिणः।	पार्श्वक्रान्तश्च दक्षिणः।
१२५	३	कृवा तेनैव	कृत्वा तेनैव
१२८	६	चतुरस्तमुरः	चतुरस्रमुरः
१२३	२५	यथाप्रकृति नाट्यज्ञौ	यथाप्रकृति नाट्यज्ञो
१३१	२	क्रोणं ततः परम् ॥ १७ ॥	कोणं ततः परम् ॥ १७ ॥
१३१	१७	कार्यो गतागतः	कार्यो गतागतैः
१३३	२१	चतुरर्द्धकलं चा	चतुरर्द्धकलं वा
१३४	१८	स्वरार्ते च	ज्वरार्ते च
१३६	१८	सूत्राभिनय के	सूचाभिनय के
१३८	२०	कचिदासन्न०	क्वचिदासन्न०
१४३	५	जाए (पर पुरुष	जाए पर पुरुष
१४३	५	(आत्तप्तविक्रमा)	(आक्षिप्तविक्रमा)
१४५	१	जो इनसे गुणों से	जो इन गुणों से
१६५	१	अवजोक्य दिशः	अवलोक्य दिशः
१६६	१	पादस्व पतनं	पादस्य पतनं

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७१	६	चोपविशेत्वरः ॥ २०२ ॥	चोपविशेत्वरः ॥ २०१ ॥
१७२	१२	होममज्ञक्रिया०	होमयज्ञक्रिया०
१७८	९	ये नेयथ्यगृहद्वारे	ये नेपथ्यगृहद्वारे
१८५	२१	परिच्छेदविशेषास्तु	परिच्छदविशेषास्तु
१८६	२	पवं कच्याविभागस्तु	एवं कच्याविभागस्तु
१९२	५	तद्वत्तिकानि	तद्वृत्तिकानि
१९३	२९	आविद्धसंचितः—क० ।	आविद्धसंज्ञितः—क० ।
१९३	३०	विज्ञेमाः प्रयोगस्य	विज्ञेयाः प्रयोगस्य
२००	२६	अतिशय महत्वशाली भी है ।	अतिशय महत्वशाली माध्यम भी है ।
२०२	२०	विभिन्न संस्थाएँ	विभिन्न संख्याएँ
२०७	११	व्यवस्थित रस में	व्यवस्थित रूप में
२०७	२१	आश्रय यह भी है	आशय यह भी है
२०९	२१	प्रतीयते स प्रत्ययः	प्रतीयते सः प्रत्ययः
२२३	९	तन्निवृत्	तन्निचृत्
२२३	१३	निवृत् या भुरुक्	निचृत् या भुरुक्
२२६	६	वृत्ते मालिनी सा नाम्ना	वृत्ते मालती सा नाम्ना
२३०	१९	मधुकारी का	मधुकरी का
२३७	२३	विलग रहती हो तो हे मित्र,	विलग रहती तथा परिमित-भाषिणी हो तो हे मित्र,
२३८	१६	परुषवाक्थकशाभिहता	परुषवाक्यकशाभिहता
२४१	२१	हमने भी अर्थ किया गया है ।	हमने भी अर्थ किया है ।
२५२	३	नानाशस्त्रशताघ्नितोमर-	नानाशस्त्र-शतघ्नि-तोमर—
२७२	१३	कभी भी प्राप्त हो सकती है ।	कभी भी ज्ञात हो सकती है ।
२७४	३	पिण्डेन दशयेत्	पिण्डेन दर्शयेत्
२७४	१७	'छन्दोविरचितिनामक	'छन्दोविचिति' नामक
१७५	२	(वाचिकाभिमये)	(वाचिकाभिनये)
२७५	२८	ज्ञेयान्युक्त—ख०, ग ।	ज्ञेयान्यनुक्त—ख०, ग० ।
२७६	२२	आच्चार्य धनञ्जय आदि	आचार्य धनञ्जय आदि
२७७	४	या ज्ञात रूप में	या ज्ञातरूप में
२८१	२५	'विचार' को के स्थान पर	'विचार' के स्थान पर
२८२	१४	प्रीतिजननो-विरुद्धा	प्रीतिजननो विरुद्धाभि
२८३	२६	२. वान्यचेष्टाभि—ख०, ग० ।	वान्यचेष्टाभि—ख०, ग० ।
२८५	११	परदोषैविचित्रार्थै···परिकीर्त्यन्ते	परदोषैर्विचित्रार्थैः···परिकीर्त्यन्ते ।
२९२	१७	अनिन्धि ललना गण	अनिन्द्य ललना गण
३०४	२९	मञ्जरीर्नयन्तिः	मञ्जरीर्नर्तयन्तः

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२५	१३	पिछले अध्याथ में	पिछले अध्याय में
३४१	२३	स्वर महाराष्ट्री की रचना में	स्तर महाराष्ट्री की रचना में
३४२	१९	चेटानां राजपुत्राणां	चेटानां राज-पुत्राणां
३५५	४	प्रेष्या इञ्जेति	प्रेष्या हञ्जेति
३५७	१९	वतलाए परन्तु इनके	वतलाए गये हैं परन्तु इनके
३५९	२, ३	जैसे मानव ये शरीर में हैं उसी प्रकार	जैसे मानव के ये शरीर में स्थित होते हैं उसी प्रकार
३५९	१२	पाठ्य स्वर के पाठ के समय	पाठ्य-स्वर को पाठ के समय
३६०	१५	आशय इन्हीं वार्तो से	आशय इन्हीं दो काकुओं से
३६०	२८	तत्र साकाङ्क्षा नाम	तत्र साकाङ्क्षा नाम
३६१	१५	स्वरों के छः अलङ्कार जो	स्वरों के छः अलङ्कार हैं जो
३६३	३२	परोच्चह्मयने चैव	परोत्ताह्मयने चैव
३६५	१२	जैसे कार्य अत्यन्तगुप्त बात	जैसे कार्य तथा अत्यन्त गुप्त बात
३६६	११	करुणरस में 'विलम्व्रित'	करुणरस में 'विलम्बित'
३६६	२७	०स्वरूपेणापूरयदि-ख०, ग० ।	स्वरूपेणापूरयति—ख०, ग० ।
३७०	१२	इसी प्रकार के अन्य अवसरों पर	इसी प्रकार के अन्य हस्तगति के अवसरों पर
३७०	१४	तेष्वलङ्कार दूष्यते ।	तेष्वलङ्कार दृष्यते ।
३७३	१६	उक्तं काकुविधान्तु	उक्तं काकुविधानन्तु
३७५	१६	महामुनि ने ऋपिकों को	महामुनि ने ऋषियों को
३७७	११	छः प्रकार होते हैं ।	छः प्रकार के होते हैं ।
३७८	७	नौ प्रभदो के	नौं प्रभेदों के
३७९	१३	संचारी दृष्टियों का विवरण किया है,	संचारी दृष्टियों का विवरण दिया है,
३८०	१९	वेममूपाल ने भरतोक्त	वेमभूपाल ने भरतोक्त
३८२	३०	अभिव्यक्ति वस्तु एवं	अभिव्यक्त वस्तु एवं
३८७	२५	खङ्ग युद्ध के अवसर पर	खड्गयुक्त के अवसर पर
३८८	६	'आलक्तोरपींडने चैव' के अनुसार	''आलक्तकोरपीडने चैव'' पाठ के अनुसार
३८९	३१	शत्र के अनुसन्धान	शत्रु के अनुसन्धान
३९१	५	अभिनवदर्पण के	अभिनयदर्पण के
३९४	५	आकार का है रहने से हस्त तांम्रचूड	आकार का रहने से यह हस्त ताम्रचूड
३९६	१५	अन्य आचार्यों ने अन्य असंयुक्त हस्त भी	अन्य आचार्यों ने कहा है कि अन्य असंयुत हस्त भी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०७	१	मकर के कर्णो की	मकर के कर्णों की
४००	२८	अन्यत्र (नास ग्रन्थों में)	अन्यत्र (नाट्य ग्रन्थों में)
४०२	११	मुक्ति=अर्थ के विषय में०	युक्ति=अर्थ के विषय में०
४०३	२१	अवश्य प्रयोग द्वारा किया जाए।	अवश्य प्रयोग किया जाए।
४०४	१७	करने से 'उद्धत्त' है।	करने से 'वद्वृत्त' है।
४०५	८	सर्पशीर्ष होते हैं तो।	सर्पशीर्ष होते हैं।
४०८	२७	तथा शब्द से भी रखता है	तथा पताक शब्द से प्रधानता भी रखता है।
४१०	१४	जिसका है सभी पश्चाद्भावी	जिसका सभी पश्चाद्भावी
४१०	७	एक दूसरे से मिलती है।	एक दूसरे से मिलते हैं।
४११	९	एक दूसरे से मिलती है।	एक दूसरे से मिलते हैं।
४१२	७	से भी मण्डल बनाता है०	से भी मण्डल बनता है०
४१२	१५	उपयुक्तता में ध्यान में रखकर	उपयुक्तता को ध्यान में रखकर
४१९	१२	क्रमण के लिये नाट्यशास्त्र में०	क्रमण के लिये नाट्यशास्त्र में०
४२०	६	सन्नगात्र=जिसका०	सन्नगात्र—जिसका०
४२२	८	दस मण्डल हो हैं तथा	दस मण्डल होते हैं तथा
४२५	१५	दो तथा एक काल की०	दो तथा एक ताल की०
४२५	२६	उत्तमादि पार्को के लिये	उत्तमादि पात्रों के लिये
४३२	८	'अधोऽलोकनेन' इत्यादि	अधोऽवलोकनेन इत्यादि
४३६	७	किसी उदेश को०	किसी उद्देश्य को
४४१	१	गह्रण से भी स्पष्ट है	ग्रहण से भी स्पष्ट है
४४१	१२	नगर, दीप आदि में	नगर, द्वीप आदि में
४४१	१७	अनुग्रह करने के कारण	अनुग्रह करने के सामर्थ्य के कारण
४४४	४	मध्य में परिगमन किया गया	मध्य में परिगणित किया गया
४४६	३०	अध्याय समाप्ति को (भी) किया गया है।	अध्याय समाप्ति को भी सूचित किया गया है।
४४७	२०	संकेतित मिलता है।	संकेत मिलता है।
४४८	११	अस्त्रैस्तावन्सुहुं०	अस्त्रैस्तावन्सुहु०
४६६	२५	उत्कण्ठा के समस	उत्कण्ठा के समय
४७४	६	हेतावस्मिन् कार्यकल्पनम्	हेतावन्यस्मिन् कार्य—कल्पनम्
४८०	१५	सौन्दर्य का आविर्भाव होता है।	सौन्दर्य का आविर्भावक होता है।
४८०	१५	भोज तथा मम्मट और	भोज तथा मम्मट और

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८१	४	उदारता जैसे गुणों काव्योन्मुखी	उदारता जैसे गुणों में उनकी काव्योन्मुखी
४८१	५	दस गुणों में कुछ अर्थगुण एवं कुछ उभयात्मक है।	दस गुणों में कुछ शब्दगुण, कुछ अर्थगुण एवं कुछ उभयात्मक है।
४८३	१०	व्यापर से उपसंक्रान्त	व्यापार से उपसङ्क्रान्त
४८८	२८	विधाता ने सन्ध्यारूपी	विधाता के द्वारा सन्ध्यारूपी
४९०	१०	यहाँ अवन्तर अर्थों के	यहाँ अवान्तर अर्थों के
४९६	९	चूर-चूर किये जाने भी	चूर-चूर किये जाने पर भी
४९६	११	अपने को रत्न के समान	रत्न के समान
४०६	२०	क्काकार्यं शशलचमण क्क	क्का कार्यं शशलचमणः क्क
४९८	१५	कथान्द्रतं हिमनिधा—	कथाद्भुतं हिमनिधा—
४९८	२९	एवं स्वाभाविक कारण जहाँ विद्यमान हो	एवं स्वाभाविक कारण से जहाँ विद्यमान हो
५०२	६	उपादान कर बतलाया	उपादान कह कर बतलाया
५०७	४	नाद छः प्रकार हो जाता है।	नाद छः प्रकार का हो जाता है।
५०८	२५	'प्राणवशेन में'	'प्राणवशेन' पद में
५०९	४	अर्थयोगेन पद से का आशय	अर्थयोगेन पद का आशय
५०९	१३	विरामाः इत्यदि से	विरामाः' इत्यादि से





